"भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में
वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई
के योगदान का सामरिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन"

रक्षा अध्ययन बिषय में पी-एच. डी. उपाधि
हेतु बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी को
प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ. अरविन्द कुमार शर्मा
रीडर, रक्षा अध्ययन विभाग
दयानन्द वैदिक महाविद्यालय
उरई (जालौन) उ0प्र0

प्रस्तुतकर्ता
शशि भूषण द्विवेदी
एम.एस-सी., सैन्य विज्ञान
(गोल्डमेडलिस्ट)
शासकीय स्वशासी आदर्श विज्ञान
महाविद्यालय, ग्वालियर

2002
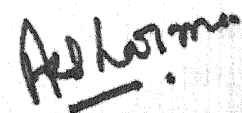
झाँसी की रानी

"प्रमाण पत्र"

प्रमाणित किया जाता है कि श्री शशि भूषण द्विवेदी ने "भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में रानी लक्ष्मीबाई के योगदान का सामरिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन" विषय पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पी-एच. डी. उपाधि हेतु नियमानुसार मेरा निर्देशन प्राप्त करके लिखा है। यह शोध प्रबन्ध श्री शशि भूषण द्विवेदी के स्वयं के शोध कार्य पर आधारित हैं और उनकी मौलिक कृति है।

श्री शशि भूषण द्विवेदी ने निर्धारित नियमों के अनुसार वांछित अवधि से अधिक समय उपस्थित रहकर मेरा निर्देशन प्राप्त किया है और मेरे अभिमत में यह शोध प्रबन्ध "बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय" झाँसी की पी-एच. डी. उपाधि हेतु निर्धारित अध्यादेश की अनिर्वायताओं की सम्पूर्ति करता है।

दिनांक 4-8-2002

डॉ. अरविन्द कुमार शर्मा
रीडर रक्षा अध्ययन विभाग
दयानन्द वैदिक महाविद्यालय
उरई (जालौन) यू. पी.

"घोषणा- पत्र"

मैं घोषणा करता हूँ कि प्रस्तुत शोध कार्य मैंने डॉ. अरविन्द कुमार शर्मा के निर्देशन में किया है। शोध प्रबन्ध की सामग्री मौलिक हैं तथा सम्पूर्ण लेखन स्वतंत्र रूप से मेरे द्वारा किया गया है। इसमें प्रयुक्त तथ्यों एवं घटनाओं का संकलन मैंने स्वयं किया है तथा शोध प्रबन्ध में आवश्यक छायाचित्रों को मैंने यथासम्भव दर्शानें का पूरा-पूरा प्रयास किया हैं।

Dwivedi

शशि भूषण द्विवेदी

एम. एस-सी. सैन्य विज्ञान

(गोल्डमेडलिस्ट)

शासकीय स्वशासी आदर्श विज्ञान

महाविद्यालय, ग्वालियर

''आमुख''

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई के योगदान पर विभिन्न विश्वविद्यालयों में किसी शोध की कोई जानकारी नहीं मिलती जबकि स्वतंत्रता संग्राम में रानी लक्ष्मीबाई के सामरिक एवं कूटनीति योगदान को नकारा नहीं जा सकता। यह सही है कि इतिहासकारों ने रानी लक्ष्मीबाई के योगदान का उल्लेख कई जगह किया है, लेकिन विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या शोध के नजरिए से आज तक नहीं हो पाई है। स्वतंत्रता संग्राम को सफल बनाने हेतु रानी की क्या कूटनीति थी, इस संग्राम में उन्होंने किस सामरिकी का उपयोग किया, उनका सैन्य संचालन किस प्रकार का था, किस रणनीति के तहत उन्होंने अपनी सेना को अंग्रेजो के खिलाफ तैयार किया था, उनका सैन्य नेतृत्व किस प्रकार का था, इन सभी विषयों को समाहित करके मैंने इस शोध कार्य को पूरा किया है।

भारत की धरती राम, कृष्ण, बौद्ध, महावीर व गाँधी के शान्तप्रिय व्यक्तित्व, सहिष्णुता एवं भाई–चारे, के आदर्शो से ओत–प्रोत रहीं है। इस दौरान आपसी मानवता लोगों में कूट–कूट कर भरी हुई थी। इन्सान आपस में इन्सानियत से प्रेम करता था और अतिक्रमण एवं दुर्व्यहार से सदैव दूर रहता था। व्यक्तिगत अधिकारों का सम्मान किया जाता था। समय ने धीरे–धीरे करवट ली और लोगों के विचार आपस में संकुचित हो गये। व्यक्ति आपस में बदले की भावना से ग्रसित होते गये। अतिक्रमण की प्रवृति बढ़ने लगी और आपसी सद्भाव, प्रेम, सहिष्णुता, उदारता व सहयोग का विनाश होने लगा। इसी वातावरण को मुगलों एवं अंग्रेजों के कुशासन का शिकार होना पड़ा। हमारे सनातनीय आदर्श, व्यवहार, आपसी प्रेम, सहयोग आदि को ध्वस्त कर दिया गया। नैतिक, सैद्धान्तिक एवं भाईचारे की विचारधाराओं की हत्या

कर दी गई। इससे जनमानस बुरी तरह से प्रभावित होता रहा और सम्पूर्ण भाईचारे के स्थान पर विषाक्तमय हो गया।

उपर्युक्त कुव्यवस्था एवं संकुचित विचारों से प्रभावित होकर भारतीय चिन्तन, आदर्श, दर्शन, तत्कालीन शासन व्यवस्थायें अछूते नहीं रह सके। कभी अकेले और कभी संगठित होकर इस व्यवस्था के विरूद्ध आवाजें उठाई गयी। भारत का जनमानस देश की रक्षा के लिये समय–समय पर संगठित होता रहा। इसी समय जब अंग्रेजों के विरूद्ध समूचे देश में आवाज उठाई जा रही थी उसी समय एक महान व्यक्तित्व, अटूट साहस, देश भक्ति की भावना से ओत–प्रोत होकर वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई देश की चिन्ता लेकर अंग्रेजों का काल बनकर के सामने आई और देश के तमाम छोटे–बड़े देशप्रेमी राजाओं ने संगठित होकर महारानी के नेतृत्व में विश्वास व्यक्त किया।

अगर हमारे तत्कालीन शासकों ने उनका साथ दिया होता तो 1857 की क्रान्ति का इतिहास कोई दूसरा इतिहास होता। हमारे देश को और 90 साल तक स्वतंत्रता का इन्तजार न करना पड़ता।

प्रस्तुत शोध के अर्न्तगत सम्पूर्ण विषय सामग्री को दस अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय के अर्न्तगत भारतीय स्वतंत्रता संग्राम व रानी लक्ष्मीबाई की भूमिका पर प्रकाश डाला गया हैं। द्वितीय अध्याय के अर्न्तगत भारतीय सामाजिक दशा, राजनैतिक परिदृष्य, आर्थिक परिदृश्य के इतिहास का व्यौरा प्रस्तुत किया गया है। भारत में अंग्रेजों का पदार्पण, अंग्रेजों की कूटनीति से भारत की आन्तरिक परिस्थितियों पर चोट, अंग्रेजों की फूट डालो राज करो की नीति तृतीय अध्याय की विषय सामग्री है। अध्याय चतुर्थ में छोटे–छोटे राज्यों का उदय एवं राष्ट्रीयता का ह्रास, प्राचीन भारत के आदर्श एवं उत्कर्ष, राष्ट्रीयता के अभाव में

भारत में विदेशी आधिपत्य एवं राष्ट्रीय एकता, महारानी लक्ष्मीबाई के काल में सर्वधर्म समभाव का भारतीय आर्दश का अध्ययन किया गया है। पंचम अध्याय के अन्तर्गत रानी लक्ष्मीबाई का जीवन परिचय, झाँसी राज्य की तत्कालीन परिस्थितियाँ, रानी लक्ष्मीबाई की सामरिक, सामाजिक व राजनैतिक सोच को प्रस्तुत किया गया है एवं भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई के योगदान को दर्शाया गया है। रानी का क्षेत्रीय राजनैतिक संगठन, सामाजिक एकीकरण, स्त्री–सेना का निर्माण, सैन्य प्रशिक्षण को छठें अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। सप्तम अध्याय में रानी लक्ष्मीबाई की अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध नीति – मोर्चेबन्दी, सम्भार तंत्र, युद्ध–कला आदि का वर्णन किया गया है। अध्याय अष्ठम में रानी लक्ष्मीबाई के अंग्रेजों के विरूद्ध महत्वपूर्ण युद्धों को विस्तार पूर्वक समझाया गया है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिये शौर्य पूर्ण कार्य, अंग्रेजों को हताशा एवं रानी लक्ष्मीबाई का भारत की स्वतंत्रता में अमूल्य योगदान को नवें अध्याय में दर्शाया गया है। अध्याय दसवें में शोध का विश्लेषणात्मक निष्कर्ष दिया गया है।

अन्त में मैं आशा करता हूँ कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत जो बिषय सामग्री समाहित की गई है एवं जो तथ्य प्रदर्शित किये गये है तथा उनके आधार पर जो निष्कर्ष निकाले गये हैं, वे भविष्य में इतिहासवेत्ताओं, सैन्य–विशेषज्ञों तथा उन सभी जिज्ञासुओं के लिये जो इस क्षेत्र में गहरी रूचि रखते हैं, उपयोगी सिद्ध होगें।

शोधकर्ता

(शशि भूषण द्विवेदी)

एम. एस–सी. सैन्य विज्ञान

(गोल्डमेडलिस्ट)

शासकीय स्वशासी आदर्श

विज्ञान महाविद्यालय

(लश्कर),ग्वालियर

''आभार प्रदर्शन''

मैं सर्वप्रथम डॉ. अरविन्द कुमार शर्मा (रीडर, रक्षा अध्ययन विभाग, दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई) का विशेष रूप से आभारी हूँ जिनके अमूल्य निर्देशन में इस शोध प्रबन्ध की रचना सम्भव हुई। उनकी प्रेरणा, रूचि एवं सहयोग के बिना इस शोध कार्य को पूर्ण करना सर्वथा कठिन था।

मैं आभारी हूँ डॉ अभय करन सक्सेना (विभागाध्यक्ष, रक्षा अध्ययन विभाग, दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई) के प्रति जिन्होंने अपने सहयोग व सुझावों से मेरा मार्ग दर्शन किया। उत्साहवर्धन व समुचित सहयोग हेतु मैं डॉ. राजेन्द्र कुमार निगम (रीडर, रक्षा अध्ययन विभाग, दयानन्द वैदिक महाविद्यालय उरई) के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

कुछ लोग जो मेरे अन्तर्मन में हैं उनमें मेरे पूज्यनीय पिता श्री राम प्रकाश द्विवेदी (पूर्व प्राचार्य सनातन धर्म इण्टर कालेज, उरई) सर्वोपरि है। इनका आशीष और इनकी प्रतिभा की शक्ति आज भी मेरा सम्बल बनी हुई हैं। इन्हें में बारम्बार प्रणाम व नमन करता हूँ।

डॉ. बृजेन्द्र कुमार द्विवेदी (विभागाध्यक्ष, रक्षा अध्ययन विभाग, गाँधी महाविद्यालय, उरई) एवं डॉ. रामशंकर द्विवेदी (पूर्व विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग, दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई) के प्रति भी मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनके अमूल्य सुझावों एवं सहयोग से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की गुणवत्ता में अवश्य ही अभिवृद्वि हुई होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं दयानन्द वैदिक महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. एन.डी. समाधिया का भी शुक्र गुजार हूँ जिन्होंने प्रशासनिक समस्याओं के समाधान में हमेशा मुझे सहयोग प्रदान किया।

मैं श्रीमती मंजू जौहरी (वरिष्ठ प्रवक्ता इतिहास विभाग, दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई) का भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने विवेच्य विषय की सामग्री जुटाने में बहुमूल्य सहयोग एवं समय प्रदान किया। साथ ही मैं डॉ. परमात्माशरण गुप्ता (प्रवक्ता अर्थशास्त्र विभाग, दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई) का भी विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने शोध प्रबन्ध विषय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सहयोग एवं समय प्रदान किया।

मैं अपनी माँ श्रीमती कस्तूरी द्विवेदी की प्रेरणा के प्रतिदान में उन्हें अपनी आदरांजलि अर्पित कर रहा हूँ जिन्होंने मुझे वह वातावरण दिया जिसके अभाव में सरस्वती का साधक कुछ भी नहीं कर सकता।

मैं उन समस्त इतिहासकारों एवं विद्वानों का चिर आभारी हूँ जिनकी कृतियों से मैंने इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन में सहायता ली है।

अन्त मैं 'कम्प्यूटर हाउस' के संचालक श्री अखिलेश कुमार गुप्ता का आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने कम्प्यूटर कम्पोजिंग में मेरी सहायता की है। तथा जिस सुन्दरता, सहयोग व निष्ठा का कम्पोजिंग में योगदान किया उसको कभी भी भुलाया नहीं जा सकता– मेरे पास उनकी प्रशंसा के शब्दों का आभाव है।

शोधकर्ता
Dwivedi
(शशि भूषण द्विवेदी)
एम. एस–सी. सैन्य विज्ञान
(गोल्डमेडलिस्ट)
शासकीय स्वशासी आदर्श
विज्ञान महाविद्यालय
(लश्कर), ग्वालियर

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट

चित्रों, मानचित्रों और दस्तावेजों की फोटो प्रतियाँ

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम व रानी लक्ष्मीबाई

बुन्देलखण्ड की वीर प्रसविनी वसुन्धरा ने एक से बढ़कर एक ऐतिहासिक विभूतियों को जन्म दिया है। परन्तु इतिहासकारों की सही दृष्टि न पड़ पाने के कारण बुन्देलखण्ड का इतिहास प्रायः उपेक्षित रहा है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की प्रस्तावना में रानी की संक्षिप्त परन्तु, प्रमाणिक ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

''1857 के विद्रोह'' पर जितना साहित्य लिखा गया है उतना शायद भारत के इतिहास की किसी अन्य घटना पर नहीं लिखा गया हैं। 1857 के विद्रोह के इतिहास का अत्यन्त महत्वपूर्ण परन्तु, नकारात्मक पक्ष यह है कि इसके लिये अधिकांश ब्रिटिश दस्तावेजो पर निर्भर रहना पडता है, क्योंकि विद्रोह के दमन–चक्र के दौरान क्रांतिकारी साहित्य को अंग्रेजों ने प्रायः समाप्त कर दिया था। यही कारण है कि 1857 के विद्रोह के स्वरूप को लेकर इतिहासकारों एवं विद्धानों में व्यापक मतभेद है। ऐसी स्थिति में '1857 के विद्रोह में रानी लक्ष्मीबाई के योगदान' का निर्धारण करना दुष्कर कार्य हैं। उल्लेखनीय है कि विगत तीन दशकों में 1857 के विद्रोह पर प्रकाशित होने वाली पुस्तकों में कुछ नवीन प्रवृत्तियॉ देखने में आई है। डॉ. आर. सी. मजूमदार के मत के विपरीत भारतीय इतिहासकारों में इस विद्रोह को स्वतंत्रता संग्राम मानने की प्रवृत्ति पुनः स्पष्ट हुई है।

भारतीय इतिहास की महानतम वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई भारतीय इतिहास की एक गौरवमयी विभूति एवं एक प्रेरक अध्याय है। उनके असाधारण शौर्य एवं सेनापतित्व से प्रभावित होकर रानी का प्रबलतम शत्रु सर ह्यूरोज भी उनकी प्रंशसा करने को बाध्य हुआ। उसे कहना पडा – ''She was the bravest & the best

military leader of rebels" (वह विद्रोहियों की सर्वाधिक वीर एवं श्रेष्ठतम सेनानायक थीं)। धन्य हैं, नारी शौर्य और देश स्वातंत्र्य की भावना की वह प्रतिमूर्ति जिसे शत्रु भी सराहे बिना न रह सका। पुनः, वह प्रतीक थी अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष की उस भावना की, जिसकी स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु वर्तमान समाज के सज्जन कहे जाने वाले व्यक्तियों के लिये अतीव आवश्यकता है।

परन्तु, जहाँ तक रानी लक्ष्मीबाई पर इतिहास लेखन का प्रश्न है, तो किसी भी बडे भारतीय इतिहासकार ने उनको केन्द्र बिन्दु बनाकर किसी स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना नहीं की। वहीं, अधिकांश अंग्रेज इतिहासकारों ने रानी लक्ष्मीबाई पर अनावश्यक दोषों यथा झोकनबाग काण्ड आदि को मढ़कर रानी पर एकांगिक इतिहास प्रस्तुत किया हैं। हिन्दी भाषा में रानी लक्ष्मीबाई पर इतिहास लेखन के कार्य का प्रायः अभाव है। यद्यपि, डी. बी. पारसनीस कृत 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' और विष्णु गोडसे कृत 'मांझा–प्रवास' के हिन्दी अनुवाद इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास रहे हैं। परन्तु, इन ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर रानी के पक्ष में झुकाव देखा जा सकता है, जिससे ये ग्रन्थ भी अनेक स्थानों पर एकांगिक हो गये हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में एकांगिकता के दोष से बचते हुये ठोस ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर रानी लक्ष्मीबाई पर इतिहास–लेखन में संतुलित दृष्टिकोण अपनाया गया है। रानी लक्ष्मीबाई के प्रति असीम श्रद्धा एवं शोधपरक जानकारी प्राप्त करने की उत्कण्ठा तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी में उन पर विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ के अभाव में मुझे प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रणयन की प्रेरणा प्रदान की।

डॉ. वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने प्रसिद्ध उपन्सास 'झाँसी की रानी' के परिशिष्ट में यह प्रमाणित किया है कि रानी लक्ष्मीबाई स्वराज्य के लिये लड़ी थीं। इसके लिये उन्होंने पर्याप्त मात्रा में प्रमाण एकत्रित किये थे। इन प्रमाणों के अन्तर्गत

आपको झाँसी कचहरी की अलमारी में रखे हुये चालीस–पचास पत्र तथा 1858 में झाँसी राज्य के अनेकों लोगों के लिये गये बयानों, उस समय मौजूद वृद्धों से वार्तालाप तथा कुछ अन्य सामग्री प्राप्त हुई। यद्यपि डॉ. वृन्दावन लाल वर्मा मूलतः साहित्यकार हैं, तथापि, जहाँ तक 'झाँसी की रानी' उपन्यास के ऐतिहासिक ढाँचे की प्रमाणिकता का प्रश्न है, तो इसकी प्रमाणिकता को भारत सरकार ने भी स्वीकार किया है।

रमन मैग्सेसे पुरस्कार से सम्मानित महाश्वेता देवी कृत ''जली थी अग्निशिखा'' (वर्ष 2001 में प्रकाशित प्रथम संस्करण) सर ह्यूरोज की डायरी के तिथिवार केवल वही अंश है जिनका सम्बन्ध रानी लक्ष्मीबाई से है। इस महत्वपूर्ण स्रोत का उपयोग प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में रानी लक्ष्मीबाई और अंग्रेजों के मध्य हुये युद्धों के वर्णन में यथोचित स्थान पर किया गया है। इससे रानी के प्रति ह्यूरोज की समय–समय पर परिवर्तित होने वाली धारणा पर भी प्रचुर प्रकाश पडता है।

रानी लक्ष्मीबाई से सम्बन्धित तथ्य यत्र–तत्र बिखरे हुये हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन तथ्यों को विवेकपूर्ण ढंग से संकलित, सारगर्भित एवं सुसम्बद्ध कर प्रभावशाली शैली में प्रस्तुत कर अन्ततः '1857 के विद्रोह में रानीलक्ष्मीबाई के योगदान' को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है।

सन् 1857। अंग्रेजी शासन के विरूद्ध भारतवासियों के पहले स्वतःस्फूर्त विद्रोह का वर्ष। उस विद्रोह के दिन सबसे आगे की पंक्ति में खडे होकर जिस वीरांगना नारी ने प्राण दिये थे वही है झाँसी की रानी। विपुल धन और अतुल वैभव उसे महल में बन्द कर नहीं रख सका – वरन वैयक्तिक स्वार्थ को तुच्छ मानते हुए बिना क्लेश के वह रणक्षेत्र में कूद पडी थी। क्षुद्र स्वार्थ से व्याकुल देशवासियों के समक्ष यह जो एक महत् उदाहरण है इसमें क्या सन्देह। इसीलिए भाँडेर से झाँसी, झाँसी से कालपी,

कालपी से ग्वालियर सभी जगह कानों में पडती हुई लोककथाओं के सुर में आज भी सुनाई देती हैं रानी की वीरता की गाथाएं। क्यों नहीं सुनाई देगीं ! रानी जो आज अमर है – बाई साहिबा जरूर जिन्दा हैं। अथच अवशिष्ट स्वाधीन भारत आज अपनी स्वाधीनता की अर्द्ध शताब्दी में विभोर है – अथवा कौन याद करेगा इस वीर नारी की कहानी ? सत्य है सैलुकस – कितना विचित्र है यह देश !

शताब्दियों की दासता के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में नारी को अबला कहा जाने लगा था। उसका स्थान अन्तःपुर अथवा घर की चारदीवारी तक सीमित रह गया था। इस कुण्ठा के और दृढ होने पर घर में कन्या का जन्म ही अशुभ समझा जाने लगा, जन्म लेते ही नृशंस लोग उसकी हत्या कर देते, सांसारिकता से सर्वथा अनभिज्ञ बालिकाओं का विवाह कर दिया जाता। यदि इन अबोध बालिकाओं के पति की मृत्यु हो जाती, तो उसे या तो सती होने के लिए बाध्य किया जाता अथवा जीवन–भर विधवा का अभिशप्त जीवन जीना पडता। मध्ययुगीन इतिहास जहाँ वीर पुरूषों के वीरतापूर्ण कार्यों से भरा पडा था, वहाँ स्त्री जाति के इस प्रकार के वीरतापूर्ण कार्यकलापों का उसमें प्रायः अभाव ही है, वहाँ सर्वत्र नारी को मानसिक रूप से दास बना देने की ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। उसके पति का अस्तित्व ही उसका अपना अस्तित्व माना जाने लगा। मेवाड़ का अथवा राजपूताने का अन्य राज्यों के इतिहास में जौहर व्रतों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई है। ऐसा लगता है उस काल में भारतीय नारी इतनी निर्बल हो गई थी कि वह शत्रु के समक्ष शस्त्र उठाने की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। वह शत्रु का सामना करने की अपेक्षा अग्नि में जल मरना गौरवपूर्ण समझती थी। इसे सुखद आश्चर्य ही कहा जायेगा कि महारानी लक्ष्मीबाई ने भारतीय नारियों की इस दासतापूर्ण मानसिकता को ध्वस्त कर दिखाया। उन्होंने यह आश्चर्यजनक कार्य ऐसे समय में किया, जब समग्र समस्त भारतीय नरेश

अपनी आभा खो चुके थे या यों कहा जा सकता है कि वे सभी ब्रिटिश साम्राज्य के सूर्य की आभा के समक्ष तेजहीन हो चुके थे। महारानी लक्ष्मीबाई ने नारी के अबला होने की उस मिथ्या धारणा को निराधार कर दिखाया, जो शताब्दियों से भारतीय जनमानस में अपनी गहरी जड़ें जमा चुकी थीं। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि भारतीय नारी अबला नहीं है, उसे मानसिक रूप से अबला बना दिया गया है। समय आने पर वह सबला ही नहीं, अपितु परम वीरांगना भी बन सकती है। उन्होनें चिर काल तक दासता की निद्रा में सोई हुई भारतीय नारी को उसकी निद्रा से जगाया और इतिहास में एक सर्वथा नवीन गरिमामय अध्याय की सर्जना की। निःसन्देह महारानी लक्ष्मीबाई नारी जाति का ही गौरव नहीं, एक प्रातः स्मरणीय ऐतिहासिक विभूति हैं।
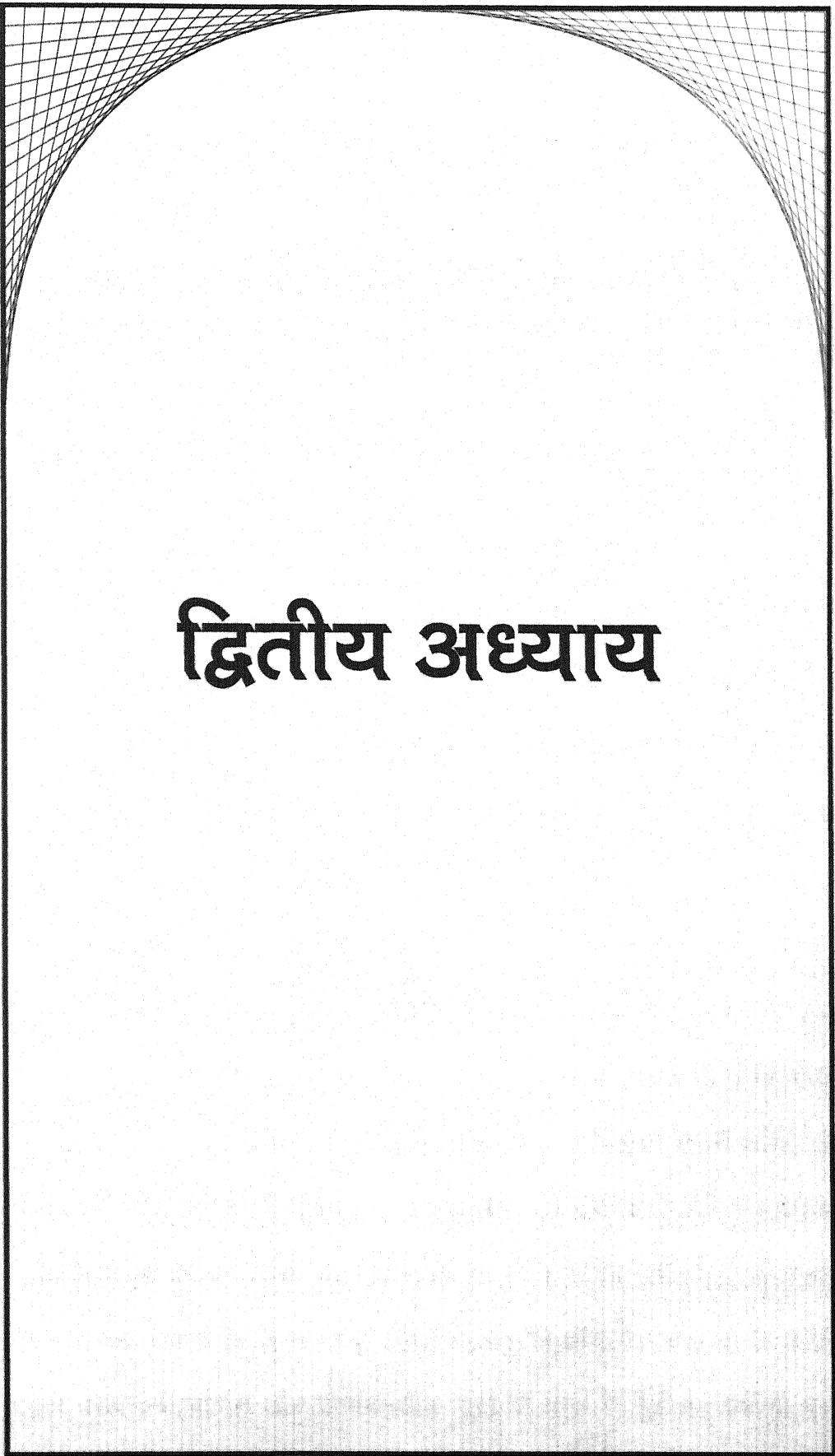
वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई भारतीय इतिहास की गौरवमयी विभूति; एक प्रेरक अध्याय हैं। उनका नाम आज भी अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष करने वालों के हृदय में एक नवीन उत्साह का संचार कर देता है। उनका जीवन आरोह अवरोह का एक विचित्र समन्वय रहा है। एक सामान्य स्तर के व्यक्ति मोरोपन्त ताम्बे की अबोध पुत्री परिस्थितियोंवश झाँसी के प्रौढ़–प्राय राजा गंगाधर राव की महारानी लक्ष्मीबाई बन गयी। अपने जीवन के उन्नीसवें वर्ष में ही वह विधवा हो गयीं। यहीं से उनका संघर्षमय जीवन आरम्भ हो गया। झाँसी के अंग्रेजी राज्य में विलय के समय वह गरज उठी – **"मैं अपनी झाँसी नहीं दूंगी।"**

उस समय उनके ये शब्द परिस्थितिजन्य आक्रोश की अभिव्यक्ति मात्र थे अथवा किसी संकल्प के सूचक, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसके चौथे ही वर्ष उन्हें अपनी झाँसी की रक्षा के लिए तलवार उठानी पड़ी। यहाँ से वह वीरांगना के रूप में सामने आती हैं। पहले झाँसी, फिर कालपी और अन्त में ग्वालियर में अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध उनके जीवन रूपी महाकाव्य के सर्ग बनें।

प्रायः बाईस बर्ष की अवस्था में ; वह भी आज से लगभग डेढ़ सौ बर्ष पहले, भारत के पुरूष प्रधान समाज में प्रबल पराक्रमी, सर्वसाधन सम्पन्न अंग्रेजों के विरूद्ध उनका यह संघर्ष निश्चय ही एक क्रान्तिकारी कार्य था। उनमें एक श्रेष्ठ वीरांगना और योग्य सेनानायक के सभी गुण विद्यमान थे। इसे उनके शत्रु अंग्रेजों ने भी निःसंकोच स्वीकार किया, किन्तु इसे एक विडम्बना ही कहा जाएगा कि संघर्ष के उनके सहयोगियों ने उन्हें यह सम्मान नहीं दिया, जिसकी वह अधिकारिणी थीं। झाँसी के संघर्ष की असफलता के बाद वह कालपी पहुँची, जहाँ से पेशवा राव साहब, वीर तात्या टोपे और बाँदा के नवाब संघर्ष में उनके सहयोगी बने। महारानी लक्ष्मीबाई अपने इन सहयोगियों से योग्य सेनानायिका थी। इससे उनके ये सहयोगी भी अपरिचित नहीं थे, फिर भी पेशवा राव साहब पुरूष प्रधान समाज की अपनी मनोवृति से मुक्त नहीं हो सकें, महारानी को युद्ध के संचालन का कार्यभार केवल इसलिए नहीं सौपा गया कि वह एक स्त्री थी, जिसे अबला कहा जाता है। महारानी ने अपने प्रशंसनीय कार्यो से यह सिद्ध कर दिखाया कि स्त्री अबला नहीं होती ; अपितु पुरूष प्रधान समाज उसे अबला बनने के लिए बाध्य कर देता है ; वही अबला समय आने पर वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई भी बन सकती है। उनके इन्ही महनीय गुणों के कारण कुछ लेखकों ने उनकी तुलना फ्रांस की महान देशभक्त वीरांगना 'जोन ऑफ आर्क' से भी की है।

वास्तव में महारानी लक्ष्मीबाई एक सामान्य बाह्मण कुल में पैदा होकर महारानी बनी ; इसे सौभाग्य ही कहा जा सकता है, परन्तु भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में उन्होंने जिस अभूतपूर्व धैर्य, साहस और वीरता का प्रमाण प्रस्तुत कर शत्रु – सेना के दांत खट्टे कर दिये, यह उनकी निजी सूझ – बूझ और वीरोचित प्रतिभा ही थी।

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में हमारे ही कुछ भाई गद्दारी कर गये, अन्यथा रानी झाँसी के साहसपूर्ण पराक्रम से अंग्रेज उसी समय भारत छोड़ भागते।

द्वितीय अध्याय

तत्कालीन भारतीय समाज एवं राजनैतिक परिदृश्य महारानी लक्ष्मीबाई के पूर्व के काल से

उपनिवेशिक शासन का प्रभाव भारत की राजनीति तक सीमित नहीं रहा, उसने इस देश के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया। जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, तत्कालीन भारतीय समाज धर्म, परम्परा तथा जातिप्रणाली की विविधताओं से ग्रसित था। [1] अंग्रेज इन विविधताओं को उनकी समस्त जटिलताओं के साथ कायम रखना चाहते थे। वस्तुतः ऐसा करके ही वे इस देश में अपने शासन को स्थायित्व प्रदान कर सकते थे। इसलिए उन्होंने सामान्य रूप से सामाजिक क्षेत्र में 'हस्तक्षेप' की नीति को ही अपनाया। परन्तु इन विविधताओं के सन्दर्भ में भी एकता के दो तत्वों को अवलोकित किया जा सकता था। ये तत्व थे – ब्राह्मण और शूद्र। देश के विभिन्न भागों में कृषि व्यापार में रत बिरादरियों के स्वरूप में अन्तर हो सकता था, परन्तु पुरोहिताई करने वाले ब्राह्मण और सेवा करने वाले शूद्र की स्थिति में कोई अन्तर नहीं रहा। काल और क्षेत्र से उनकी स्थिति अप्रभावित रही। [2] यह ठीक है कि पुरोहिताई का कार्य राजनीतिक सत्ता को प्रभावित नहीं करता, किन्तु जनमानस का मार्ग – दर्शन करने में उसकी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। ब्राह्मण की ही भाँति शूद्रों का भी समूचे भारत में एक ही प्रकार का व्यवसाय था ; वे जमीदारों को अपना श्रम बेचते थे, उनके खेतों में काम करते थे तथा उन सभी कर्तव्यों का पालन करते थे जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती थी। सत्य यह है कि वे भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी थे। उनकी अनुपस्थिति में यहाँ की किसी भी प्रणाली का उत्पादन सम्भव नहीं था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज के बहुरंगी ढाँचे में एकता के तत्वों की रचना परावलम्बी ब्राह्मण और उत्पादनशील शूद्रों के द्वारा ही हुई है। यह भी एक

अद्‌भुत बात है कि आरम्भ में अंग्रेजों ने जिस नौकरशाही की रचना की थी, उसमें ब्राह्मणों की संख्या सबसे अधिक थी ; परन्तु बंगाल और मद्रास में उन्होंने जो सबसे पहली भारतीय सेना खड़ी की थी, उसमें निम्न स्तर पर अनुसूचित जातियों के सदस्यों की बहुतायत थी। [3]

अंग्रेजी शासन के दौरान भारतीय समाज में आमूल–चूल परिवर्तन हुए। पुराने आर्थिक – राजनीतिक – सामाजिक वर्ग छिन्न–भिन्न हो गए तथा नयी आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का उदय हुआ।

(1) भारतीय सामाजिक दशा :

तत्कालीन भारतीय सामाजिक दशा की सही जानकारी के लिए वर्गो का निर्धारण समाज की उत्पादन व्यवस्था के आधर पर होता है। इसलिए यदि सामाजिक वर्गो को आर्थिक वर्गो की संज्ञा प्रदान की जाए, तो वह अनुचित न होगा। [4] वस्तुतः उत्पादन–व्यवस्था के आधार पर ही वर्ग–सम्बन्धों की रचना होती है और जब एक उत्पादन–व्यवस्था टूटती है तो साथ में उस पर आधारित सामाजिक एवं आर्थिक वर्ग भी टूट जाते हैं। नई उत्पादन व्यवस्था के फलस्वरूप नए उत्पादन सम्बन्धों एवं नए सामाजिक–आर्थिक वर्गो का उदय होता है। [5] अंग्रजी शासन ने इस देश में नई उत्पादन–व्यवस्था को जन्म दिया था जिसके परिणामस्वरूप कुछ पुराने वर्ग नष्ट हुए, जैसे हस्तशिल्पी वर्ग और कुछ नए वर्ग पैदा हुए, जैसे सूदखोर वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, मध्यम वर्ग और मजदूर वर्ग। यह ठीक है कि देश के विभिन्न भागों में नए वर्गो के उदय की प्रक्रिया एक जैसी नहीं थी, परन्तु इन वर्गो ने अस्तित्व में आने के बाद जो भूमिका अदा की, उसने समूचे भारत को प्रभावित किया। औपनिवेशिक शासन के दौरान जिन वर्गो की प्रमुखता रही, वे थे रजवाडे, जमींदार, कृषक, मजदूर वर्ग था। यहाँ इन वर्गो पर उपनिवेशवाद के प्रभाव एवं भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इनकी

भूमिका की विवेचना अपेक्षित हैं। [6]

रजवाड़े :

ब्रिटिश शासन के दौरान लगभग एक–तिहाई भारत पर देशी राजाओं का शासन था। यद्यपि इन रियासतों के शासकों को राजा कहा जाता था, उनकी प्रजा उन्हें 'अन्नदाता' कहकर सम्बोधित करती थी तथा उन्हें दैवी गुणों से सम्पन्न मानती थी, तथापि वास्तविकता यह थी कि वे ब्रिटिश सरकार की कठपुतली से अधिक कुछ नहीं थे। उनके पास न तो राजनीतिक शक्ति थी और न सैनिक। आर्थिक एवं औधोगिक मामलों में इनकी रियासतें सेठों के प्रभाव में थी। अपनी इस स्थिति से दुःखी होकर कुछ असन्तुष्ट राजाओं ने 1857 में विद्रोह का झण्डा बुलन्द भी किया था, परन्तु उनका यह संघर्ष राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण नहीं कर सका। इस संघर्ष ने देशी नरेशों तथा ब्रिटिश शासन दोनों के दृष्टिकोणों को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। 1858 की घोषणा के अनुसार महारानी विक्टोरिया ने इन्हें हानिरहित मानकर यह ऐलान किया कि इनके अधिकार, सम्मान एवं प्रतिष्ठा की रक्षा उसी प्रकार से की जायेगी जैसे कि स्वंय महारानी के अधिकार एवं सम्मान की रक्षा की जाती है। स्पष्टतः इस घोषणा का उद्देश्य उन शक्तियों के विकास को अवरोधित करना था जो राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील थी और इस काम में देश के सामन्ती एवं प्रतिक्रियावादी राजाओं से बढ़कर और कौन दूसरा वफादार सहयोगी हो सकता था। [7]

राजा महाराजाओं पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव कई प्रकार से पड़ा। प्रथम, उन्हें शक्तिहीन एवं निष्प्रभावी बना दिया गया। दूसरे रियासतों की अर्थव्यवस्था स्थानीय न रह सकी और वह राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था का अंग बन गई तथा इस प्रकार रियासतें भी ब्रिटिश शोषण प्रणाली के प्रभाव से अछूती न रह सकीं। [8] तीसरे कुछ

राजे महाराजे उद्योग–धन्धों के क्षेत्र में भी उत्तर आए और नवोदित पूँजीपति वर्ग में शामिल हो गए।

इन राजा–महाराजाओं के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि जैसे–जैसे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का जनाधार व्यापक होता गया उनकी ब्रिटिश भक्ति भी उसी मात्रा में बढ़ती गई। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इनकी सक्रिय सहानुभूति अंग्रेजों के साथ थी। ब्रिटिश शासन ने भी इन्हें पूर्ण संरक्षण प्रदान किया। अंग्रेजों ने जहाँ पूँजीवादी विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने देश में सामन्ती व्यवस्था का उन्मूलन करना आवश्यक समझा था, वहाँ उन्होंने भारत में औपनिवेशिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए तथा स्वतंत्रता की लहर को रोकने के लिए सामन्ती तत्वों से गठजोड़ करना आवश्यक समझा।[9] इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजे–महाराजाओं के संदर्भ में ब्रिटिश शासन की भूमिका एक बैसाखी की थी; ब्रिटिश शासन के हट जाने के बाद यह बैसाखी भी टूट गई और राजा–महाराजे भी लड़खड़ा कर नीचे गिर पड़े और अन्ततोगत्वा मिट गए।

जमींदार वर्ग :

अंग्रेजों के आने के पूर्व भूमि पर निजी स्वामित्व नहीं था ; गाँव की समूची भूमि ग्राम समाज की थी। गाँव एक ऐसा समुदाय था जो आत्म–निर्भर था, अपने में संतुष्ट था जिसकी सामाजिक संरचना जातिगत एवं अपरिवर्तनशील थी। अंग्रेजों ने भारत के आत्म–निर्भर ग्राम समुदायों को नष्ट किया। उनके शासन काल में मुख्य परिवर्तन भूमि के स्वामित्व के क्षेत्र में हुआ। गाँव में अब तक प्रचलित सामूहिक स्वामित्व को समाप्त करके निजी स्वामित्व की प्रणाली आरम्भ की गई। 1793 में लार्ड कार्नवालिस के समय में स्थायी बन्दोबस्त किया गया जिसके फलस्परूप देश के जमींदारों के नये वर्ग का उदय हुआ। इस वर्ग को पैदा करने में अंग्रेजो के

दो उद्देश्य थे : प्रथम, जमींदारों को सरकार और किसानों के बीच में बिचौलिया बनाकर लगान आसानी से वसूला जा सकता था। दूसरे जमींदारों के रूप में एक ऐसा भरोसेमंद, राजभक्त वर्ग खड़ा किया जा सकता था जो जहाँ अपने अधीन किसानों को नियंत्रित कर सकता था, वहाँ वह दूसरी ओर ब्रिटिश शासन को अपनी वफादारी अर्पित कर राष्ट्रीय चेतना के विकास को अवरोधित कर सकता था। [10] कहने की आवश्यकता नहीं कि जमीदारों के रूप में ब्रिटिश शासन को एक देसी सामाजिक आधार प्राप्त हुआ।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रति जमीदारों का दृष्टिकोण भी वही था जो राजा–महाराजाओं का था। जमीदारों का यह वर्ग जहाँ अंग्रेज भक्त था, और इसलिए राष्ट्रद्रोही भी था, वहाँ उन्होंने कृषि–व्यवस्था के विकास में कोई योगदान न देकर यह भी प्रमाणित कर दिया कि उनका वर्ग पूर्णतयाः अनुपयोगी था। [11]

कृषक वर्ग :

अंग्रेजी शासन के पहले, जैसा कहा जा चुका है, ग्राम समुदाय के पास ही भूमि का स्वामित्व था। किसान आत्म–निर्भर ग्राम–समुदाय के लिए जमीन जोतता था, सारे गाँव के लिए फसल उगाता था तथा उस पर लगान का कोई बोझ भी नहीं था। अंग्रेजों ने जमींदारी प्रथा आरम्भ की जिसके फलस्वरूप दो प्रकार के किसानों का जन्म हुआ–बटाईदार किसान तथा रैपतवाड़ी किसान। बटाईदार किसान बटाई पर जमींदारों से जमीन लेते थे तथा उन्हें जमींदार को इसके लिए एक निश्चित लगान देना होता था। रैपतवाड़ी किसान भी जमींदार को लगान देने के लिए बाध्य थे। यह लगान इतना अधिक होता था जो किसान की सामर्थ्य से बाहर था। जमींदार किसान से न केवल लगान वसूल करते थे, वे उनसे विभिन्न प्रकार की गैर–कानूनी एवं अन्यायपूर्ण रकमें भी वसूल करते थे, इन गैर–कानूनी वसूलयाबियों को उन्होंने

कुछ नाम भी दे रखे थे । यदि जमींदार को मोटर खरीदनी है, तो मोटर खरीदने के लिए जो रकम किसान से वसूली जाती थी, उसे मोटराना का नाम दिया गया था। इसी प्रकार हाथी खरीदने के लिए जो गैरकानूनी बसूलयाबी होती थी, उसे हथौना कहते थे। इन कानूनी एवं गैर–कानूनी करों का भुगतान करने के लिए किसानों को सूदखोरों से ऋण लेना पड़ता था और इस प्रकार उनके लिए कभी न खत्म होने वाला मुसीबतों का सिलसिला शुरू होता था। इनके परिणापस्वरूप किसान को अपनी जोत से बेदखल होना पड़ता था तथा कर्जे को चुकाने के लिए उसे बेगार भी करनी पड़ती थी। स्पष्टतः इस संदर्भ में खेती की उन्नति नहीं हो सकती थी। किसान की स्थिति भी दिन पर दिन खराब होती गई। जमीन किसानों के हाथ से निकलकर उन लोगों के हाथ में चली गई जिनका खेती से कोई दूर का भी सम्बंध नहीं था। इस प्रकार भूमि–हीन किसानों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। [12] इस पृष्ठभूमि में यदि किसान भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समर्थक बन गए तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। 1850 के बाद देश में किसान विद्रोहों के अनेक उदाहरण देखने को मिलते है। 1855 में संथाल विद्रोह हुआ। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रति सहानुभूति की भावना सबसे पहले उन किसानों में आई जिनका सम्बन्ध रैपतवाड़ी प्रथा के साथ था। ऐसा इसलिए था क्योंकि इन किसानों को लगान सीधा सरकार को देना होता था, अतः वे अंग्रेजों के नंगे जुल्मों का शिकार थे। इसके विपरीत बटाईदार किसानों का मुख्य संघर्ष जमींदारों के साथ था। अल्प समय में ही दोनों प्रकार के किसान भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि जमींदार, सूदखोर और व्यापारी आदि उन सब लोगो को जो उनकी मुसीबतों के लिए जिम्मेदार थे, अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त था। [13]

पूँजीपति वर्ग :

भारत में पूँजीवादी उत्पादन की पद्धति का आरम्भ किसी सामाजिक क्रान्ति के माध्यम से नहीं हुआ जैसा यूरोप में हुआ था। वस्तुतः उसे भारत में अंग्रेजों ने ऊपर से अपने हित में आरोपित किया था। यहाँ आने के बाद उन्होंने दलालों और बिचौलियों के एक वर्ग को जन्म दिया जिससे पहले से चली आ रहीं व्यापार करने वाली बिरादरियों को बड़ी आर्थिक क्षति का सामना करना पड़ा। ये दलाल बाहर से पक्का माल आयात करते थे तथा कच्चे माल का निर्यात करते थे। इस काम में ब्रिटिश पूँजीपतियों की महत्वपूर्ण सहभागिता थी। व्यापार के इस नये रूप के फलस्वरूप गाँवों की आत्म–निर्भरता का लोप हो गया, यातायात के साधनों का विकास हुआ जिससे ग्रामों का देश के विभिन्न भागों के साथ सम्पर्क स्थापित हो गया। परन्तु इससे ग्रामीण जनता का शोषण भी और अधिक उग्र हो गया। चूँकि ये नये व्यापारी केवल दलाल और बिचौलिए थे इसलिए उनकी पूँजी से कृषि उत्पादन की वृद्धि में तो कोई सहायता नहीं मिली, उनकी ऋण–ग्रस्तता की वृद्धि में वह अवश्य सहायक हुई। कालान्तर में ये दलाल ब्रिटिश पूँजीपतियों के कनिष्ठ साझीदार बन गए और धीरे–धीरे इन्होंने स्वतंत्र रूप से अपने उद्योगों की स्थापना की।[14] इस प्रकार भारतीय पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय पूँजीपति वर्ग ब्रिटिश शासन का आत्मज है। अपने जन्म के थोडे समय के बाद ही भारतीय पूँजीपतियों के अंग्रेजी शासन के साथ अन्तर–विरोध उभर कर सामने आने लगे। नवोदित भारतीय पूँजीपतियों ने नवजात उद्योगों में पूँजी लगाना आरम्भ कर दिया। अपने नवजात उद्योगों को विकसित करने के लिए इन्हें सरकार के संरक्षण की आवश्यकता थी। औपनिवेशिक शासकों ने संरक्षण का आश्वासन तो दिया, पर पूरा नहीं किया। इसके विपरीत 1856 में भारतीय उत्पादों पर 31 प्रतिशत उत्पाद शुल्क लगा दिया गया जिससे भारतीय माल विदेशी माल से

टक्कर न ले सके। यही नहीं, विदेशी माल पर आयात–कर नहीं लगाया गया, जबकि भारतीय उद्योगपति इसकी माँग कर रहे थे। यहाँ एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि भारतीय उद्योगों को मशीनों तथा तकनीकी जानकारी इंग्लैण्ड से ही प्राप्त होती थी। इसलिए ब्रिटिश पूँजीपतियों के साथ अन्तर्विरोध के बावजूद भारतीय उद्योग ब्रिटिश पूँजी के नियंत्रण में थे। औपनिवेशिक शासकों ने इस नियंत्रण का भरपूर लाभ उठाकर जो उद्योग सम्बन्धी नीति निर्मित की उसके अनुसार यहाँ भारी उद्योगों का निर्माण नहीं होने दिया तथा भारतीय उद्योग ब्रिटिश उद्योगों के मुकाबले में खड़े न हो सके इसलिए उन्हें उस कच्चे माल के प्रयोग से वंचित किया गया जिसकी ब्रिटिश उद्योगों को आवश्यकता थी। [15]

सरकार की इस उद्योग–विरोधी नीति से दुःखी होकर भारतीय उद्योगपतियों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को अपना भरपूर समर्थन दिया ।

मजदूर वर्ग :

सामान्यतः मजदूर वर्ग का उदय औद्योगीकरण की प्रक्रिया के साथ जुड़ा हुआ है। परन्तु भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया के आरम्भ होने के पूर्व अंग्रेजों ने चाय, कॉफी तथा रबड़ के बागानों में पूँजी निवेश करना शुरू कर दिया था। इनके अतिरिक्त रेल–निर्माण की प्रक्रिया भी फैक्टरी और कारखानों की स्थापना के पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी। इस तरह यह कहा जा सकता है कि भारत में मजदूर वर्ग का उदय लगभग 1850 के बाद हुआ जब अंग्रेजों ने चाय, कॉफी, रबड़ के बागानों में धन लगाना आरम्भ कर दिया। इन बागानों में काम करने वाले मजदूरों की स्थिति बंधुआ मजदूरों जैसी थी, उनकी दर्दनाक स्थिति की जानकारी इन्डिगो कमीशन की रिपोर्ट से प्राप्त की जा सकती है। [16] 1850 के बाद देश में औद्योगीकरण का सिलसिला शुरू हुआ जो लगातार बढ़ता रहा, फलतः

देश के बड़े नगरों में विभिन्न उद्योगों की स्थापना हुई और इसके परिणामस्वरूप कारखानों में काम करने वाले मजदूर वर्ग का जन्म हुआ। उस समय देश में बेरोजगारी इतनी अधिक थी कि जिस किसी को कहीं भी किसी भी दाम पर काम मिला, वह अपने को भाग्यशाली समझता था।

भारत के मजदूरों ने आरम्भ से ही दो मोर्चो पर संघर्ष किया है। एक ओर तो उसने विदेशी साम्राज्यवाद के विरूद्ध लड़ाई लड़ी है तो दूसरी ओर उसने देशी पूँजीपतियों के खिलाफ संघर्ष किया है। पूँजीवाद के विरूद्ध संघर्ष ने उसे समाजवादी दृष्टिकोण प्रदान किया है तथा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम ने उसे साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टिकोण दिया था।[17]

मध्यम वर्ग :

किसी भी सामाजिक संरचना में मध्यम वर्ग का निर्धारण सुगम नहीं है। औपनिवेशिक शासन में मध्यम वर्ग में तीन श्रेणियों के लोगों को शामिल किया जा सकता था –

1. सरकारी कर्मचारी
2. पेशेवर लोग जैसे वकील, डाक्टर, अध्यापक, लेखक, पत्रकार आदि।
3. छोटे व्यापारी, कारीगर इत्यादि।

ब्रिटिश शासन में जो प्रशासनिक व्यवस्था देश में उदित हुई उसके संचालन के लिए सरकारी कर्मचारियों की आवश्यकता थी। ये कर्मचारी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करते थे। ये कर्मचारी रूप–रंग में तो भारतीय थे, किन्तु उनका मिजाज अंग्रेजी था। उन सब बातों से अरूचि थी जो भारतीय थी।

इनके विपरीत डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों, लेखकों, पत्रकारों, समाजसुधारकों का जो वर्ग उभर कर आया, उसकी शिक्षा–दीक्षा यद्यपि ब्रिटेन की

उदारवादी दार्शनिक परम्परा में हुई थी तथापि उसकी जड़ें देश की जमीन में थीं।

वह भारत के पुरातनपंथी अतीत से छुटकारा पाना चाहते थे, परन्तु उसके उपरान्त देश में कैसी सामाजिक व्यवस्था हो, इस बारे में उनके दृष्टिकोण में कोई सुनिश्चितता नहीं थी। [18]

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत में मध्यम वर्ग का जन्म ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद हुआ। चूँकि इस वर्ग के स्वरूप में एकरूपता नहीं थी इसलिए भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रति इस वर्ग के दृष्टिकोण में भी एकरूपता का अभाव था।

प्रारम्भिक सेवाओं में कार्यरत अधिकारियों का दृष्टिकोण सामान्यतः भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के पक्ष में नहीं था। उन्हें ब्रिटिश प्रशासन में सभी प्रकार की सुख–सुविधाएं प्राप्त थीं। आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से वे अच्छी स्थिति में थे। इनका विश्वास था कि अंग्रेज मूलतः न्यायप्रिय है और भारत में उनका शासन भगवान की कृपा के कारण हुआ है।

इनके विपरीत मध्यम वर्ग में वे लोग भी थे जिन्हें डाक्टर, वकील, पत्रकार, अध्यापक आदि की श्रेणी में रखते है। ये राष्ट्रवाद की भावना से ओतप्रोत थे तथा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इनकी भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। जैसा कहा जा चुका है इनका राजनीतिक प्रशिक्षण ब्रिटेन की उदारवादी परम्परा में हुआ था। अतः आरम्भ में इस वर्ग के सदस्यों को भी अंग्रेजों की लोकतंत्र एवं उदारवाद में आस्था व विश्वास था। परन्तु जब उस वर्ग के लोगों के भ्रम टूटे और उनका मोह भंग हुआ तो उन्होंने ब्रिटिश शासन के विरूद्ध देश की आजादी की लड़ाई में डटकर हिस्सा लिया। इस वर्ग के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि देश में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सुधारों की जितनी भी माँगे

समय–समय पर प्रस्तुत हुई, उनको संघर्ष का रूप देने में इसी वर्ग के लोगों का योगदान था। आधुनिक भारत के निर्माण में तथा इसे पुरानी रूढ़िवादी संस्कृति के दलदल से निकालकर उसे लोकतांत्रिक समाज के निर्माण की दिशा में अग्रसर करने में इस वर्ग ने प्रमुख भूमिका अदा की है। [19]

(2) राजनैतिक परिदृष्य :

1857 का विद्रोह ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध देश का प्रथम सामूहिक प्रयास था। 1857 की घटनाओं ने भारतीय राजनीति को एक नया मोड़ दिया। उसने भारत में राष्ट्रीय चेतना का बीजारोपण किया और कालान्तर में यही चेतना भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के रूप में उभरी।

1857 के विद्रोह ने यह सिद्ध कर दिया कि भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना जागृत होने लग गयी थी। सामान्यतः साम्राज्यवाद का तथा विशेष रूप से भारत के सन्दर्भ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का उद्देश्य उपनिवेश की जनता का राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक शोषण रहा था। इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा जाता कि विदेशी राजनीतिक दासता के पंजो में जकड़ी किसी पराधीन भावना का संचार शोषक देश ही करता है। यद्यपि 1857 की क्रान्ति को विदेशी सरकार ने तलवार तथा शस्त्र बल से दबा लेने में सफलता प्राप्त कर ली थी, तथापि जिस स्वेच्छाचारितावाद की नीति से इसके पश्चात् ब्रिटिश सरकार भारत में अपना साम्राज्य सुदृढ़ करने में तुल गयी, उसकी प्रतिक्रिया यही हुई कि भारत में राष्ट्रवादी तत्व विकसित होने लगे और उनका मुख्य उद्देश्य देश को पराधीनता से मुक्त कराना था। परन्तु आवश्यकता इस बात की थी कि भारतीय राष्ट्रीयता की भावना को सुसंगठित किया जाये। ब्रिटिश शासन भारत में इतनी सुदृढ़ता से स्थापित हो चुका था कि उसे उखाड़ फेंकने के लिए राष्ट्रीय एकता तथा संगठन से युक्त

देशव्यापी संघर्ष को भी उतना ही अधिक सुदृढ़ तथा शक्तिशाली बनाया जाये। भारत की आम जनता का विशाल भाग ऐसी राष्ट्रीयता तथा राजनीतिक चेतना से मुक्त नहीं था। अतः 1857 में जहाँ राजनीतिक तथा राष्ट्रीय चेतना के विकास के कार्य–कलाप देश में विकसित होने लगे, वहाँ ब्रिटिश शासन के अत्याचार भी उसी गति से बढ़ने लगे। ब्रिटिश शासकों ने राष्ट्रीय चेतना तथा संघर्ष को दबाने में अपनी दमनकारी नीतियों को किसी भी प्रकार कम नहीं किया। इसी के फलस्वरूप भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विकास को भी साम्रगी प्राप्त होती गयी। ज्यों–ज्यों राष्ट्रीय चेतना में विकास होने लगा त्यों–त्यों ब्रिटिश शासकों ने देश की राष्ट्रीय एकता को विनष्ट करने के उद्देश्य से यहाँ की जनता में भेदभाव तथा विघटन उत्पन्न करने के साधनों को प्रोत्साहन देना शुरू किया, ताकि उनकी सत्ता बनी रहें।

1857 के विद्रोह के कारण अंग्रेज लोग भारतवासियों को शंका की दृष्टि से देखने लग गये थे। वाइसराय के लिए यह बात अस्वभाविक नहीं थी कि वह भारतवासियों को अशक्त बनाने में कोई कमी करता। उसने अपने शासन काल में 'शस्त्र विधेयक' पास करके ऐसा कानून बनाया जिसके अनुसार भारतवासियों को बिना सरकार की आज्ञा प्राप्त किये शस्त्र रखने का अधिकार नहीं रहा। परन्तु भारत में रहने वाले यूरोपीय व्यक्तियों पर यह कानून लागू नहीं होता था। इस प्रकार अंग्रेजों ने भारतवासियों को निशस्त्र कर दिया। साथ ही इससे सम्बद्ध जातीय भेदभाव की नीति के कारण भारतीय जनता का ब्रिटिश शासन के विरूद्ध प्रतिक्रिया दर्शाना स्वाभाविक था।[20] रानी लक्ष्मीबाई की दृष्टि में यह कानून भारतीयों का महान अपमान था, क्योंकि इसके द्वारा भारतीय जनता को स्वयं अपने ही देश में हीनतर स्तर का नागरिक बना दिया गया था।

सन् 1857 के विद्रोह में ब्रिटिश शासकों ने कठोर दमन की नीति

अपनायीं थी। अकाल पड़ने पर राहत कार्यों की उपेक्षा करना, सेना पर आवश्यक व्यय, दरबारों में फिजूलखर्ची, भारतीय शस्त्र विधेयक, कपास आयात–कर का उन्मूलन आदि ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विकास में आग के ऊपर तेल डालने का कार्य किया। इन घटनाओं ने भारत की जनता को स्पष्टतया बता दिया कि अंग्रेज जाति भारतीयों के ऊपर श्रेष्ठता का दावा करती है। अतः यह एक आत्म–सम्मान का प्रश्न था जिसे कोई भी सम्माननीय भारतीय सहन नहीं कर सकता था। ब्रिटिश शासकों के इन कुचक्रों से भारतवासियों को यह लगने लगा कि जब तक भारतवासी अंग्रेजों क़ी राजनीतिक दासता में रहेगें, तब तक उनको आत्म–सम्मान, आर्थिक विकास एवं उनके नागरिक अधिकारों की सुरक्षा नहीं हो सकती। अतः ऐसा शासन भारतवासियों को सहन नहीं हो सकता था।

जहाँ ब्रिटिश शासक यह विश्वास कर रहे थे कि अब भारत में उनका साम्राज्यशाही शासन पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका है और उन्होंने विरोधियों को भली–भाँति दबा लिया है, वहाँ दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरूद्ध भारतवासियों में एक नयी चेतना भी जागृत हो चुकी थी। यद्यपि अभी यह अंकुरित ही हो रही थी, तथापि यह एक ऐसा बीज था जिसे नष्ट कर सकना ब्रिटिश शासकों के लिए असम्भव था।[21] वह कहीं न कहीं से फिर अंकुरित होता जाता। भारत में ऐसी राष्ट्रीय चेतना जागृत होने के बहुमुखी कारण थे, इनमें से लगभग सभी कारण ब्रिटिश शासन की देन कहे जा सकते हैं, यदि अंग्रेज लोग ईमानदारी की भावना से भारतीय प्रजा के. हितों को ध्यान में रखकर शासन की नीतियाँ अपनाते तो सम्भव था कि उनका साम्राज्य भारत में और अधिक समय तक चलता, साथ ही यदि वे मुसलमान आक्रमणकारियों की भाँति भारत में ही बस जाते तथा यहाँ शासन करने का उद्‌देश्य रखते और अपने को भारतीयता के रंग में रंगना चाहते तो भारत का राजनीतिक

इतिहास कुछ और होता, जिस प्रकार भारत में हिन्दू तथा मुसलमान साथ–साथ एक भारतीयता की भावना से रह रहे हैं उसी प्रकार वे भी रह सकते थे, परन्तु अंग्रेज भारत में भारतीय बनने के लिए नहीं आये थे। उनका जातीय अभिमान, शोषण नीति तथा दमनकारी शासन एक दुधारी तलवार के रूप में सिद्ध हुआ।

सन् 1857 के अन्त तक भारत में राष्ट्रीयता की चेतना जागृत हो चुकी थी, परन्तु अभी उनमें सक्रियता का अभाव था, इसे स्वतंत्रता संग्राम का रूप प्राप्त नहीं हो पाया था। कोई भी संघर्ष बिना सुसंगठित प्रयास के सफल नहीं हो सकता। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के लिए राष्ट्रीय चेतना को सुसंगठित करने के प्रयासों में महारानी लक्ष्मीबाई द्वारा किये गए प्रयास प्रथम कदम थे। रानी लक्ष्मीबाई ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को सुसंगठित रूप में संचालित करने की प्रेरणा दी। अतः रानी लक्ष्मीबाई को यदि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का प्रथम सक्रिय प्रणेता कहा जाए तो यह सर्वथा उपयुक्त होगा। [22]

(3) आर्थिक परिदृष्य :

भारत की आर्थिक स्थिति पर जब भी विचार हुए, वह स्वभावतः मुगल शासकों से अंग्रेजों की तुलना करता था। इस तरह की विवेचना में बहुधा यह कहा जाता था कि मुगल शासन निरंकुश था जबकि अंग्रेजों ने यहाँ जनतंत्र की स्थापना की थी, अतः मुगल शासन की अपेक्षा वह अधिक श्रेष्ठ था। [23] परन्तु इन दोनों के बीच की गई कोई भी तुलना इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकती थी कि पहले भारत की सम्पदा भारत में ही रहती थी किन्तु वह अब भारत से बाहर जा रही थी।

अतः कहा जा सकता है कि पहले जो विजेता आए वे या तो लूट का माल लेकर चले ही गये या फिर वे इस देश के शासक बन गए। जब लूटपाट करके चले गए, तक बेशक उन्होंने भारी घाव किए। लेकिन भारत ने अपने उद्योग के बल

पर फिर जीवन पाया और उसके घाव भर गए। जब आक्रमणकारी देश के राजा बन गए तब वे यहीं बस गए। उन दिनों राजा के चरित्र के अनुरूप उसका राज्य कैसा भी रहा हो कम से कम उस समय इस देश से भौतिक या नैतिक सम्पदा को ढो ले जाने का सवाल न था। [24] देश में जो कुछ पैदा होता था वह देश में रहता था, उसकी सेवाओं में जो ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया जाता था वह उसके अपने लोगों में ही रहता था। अंग्रेजों की स्थिति विचित्र थी। जो पहले लड़ाइयाँ चलायी गयी, उनसे सार्वजनिक कर्ज के रूप में भारी घाव लगे, रक्त के निरन्तर प्रवाह से ये घाव बराबर हरे रहते थे और गहरे होते जाते थे। पुराने शासक कसाई जैसे थे, कभी इधर छुरा मारा कभी उधर मारा, लेकिन अंग्रेजों के पास उनका वैज्ञानिक छुरा था और वह सीधा कलेजे तक पहुँचता था और कमाल यह है कि घाव दिखाई नहीं देता। सभ्यता, प्रगति और जाने क्या–क्या, ऊँची–ऊँची बातों का पलस्तर किया जाता था और घाव ढक जाता था अंग्रेज शासक भारत की चौकीदारी करने के लिए सिंहद्वार पर खड़े थे और सारी दुनिया को सुनाकर कहते थे, जो भी आयेगा उससे भारत की रक्षा करेंगे। [25]

निरंकुश राज्यसत्ता में साधारण प्रजा बंधुआ मजदूरों की तरह रहती है। सामन्ती राज्य सत्ता की यही विशेषता है। अंग्रेजों ने अपने मुटठीभर समर्थकों को छोडकर आम जनता को बंधुआ मजदूर बना दिया था। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि गुलाम का दर्जा बंधुआ मजदूर से अच्छा है क्योंकि बंधुआ मजदूर की तुलना में मालिक खरीदे हुए गुलाम का अधिक ध्यान रखता है। औपनिवेशिक शासनकाल में अंग्रेजों का भारत की हर चीज पर कब्जा था। सरकारी अफसरों को छोड दें तो व्यापारी, पूँजीपति, बागान के मालिक, जहाजों के मालिक सभी अंग्रेज थे। परिणामतः भारत की आवश्यकता की सभी वस्तुएं अंग्रेजों के हाथों में थी तथा

भारतीयों को बहुत ही कम आमदनी पर काम करना पड़ता था। अंग्रेजों ने इस देश में जो अर्थव्यवस्था चलाई उसमें हिन्दुस्तानियों से काम तो कराया जाता था, परन्तु उनके मेहनत के फल पर उनका कोई अधिकार नहीं था, उसके मालिक थे अंग्रेज। हिन्दुस्तानी मरें तो भले ही मर जाऐ, इसकी अंग्रेज मालिकों को कोई चिन्ता नहीं थी। इसलिए कहना चाहिए कि अंग्रेजों ने भारत में जो बंधुआ प्रथा चलाई, वह इतिहास में अभूतपूर्व थी।[26] क्रूरता एवं नृशंसता में उसने भारत में मुगल काल में प्रचलित सामन्ती व्यवस्था को भी शिकस्त दे दी। भारत से जो सम्पदा अंग्रेज ढोकर ले जाते थे उसका एक परिणाम था भुखमरी। फलतः अंग्रेजी शासन के दौरान देश में अनेक बार अकालों का सामना करना पड़ा। देश को जिस दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा था उसमें साढ़े सात करोड़ लोग सीधे प्रभावित हुए थे। इस पर भी गोरे अफसरों की तनख्वाह, पेंशन आदि के लिए 18 करोड़ रूपया वार्षिक खर्चे में कोई कटौती नहीं की गई। एक बार की भुखमरी के बाद जब दूसरी बार भुखमरी फैलती थी तब तबाही और भी ज्यादा होती थी। दरअसल भारत में निरन्तर भुखमरी की दशा थी। जब फसल अंच्छी होती थी उस समय भी लाखों हिन्दुस्तानी आधा पेट खाकर जीते थे। जब भुखमरी में लाखों लोग मर जाते थे, तब इंग्लैण्ड़ के लोगों को पता चलता था कि भारत में भुखमरी हैं।[27] भारत से सम्पदा ढोने का काम निरन्तर बढता गया, और उसके साथ ही भूख से मरने वालों की संख्या भी बढती गई।

महाजनी पूँजी के युग में अंग्रेजों ने इस देश में जिस व्यवस्था को कायम किया था, उसे विशुद्ध पूँजीवादी व्यवस्था नहीं कहा जा सकता था। पूँजीवादी स्वतंत्र आर्थिक प्रतिस्पर्धा में विश्वास करता है। परन्तु अंग्रेजों ने पूँजीवाद के इस नियम क़ो भारत में कभी लागू होने नहीं दिया। उन्होंने खुली आर्थिक होड़ से भारत के उद्योगों और व्यापार को तबाह नहीं किया, उन्होंने राजनीतिक रूप से भारत पर

अधिकार करने के बाद उसका आर्थिक शोषण किया। यहाँ के उद्योगों के विकास को अवरोधित करने के लिए सभी प्रकार के तरीके अपनाये गए कभी उत्पाद शुल्क बढ़ाया गया तो कभी आयात कर की दर नीचे गिराई गई।[28] इस प्रकार अंग्रेजों ने भारत को जिस प्रकार लूटा उसमें और पुराने लुटेरों की लूट में अन्तर था। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि – महमूद गजनवी ने भारत पर अठारह बार हमला किया और उसे लूटा, लेकिन जितना अंग्रेज एक साल में लूट कर ले गए, उतना वह अठारह साल में न ले जा सका था। उसने जो घाव किये उनका सिलसिला अठारहवें आघात के बाद खत्म हो गया, पर अंग्रेजों का घाव करने का सिलसिला जारी रहा। इस शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेज तीस लाख ले जाते थे, परन्तु बाद में सालाना तीस करोड़ ले जाते रहे। हिन्दुस्तानी जनता मरें या जियें तीस करोड़ की कीमत का सामान अंग्रेजों के यहाँ पहुँचना ही चाहिए।

लूट के रूप बदलते रहे, परन्तु अंग्रेजी राज में लूट का सिलसिला बराबर चलता रहा। स्वयं गर्वनर–जनरल ने अपने दस्तावेजों में लिखा था कि कम्पनी राज में भारी भ्रष्टाचार है तथा उसने भारतवासियों का भारी मात्रा में उत्पीड़न किया है। भ्रष्टाचार एवं उत्पीड़न का यह क्रम उस समय भी निरन्तर चलता रहा जब कम्पनी से शासन शक्ति निकलकर ब्रिटिश क्राउन के हाथों में आ गई। भारत से प्रतिबर्ष तीन से चार करोड़ पौंड़ तक की राशि इंग्लैण्ड जाती रही। निस्संदेह लूट का ऐसा उदाहरण इतिहास में मुश्किल से ही मिलें।

सम्पदा के निर्यात का एक परिणाम यह हुआ कि उद्योग–धन्धों में लगाने के लिए भारतीय पूँजी का यथेष्ट मात्रा में संग्रह नहीं हो सका। स्पष्टतः पूँजी निर्माण की अनुपस्थिति में उद्योग–धन्धों की स्थापना नहीं हो सकती थी और थोड़े बहुत उद्योग स्थापित हो भी गए थे, उन्हें विकसित नहीं किया जा सकता था।[29]

अंग्रेज भारत में पूँजी का निर्यात करते थे। पूँजी के निर्यात का दौर महाजनी पूँजीवाद का दौर है। प्रश्न यह है कि ब्रिटिश पूँजीपतियों के पास निर्यात के लिए पूँजी कहाँ से आयी? उत्तर स्पष्ट है। यह पूँजी वहीं से आयी जहां से औद्योगिक क्रान्ति के लिए आयी थी। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ब्रिटिश पूँजीवाद ने भारतीय लूट के बल पर ही औद्योगिक पूँजीवाद की मंजिल में कदम रखा था, उसके बाद उसी लूट के बल पर उसने महाजनी पूँजीवाद के युग में प्रवेश किया था।

हर साल भारत से तीन करोड़ पौंड़ की रकम खींच ली जाती है और बदले में उसे कुछ नहीं मिलता। इस रकम का कुछ हिस्सा भारत वापस आता है, किन्तु भारतीय जनता के लाभ के लिए नहीं। 'वह ब्रिटिश पूँजी के नाम पर वापस आता है। ब्रिटिश पूँजीपति इसका उपयोग भारतीय धरती से उसकी खनिज सम्पदा निकालने के लिए करते है और इस सम्पदा से केवल अंग्रेज समृद्ध होते हैं। इस प्रकार भारत का रक्त बहाया जाता है। और अठारहवीं सदी के मध्य से बराबर बहाया जाता रहा है।' [30] बात बिलकुल सही है। ब्रिटिश कम्पनियों ने जब रेले बनाने के लिए यहाँ पूँजी लगायी तब वे अपने लाभ के लिए भारत में लूटी हुई सम्पदा का ही एक हिस्सा लगा रहे थे। इस प्रकार रेल आदि के निर्माण के लिए उन्होंने जो रकम इस देश को उधार के रूप में दी उसके एवज में और ब्याज के रूप में उन्होंने अरबों और खरबों की सम्पत्ति भारत से वसूली है, जबकि उनके द्वारा उधार दिया गया धन कुछ करोड़ों में ही था।

भारतीय सम्पदा की इस नंगी लूट की पृष्ठभूमि में औसत हिन्दुस्तानी की स्थिति 'खिदमतगारों और टहलुओं' जैसी थी। अंग्रेज भारत का जो औद्योगीकरण कर रहे थे, वह यथार्थ में उनके अपने उद्योग–धन्धों का विकास था। भारत में मजदूरों

को जितनी कम पगार देनी होती थी, उतनी कम पगार में उन्हें इंग्लैण्ड में मजदूर नहीं मिल सकते थे। इसलिए भारत में पूँजी लगाना उनके लिए हितकर था। परन्तु भारत में पूँजीवाद के विकास के लिए यह आावश्यक था कि इंग्लैण्ड और भारत में विदेशी पूँजी से संचालित कारखानों में उत्पादित माल का बहिष्कार किया जाए तथा देशी पूँजी से निर्मित हिन्दुस्तानी कारखानों में उत्पादित वस्तुओं का ही प्रयोग किया जाए। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का यही प्रयोजन था। [31]

भारत को लूटने के लिए अंग्रेजों ने युद्ध के तरीके का भी खुलकर इस्तेमाल किया। दरअसल पूँजीवादी अर्थतंत्र ने अपने जन्म के समय ही युद्धों के तरीके को प्रयुक्त किया था। स्पष्टतः ब्रिटेन इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं हो सकता था। अंग्रेजों ने अपने राज की रक्षा के लिए भारत की सीमाओं के बाहर बर्मा, अफगानिस्तान आदि स्थानों पर युद्ध किये। परन्तु इन युद्धों का सम्पूर्ण व्यय भारतीय कोषागार को वहन करना पड़ा जबकि इन युद्धों से केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद को लाभ पहुचता था भारतीय जनता को नहीं। उदाहरण के लिए अंग्रेजों ने चीन से लड़ाई की और कहा कि यह भारत के हित में है। परन्तु सच बात यह है कि वह ब्रिटेन के व्यपारिक हितों की अभिवृद्धि के लिए लड़ी गयी थी। इसी प्रकार ईरान से लड़ाई हुई और यह कहाँ गया कि रूस आगे बढता चला आ रहा है और उसे रोकना बहुत जरूरी है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अंग्रेज प्रतिवर्ष भारत से अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लड़े गये युद्धों के नाम पर एक करोड़ से भी अधिक की रकम वसूल कर रहे थे और यह सब कुछ भारतीय किसानों को भूखा मारकर किया जा रहा था। [32]

मौन्टगोमरी मार्टिन ने 'ईस्टर्न इण्डिया' में 1838 में लिखा था –

ब्रिटिश इण्डिया से पिछले तीस साल में सालाना ड्रेन तीस लाख पौण्ड का बनता है, बारह प्रतिशत की सामान्य दर से चक्रवृद्धि ब्याज लगाया जाये तो 72 करोड़ 39 लाख की विशाल धनराशि बनेगी। इस निर्मम लूट के सन्दर्भ में औपनिवेशिक काल में भारत की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। देश के साधन इसके कारण बुरी तरह क्षीण होते गए, राष्ट्रीय उद्योग–धन्धों की शिराओं से जीवन रक्त खींच लिया गया और फिर कोई पोषक तत्व उन तक पहुँचने नहीं दिया गया जिससे उसकी कमी पूरी हो सकती। अंग्रेज यहाँ से सोना–चाँदी ढो ले गये। जब अंग्रेजी ड्रेन के लिए भारत के पास सोना–चाँदी नहीं रही तो वह अपनी उपज और दस्तकारी का सामान देने लगा। इस प्रकार दिन–पर–दिन उसकी अपनी संतान का हिस्सा कम होता गया तथा उत्पादन की क्षमता कम होती गयी।

ऊपर कहा जा चुका है कि अंग्रेज अहस्तक्षेप के सिद्धान्त में विश्वास करते थे जिसका अर्थ था कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में अपने हाथ दूर रखने चाहिये परन्तु भारत में उन्होंने कैसे लेसेज फेयर राज्य की स्थापना की थी इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि एक कानून बनाकर राज्य के खर्चे पर उन्होंने सिन्कोना, चाय और कॉफी के बागान को लगाने का निर्णय किया था तथा श्रमिको को न केवल इन बागानों में काम करने के लिए बाध्य किया था बल्कि काम करने से इन्कार करना दंडनीय अपराध घोषित किया था। [33]

साम्राज्यवाद का प्रमुख उद्देश्य उपनिवेश की जनता का आर्थिक शोषण होता है। राजनीतिक प्रभुत्व और आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए उन्हें तभी सफलता मिलती जब उनका यहां राजनीतिक अधिपत्य कायम हो जाता है। सम्भवतः उन्हें यह आभास रहा कि वे भारत में अधिक दीर्घ अवधि तक शासन नहीं कर सकेगे, क्योंकि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की लहर भारत में फैले बिना नही रह सकेगी और

अन्य उपनिवेशो की भाँति उन्हे भारत के राजनीतिक प्रभुत्व से हाथ धोना ही पड़ेगा। अतएव उनका प्रमुख लक्ष्य भारत में शासन करना, भारत में निवासित होकर यहाँ की जनता से मिलजुल जाना कभी नहीं रहा। [34] उनमें जातीय श्रेष्ठता का दर्प इतना अधिक था कि वे कभी भी अपने को भारतीयों के साथ समानता की स्थिति में रखना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने 'मुर्गी के सब अण्डे एक साथ निकाल लेने' की नीति का अवलम्बन किया।

पाश्चात्य देशो में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मशीन निर्मित उत्पादित माल को बढाने, उसे अधिकाधिक मात्रा में बेचकर लाभ कमाने की प्रतियोगिता दिन–दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। इंग्लैण्ड में मैनचेस्टर, लिवरपूल, लंकाशायर आदि में कारखानों की संख्या निरन्तर बढती जा रही थी। इन कारखानों का पनपना विदेशों(उपनिवेशों) से प्राप्त कच्चे माल पर निर्भर था। [35] अतः भारत में अंग्रेज शासकों ने केवल नए औद्योगिक कारखानें ही नहीं खोले अपितु यहाँ से कपास आदि कच्चे मालों को इंग्लैण्ड पहुँचाकर वहाँ की मशीनों द्वारा निर्मित तैयार माल से भारत के बाजारों को भरना शुरू कर दिया। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत के करोड़ो शिल्प–जीवियों तथा कुटीर उद्योगों को भीषण आघात पहुँचा। [36] यहाँ के जुलाहों, लुहारों, चमारों आदि शिल्प–जीवियों के लिए जीवन–निर्वाह करना कठिन हो गया। उद्योग–धन्धों में ऐसा भीषण अवरोध आ जाने के परिणामस्वरूप जनता का नगरीकरण रूक गया और करोड़ों शिल्प–जीवी ग्रामों की ओर बढने लगे। कृषि भूमि पर भार बढ गया। परन्तु अंग्रेजों द्वारा जमींदारी प्रथा लागू करने का परिणाम यह हुआ कि कृषकों की स्थिति जमींदारो के अत्याचारों के कारण दयनीय हो गयी। कृषि भूमि पर भार बढने से भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो गयी और कृषि उत्पादन में कमी आने लगी। इस प्रकार भारत की जनता को भीषण आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा।
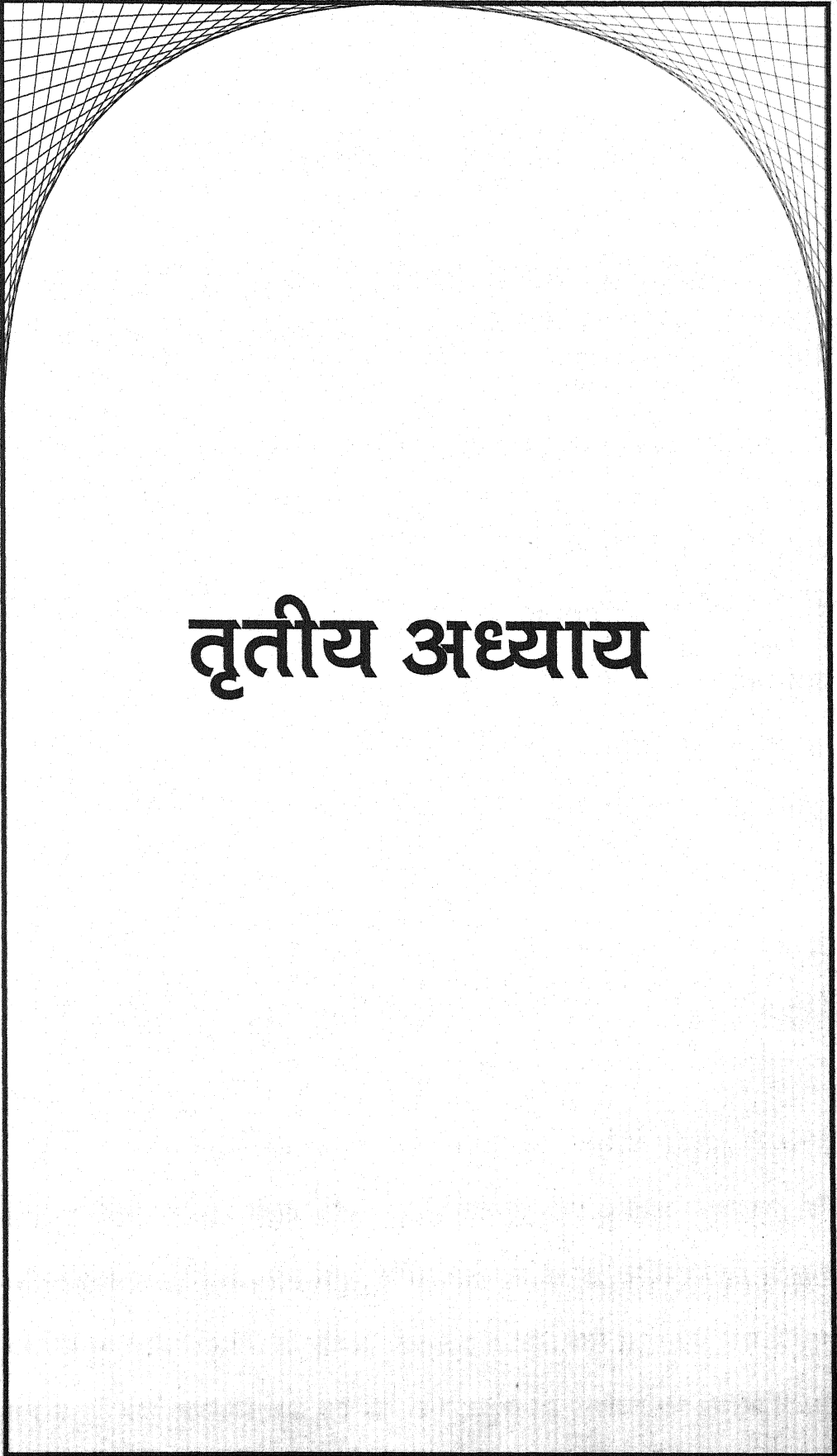
विदेशी शासकों की यह नीति कभी नहीं रही कि वे भारत में किसी भी प्रकार से उत्पादन क्षमता को बढाने का प्रयास करें।[37] इन सबके परिणामस्वरूप भारतवासियों में विदेशी शासन के प्रति रोष उत्पन्न होने लगा और वे यह प्रतीत करने लगे कि देश के आर्थिक पतन को बचाने का एकमात्र उपाय विदेशी शासन–सत्ता से देश को मुक्त कराना है।[38]

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि 1857 के काल में भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। भारत के लोग जहाँ ब्रिटिश लूट के कारण दिन पर दिन गरीब होते जा रहे थे, वहाँ उन्हें निर्धन बनाने में अंग्रेजों के भारतीय सहयोगियों की भूमिका भी कुछ कम नहीं थी। जमींदार, सूदखोर, महाजन तथा बड़े नौकरशाह सभी लुटेरे वर्ग में ही शामिल थे। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम ने इन उत्पीड़ित लोगों को संगठित करके उन्हें वाणी प्रदान की थी।

REFERENCES

1. डॉ0 दिनेश चन्द्र द्विवेदी : भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन, मीनाक्षी प्रकाशन बेगम ब्रिज, मेरठ, 1991–92, पृ0 10
2. ए0 एल0 बाशम : अद्भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, पृ0 102
3. वही पृ0 103
4. गोरेलाल तिवारी : बुंदेलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, पृ0 52
5. श्याम रंग मिश्र : बुंदेला शूर की कहानी, पृ0 32
6. अवधेश चतुर्वेदी : 1857 का स्वतंत्रता संग्राम, डायमण्ड पाकेट बुक्स (प्रा0) लि0, नई दिल्ली, 1998, पृ018
7. वही पृ0 58
8. गोविन्द सखाराम सरदेसाई : मराठों का नवीन इतिहास, तृतीय खण्ड, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1972, पृ0 30
9. अवधेश चतुर्वेदी : भारत का स्वाधीनता संग्राम, पृ0 92
10. वही पृ0 102
11. वीर विनायक दामोदर सावरकर : भारमीय स्वतंत्रता समर, पृ0 121
12. वही पृ0 109
13. वही पृ0 129
14. दीवान प्रतिपाल सिंह : बुंदेलखण्ड का इतिहास, पृ0 199
15. केशवचन्द्र मिश्र : भारत भूमि और उसके निवासी, पृ0 156
16. वही पृ0 167
17. डॉ0 वृन्दावन लाल वर्मा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृष्ठ 8

18. पदमराज जैन : गदर का इतिहास, पृष्ठ 202

19. बी0 एन0 लूनिया : मराठा प्रभुत्व, पृष्ठ 304

20. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृष्ठ 49

21. सुन्दरलाल : भारत में अंग्रेजी राज्य, पृष्ठ 22

22. एच0 डी0 मिश्रा : भारत का राजनैतिक इतिहास, पृष्ठ 21

23. एस0 एन0 सेन : सन् 1857, पृष्ठ 111

24. अमृत लाल नागर : गदर के फूल, पृष्ठ 39

25. वही पृष्ठ 41

26. पारस नीति : महारानी लक्ष्मीबाई का चरित्र, पृष्ठ 19

27. डॉ0 रामविलास शर्मा : 1857 की क्रान्ति, पृष्ठ 119

28. डॉ0 बागीश शास्त्री : बुन्देलखण्ड की प्राचीनता, पृष्ठ 99

29. गौरीशंकर द्विवेदी : बुन्देलखण्ड का बैभव, पृष्ठ 27

30. इलियास मगरवी बाँदा : तवारीय बुन्देलखण्ड, पृष्ठ 153

31. ठाकुर प्रसाद वर्मा : वीरांगना लक्ष्मीबाई, पृष्ठ 243

32. एन0 आर0 सेठी, विनोद चन्द्र पान्डे : आधुनिक भारत, पृष्ठ 175

33. W.R. Pogson : History of Bundela's, P.211

34. B.G.R. : Sources Material of the History of Freedom Movement, P.282

35. P.D.L.U.P.L. : Freedom Struggle in U.P., P.239

36. D.V. Tahmanker : The Rani of Jhansi, P.162

37. V.A. Smith : Student History of India, P.318

38. ब0 स0 विष्णु भट्ट गोडसे : माझा प्रवास (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 207

तृतीय अध्याय

भारत में अंग्रेजी राज्य

अंग्रेज भारत में व्यापारी की हैसियत से आये थे, उन्होंने 150 बर्ष तक उस दिन की प्रतीक्षा की जबकि भारत के राजनीतिक भाग्य पर वे अपना वर्चस्व स्थापित कर सकें। उन्होंने राजनैतिक परिस्थितियों का लाभ उठाकर इस देश पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया। यथार्थ में यह सब कुछ मानव इतिहास का एक विस्मयकारी तथ्य है। इसको समझने के लिए हमें तत्कालीन यूरोप और ब्रिटेन विशेषता ब्रिटेन की वैचारिक एवं संस्थागत परिस्थितियों पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सम्बन्ध है, अंग्रेज वाणिज्यवादी अपवर्जिता में विश्वास करते थे ; उन्हें बाजार से अपने प्रतिद्वन्दियों का सफाया करने के लिए युद्ध का सहारा लेने में भी कोई संकोच नहीं था। साथ ही उन्हें अपने राष्ट्र के सदस्यों के साथ भी इस क्षेत्र में किसी भी प्रकार की प्रतिस्पर्धा पसन्द नहीं थी, क्योंकि इससे मुनाफे में कमी आती थी। इन मान्यताओं की पृष्ठभूमि में यह स्वभाविक ही था कि वे अपवर्जक विशेषाधिकारों, विशेष रियायतों तथा एकाधिकारों को प्राप्त करने का प्रयास करते। अपने माल को अधिक कीमत पर बेचने तथा कच्चे माल को कम कीमत पर खरीदने की आकांक्षा ने उन्हें उपनिवेशवाद, विजय तथा अधिराज्यों की स्थापना के मार्ग पर आगे बढने की प्रेरणा दी।

उपनिवेशो की स्थापना से वाणिज्यवाद के उद्‌देश्य पूरे होते थे, उनके द्वारा इंग्लैण्ड की अपने प्रमुख उद्योगों के विकास के लिए अपेक्षित कच्चे माल की आवश्यकंता पूरी होती थी। उस समय सामान्य मत यह था कि 'उपनिवेशों का अस्तित्व इसलिए था ताकि वे अपनी मातृभूमि के लिए नष्ट न होने वाले खजाने के रूप में काम करें, उसके पक्के माल को खपा सकें और उन वस्तुओं का उत्पादन करें जिससे विदेशी

वस्तुओं के क्रय के द्वारा होने वाली धन की निकासी को रोका जा सकें।'

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ब्रिटिश संसद ने औपनिवेशिक व्यापार के ऊपर प्रतिबन्धों की एक निश्चित प्रणाली को आरोपित करने के सम्बन्ध में अनेक अधिनियम पारित किए। इन अधिनियमों के अनुसार, केवल ब्रिटिश प्रजाजन ब्रिटिश जहाजों के द्वारा उपनिवेशों से व्यापार कर सकते थे, उपनिवेशों में रहने वाले लोग अपनी निर्यात और आयात की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए केवल ब्रिटिश बन्दरगाहों पर निर्भर रह सकते थे तथा इसके अनुसार अन्तर–महाद्वीपीय व्यापार पर कुछ कर भी आरोपित किये गये। प्रतिनिधित्व समाप्त कर दिया गया, समूचा प्रशासन, विधि–निर्माण तथा कर–आरोपण की शक्तियाँ, गवर्नर और उसकी परिषद में निहित कर दी गयी। गवर्नर का मनोनयन इंग्लैण्ड के राजा के द्वारा होता था तथा परिषद में रिक्तताओं को भी उसी के द्वारा भरा जाता था।

वाणिज्यवाद सामाजिक एवं आर्थिक विकास के सन्दर्भ में सामन्तवाद की अपेक्षा अधिक विकसित चरण का प्रतिनिधित्व करता था। परन्तु उसका स्वयं का विकास निपट स्वार्थपरता तथा उग्र हिंसा के पर्यावरण में हुआ था। इस सम्बन्ध में एडम स्मिथ का यह कथन उल्लेखनीय है, 'सामन्ती संस्थाओं की समूची हिंसा जो नहीं कर सकी, उसे विदेशी व्यापार और उत्पादनों के मूक एवं संवेदनशून्य क्रियान्वयन ने शनैं–शनैं पूरा कर दिया। इंग्लिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी इसी वाणिज्यवाद की प्रतिनिधिक अभिव्यक्ति थी। और यही से भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना का सफर शुरू होता है जिसको निम्नलिखित बिन्दुओं की सहायता से समझा जा सकता है।

(1) भारत में अंग्रेजों का पदार्पण :

दिसम्बर 1600 में महारानी एलिजाबेथ ने 'अपने राष्ट्र के सम्मान तथा

अपनी प्रजा की सम्पन्नता के लिए' ईस्ट इण्डिया कम्पनी को चार्टर प्रदान किया। इस चार्टर में यह व्यवस्था की गयी थी कि कम्पनी अपना प्रबन्ध स्वयं एक प्रबन्धकीय निकाय के द्वारा करेगी; इस निकाय की रचना इस प्रकार होगी – गवर्नर, डिप्टी गवर्नर तथा 24 सदस्यों की एक समिति, परन्तु उसके आन्तरिक प्रबन्ध को नियमित करने की शक्ति पहले की ही भाँति क्राउन एवं प्रिवी कौंसिल में बनी रही। [1] जो चार्टर कम्पनी को 1600 में दिया गया था, उसे 15 बर्ष की अवधि के लिए सम्पत्ति रखने, अपने सदस्यों तथा कर्मचारियों के बीच अनुशासन कायम रखने तथा व्यापार के अपवर्जक अधिकारों को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान की गयी।

एलिजाबेथ ने कम्पनी के मामलों में रूचि प्रदर्शित की तथा उसको आर्थिक सहायता भी दी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रूप में जिस संस्था को स्थापित किया गया था, वह सही अर्थो में अपने युग के वाणिज्यवादी विचारों का प्रतीक थी। उसे भारतीय व्यापार का एकाधिकार प्राप्त था, वह बड़े से बड़े पैमाने पर सैनिक शक्ति के साथ सामुद्रिक व्यापार कर सकती थी तथा उसे विस्तार, आत्मरक्षा की पूर्णतम शक्तियाँ प्रदान थी। [2]

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का इतिहास उतार–चढावों से भरा पड़ा है। वस्तुतः ऐसा होना स्वभाविक भी था क्योंकि कम्पनी यहाँ दो मुख्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रयत्न में लगी हुई थी और वे दोनों उद्देश्य ऐसे थे जिनको प्राप्त करने का प्रयास ही संघर्षो और युद्धों को जन्म देता। वे उद्देश्य थे –

(1) अन्य ब्रिटिश व्यापारियों, अन्य यूरोपियनों, भारतीय व्यापारियों तथा भारतीय उत्पादकों के मुकाबले पूर्व के साथ व्यापार का एकाधिकार अपने पास कायम रखना तथा

(2) राज्य की शक्ति के माध्यम से भारत के राजस्व अथवा अधिशेष को हथियाना। यथार्थ में इन लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयास में उसे तीन प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा। उसके जीवन के पहले 100 वर्ष इन्हीं समस्याओं के निराकरण में लगे रहे। इन्हीं 100 वर्षो को भारत में उपनिवेशवाद के विकास का प्रथम चरण माना जाना चाहिए।

जेम्स प्रथम के शासन काल में ही कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त करने के प्रयत्न हुए। चार्ल्स प्रथम के समय में एक नयी कम्पनी कोर्टेन्स एसोसिएशन की स्थापना की गयी।[3] चार्ल्स प्रथम ने उसे पूर्वी भारत के व्यापार का लाइसेंस इसलिए दिया क्योंकि उसे धन की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में यह स्वभाविक ही था कि इन दोनों कम्पनियों के बीच संघर्ष हो जाता। क्रामवेल के समय में 1657 में इस संघर्ष का निराकरण हुआ; इसके अनुसार दोनों कम्पनियों को मिलाकर एक संयुक्त ज्वाइन्ट स्टॉक कॉरपोरेशन की स्थापना कर दी गयी।[4] चार्ल्स द्वितीय के सिंघासनारूढ होने के उपरान्त भी कम्पनी का एकाधिकार न केवल पूर्ववत् बना रहा, अपितु इस समय उन प्रदेशों पर अधिपत्य को मान्यता प्रदान कर दी गयी जो उसने कूटनीति और युद्ध के द्वारा प्राप्त किये थे। इस समय कम्पनी ने अपने अधिकार क्षेत्र में किलेबन्दियाँ भी की तथा उन किलों में सेनाओं को भी रखना आरम्भ किया। कम्पनी को इस काल में जो सबसे बड़ा लाभ प्राप्त हुआ वह यह था कि चार्ल्स द्वितीय ने बम्बई के बन्दरगाह को कम्पनी को हस्तान्तरित कर दिया। कम्पनी ने बम्बई में अपना सैनिक अड्डा स्थापित किया, जिसके फलस्वरूप उसे भारत में पश्चिमी तट पर अपने प्रभाव को कायम करने में बड़ी मात्रा में सहायता मिली। स्टुअर्ट शासन के अन्त होते–होते कम्पनी ब्रिटिश राष्ट्र से पृथक भारत में अपनी मुद्रा चलाने लगी थी; वह कर आरोपित करती थी। बन्दरगाहों का निर्माण करती थी; अपनी सेना रखती

थी, युद्ध और सन्धि करती थी। इस काल में उसके मुनाफे में भी बहुत अधिक बृद्धि हुई थी। फलतः उसके 100 पौंड के शेयर की कीमत बढ़कर 1683 में 500 पौंड हो गयी थी। [5]

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के पूर्व ही भारत में पुर्तगाली और डच मौजूद थे। अतः कम्पनी के लिए इन यूरोपियन शक्तियों का भारत से निष्कासन न केवल उसके अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए आवश्यक था अपितु इस देश में उसकी औपनिवेशिक लालसा को कार्यान्वित करने के लिए भी जरूरी था। यथार्थ में इन शक्तियों के बीच में भारत के बाहर भी प्रतिद्वन्दिता पायी जाती थी। प्रतिद्वन्दिता के प्रथम चरण में डचों ने पुर्तगाल को परास्त किया, फलतः पुर्तगाल को मसाले के द्वीपों मलाया, लंका तथा ऊतमाशा अन्तद्वीप को छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। पुर्तगालियों को परास्त करने के फलस्वरूप डचों का मनोबल स्पष्टतः ऊँचा हो गया और अब वे अंग्रेजों को भी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे। द्वीप समूहों के संघर्ष में अंग्रेजों को निश्चित रूप से पराजय का सामना करना पड़ा। अतः उन्होंने वहाँ से ध्यान हटाकर अपनी शक्ति को भारत में ही केन्द्रित करने का निर्णय किया। डचो के लिए भी यह सम्भव नहीं था कि वे एक साथ दोनों जगह अपनी स्थिति को कायम रख सकते, इसलिए उन्होंने भी मसालें के द्वीपों तक अपने आप को सीमित रखने का फैसला किया। वस्तुतः इन निर्णयों के मूल में तत्कालीन यूरोपियन परिस्थिति भी काम कर रही थी। डचों को इस काल में अनेक युद्ध करने पड़े थे। सबसे पंहला उन्हें स्पेन के विरूद्ध युद्ध लड़ना पड़ा। [6] इस युद्ध का समापन 1648 में वेस्टफेलिया की सन्धि के द्वारा हुआ। इसके उपरान्त 1652 और 1656 में उन्हें अंग्रेजों से लड़ाई लड़नी पड़ी और अन्त में 1672 से 1713 तक उन्हें फ्रांस से लड़ना पड़ा। स्पष्टतः हालैण्ड जैसा छोटा देश युद्धों के इतने बड़े भार को अपने कन्धों के

ऊपर उठाने में असमर्थ था। उसके ऊपर इंग्लैण्ड की आन्तरिक कठिनाइयों का उल्लेख किया जा चुका है। जब तक इंग्लैण्ड इन कठिनाइयों में से बाहर निकलकर आया, हालैण्ड का शक्ति के एक गम्भीर प्रतिद्वन्दी के रूप में पराभव हो चुका था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पुर्तगालियों और डचों के विरूद्ध जो हथियारबन्द लड़ाइया लड़ी थी उनके फलस्वरूप कम्पनी के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपना ध्यान भारत की मुख्य भूमि पर ही केन्द्रित करती। यथार्थ में उनसे पहले भी इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसे इस सम्बन्ध में वांछित सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। मुगल दरबार में स्थित पुर्तगाली पादरियों ने उसे फैक्टरी स्थापित करने का शाही फरमान नहीं मिलने दिया था। [7] बाद में 1608 में जब जहाँगीर के समय में उसे इस आशय की अनुमति प्राप्त भी हो गयी तो स्थानीय गवर्नर ने उसके रास्ते में बाधायें खड़ी की। परन्तु समुद्र पर अधिकार होने के कारण अंग्रेजों को गुजरात के गवर्नर को ब्लैकमेल करने में सफलता प्राप्त हो गयी और इस प्रकार सूरत में उनकी पहली बस्ती स्थापित हुई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अंग्रेजों ने इस स्थिति का दुरूपयोग करके यहाँ किलेबन्दियाँ आरम्भ कर दी तथा यहाँ के स्थानीय निवासियों को शक्ति–प्रदर्शन के बल पर उनकी वस्तुओं को सस्ते दामों पर बेचने के लिए विवश किया। परन्तु इस समय तक मुगल शक्ति का पराभव नहीं हुआ था, फलतः 1625 में ब्रिटिश फैक्टरी के प्रमुख अधिकारियों को जेल में डाल दिया गया। इसी प्रकार जब कार्टेस एसोसियेशन के सेवको ने समुद्र पर डकैती करना आरम्भ किया तो सूरत के गवर्नर ने एसोसियेशन के अध्यक्ष मेथवेल्ड तथा उसकी परिषद के सदस्यों को 1636 में कारागार में बन्द कर दिया, बाद में उन्हें अपनी रिहाई के लिए 18 हजार पौण्ड जुर्माने के रूप में देना पड़ा। इस प्रकार देश के पश्चिमी तट पर अपने प्रभाव – क्षेत्र को स्थापित करने में कम्पनी को कोई सफलता नहीं मिली थी। [8]

1668 में चार्ल्स द्वितीय ने बम्बई के बन्दरगाह का हस्तान्तरण कम्पनी को कर दिया था। और उसने आरम्भ से ही वहाँ किले बनाना शुरू कर दिया था। किन्तु बम्बई मुगलों और मराठों की संघर्ष स्थली से बहुत दूर नहीं था, यथार्थ में समूचा पश्चिमी तट इनके आक्रमण की पहुँच में था। लेकिन पूर्वी तट पर स्थिति भिन्न थी। 1565 में वालीकोट की लड़ाई के बाद विजयनगर साम्राज्य छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था और इन राज्यों को गोलकुण्डा के कुतुबशाही वंश के शासकों से सतत् खतरा बना हुआ था। कम्पनी ने इस स्थिति का लाभ उठाया और 1639 में अन्ततोगत्वा मद्रास पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया। मद्रास उत्तरी भारत से बहुत दूर था, इसलिये यहाँ अड्डा बनाकर अंग्रेज भारत में अपनी उपनिवेशवादी लालसा को कार्यान्वित कर सकते थे। मद्रास के सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य एक दूसरी बात यह है कि पूर्वी तट पर स्थित होने के कारण वहाँ से बंगाल को भी नियन्त्रित किया जा सकता था। इस सन्दर्भ में 1650 में कम्पनी ने बंगाल के गवर्नर से वहाँ .व्यापार करने की अनुमति माँगी जो उन्हें मिल गयी। बंगाल में स्थापित बस्तियों के नियंत्रण का भार आरम्भ में मद्रास के कोर्ट सेन्ट जार्ज को ही सौंपा गया था।[9]

1649 से लेकर 1689 तक की 40 वर्ष की अवधि के बीच में कम्पनी के व्यापार में बहुत अधिक वृद्धि हुई। परन्तु व्यापार और मुनाफों की वृद्धि के साथ, उसकी महत्वाकांक्षाओं में भी वृद्धि होने लगी। 1661 में चार्टर के द्वारा उसे युद्ध और सन्धि करने का तथा न्याय को प्रशासित करने का अधिकार प्राप्त हो गया था। शासनिक प्राधिकार से लैस होकर कुछ व्यापारी शक्ति और अधिराज्य स्थापित करने के स्वप्न देखने लगे। 1674 में सर जोशुआ चाइल्ड डाइरेक्टर बनने के बाद इस स्वप्न को कार्यान्वित करने के प्रयत्न किये जाने लगे। चाइल्ड इस देश में कम्पनी की

सत्ता को स्थापित करना चाहता था, इसके लिए यह अपेक्षित था कि उन अंग्रेज घुसपैठियों को दंडित किया जाये जो उसके एकाधिकार को चुनौती दे रहे थे। इस काल में इन घुसपैठियों को पकड़कर एडमिरेल्टी न्यायालयों के सामने घसीटा गया। कम्पनी की महत्वाकांक्षाओं के सामने एक दूसरी बड़ी रूकावट मुगल साम्राज्य था। अतः चाइल्ड के आदेश पर मुगल साम्राज्य के विरूद्ध भी युद्ध की तैयारियां की जाने लगी। [10] हथियारबन्द जहाज इकट्ठे किये गये, पैदल सेना की अनेक कम्पनियाँ तैयार की गयीं तथा इंग्लैण्ड से पैदल सेना की एक नियमित कम्पनी तथा उसके अफसर भी बुलाये गये। मद्रास की किलेबन्दी की गयी। किलेबन्दी को और मजबूत बनाया गया। अपनी महत्वाकांक्षाओं को प्राप्त करने के लिए चटगाँव पर बलपूर्वक अधिकार प्राप्त करने का प्रयास किया गया। परन्तु इस समय तक मुगल साम्राज्य की तलवार में धार बाकी थी। बंगाल के नवाब शायस्ता खाँ की सेनाओं ने अंग्रेजों को वहाँ से भगा दिया। यहीं नहीं, इस काल में अंग्रेजों के विरूद्ध जबावी कार्यवाही भी की गयी। फलतः सूरत, मछलीपट्टनम तथा विशाखापट्टम में स्थित उनकी फैक्टरियों पर कब्जा कर लिया तथा बम्बई मे किले को छोड़कर समूचे द्वीप पर अधिकार कर लिया गया। इस प्रकार अपमान होने के बाद कम्पनी को सम्राट से क्षमा याचना करने के लिये बाध्य होना पड़ा। सम्राट ने 1690 में उसे इस शर्त पर क्षमा करना स्वीकार किया कि कम्पनी भारतीय व्यापारियों को उसे जो कुछ देय है, उसका तत्काल भुगतान करेगी, साम्राज्य को क्षतिपूर्ति का मुआवजा देगी तथा सर जॉन चाइल्ड (कम्पनी की सूरत और बम्बई स्थित फैक्टरियों का अध्यक्ष) को भारत से फौरन इंग्लैण्ड वापस कर देगी। इन शर्तो के पूरा होने पर बम्बई वापस कर दिया गया तथा पश्चिमी तट और बंगाल में व्यापार की अनुमति उसे पुनः प्रदान की गयी।

इस प्रकार कुछ समय के लिए अंग्रेजों को यह सबक मिल चुका था

कि भारत में साम्राज्य की स्थापना का प्रयत्न खतरें से खाली नहीं है। अतः इसके बाद 50 बर्ष तक उन्होंने इस प्रकार का कोई दुस्साहस नहीं किया। इसके विपरीत वे मुगल सम्राट की खुशामद और चापलूसी करके उसका अनुग्रह प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु कालान्तर में अंग्रेजों के लिए स्थिति यूरोप और भारत दोनों ही जगह अनुकूल होती गयी। 1715 में यूट्रेक्ट की सन्धि को लेकर 1740 में आस्ट्रियन उत्तराधिकार के युद्ध तक यूरोप युद्धों से मुक्त रहा।[11] लुई 14वें के युद्धों के फलस्वरूप स्पेन, हालैण्ड और फ्रांस सभी युद्धों से थक चुके थे। इस समय इंग्लैण्ड में वालपोल प्रधानमंत्री था और उसकी नीति थी कि सोते हुए हर कुत्ते को लेटा रहने दो। इस सन्दर्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार को यूरोप के देशों से किसी गम्भीर चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा। जहाँ तक भारत का प्रश्न है मुगल साम्राज्य बड़ी द्रुत गति के साथ अव्यवस्था एवं अराजकता की ओर अग्रसर हो रहा था। फलतः शक्ति के अनेक केन्द्रों का उदय होने लगा था, अब दिल्ली की अपेक्षा हैदराबाद, लखनऊ और मुर्शिदाबाद अधिक महत्वपूर्ण थे। इसके साथ ही पूना के बढ़ते महत्व को भी देखा जा सकता था। अंग्रेजों ने अपने पिछले अनुभव से सीख लिया था कि मुगल साम्राज्य पर प्रत्यक्ष आक्रमण जोखिम का काम है, परन्तु शक्ति के इन नये केन्द्रों को आपस में लड़ाया जा सकता था तथा बलपूर्वक इस देश में राजनीतिक लाभों को प्राप्त किया जा सकता था। इस सम्बन्ध में केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा, जिसका उल्लेख मिल और विल्सन ने अपने इतिहास में इन शब्दों में किया है – 'तंजौर के राजा प्रताप सिंह से वर्षों तक पत्र–व्यवहार करने के बाद तथा उसे ब्रिटिश राष्ट्र से मैत्री का वचन देने के बाद भी, बिना किसी बहाने के तथा उस पर कोई आरोप लगाये बगैर भी, सिवाय इसके कि उसे देवी–कोटा दुर्ग के अधिपत्य से लाभ प्राप्त है, उसे पदच्युत करने के लिए सेना भेज दी गई। इस

प्रकार भारतीय प्रदेशों को अपने अधिकार में करने का कार्यक्रम चलता रहा। लेकिन आरम्भ में इसमें कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई, यह असफलता बंगाल में बिशेष रूप से देखी जा सकती थी, परन्तु जहाँ तक दक्षिण का प्रश्न है, उन्हें वहाँ पैर जमाने के लिए स्थान मिल गया था। 18वीं शताब्दी के आरम्भिक चरण में कम्पनी को राजस्व देने वाले प्रदेशों पर अधिकार स्थापित करने में अपेक्षाकृत बहुत अधिक सफलता हाथ नहीं लगी थी, तथापि व्यापार के क्षेत्र में उसकी सफलता उत्साहवर्धक थी। 1708 में भारत में ब्रिटिश निर्यात केवल 61,000 पौण्ड के मूल्य का था, 1748 तक यह राशि बढ़कर 1,27,000 पौण्ड पर पहुँच चुकी थी। इसी प्रकार भारत से इंग्लैण्ड को निर्यात किये जाने वाले माल की कुल कीमत 1708 में 5,00,000 पौण्ड थी; 1748 में इसका कुल मूल्य 100,00,000 पौण्ड हो चुका था। इस काल में कम्पनी ने अपने हिस्सेदारों को 8 प्रतिशत मुनाफा दिया। यथार्थ में इस काल में उसकी समृद्धि इतनी बढ़ चुकी थी कि उसने 1744 में सरकार को 1 लाख पौण्ड का कर्जा दिया था और 1750 में उसने 4 लाख का दूसरा कर्जा दिया था। [12]

यदि वाणिज्यवादी दर्शन से प्रेरणा लेकर अंग्रेजों ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की थी, तो फ्रांसीसी उनसे इस मामले में बहुत पीछे नहीं रहे। फलतः 1664 में फ्रेन्च ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गयी। यह कम्पनी पूर्णतः सरकारी कम्पनी थी। आरम्भ में इस कम्पनी ने कोई विशेष प्रगति नहीं की, परन्तु 1720 के बाद उसकी शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती गयी। 1721 में उसने मारीशस पर कब्जा कर लिया, 1725 में माहे पर और 1739 में कारीकल पर। 1697 में पाण्डिचेरी भी अन्तिम रूप से उसके अधिकार में आ गया, 1691 में बंगाल में चन्द्रनगर पर उसका अधिपत्य स्थापित हो चुका था। स्पष्टतः ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य था कि ब्रिटिश और फ्रेंच ईस्ट इण्डिया कम्पनी में प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो

जाती। इस प्रतिस्पर्धा में अन्तिम रूप से ब्रिटिश कम्पनी ही सफल रही। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि इन दोनों कम्पनियों ने यहाँ के राजाओं, नवाबों के पारस्परिक संघर्षो में खुलकर हस्तक्षेप किया और इस प्रकार उन्होंने अपनी–अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया। अन्तिम संघर्ष अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच में ही था जिसमें फ्रांसीसियों ने मुँह की खाई। [13]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि 18वीं शताब्दी के मध्य तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में एक प्रादेशिक शक्ति के रूप में अपने आपको स्थापित कर लिया था। यही नहीं इस दिशा में इसके उपरान्त उसकी निरन्तर उन्नति भी होती गयी। मुगल साम्राज्य के विघटन के उपरान्त 18वीं शताब्दी में जो आन्तरिक युद्ध हुये वे यथार्थ में उस युग का प्रतिनिधित्व करतें थे जिसमें अव्यवस्था का बोलबाला था। ऐसा समय पुरानी व्यवस्था को विघटित करने के लिए भारतीय समाज के वाणिज्यवादी हितों को प्रोत्साहित करने के लिए अत्यन्त उपयोगी हो सकता था। परन्तु ब्रिटिश आक्रमण ने भारत के इस सामान्य विकास को अवरूद्ध कर दिया। अतः पुरानी व्यवस्था के टूटने पर जिस नई व्यवस्था का भारत में उदय हुआ, वह विदेशी पूँजीवाद शासन था, जिसने बलपूर्वक अपने आपको पुरानी व्यवस्था पर आरोपित किया था और जिसने उदीयमान भारतीय पूँजीवाद के बीजों को भी नष्ट कर दिया।

18वीं शताब्दी के इस अव्यवस्था और संक्रान्ति के युग ने विदेशी आक्रमणकारियों को इस देश में आधिपत्य स्थापित करने के लिए संघर्ष और तिकड़म करने का अवसर प्रदान किया। [14] इस संघर्ष में जिसमें कोई किसी के साथ न था, अंग्रेज अंतिम रूप से इसलिए सफल हुए क्योंकि वे अपने अधिक विकसित पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करते थे। 18वीं शताब्दी के मध्य में बंगाल की विजय के साथ एक प्रादेशिक शक्ति के रूप में उनका उदय हुआ, आरम्भ में इस शक्ति की

अभिव्यक्ति भी पुरानें तरीकों में ही हुई थी। कालान्तर के 19वीं शताब्दी तक आते–आते उन्होंने अपने–आपको इस देश में सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया।

(2) अंग्रेजों की कूटनीति से भारत की आन्तरिक परिस्थितियों पर चोट :

इस काल में अंग्रेज अधिकारी अपने जातीय अहंकार से बुरी तरह ग्रसित थे। गोरों द्वारा भारतीयों को मारने–पीटने की घटनाओं के समाचार प्रायः मिलते रहते थे। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा जिसमें एक गवर्नर तक ने न्याय में हस्तक्षेप करने का प्रयास किया था। बिहार के छपरा सुपरिन्टेन्डेन्ट ने पुलिस कॉन्सिटेबिल नृसिंह के साथ इसलिए मारपीट की, क्योंकि उसने डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर सिमकिन्स के घर पर बेगार करने से इन्कार कर दिया था। इसके उपरान्त नृसिंह पर यह दबाव डाला गया कि वह नौकरी छोड दे अन्यथा उस पर मुकदमा चलाया जायेगा। नृसिंह ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और इसलिए उस पर मुकदमा चलाया गया और मजिस्ट्रेट की अदालत से उसे दो महीने की सजा भी दिला दी गयी। परन्तु नृसिंह ने इस फैसले के विरूद्ध जिला सेशन जज के यहाँ अपील की। जिला न्यायधीश पेन्नल नाम के एक आयरिश सज्जन थे। पेन्नल ने अपील मन्जूर कर ली जिसके कारण उन्हें स्वयं मुसीबत में फंसना पड़ा। अपने निर्णय में उन्होंने लिखा था – 'दुर्भाग्य से यूरोपियन लोगो द्वारा देशी लोगो पर हमलों की घटनायें असामान्य नहीं है। इस प्रकार की घटनायें तब तक बन्द नहीं हो सकतीं जब तक वास्तविक अथवा मिथ्या जातीय अहंकार की भावना मिट नहीं जाती।' [15]

इस फैसले से प्रान्त के समस्त अफसरों में खलबली मच गयी। अतः समूची सरकार का ध्यान पेन्नल को दण्डित करने की ओर गया। पहले तो उनका तबादला नोआरवाली कर दिया गया। परन्तु नोआरवाली में पेन्नल ने पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट

रेली को झूठी गवाही देने के अभियोग में गिरफ्तार करवा दिया। परन्तु जातीय अहंकार में मंदान्ध अंग्रेजों ने रेली को तो जमानत पर छुड़वा लिया तथा पेन्नल को उनके पद से निलम्बित करा दिया। इस घटना ने व्यापक असंतोष को जन्म दिया। इस घटना से अंग्रेजों की न्यायप्रियता की ढ़ोल की पोल पूर्ण रूप से खुल गयी।

भारत में अत्यन्त दीर्घकाल से विधर्मियों के शासन के कारण हिन्दू धर्म को भीषण क्षति पहुँची थी। हिन्दू समाज अपनी संस्कृति को भूलने लग गया था। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के शासन काल में इस्लाम तथा ईसाई धर्म–प्रचारकों ने हिन्दू समाज की इस हीनावस्था का लाभ उठाने का प्रयास किया । फलस्वरूप हिन्दू समाज की राष्ट्रीयता की भावना कुण्ठित होने लगी। 1828 में बंगाल के राजा राममोहन राय ने बृह्म समाज की स्थापना करके हिन्दू समाज को अपनी प्राचीन संस्कृति की महानता को समझने का अवसर प्रदान किया। उनके इस कार्य को अनेक देश प्रेमियों ने आगे बढ़ाया।

इस प्रकार इन नेताओं के विचारों ने भारतीय जनता में भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम और श्रद्धा की भावना को जाग्रत करके देश–प्रेम तथा राष्ट्र–प्रेम को प्रोत्साहित किया। लोगों में यह धारणा बलवती होने लगी कि अपने धर्म तथा अपनी संस्कृति को सुधारने का प्रोत्साहन दिया जाये। यद्धपि स्वतंत्रता के इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक था। इन सुधार आन्दोलनों ने भारतीय जनता को अनेक सामाजिक कुरींतियो को समाप्त करके अन्धविश्वासों को त्यागने की प्रेरणा भी दी। [16]

इन संघर्षो के कुछ प्रवर्तको पर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव भी पर्याप्त था। पाश्चात्य शिक्षा ने उन्हें उन देश सुधार आन्दोलनों की प्रेरणा दी और विवेक, तर्क तथा विज्ञान के आधार पर अपनी संस्कृति को सुधारने का प्रोत्साहन दिया। यद्यपि ये धर्मसुधारक राष्ट्रवादी थे तथापि उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता की कामना करते

हुए पाश्चात्य संस्कृति, शिक्षा तथा व्यवस्थाओं की भलाइयों को भी स्वीकार किया। इनकी शिक्षाओं के प्रभाव से भारतवासियों में नयी चेतना जाग्रत हुयी। यद्धपि हिन्दू तथा मुस्लिम समाज एवं धर्म सुधार आन्दोलनों की समानान्तर प्रगति ने बाद के काल में साम्प्रदायिक भावना के विकास में मद्द की, तथापि साम्प्रदायिक शक्तियों के शक्तिशाली खिंचाव के होते हुए भी 19वीं सदी में राष्ट्रीयता का पौधा बढ़ता चला गया।

यद्यपि धार्मिक तथा सामाजिक पुनर्जागरण ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना की उत्पत्ति में महान योगदान किया था, तथा राष्ट्रीयता के विकास में पाश्चात्य संस्कृति, शिक्षा तथा साहित्य का प्रभाव बढ़ने लगा था क्योंकि आरम्भ के कतिपय. राष्ट्रीय नेतागण पाश्चात्य संस्थाओं को अपेक्षाकृत उच्चतर समझने लगे थे। परन्तु इसी अवधि में ऐसी विभूतियों का जन्म हुआ जिन्होंने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का अध्ययन करके उसकी श्रेष्ठता की बात का प्रचार न केवल भारत में ही अपितु पाश्चात्य देशों में भी किया। इस वर्ग के नेताओं ने प्रारम्भ के नेताओं की पाश्चात्य सभ्यता की प्रशंसा करने की प्रवृत्ति का विरोध किया।

इन सभी नेताओं ने न केवल हिन्दू धर्म के पुनरूत्थान तक ही अपने प्रचार–कार्य को सीमित रखा, अपितु इन्होंने यह प्रचार किया कि राष्ट्र का हित इसी बात पर निर्भर करता है कि वह राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र हो क्योंकि तभी उसकी सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं अन्य सामाजिक क्षेत्रों में उन्नति सम्भव है। विदेशी शासको के समक्ष भिक्षावृति की नीति अपनाकर देश का उत्थान नहीं हो सकता। अतः किसी भी जाति का पहले राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना जन्मसिद्ध अधिकार है। इन नेताओं ने अपने युग के उदारवादी नेताओं की इस धारणा से पूर्ण असहमति व्यक्त की कि राजनीतिक स्वतंत्रता तथा वास्यतता की पूर्ण शर्त सामाजिक

सुधार है। इसके विपरीत उन्होंने बताया कि जब राष्ट्र स्वतंत्र हो जायेगा तो वह अपनी इच्छानुसार वांछित दिशा में समाज सुधार के कार्यो को अधिक उत्तम ढ़ंग से कर सकेगा। विदेशी शासकों से धार्मिक या सामाजिक सुधारों की मांग करना हास्यास्पद है। [17]

अंग्रेजों का हमारे उद्योगों को तहस–नहस करने में सफलता केवल इसलिए नहीं मिली क्योंकि वे प्रविधिक दृष्टि से हमसे अधिक श्रेष्ठ थे, अपितु मुख्यतः इसलिए मिली क्योंकि उनके पास राज्य की शक्ति थी। 1814 के बाद भारतीय उद्योग धन्धों को नष्ट करने के लिए अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने जो तरीके अपनाये उन्हें मेजर बी. डी. बसु ने निम्न प्रकार गिनाया है। उन्हीं के शब्दों में जब से अंग्रेजों ने भारत में राजनीतिक शक्ति को प्राप्त किया; उन्होंने भारतीय उद्योगों को मुख्यतः अग्रांकित उपायों के द्वारा नष्ट किया :

(1) ब्रिटिश स्वतंत्र व्यापार को भारत पर लादना

(2) इंग्लैण्ड में भारतीय वस्तुओं पर भारी शुल्क लगाना

(3) भारत से कच्चे माल का निर्यात करना

(4) पारगमन तथा सीमा शुल्क

(5) अंग्रेजों को भारत में विशेष सुविधाये प्रदान करना

(6) भारत में रेलों का निर्माण करना

(7) भारतीय कारीगरों को अपने व्यवसाय से सम्बद्ध गुप्त बातों का उद्घाटन करने के लिए विवश करना

(8) प्रदर्शनियां आयोजित करना।

इनके अतिरिक्त एक अन्य कारण भी था जिसने भारत के हथकरघा उद्योग को नष्ट करने में एक विशिष्ट भूमिका अदा की और वह था उसके प्रति नये

धनिक वर्गों का दृष्टिकोण।

'पुराने सामन्तों की स्थिति को जिस वर्ग ने स्वभाविक रूप से उत्तराधिकार रूप में ग्रहण किया वह नवोदित शिक्षित वर्ग था। इसका सम्बन्ध अधिकांशतः नगरों के साथ था, वह एक व्यवसायी वर्ग था तथा वह बहुत कुछ पश्चिम के बुर्जुआ वर्ग के व्यवसायिक अनुभाग से मिलता–जुलता था। इस नये वर्ग के साथ हाथ की बनीं वस्तुओं को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा की जा सकती थी। परन्तु थोड़े से अपवादों को छोड़कर, इस वर्ग ने समग्र रूप से देशी कलाओं की ओर से मुँह मोड़ लिया। विदेशी शासन का सबसे हानिकारक प्रभाव यह हुआ कि विजित लोगों पर विजेताओं के आदर्शो को थोपा गया; नव–निर्मित भारतीय 'बुर्जुआ' वर्ग ने पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में यूरोपियन मानदण्डो को स्वीकार किया तथा उन तमाम वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखा जो भारतीय थीं। यूरोपियन फैशनों का अनुकरण करना प्रबुद्धता की अभिव्यक्ति माना जाता था। फलतः देशी उद्योग के उत्पादन में गिरावट आती गयी। सम्भवतः इस वर्ग के लिए ऐसा करना ही उचित था क्योंकि वह ब्रिटिश शासन का आत्मज था।'

इस प्रकार विदेशी तथा देशी बाजारों से वंचित होने के परिणामस्वरूप हथकरघा उद्योग लगभग पूर्णतः विनष्ट हो गया।[18] एक समय था जबकि भारत का यह उद्योग समूचे राष्ट्र के लिए के लिए गौरव की वस्तु था; उसकी ख्याति समूचे विश्व में व्याप्त थी। परन्तु इस काल में इस उद्योग का इतना पतन हुआ कि थोड़े ही समय में इसके थोड़े से ही अवशेष बाकी रह गये। इस उद्योग में लगे व्यक्तियों के लिए फलतः अब कोई दूसरा विकल्प नहीं था सिवाय इसके कि वे भूमि को ही अपनी जीविका का साधन बनायें। परन्तु भूमि पर बोझा पहले से ही अधिक था। ऐसी स्थिति में इसका कृषि के ऊपर भी बोझा पड़ना स्वभाविक था। परन्तु यह सब कुछ

सुनियोज़ित औपनिवेशिक योजना के अन्तर्गत किया जा रहा था। 1840 में ऊपर उल्लिखित संसदीय जाँच के सम्मुख मौन्टगोमरी मार्टिन ने यह चेतावनी दी थी कि भारत को 'इंग्लैण्ड का कृषि फार्म' बनाने के खतरनाक परिणाम होगे।

ब्रिटेन में भी हथकरघा उद्योग का पतन हुआ था, परन्तु जब वहाँ ऐसा हुआ तो उसका स्थान बडे पैमाने पर संचालित होने वाले मशीन उद्योग ने ले लिया। भारत में हथकरघा उद्योग के नष्ट होने के उपरान्त आधुनिक उद्योगों का उदय नहीं हुआ। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि हस्त–शिल्पों के पराभव के फलस्वरूप उद्योगों और कृष के बीच एक असंतुलन की स्थिति पायी जाने लगी। उसने कृषि के ऊपर बोझा बढ़ा दिया, जो उन लोगों के लिए घातक सिद्ध हुआ जो कृषि के ऊपर आश्रित थे तथा उसका कृषि की कार्यकुशलता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। हस्तशिल्पों को नष्ट करते समय ब्रिटेन की सामान्य आर्थिक नीति यह नहीं थी कि यहाँ आधुनिक उद्योगों को स्वतंत्र रूप से विकसित होने में सहायता पहुँचायी जाये, क्योंकि ऐसा करने से ब्रिटिश वस्तुओं के लिए भारत में बाजार नहीं रहेगा। वस्तुतः यही कारण था जिसने भारतीय अर्थतंत्र के कृषि सम्बन्धी तथा औद्योगिक क्षेत्र में संतुलन को पैदा नहीं होने दिया। इसके अतिरिक्त एक दूसरा कारण भी था जिसने ब्रिटेन को भारत को मुख्यतः एक कृषि–प्रधान देश बनायें रखने की प्रेरणा दी और वह कारण यह था कि ब्रिटेन को कच्चे माल की आवश्यकता थी। कृषि–प्रधान भारत इस आवश्यकता को पूरा कर सकता था। फलतः भारत का उपयोग साम्राज्यवादियों के लिए एक औपनिवेशिक कृषिक उपांग के रूप में ही हो सकता था। [19]

भारतीय हस्त–शिल्प बहुत अधिक समुन्नत होते हुये भी जनसाधारण की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ थे; उनके द्वारा केवल सम्पन्न कुलीनों और व्यापारियों की आवश्यकताये पूरी होती थी। जब इन वस्तुओं का विदेश में

निर्यात भी किया जाता था, तो वहाँ भी उनका प्रयोग केवल सम्पन्न वर्गो तक ही सीमित था। अतः इस कारण से इन वस्तुओं का उत्पादन बहुत कम था। इन हस्त–शिल्पों के पराभव तथा भारतीय बाजार पर आधुनिक विदेशी वस्तुओं के आच्छादन ने भारत को औद्योगिक वस्तुओं के एक बड़े बाजार का रूप प्रदान कर दिया। अब इन वस्तुओं का एक ग्राम से दूसरे ग्राम, ग्रामों और नगरों में, एक वर्ग से दूसरे वर्ग में विनिमय होने लगा, ये वस्तुये केवल भोग–विलास की वस्तुयें नहीं थीं, अपितु दैनिक उपभोग की वस्तुयें थी। इस तथ्य ने देश के आर्थिक एकीकरण को सम्भव बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

यही सही है कि इन हस्त–शिल्पों के पराभव में इनको संचालित करने वाले लाखों व्यक्तियों के लिए अकथनीय दुर्दशा अन्र्तनिहित थी; ऐसा इसलिए विशेषतः था क्योंकि भारत में कोई ऐसा समानान्तर औद्योगिक विकास नहीं हुआ था जो इन विनिष्ट शिल्पों के कारीगरों को व्यवसाय दे सकता था। यही भी सही है कि इससे कृषि के ऊपर बोझा बहुत बढ़ गया, जिससे ग्रामीण जनता के कष्ट में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी।[20]

ब्रिटेन के लिए यह ठीक ही था कि वह भारत में अपने पूँजीपतियों को अधिक मुनाफा उपलब्ध कराने के लिए पूँजी की बड़ी मात्रा में विनियोजन करवायें। इस नवीन नीति की प्रथम अभिव्यक्ति 19वीं शताब्दी के मध्य के वर्षो में दृष्टिगोचर हुई। यथार्थ में पूर्व के 20 वर्ष भारत में सूती कपड़ा के विकास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण थे; इस उद्योग का जितना विकास इस अवधि में हुआ था उतना बाद के 20 वर्षो में नहीं हुआ था। आधुनिक साम्राज्यवादी शासन की भारत में क्या प्रेरक शक्तियाँ थीं इसको समझने के लिए औद्योगिक पूँजी और वित्तीय पूँजी के बीच में संक्रान्ति युग का विश्लेषण आवश्यक है। जब 19वीं शताब्दी के वाणिज्यवाद का

स्थान औद्योगिक पूँजीवाद ने लिया था तो उसके फलस्वरूप पहले से चली आ रही प्रत्यक्ष लूट की पद्धति का अन्त नहीं हुआ था।[21] 'खिराज' के रूप में दसियों लाख पौण्ड प्रति वर्ष भारत से ब्रिटेन यह कहकर भेजे जाते थे कि यह धन गृह सरकार के ऊपर कम्पनी का प्रभार है; इसके अतिरिक्त एक बड़ी मात्रा में कम्पनी के कर्मचारी निजी तौर पर धन अपने परिवार के सदस्यों को भेजा करते थे। ब्रिटेन को इस प्रकार भेजी गयी धनराशि के बदले में भारत को कुछ नहीं मिलता था। व्यापार के साथ इस लूट की मात्रा में 19वीं शताब्दी में निरन्तर वृद्धि होती गयी। 20वीं शताब्दी के आरम्भिक चरण में व्यापार की मात्रा में तो कमी हुयी, परन्तु लूट की प्रक्रिया बदस्तूर जारी ही नहीं रही, अपितु उसकी गति पहले की अपेक्षा और अधिक तेज हो गयी। 1851 में और 1901 के बीच में 'गृहप्रभार के रूप में भारत से ब्रिटेन को जो धन भेजा गया था, उसकी कुल राशि 1 करोड़ 73 लाख पौण्ड थी, जिनमें से केवल 20 लाख पौण्ड भण्डारों को खरीदने में खर्च किया था। इस काल में भारत से ब्रिटेन के निर्यात व्यापार में भी वृद्धि हुई। 1851 में यह व्यापार केवल 1 करोड़ 10 लाख पौण्ड का था। उपर्युक्त आँकड़ो से स्पष्ट है कि इस काल में शोषण के तरीकों में जो परिवर्तन हुए थे, वे केवल मात्रात्मक ही नहीं थे, उससे बहुत अधिक थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत से इंग्लैण्ड को भेजे गये खिराज की मात्रा में जो बहुत अधिक वृद्धि हुयी थी, वह यथार्थ में इस बात की सूचक थी कि शोषण के नये स्वरूपों का उदय हुआ है, जिनकी व्युत्पत्ति उन्नीसवीं शताब्दी के स्वतंत्र व्यापार पर आधारित पूँजीवाद में हुयी थी परन्तु जो बीसवीं शताब्दी के वित्तीय पूँजीवाद शोषण के युग में प्रवेश कर रहे थे।

उन्नीसवी शताब्दी में अंग्रेजों ने कूटनीति के माध्यम से भारत में नीति के क्षेत्र में नूतन परिवर्तनों के लिए मार्ग प्रशस्त किया था।[22] फलतः 1858 में कम्पनी

के शासन का अन्त कर दिया गया तथा सत्ता ब्रिटिश क्राउन को सौंप दी गयी। यथार्थ में इसका केवल एक ही अर्थ था; अब भारत के शासन का दायित्व किसी एक व्यापारिक संस्थान के हाथों में केन्द्रित न होकर समूचे ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग के हाथों में था। 1833 के चार्टर से आंशिक रूप से इस काम को सम्पन्न किया जा चुका था; 1858 के अधिनियम ने इस अधूरे काम को पूरा कर दिया।

दूसरे यह आवश्यक था कि भारत को ब्रिटिश पूँजी के प्रवेश के लिये एक उपयुक्त स्थान बनाया जाये। इस लक्ष्य के लिये रेलों के जाल बिछाने की आवश्यकता थी, यातायात के मार्ग विकसित किये जाने चाहिये थे, सिंचाई के ऊपर ध्यान दिया जाना चाहिये था, जिसकी अब तक के ब्रिटिश शासन में उपेक्षा हुयी थी, संचार के साधन विकसित किये जाने चाहिये थे, पश्चिमी शिक्षा को सीमित रूप से आरम्भ किया जाना चाहिये था ताकि क्लर्कों एवं अधीनस्थ अभिकर्ताओं की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके तथा यूरोपियन बैंकिग प्रणाली को शुरू किया जाना चाहिये था। इसका अर्थ था कि सार्वजनिक कार्यो की एक शताब्दी की उपेक्षा के उपरान्त शोषण की आवश्यकताओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को इस बात के लिये बाध्य किया था कि वे एकतरफा और दोषपूर्ण तरीके से इन आवश्यकताओं को पूरा करने की ओर कदम उठायें। इस सम्बन्ध में 1853 में रेलवे के सम्बन्ध में लार्ड डलहौजी द्वारा लिखी गयी टिप्पणी का निम्न अंश उद्धरणीय है :

'उनकी (रेलों की) स्थापना से भारत को जो व्यापारिक और सामाजिक लाभ प्राप्त होंगे, मैं विश्वास करता हूँ, उनका आज कोई मूल्यांकन नहीं हो सकता.............. इंग्लैण्ड जोर से कपास के लिये आवाज लगा रहा है जिसका भारत एक मात्रा में उत्पादन करता है तथा जिसे वह एक बड़ी मात्रा में पैदा कर सकता है, यदि उसे सुदूर मैदानों से बन्दरगाहों तक लाने की व्यवस्था की जा सके।

हमने अनुभव किया कि व्यापार के क्षेत्र में दी गयी प्रत्येक सुविधा ने यूरोपियन वस्तुओं के लिये भारत के सुदूर बाजारों में माँग पैदा की है। .... विश्व के इस भाग में हमारे लिये उन परिस्थितियों में नये बाजार खुल रहे हैं जिनकी कल्पना बुद्धिमान व्यक्ति की दूरदर्शिता के द्वारा भी नहीं की जा सकती थी तथा जिनके सम्भावित मूल्य का अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं है।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भारत में इस काल में जो भी सुविधाएँ दी गयी थीं, उनका प्रयोजन देश का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास करना नहीं था, अपितु वे भारत में ब्रिटेन के आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक हितों से प्रेरित थीं।[23]

परन्तु इतना होते हुये भी इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि इन क़दमों के फलस्वरूप भारत के प्राचीन समाज की आर्थिक बुनियादें नष्ट हो गयीं। उनके माध्यम से आधुनिक समाज की औद्योगिक वस्तुएँ देश के सुदूरस्थ गाँव तक में पहुँच गयीं, जिसने अन्ततोगत्वा ग्राम की आत्म–निर्भरता को खत्म कर दिया। उन्होंने भारत को एकल आर्थिक इकाई का रूप प्रदान किया तथा विश्व बाजार के साथ उसका सम्पर्क स्थापित कर दिया। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि इनके द्वारा राष्ट्रीय अर्थतन्त्र की रचना में सहायता प्राप्त हुयी। वस्तुतः इसकी अनुपस्थिति में भारतीय राष्ट्रवाद के लिए जिस भौतिक आधार की अपेक्षा थी, उसका निर्माण नहीं हो सकता था।

उन्नीसवीं शताब्दी में विश्व–व्यापार पर ब्रिटेन के औद्योगिक आधिपत्य का शिकंजा ढीला पड़ने लगा था। परन्तु भारत में राजनीतिक प्रभुसत्ता की सहायता से ब्रिटेन ने इस शिकंजे को मजबूत रखने का प्रयास किया। फलतः भारतीय बाजार के लगभग दो–तिहाई पर ब्रिटेन का ही अधिकार रहा। लेकिन भारत में भी यह

स्थिति अनन्त काल तक नहीं चल सकती थी। ब्रिटेन की भारतीय बाजार पर अधिपत्य कायम रखने के लिये जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी के साथ प्रतिस्पर्धा थी। इस प्रतिस्पर्धा में ब्रिटेन की स्थिति इन तीनों देशों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ थी क्योंकि उसे चुंगी में कुछ विशेष रियायतें प्राप्त थी। परन्तु इतना होते हुये भी भारत के साथ उसके व्यापार में निरन्तर कमी आती गयी। ब्रिटेन के भारत के साथ व्यापार में यह जो गिरावट आयी थी तो उसका एक बड़ा कारण यह था कि इस काल में भारत ने ब्रिटेन से सूती कपड़े का आयात बहुत कम कर दिया था।

परन्तु जहाँ शोषणों के पुराने आधार विनिष्ट हो रहे थे, वहाँ वित्तीय पूँजीवादी शोषण से प्राप्त मुनाफों में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। भारत में लगी हुयी कुल ब्रिटिश पूँजी 57 करोड़ और 70 करोड़ के बीच में अनुमानित की गयी थी, परन्तु इस राशि को ब्रिटिश एसोसियेटिड चेम्बर ऑफ कॉमर्स ने एक अरब पौण्ड बताया था।[24] यदि बाद की अनुमानित राशि सही है तो ब्रिटेन की विदेशों में लगी हुई कुल धनराशि का चतुर्थांश थी।

प्रश्न है कि इस लागत से इंग्लैण्ड ने क्या लाभ कमाया? इस प्रश्न का प्रोफेसर के. टी. शाह और के. जे. खम्बाटा ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ एण्ड टेक्सबिल केपीसिटी ऑफ इण्डिया' में उत्तर देने का प्रयास किया है। उस समय एक रूपये की कीमत एक शिलिंग चार पैसे के बराबर मानी जाती थी।

भारत में ब्रिटेन को भेजा जाने वाला वार्षिक खिराज :

	धनराशि करोड़ रूपयों में
राजनीतिक कटौतियाँ अथवा गृह प्रभार	— 50.00
भारत में पंजीयन विदेशी पूँजी पर ऋण	— 60.00

विदेशी कम्पनी को माल और यात्रियों को लाने का भाड़ा	— 41.63
बैंकिंग कमीशन के रूप में किया गया भुगतान	— 15.00
विदेशी व्यापारिक एवं व्यवसायिक संस्थानो द्वारा कमायें गये मुनाफे	— 53.25
कुल	— 219.88

इन आँकड़ो से स्पष्ट है कि एक वर्ष की अल्प अवधि में ही ब्रिटेन ने भारत में अपनी लगी हुयी पूँजी से लगभग 220 करोड़ रूपये का अथवा लगभग 15 करोड़ पौण्ड का मुनाफा कमाया। इन आँकड़ों से मोटे तौर पर जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि वित्तीय पूँजीवाद के युग में भारत का जो शोषण हुआ हैं, वह पुराने युग में किये गये शोषण से किसी दृष्टि से कम नहीं था।

भारत में एक सीमा तक औद्योगिक विकास हुआ है। परन्तु इसी काल में जो विकास यूरोपियन देशों में हुआ है, उसकी तुलना में यह विकास न के बराबर है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह भी है कि यह विकास भी विदेशी पूँजी के विरोध के बावजूद हुआ है। वस्तुतः जिस प्रकार साम्राज्यवादियों के साथ हमारा राजनीतिक क्षेत्र में विरोध था, उसी प्रकार आर्थिक विकास के क्षेत्र मे भी हमारा उनके साथ विरोध था। फलतः विकास के नाम पर जो कुछ हुआ वह केवल एकतरफा विकास था; भारी उद्योगों को छुआ तक नहीं गया, औद्योगिक प्रगति केवल हल्के उद्योगों तक ही सीमित रही। औद्योगिक विकास के प्रति साम्राज्यवाद का विरोध बहुत अधिक सुस्पष्ट एवं प्रच्छत था। इस सम्बन्ध में अंग्रेज लेखक सर वेलेन्टाइन चिरोल का यह कथन उल्लेखनीय है भूतकाल में भारत के औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में हमारा रिकार्ड हमेशा बहुत अधिक प्रशंसनीय नहीं रहा है, केवल युद्ध की आवश्यकताओं के दबाव से सरकार को

शुद्ध उद्यमों के प्रति अलहदगी (यदि ईर्ष्या का नहीं), के दृष्टिकोण को परित्याग करने के लिये विवश होना पड़ा।

यही नहीं, स्वयं सरकार की वार्षिक रिपोर्ट में यह लिखा था : 'युद्ध से कुछ समय पूर्व भारतीय उद्योगों को अग्रसर कारखानों तथा सरकारी सहायता के माध्यम से प्रोत्साहन देने के कुछ प्रयत्नों को व्हाइट हाल के द्वारा प्रभावी ढ़ंग से निरूत्साहित किया गया।'

जो कुछ भी विकास इस काल में हुआ था वह केवल कपड़ा और जूट उद्योगों तक ही सीमित था। कपड़ा उद्योग के विकास के लिए भारतीय पूँजी प्रयत्नशील थी तथा जूट उद्योग को ब्रिटिश पूँजीपति इसलिए विकसित करना चाहते थे ताकि ब्रिटिश जूट मजदूरों की अधिक माँग की उपेक्षा करके भारत के सस्ते मजदूरों से काम कराके अधिक मुनाफा कमाया जा सके। इंजीनियरिंग उद्योग के नाम पर कुछ मरम्मत करने वाली वर्कशॉप थीं और उनका काम भी मुख्यतः रेलवे तक ही सीमित था।

जब मार्क्स ने ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध में यह लिखा था कि वह भारत में 'सामाजिक क्रान्ति' को जन्म दे रहा है तथा उसे ब्रिटेन को 'उस क्रान्ति को लाने वाला इतिहास के हाथों अचेतन उपकरण' की संज्ञा प्रदान की थी, उसके दिमाग में ब्रिटिश शासन में सन्निहित दो प्रक्रियायें काम कर रही थी : प्रथम, पुरानी सामाजिक व्यवस्था विनष्ट हो गयी; दूसरे, नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिये भौतिक आधार की रचना हुयी। ये दोनों तथ्य आज भी काम कर रहे हैं, परन्तु उनका महत्व आज आधुनिक साम्राज्यवाद के नवीन चरणों की विशेषताओं से आच्छादित है।

जैसा कहा जा चुका है, विकास की गति बहुत धीमी थी, उसके रास्ते में बाधाएँ भी प्रस्तुत की गयी थीं। परन्तु इतना होते हुये भी साम्राज्यवादी, देश के

औद्योगिक विकास को पूर्णतः रोकने में असमर्थ रहें; कभी–कभी तो उन्हें अपने हितों की रक्षा के लिये एक सीमा तक आर्थिक विकास में हाथ बटाँना पड़ा। उसके फलस्वरूप देश में एक नये सामाजिक वर्ग, मजदूर वर्ग, का उदय हुआ जिसे एक नयी सामाजिक व्यवस्था का अग्रदूत समझा जाना चाहिये। [25]

अंग्रेजों ने भारत में जमींदारी प्रथा का सूत्रपात किया। इसके पूर्व यहाँ भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता कभी नहीं दी गयी थी। भूमि पर समूचे ग्राम समाज का अधिकार होता था। जब भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया तो उसके साथ भूमि सम्बन्धी विवादों का उदय हुआ। इस सन्दर्भ में देश में वकीलों के एक व्यवसायिक वर्ग का जन्म हुआ। ये वकील पाश्चात्य शिक्षा को प्राप्त किये हुए थे, ये पश्चिम के लोकतांत्रिक एवं उदारवादी दर्शन से प्रभावित थे। कालान्तर में यह वर्ग नवीन राष्ट्रवादी चेतना का अग्रदूत बना। यह कोई आकस्मित बात नहीं थी कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में यदि किसी वर्ग ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, तो वह भूमिका व्यवासयिक मध्यम वर्ग की ही थी। इस वर्ग ने उन मूल्यों को जन्म दिया जिनसे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम अनुप्रमाणित था। यह वर्ग धर्मनिरपेक्षता में विश्वास रखता था, वह सामाजिक कुरीतियों के विरूद्ध था, लोकतांत्रिक उदारवाद में उसकी आस्था थी। साम्राज्यवाद ने उनके विरूद्ध उन सभी शक्तियों को बढ़ावा दिया जो साम्प्रदायिक अन्ध–विश्वासों और सामन्तवाद का प्रतिनिधित्व करती थी। फलतः भारतीय स्वतंत्रता संग्राम जहाँ एकीकरण की शक्तियों का प्रतीक था, वहाँ देश में उन शक्तियों का भी अभाव नहीं था जो राष्ट्रीय विघटन के लिए प्रयत्नशील थीं।

अंग्रेजों की कूटनीति ने जहाँ उत्पादन की नवीन शक्तियों को जंजीरों में बॉधने का भी प्रयास किया था और इसके लिए उसने भारत में पुरानी सड़ी–गली

आर्थिक संरचना को थोपने का भी प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य था कि भारत को औपनिवेशिक दासता के युग में अनेक बार आर्थिक संकटो का सामना करना पड़ा। इसलिए यह अनुभव किया जाने लगा कि कृषि के पुनर्गठन की ऐसी राष्ट्रीय योजना तैयार की जानी चाहिए जो सामान्यतः देश के आर्थिक विकास को बढावा दे सके तथा जनसाधारण की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। औपनिवेशिक दासता के रहते हुए इस लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती थी। अतः यह उचित ही था कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए देश में जुझारू किसान आन्दोलन का उदय होता। कालान्तर में इन आन्दोलनों का विलयन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में हो गया। [26]

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि अंग्रेजों के कूटनीतिक उत्पीड़न एवं शोषण ने भारत में उन वर्गो को जन्म दिया जो अन्ततोगत्वा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अग्रदूत बने।

(3) अंग्रेजों की फूट डालो, राज करो की नीति :

धर्म की दृष्टि से भारत एक बहुल–सम्प्रदायी देश है, किन्तु भारतीय राष्ट्रीयता में हिन्दू तथा मुस्लिम सम्प्रदायवाद का महत्वपूर्ण कार्यभाग रहा है। तेरहवीं शताब्दी से भारत में मुसलमानों का राजनीतिक अधिपत्य स्थापित हुआ था और अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक उनका प्रभुत्व बना रहा। यद्वपि राजपूतों तथा मराठों ने समय–समय पर स्वतंत्रता के लिए मुसलमान शासकों से लोहा लिया तथापि वे मुसलमान शासकों को निकाल भगाने या पराजित करने में सफल नहीं हुए। अठारहवीं शताब्दी तक यह स्थिति थी कि मुसलमान लोग पर्याप्त अधिक संख्या में भारत में बस गये थे और कुछ शासकों के काल में बहुत से हिन्दुओं को भी उन्होंने इस्लाम धर्म मानने को विवश किया था। भारत के मुसलमान अपने को विदेशी नहीं

अपितु भारतीय ही समझते रहे। उनका उद्देश्य यहाँ की शासन सत्ता को अपने हाथ में रखना तथा भारतीय भूमि में स्थायी रूप से निवासित हो जाना था। अतः यूरोपीय लोगों की भाँति उनमें भारत का आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण करने की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का कोई विचार नहीं रहा। वास्तविकता यह थी कि भारत के विभिन्न भागों में हिन्दू तथा मुसलमान परस्पर मिल–जुलकर रहते थे। यद्वपि धर्म के नाम पर कभी–कभी उनके मध्य संघर्ष हो जाते थे, तथापि राष्ट्रीय जीवन में साम्प्रदायिक पार्थक्य की भावना का प्रायः अभाव था।

अंग्रेजों ने जब भारत में अपना शासन तथा प्रभुत्व स्थापित किया तो वे मुसलमान शासकों के ही उत्तराधिकारी बने थे। अतः वे मुस्लिम सम्प्रदाय को हमेशा शंका की दृष्टि से देखते थे। सन् 1857 की क्रान्ति ने उनके मुस्लिम विरोध को और अधिक पुष्ट कर दिया था। उन्हें मुसलमानों से हमेशा यह भय बना रहा कि कहीं वे अपनी खोयी हुई सत्ता को पुनः प्राप्त करने के लिए सक्रिय न हो उठें। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में टर्की के ऊपर यूरोपीय राष्ट्रीय कुचक्रों की नीति के परिणामस्वरूप अरब में जो बहाबी आन्दोलन छिड़ा था उसका प्रभाव भारत के मुसलमानों के ऊपर भी पड़ा था।[27] भारतीय मुसलमानों पर इस्लाम धर्म की रक्षा कि हित में भी बहाबी आन्दोलन का प्रभाव पड़ना स्वभाविक था। यद्वपि बहाबी आन्दोलन मुख्यतः धार्मिक प्रकृति का था, तथापि इसने भारतीय मुसलमानों में आर्थिक दृष्टि से एक दौलत वर्ग होने की भावना विकसित की। उन्होंने बंगाल में कई सर्वहारा आन्दोलनों में भाग लेकर अपनी आर्थिक कठिनाइयों की माँगे व्यक्त की। परन्तु ब्रिटिश शासकों ने इन आन्दोलनों को कुचलने में कोई कमी नहीं रखी। इसके कारण अंग्रेज शासकों का भारतीय मुसलमानों के विरूद्ध सन्देह और अधिक बढ़ गया। 1857 की क्रान्ति में अंग्रेज लोगों ने हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों को ही अपना वास्तविक

शत्रु माना। इस कारण ब्रिटिश शासकों ने भारतीय मुसलमानों को शिक्षा, नौकरी तथा आर्थिक क्षेत्रों में भी उपेक्षित ही रखा। हिन्दुओं ने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने में काफी प्रगति की, परन्तु मुसलमानों ने इस दिशा में कोई अभिरूचि नहीं दिखाई। मुसलमानों को सेना व अन्य असैनिक सेवाओं से वंचित रखा गया। बहुत से मुसलमान अनेक कुटीर उद्योग–धन्धों पर निर्भर रहकर अपनी आजीविका कमाते थे। परन्तु अंग्रेजों की भारत में कुटीर उद्योगों को नष्ट करने तथा भारत का आर्थिक शोषण करने की नीति ने इन वर्गों को बड़ा धक्का पहुँचाया। संक्षेप में, भारत ब्रिटिश शासन की स्थापना के आरम्भिक वर्षो में ब्रिटिश शासकों की नीति भारतीयों को शिक्षा, प्रशासन, आर्थिक, व्यवसायिक आदि सभी क्षेत्रों में उपेक्षित रखने तथा दबाये रखने की बनी रही। यद्वपि सन् 1858 में महारानी विक्टोरिया की घोषणा में कहा गया था कि सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सरकार धर्म, जाति आदि का भेदभाव नहीं करेगी, तथापि भारतीयों के सम्बन्ध में इस घोषणा की पूर्णतया उपेक्षा की गयी। इस प्रकार भारतीयों में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रति चेतना उत्पन्न होना स्वभाविक था। यह कथन सर्वथा सत्य है कि भारत में राष्ट्रीय चेतना की जागृति का एक प्रमुख कारण ब्रिटिश शासन की नीति थी तो भारत में साम्प्रदायिकता के विकास का पूर्ण दायित्व भी ब्रिटिश शासकों पर था। उनकी यह नीति समय–समय पर अलग–अलग ढंग से प्रयुक्त होती रहीं। [28]

प्रारम्भ में अंग्रेजों ने मुसलमानों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रबल शत्रुओं के रूप में मानकर उन्हें हर दृष्टि से उपेक्षित रखा। इसका परिणाम हुआ कि भारतीय मुसलमानों में एक असंतुष्ट तथा उपेक्षित अल्पसंख्यक वर्ग होने की भावना उत्पन्न होने लगी। उन्होंने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश शासन नीति के कारण हिन्दू बहुसंख्यक वर्ग उन्नति कर रहा है, परन्तु मुस्लिम सम्प्रदाय की उपेक्षा की रही जा

है। यद्दपि इसका दोष हिन्दू वर्ग पर नहीं मढ़ा जा सकता था, तथापि मुस्लिम वर्ग में हिन्दुओं के प्रति द्वेष यथा ईर्ष्या की भावना उत्पन्न होने लगी। जो हिन्दू–मुसलमान परस्पर मिल–जुलकर रहते थे और यहाँ तक कि सन् 1857 के विद्रोह में जिन्होंने परस्पर मिलकर अंग्रेजी शासन के विरूद्ध क्रान्ति की, उनमें पारस्परिक ईर्ष्या की भावना उत्पन्न करने का दायित्व ब्रिटिश शासन नीति पर ही जाता था क्योंकि इस क्रान्ति के पश्चात ब्रिटिश शासकों ने एक वर्ग को प्रोत्साहन देकर दूसरे की उपेक्षा की। इसके कारण भारतीयों में साम्प्रदायिकता की भावना उत्पन्न होने लगी। [29]

विलियम हन्टर की पुस्तक 'द इण्डियन मुसिलिम' में व्यक्त विचारों ने भारतीय मुसलमानों के प्रति ब्रिटिश नीति में आमूल परिवर्तन करने की नीति व्यक्त की। इस अवधि में भारत में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हो रही थी। अंग्रेजों को ऐसा आभास था कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारत की हिन्दू जनता के शिक्षत वर्ग की राष्ट्रीय चेतना विकसित होती जा रही है। यदि यही प्रगति जारी रही और मुस्लिम जनता भी इसमें शामिल हो गयी तो भारत की समस्त जनता की राष्ट्रीय भावना ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर कुठाराघात करने में सफल हो जायेगी। ब्रिटिश शासन की नौकरशाही के अनेक वर्ग भी ऐसा अनुभव करने लगे थे। अतः विलियम हन्टर ने यह दर्शाया कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को अवरूद्ध करने हेतु आँग्ल–मुस्लिम सहयोग आवश्यक है। इसका प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटिश नौकरशाही जो पहले भारतीयों को शंका की दृष्टि से देखती थी, उसके प्रति उनकी कूटनीति और भी कुटिल हो गयी। और अपनी इस कूटनीति 'फूट डालो और राज करो' के तहत इसे विभाजित कर मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिए बैचेन हो गई।

भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का जनक सैय्यद अहमद खां को माना जाता है। परन्तु यह बात विचारणीय हैं कि सैयद अहमद कहाँ तक इसके लिए

उत्तरदायी हैं। उनका जन्म एक सम्भ्रान्त मुस्लिम परिवार में हुआ था और उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति का गहन अध्ययन किया था। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत वे अनेक उच्च पदों पर रहें। भारत के अन्य आरम्भिक नेताओं की भाँति वे पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं ब्रिटिश– राज के भक्त थे। साथ ही उनमें राष्ट्रवादी भावनायें भी कूट–कूटकर भरी हुई थीं। वे भारतीय जनता के मध्य राष्ट्रीय एकता लाने तथा भारतवासियों के पिछड़ेपन को दूर करने की तीव्र आकांक्षा रखते थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि भारतीय मुसलमानों के पिछड़ेपन का कारण उनकी पुरातनपन्थी संकीर्णता तथा रूढिवादिता थी।[30] अतः मुस्लिम जनसमाज को पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये और उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण व्यापक होना चाहिए। सेवा से निवृत्त होने के पश्चात उनका एकमात्र मिशन मुस्लिम जन–समुदाय की सेवा करना तथा उन्हें पिछड़ेपन के गर्त से उठाना हो गया। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने अलीगढ़ आन्दोलन का श्रीगणेश किया। उनके प्रयासों से अलीगढ़ में मुहम्मदन ऐंग्लों ओरियन्टल कॉलेज की स्थापना की गई जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित हो चुका है। इसका उद्देश्य मुस्लिम जनता में पाश्चात्य शिक्षा के प्रति अभिरूचि उत्पन्न करना था। सैय्यद अहमद ने ब्रिटिश नौकरशाही के अत्याचारों की घोर निन्दा की। यह कहना भी गलत है कि उन्हें हिन्दुओं के साथ द्वेष था। उनकी धारणा यह थी कि 'हिन्दू तथा मुसलमान भारत की दो आँखें है।' हिन्दू शब्द साम्प्रदायिकता का प्रतीक नहीं है अपितु हिन्दू के अन्तर्गत प्रत्येक भारतवासी (मुसलमान भी) शामिल है। अतः राष्ट्रीय उत्थान के हित में हिन्दू–मुस्लिम एकता तथा सहयोग आवश्यक है। काफी समय तक सैय्यद अहमद खां एक सच्चे राष्ट्रवादी नेता बने रहे। साथ ही मुस्लिम दलित वर्ग के उत्थान के लिए उन्होंने पूर्ण प्रयास किया। परन्तु शनैः–शनैः सैय्यद अहमद खां की विचारधारा

परिवर्तित होने लगी और कालान्तर में वे एक कट्टर हिन्दू विरोधी अथच साम्प्रदायिकवादी बन गये। अकस्मात् ऐसा परिवर्तन क्यों हुआ ? क्या हिन्दू सम्प्रदाय के किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष ने उन्हें कोई आघात पहुँचाया था ? अथवा क्या हिन्दू सम्प्रदाय के नेताओं ने मुसलमानों के विरूद्ध किसी प्रकार की साम्प्रदायिक भेदभाव की नीति अपनायी थी ? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है। वास्तव में ऐसा क्यों हुआ, इसके लिए भी ब्रिटिश शासन की नीति उत्तरदायी है। [31]

मुहम्मदन ऐंग्लों ओरियन्टल कॉलेज के प्रिंसिपल पद पर बेक को नियुक्त किया गया था। बेक ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों का सच्चा भक्त था। वह विलियम हन्टर की नीति का समर्थक था। यदि सैय्यद अहमद के दिमाग को पलटने में उसे सफलता न मिली होती तो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का स्वरूप ही बदल जाता। सैय्यद अहमद वास्तव में हिन्दू विरोधी नहीं, अपितु ब्रिटिश–विरोधी थे। सचमुच में उनके जीवन का मिशन मुसलमानों को अपनी तत्कालीन स्थिति से ऊपर उठाना था। परन्तु बेक ने उनके इस मिशन की सफलता के साधन के रूप में उनके ऊपर ऐसा जादू डाला कि वे हिन्दू विरोधी हो गये। उसने सैय्यद अहमद को यह समाधान कराया कि मुसलमानों का उत्थान आँग्ल–मुस्लिम सहयोग से ही हो सकता है। मुसलमान भारत में अल्पसंख्यक है। भारतीय राष्ट्रवाद के अन्तर्गत मुसलमानों के हितों का संरक्षण नहीं हो सकता। यद्दपि अंग्रेजों द्वारा सैय्यद अहमद को इस धारणा पर विश्वास दिलाना तथ्यों के बिल्कुल विपरीत था। फिर भी अंग्रेज लोगों ने अल्पसंख्यक मुसलमानों को भड़काने में सर सैय्यद के ऊपर प्रभाव डालने में सफलता प्राप्त कर ली। यही से अंग्रेजों की भारतीय राष्ट्रीयता के अन्दर 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का सफल श्रीगणेश हुआ। [32]

यहाँ पर यह कहना असंगत नहीं होगा कि यदि ब्रिटिश नौकरशाही

तथा बेक, सैय्यद अहमद के ऊपर अपना जादू चला लेने में सफल न होते तो सैय्यद अहमद भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक महान सेनानी सिद्ध होते। वे मुस्लिम जनसमुदाय का उत्थान करने वाले जनसेवक ही नहीं रहते अपितु समस्त भारत के राष्ट्रीय नेता बनते। बेक ने अनेक पत्रिकाओं में इस आशय के लेख प्रकाशित करवाये कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। मूल रूप से एक हिन्दू संस्था है, और मुसलमानों की उसके प्रति कोई आस्था नहीं है, न वे भारत की प्रतिनिध्यात्मक शासन की संस्थाओं की स्थापना सम्बन्धी माँग के समर्थक हैं, क्योंकि उनसे मुसलमानों को हिन्दू बहुसंख्यको के अत्याचारों का सामना करना पड़ेगा। अतः मुसलमानों तथा यूरोपियनों को परस्पर संयुक्त होकर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का विरोध करना चाहिए। [33] इसमें मुस्लिम अल्पसंख्यको का हित निहित है। इस प्रकार भारत में मुसलमानों को भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विरूद्ध साम्प्रदायिक भाव से संगठित कराने का श्रेय बेक को जाता है। भले ही सैय्यद अंग्रेजों के इस जादू–मंत्र के शिकार बने और उन्हें मुस्लिम साम्प्रदायिकता को जन्म देने के लिए बदनाम भी किया जाता है, तथापि उन्होंने जो कुछ भी किया वह मुस्लिम जनता के उत्थान की भावना से प्रेरित था।

भारत में साम्प्रदायिकता को साकार करने में लार्ड कर्जन ने सक्रिय कदम उठाया। उसके शासन काल तक यह स्पष्ट हो गया था कि भारत में स्वतंत्रता संग्राम काफी विकसित हो गया है। अंग्रेजों की 'फूट डालो' की नीति इस राष्ट्रवाद को दबाने तथा उसके मार्ग में रोड़ा अटकाने का एक उत्तम साधन थी। लार्ड कर्जन ने इस नीति को साकार करने के लिए बंगाल प्रान्त को हिन्दू तथा मुस्लिम बहुसंख्यक दो भागों में बाँट दिया। इसका उद्देश्य भारतीय मुसलमानों को हिन्दुओं से बैर रखने की ओर प्रवृत करना था। यदि केवल प्रशासन की सुविधा के लिए ही बंगाल का विभाजन किया जाता जैसा कि लार्ड कर्जन ने इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए

तर्क दिया था तो विभाजन रेखा दूसरे रूप से होती, भारतीय नेता कर्जन की इस चाल से अनभिज्ञ नहीं थे। [34] इसीलिए बंग–विभाजन का घोर–विरोध किया गया। परन्तु यह इस बात का प्रमाण था कि अंग्रेज भारतीय मुसलमानों को भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विरूद्ध एक प्रतिरोधी तथा समतोलक शक्ति के रूप में संगठित करना चाहते थे और साम्प्रदायिक फूट ही इस उद्देश्य की सफलता का एकमात्र साधन था।

पूर्वी बंगाल के गवर्नर बी. फुलर ने अंग्रेजों की बंग–विच्छेद की नीति को स्पष्ट कर दिया। उसका कथन था कि "मेरी दो पत्नियाँ है– हिन्दू और मुस्लिम; और मैं मुस्लिम पत्नी को अधिक प्यार करता हूँ।" स्पष्ट था कि बंग–विभाजन का उद्देश्य भारत में साम्प्रदायिक विष को फैलाना था, जिसकी आड़ में अंग्रेजी शासन पनपता रहा। ब्रिटिश शासन नीति के विरूद्ध असंतोष के उपर्युक्त कारण स्वयं ही किसी भाँति कम महत्व के नहीं थे। लार्ड कर्जन की नीतियों ने उस असंतोष को और अधिक गम्भीर रूप दे दिया। उसके अत्याचारी कृत्यों को इतने भर से सन्तोष नहीं हुआ। उसकी सबसे महान तथा अनिष्टकारी नीति उसके बंगाल विभाजन सम्बन्धी कानून से स्पष्ट हो गयी। वास्तव में बंगाल विभाजन के पीछे ब्रिटिश सरकार की वह नीति कार्य कर रही थी जो भविष्य में लगभग 50 वर्ष तक भारत में ब्रिटिश शासन को बनाये रखने में सफल हुई। यह थी मुस्लिम साम्प्रदायिकता की नीति, जिसकी बदौलत अंग्रेजों ने भारत में अपना सिक्का मजबूत करने का सुअवसर प्राप्त किया। लार्ड कर्जन ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि प्रशासन की कुशलता तथा सुविधा के लिये बंगाल प्रान्त को पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल के प्रान्तों में बाँटना आवश्यक है क्योंकि उस समय बंगाल प्रान्त में बिहार–उड़ीसा भी शामिल थे। परन्तु वास्तविकता यह थी कि बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता को दबाने के लिए यह नीति अपनायी गयी

थी। पूर्वी बंगाल में मुस्लिम बाहुल्य जनता रहती थी। उसे यह आश्वासन दिया गया कि प्रान्त के विभाजन से मुसलमान लोग दूसरे सम्प्रदाय के दबाव से मुक्त रहकर अपनी समृद्धि कर सकेंगे। बंग–विच्छेद ब्रिटिश सरकार की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का सबसे सक्रिय कदम था। [35]

इसके उपरान्त लार्ड कर्जन की सीमान्त नीति तथा सैनिक अभियान, जिनके अनुसार तिब्बत, फारस की खाड़ी, चीन आदि में सैनिक दस्ते भेजे जाना शामिल था, भारतीय जनमत को बहुत अनुचित प्रतीत हुए। बंगाल में लार्ड कार्नवालिस के द्वारा भूमि के स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था के विरूद्ध जो मत व्यक्त किया जा रहा था, कर्जन ने उसकी भी उपेक्षा की और उसमें सुधार लाने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाये। इससे ब्रिटिश शासकों की स्वेच्छाचारिता स्पष्ट हो गयी। डॉ. ताराचन्द के अनुसार, 'कर्जन एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था ....कुशलता उसका मौलिक सिद्धान्त था, परन्तु उसमें आचरण की अनेक कमिया थीं। अब वह असाधारण रूप से महत्वाकांक्षी, हठी, दूसरों की राय की उपेक्षा करने वाला, विरोधियों के प्रति प्रतिशोधी, आत्माभिमानी, तुनुक–मिजाजी आदि था। उसमें कल्पना–शक्ति तथा सहानुभूति का नितान्त अभाव था, वह सूझबूझ, तिरस्कार करने वाला तथा अपने अधीनस्थो तक पर विश्वास न करने वाला व्यक्ति था' लार्ड कर्जन भारतीयों से घृणा करता था। वह उन्हें हर प्रकार से, हर क्षेत्र में अक्षम, अयोग्य तथा अकुशल मानता था। यह धारणा उसने कलकत्ता के दीक्षान्त भाषण में व्यक्त की थी। वह 'भारत राष्ट्र' सदृश किसी धारणा के अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं करता था।

अब भारतवासियों को पूरा विश्वास हो गया ब्रिटिश शासन–नीति के अत्याचारों से भारत को छुटकारा देने का एकमात्र साधन देश को स्वतंत्र कराना है, तभी भारतवासी स्वयं अपने भविष्य के निर्माता बन सकते हैं। ब्रिटिश सरकार के

समक्ष भिक्षावृति की उदार नीति से भारतवासियों के कष्टों तथा उनके ऊपर किये गये अपमानों. का निराकरण नहीं हो सकता। भारत के सामने सबसे बड़ी ज्वलन्त समस्या स्वतंत्रता प्राप्त करने की है।

कर्जन के उत्तराधिकारी लॉर्ड मिन्टो ने साम्प्रदायिक भेदभाव को सुदृढ़ तथा सुस्थापित करने में जो कार्य किया, वह भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सम्पूर्ण इतिहास में एक प्रभावकारी अवरोध सिद्ध हुआ। कर्जन की नीतियों के विरूद्ध संघर्ष में जो दल बना था उसके अधिकांश लोग हिन्दू संस्कृति के प्रबल समर्थक थे। यद्धपि इसके पीछे इस्लाम धर्म या मुस्लिम सम्प्रदाय–विरोधी कोई भी धारणा स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं की गई थी, तथापि मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उत्तेजित करने में इसका भरपूर उपयोग किया गया। अंग्रेजों ने भारत में शासन सुधार सम्बन्धी कानून के अन्तर्गत प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना का विचार किया। उस समय लॉर्ड मोर्ले भारतमंत्री थे। परन्तु भारत में शासन–सुधारों के सम्बन्ध में उन्हें वाइसराय लॉर्ड मिण्टो की बाते मानने को विवश होना पड़ा। लार्ड मिण्टो के पास आगा खां के नेतृत्व में एक मुस्लिम शिष्टमण्डल पहुँचा। उसने प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के सम्बन्ध में मुसलमानों के पृथक निर्वाचन तथा सुरक्षित स्थानों की माँग रखी। साथ ही सामान्य सीटों पर भी मुसलमानों के लिए मतदान में गुरूत्व की माँग की। लॉर्ड मिण्टो नें इस शिष्टमण्डल की बातों को स्वीकार किया और उनकी माँग का स्वागत करते हुए प्रोत्साहन भी दिया। इस शिष्टमण्डल ने ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों की ओर से पूर्ण राजभक्ति का आश्वासन दिया, साथ ही विधान सभाओं के अतिरिक्त सरकारी नौकरियों में भी सुरक्षित स्थानों की माँग की। इस शिष्टमण्डल का संगठन करने में अंग्रेजों का सक्रिय हाथ था। बेक के उत्तराधिकारी आर्चीबोल्ड ने जो उस समय मोहम्मदन ऐंग्लों ओरियन्टल कॉलिज अलीगढ़ का प्रिंसिपल था, वाइसराय के

वैयक्तिक सचिव से इस सम्बन्ध में पूर्ण विनिमय–कर लिया था।

शासन सुधार अधिनियम के अन्तर्गत लॉर्ड मिण्टो के सुझावों के फलस्वरूप प्रथम बार भारत में अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक आधार पर पृथक निर्वाचन–प्रणाली का सूत्रपात किया और यह प्रथा भारतीय राजनीति में निरन्तर बनी रही। मुसलमानों को न केवल निर्वाचन में ही गुरूत्व प्रदान किया गया अपितु उनके लिये निर्वाचन में उम्मीदवारों की योग्यताएँ भी शिथिल की गई। यदि आम सीट के लिए 3 लाख रूपये पर आयकर देने की शर्त थी तो मुस्लिम सीट पर 3 हजार रूपये पर आयकर देने की शर्त रखी गयी। आम सीट के लिए तथा मुस्लिम सीट के लिए जो शिक्षा सम्बन्धी योग्यताएँ निर्धारित की गई थीं उनमें भी काफी अन्तर था। मुसलमान मतदाता पृथक निर्वाचन क्षेत्र में अपने मुस्लिम उम्मीदवारों को मतदान करने के साथ–साथ आम सीट के लिए खड़े उम्मीदवारों के लिए भी मतदान कर सकते थे। साम्प्रदायिक निर्वाचनों का तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैमेजे मैकडॉनेल्ड तथा भारतमंत्री लॉर्ड मार्ले ने भी विरोध किया था। यद्धपि भारत स्थित ब्रिटिश नौकरशाही के कुचक्रों ने इसे मान्य करा लिया। इस दृष्टि से भारत में साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का आरम्भ करने का श्रेय लॉर्ड मिण्टो को जाता है। समूचे अर्थ में, भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति तथा उसके विकास के लिए भारत के मुसलमानों को दोष देना न्यायसंगत नहीं है अपितु इसका पूरा दोष ब्रिटिश नौकरशाही को ही था। वे ही इसके जन्मदाता, पोषक, तथा फलभोगी बने रहे। वे फलभोगी इस अर्थ में रहे कि इसके कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद काफी लम्बे समय तक भारत में बना रह सका। भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उत्पन्न करना ब्रिटिश शासकों का राजनीतिक षड़यन्त्र था।[36]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत में मुस्लिम सम्प्रदायवाद का

उदय ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा रचे गये एक षड्यन्त्र के फलस्वरूप हुआ था। यहाँ प्रश्न है कि यह साम्राज्यवादी षड्यन्त्र क्यों और कैसे सफल हो गया? वस्तुतः इस प्रश्न के समीचीन उत्तर को प्राप्त करने के बाद ही हम मुस्लिम सम्प्रदायवाद की प्रकृति को भली प्रकार समझ सकते है। [37]

यह बात जानी–मानी और स्पष्ट है कि भारत में राष्ट्रवाद का अग्रदूत शिक्षित मध्यम वर्ग था। परन्तु मुसलमानों में इस मध्यम वर्ग का उदय बहुत देर से हुआ। अंग्रेजों के आने से पूर्व देश के शासन की बागडोर मुसलमानों के हाथ में थी। इसके कारण मुसलमान अपने आपको इस देश का शासक समझते थे तथा हिन्दुओं को शासित। देश पर अंग्रेजों के अधिपत्य के स्थापित होने के बाद भी उन्हें अपनी खोयी हुई स्थिति का आभास नहीं हुआ। इसलिए इस नये सन्दर्भ में उन्होंने जीवनयापन के पुराने तरीकों को कायम रखा। उनमें से बहुत थोड़े लोगों ने पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की; उनमें से बहुत थोड़े लोगों ने व्यापार और उद्योग के माध्यम से अपनी जीविका को उपार्जित करने का प्रयत्न किया। फलतः जबकि हिन्दू आधुनिक शिक्षा प्राप्त करके सरकारी नौकरी में स्थान प्राप्त कर रहे थे, अथवा व्यापार के द्वारा अपने जीवन–स्तर को ऊपर उठा रहे थे, अथवा कानून और डॉक्टरी जैसे व्यवसायों को अपनाकर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे थे, मुसलमान अपनी पुरानी दुनिया में ही मस्त थें। उनके वही पुराने मकतब थे जिनमें उनके पुर्वजों ने कभी शिक्षा ग्रहण की थी। उनके तौर–तरीके भी वही थे, स्पष्टतः उनका आधुनिक जीवन के साथ दूर का भी रिश्ता नहीं था। [38] फलस्वरूप जब उनमें भी मध्यम वर्ग का उदय होना प्रारम्भ हुआ तो उन्होंने देखा कि सरकारी सेवाओं तथा व्यापार एवं उद्योग में हिन्दू पहले से ही प्रतिष्ठित पदों पर आसीन हैं। इस नवोदित मुस्लिम मध्यम वर्ग के लिए यह अनिवार्य था कि वह इन सभी क्षेत्रों में अपना स्थान बनाने के लिए उन लोगों से संघर्ष

करें जो उन क्षेत्रों में पहले से हावी थे। यथार्थ में यह संघर्ष एक ही वर्ग के भीतर पाने वाले अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति मात्र था। परन्तु ऐसा नहीं किया गया, बल्कि इसके विपरीत इस संघर्ष को साम्प्रदायिक रूप प्रदान किया गया और यह कहा गया कि यह वास्तव में हिन्दुओं और मुसलमानों का संघर्ष है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मुसलमानों में जो उच्च वर्ग था उसका सम्बन्ध मुख्यतः पुराने नवाबों तथा जमींदारों के साथ था और यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है कि अन्य देशों की भाँति भारत में भी सामन्त वर्ग की सहानुभूति 'भारतीय स्वतंत्रता संग्राम' के साथ नहीं थी, अपितु उन लोगों के साथ थी जो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का विरोध करते थे। मुस्लिम सामन्ती भी इसका अपवाद नहीं हो सकते थे। अतः उन्होंने अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का विरोध किया और इसके लिए उन्होंने अपने आपको मुस्लिम सम्प्रदायिकता के रूप में संगठित किया। [39]

मुसलमानों में साम्प्रदायवाद को बढ़ावा देने के लिए अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति की मुख्य भूमिका रही। इस नीति की कार्यान्विति साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की स्थापना, साम्प्रदायिक आधार पर भारत को, बाँटना तथा हितों की प्राप्ति के लिए प्रान्तों के पुनर्गठन के द्वारा हुई। जैसा कहा जा चुका है मुसलमानों को भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से अलग रखने में अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति का योगदान रहा। [40]
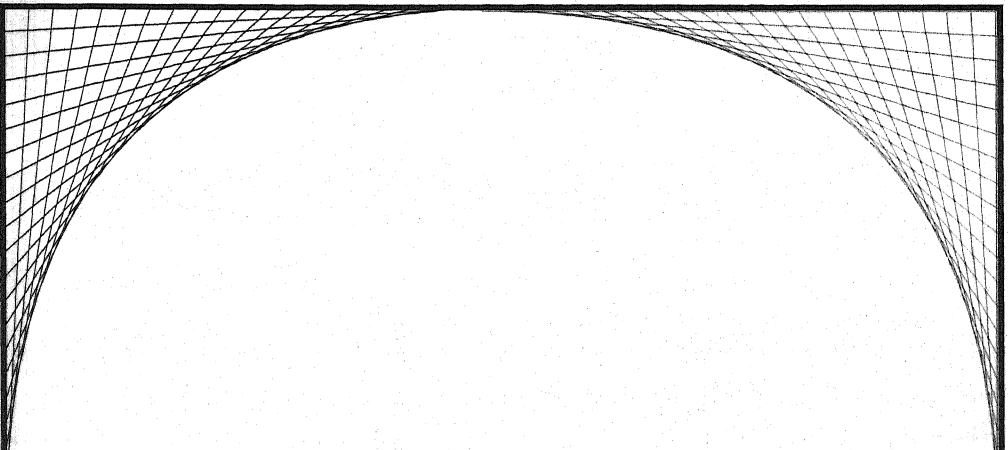
इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सम्प्रदायवाद मुख्यतः ब्रिटिश शासन में भारतीय सामाजिक अर्थतन्त्र के विशिष्ट विकास का आत्मज था। इस काल में विभिन्न सम्प्रदायों का जो आर्थिक और सांस्कृतिक विकास हुआ था, उसमें बड़ी असमानता थी। इस असमानता के कारण जो अन्तर बढा था, उसे अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति तथा विभिन्न सम्प्रदायों में पाये जाने वाले निहित

स्वार्थो ने और भी अधिक बढ़ा दिया। अपनी 'फूट डालो और राज करो' की सफल नीति के कारण ही अंग्रेज भारत को वर्षों तक अपना गुलाम बनाए रखने में समर्थ रहें।

REFERENCES

1. पं० गौरेलाल तिवारी : बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, पृ0 132
2. बी0 डी0 महाजन : आधुनिक भारत का इतिहास, पृ0 312
3. कवि मणि पं0 कृष्णदास : बुन्देलखण्ड का इतिहास एवं वीर, पृष्ठ 79
4. श्री निवास बाला जी हारडिकर : तात्या टोपे, पृ0 145
5. के0 के0 त्रिपाठी : वीरागंना मस्तानी, पृ0 187
6. पब्लिसिटि ब्यूरो उ0 प्र0 सरकार लखनऊ : संघर्ष कालीन नेताओं की जीवनियाँ, पृ0 412
7. शिवनरायन द्विवेदी : 1857 का गदर दो भाग, पृ0 133
8. श्री निवास बालाजी हारडिकर : 1857, पृष्ठ 102
9. भाग–23 सम्पादक सतारा : ऐतिहासक संघर्ष, पृष्ठ 74
10. भाग–3 सम्पादक सतारा : बालाजी बाजीराव द्वितीय,पृ0 83
11. डॉ0 भवानसिंह राणा : वीर सावरकर, पृ0 58
12. डॉ0 दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी : भारत राष्ट्रीय आन्दोलन, पृ0 21
13. गोविन्द सखाराम सरदेसाई : मराठो का नवीन इतिहास, भाग–3, पृ0 424
14. कविमणि पं0 कृष्णदास : बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ0 216
15. राही मासूम रजा : 1857, पृ0 333
16. राधाकृष्ण बुंदेली एंव श्रीमती सत्यभामा बुंदेली : बुन्देलखण्ड का एतिहासिक मूल्यांकन, भाग–1, पृ0 65
17. मन्मथनाथ गुप्त : भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास ,पृ0 40
18. वही पृष्ठ 78
19. वही़ पृ0 171
20. वही पृ0 463
21. वही पृ0 412

22. राधाकृष्ण बुंदेली एवं श्रीमती सत्यभामा बुंदेली : बुन्देलखण्ड का ऐतिहासिक मूल्यांकन, भाग–3, पृ0 42
23. मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुंदेलखंड का इतिहास, पृण्ठ 66
24. वही पृ0 109
25. वही पृ 213
26. रवि चन्द्र गुप्ता : आजादी के अंकुर, पृ0117
27. डॉ0 रामप्रकाश, रवि चन्द्र : दिल्ली की बलिदान गाथा, पृ0 23
28. वीरेन्द्र मोहन रतूड़ी : हमारे वीर सेनानी, पृ0 11
29. डॉ0 हरिकृष्ण देवसरे : स्वत्रंत्रता के 51 वर्ष, पृ0 52
30. डॉ0 नरेन्द्र कुमार : तीन महान क्रान्तिकारी, पृ0 143
31. डॉ0 रवि चन्द्र गुप्ता : कहाँ गये वे लोग, पृ0 93
32. राधाकृष्ण बुंदेली एवं श्रीमती सत्यभामा बुंदेलीः बुंदेलखण्ड का ऐतिहासिक मूल्यांकन, भाग –5, पृष्ठ 277
33. वही पृष्ठ 281–282
34. L.M. Sharma : Rani Jhansi, P.342
35. रवि चन्द्र गुप्ता : राष्ट्र आज इनकी जय बोल, पृ0 4
36. R.P. Dutt : India Today, P.72
37. 1857-58 Part-I : Narrative of Events Attanding the out break of Disturbance and the restenation of authority, P.42
38. George William Part-III : A History of the Sipahi War in India, 1857-58, P.213
39. जगदीश 'जगेश' : कलम आज उनकी जय बोल, पृ0 156
40. Dr. S.P. Verma : A Study in the Maratha Diplomacy, P.202

चतुर्थ अध्याय

भारत के ऐतिहासिक संदर्भ में तत्कालीन परिस्थितियाँ

भारत की प्राचीन सभ्यता स्पष्ट रूप से एक सीमांकित उपमहाद्वीप में उदित हुई जिसकी उत्तर दिशा को संसार की विशालतम एवं सर्वोच्च पर्वत–श्रेणी हिमालय की श्रंखला घेरे हुए है जो अपने पूर्वी तथा पश्चिमी विस्तारों के साथ भारत को शेष एशिया तथा संसार से पृथक करती है। अवरोध की यह श्रृंखला कभी भी अलंघ्य नहीं रही और सभी युगों में परिवासी एवं व्यापारी दोनों ही ऊँचे और निर्जन दर्रो के मार्ग से भारत में आते रहे, जबकि भारतीयों ने भी व्यापार तथा संस्कृति का विस्तार अपनी सीमाओं के बाहर इन्ही मार्गो से किया। भारत की पृथकता किसी समय भी पूर्ण नहीं रही और इसकी अपूर्व सभ्यता के विकास पर पर्वत–श्रेणियों के प्रभाव का मूल्यांकन प्रायः आवश्यकता से अधिक किया गया है।

भारत के लिए हिमालय पर्वत का महत्व उसे पृथकता प्रदान करने में उतना नहीं है जितना कि इस सत्य में है कि वह उसकी दो महान सरिताओं का उद्गम–स्थल है। वर्षा ऋतु में बादल उत्तर और पश्चिम की ओर उमड़ते हुए अपनी समस्त आर्द्रता इसके ऊँचे शिखरों पर उड़ेल देते हैं, जहाँ से सतत् द्रवित हिम द्वारा पोषित असंख्य धाराएं दक्षिण की ओर बहती हैं और सिन्धु तथा गंगा की महान सरिता प्रणलियों में मिल जाती हैं। अपने मार्ग में वे कश्मीर और नेपाल की घाटियों जैसे छोटे और उपजाऊ पठारों में होकर बड़े मैदान में निकलकर बहने लगती हैं।

इन दो सरिता प्रणलियों मे से सिन्धु नदी जो अब पाकिस्तान में है, आदिम सभ्यता का केन्द्र रही है और इसी ने देश को 'हिन्दुस्तान' नाम प्रदान किया है। भारतवासी इस नदी को 'सिन्धू' नाम से जानते थे और फारसवासियों ने 'स' के उच्चारण में कठिनाई होने के कारण इसे 'हिन्दु' कहकर पुकारा। फारस से यह शब्द यूनान पहुँचा जहाँ सारा भारत देश इस पश्चिमी नदी के नाम से विख्यात हुआ।

प्राचीन भारतीय अपने उपमहाद्वीप को जम्बू द्वीप (जम्बू वृक्ष का महाद्वीप) अथवा भारतवर्ष (पौराणिक सम्राट भरत के पुत्रो का देश) के नाम से पुकारते थे। अन्तिम नाम आंशिक रूप में वर्तमान भारतीय सरकार द्वारा भी अपनाया गया है। मुस्लिम आक्रमण के साथ फारसी नाम 'हिन्दुस्तान' के नाम में आया था तथा प्राचीन धर्म को मानने वाले निवासी हिन्दू कहलाये। पंजाब का उपजाऊ मैदान, जिसे सिन्धु नदी की पाँच सहायक नदियाँ – झेलम, चिनाब, रावी, व्यास तथा सतलज आप्लावित करती हैं, ईसा से दो सहस्त्र वर्ष पूर्व उस उच्च सभ्यता का केन्द्र रहा है, जो सिन्धु के निचले मार्ग द्वारा समुद्र तक फैल गयी। सिन्धु नदी का निचला भाग जो अब पाकिस्तान में सिन्ध प्रान्त में है। अब ऊजड़ मरूभूमि से होकर बहता है, यद्धपि किसी समय वह भली प्रकार जलप्लावित एवं उपजाऊ प्रदेश था।

थार अथवा राजस्थान का मरूस्थल तथा छोटी–छोटी पहाड़ियाँ सिन्धु तथा गंगा के मैदानों को विभाजित करती हैं। दिल्ली के उत्तर–पश्चिम का सिंचित भाग कम से कम ईसा से एक सहस्त्र वर्ष पूर्व से ही घमासान युद्धों का रंगमंच रहा है। गंगा के मैदान का अर्द्ध–पश्चिमी भाग सदैव से भारत का आकर्षण केन्द्र बना रहा है। इस क्षेत्र में दिल्ली से पटना तक का भाग जिसमें दोआब अथवा गंगा तथा इसकी सहायक नदी यमुना के मध्य का प्रदेश सम्मिलित है, सदैव से भारत का महत्वपूर्ण स्थल रहा है। इस प्रदेश में, जो कभी आर्यावर्त अर्थात् आर्यो की भूमि के नाम से प्रसिद्ध था, भारत की शास्त्रीय संस्कृति का निर्माण हुआ था। यद्यपि पीढ़ियों से चली आयी कृषि की अवैज्ञानिक प्राचीन परिपाटी, वृक्ष उन्मूलन एवं कुछ अन्य बातों ने अब इसकी उर्वरा शक्ति को क्षीण कर दिया है, तथापि पहले कभी यह संसार के सबसे अधिक उपजाऊ क्षेत्रों में से था तथा इसने कृषि प्रारम्भ होने के समय से ही अपनी उपज द्वारा एक विशाल जनसंख्या का भरण–पोषण किया है। बंगाल

में गंगा अपने मुहाने पर एक बड़ा डेल्टा बनाती है, जिसने एतिहासिक काल में भी समुद्र तट पर पर्याप्त अधिकार रखा है। यहाँ पर यह ब्रह्मपुत्र नदी से मिलती है, जो तिब्बत से भारतीय सभ्यता के सुदूर–पूर्वी केन्द्र असम की घाटियों में होकर बहती है।

बड़े मैदान का दक्षिणी भाग एक पर्वतीय भू–कटिबन्ध है जो विन्ध्याचल की श्रृंखलाओं तक फैला है। ये किसी भी प्रकार हिमालय की श्रेणियों के समान प्रभावशाली नहीं है परन्तु ये प्राचीन काल में 'हिन्दुस्तान' के नाम से प्रसिद्ध उत्तरी भाग तथा बहुधा 'डकेन' (जिसका अर्थ केवल दक्षिण है) नाम से प्रसिद्ध प्रायद्वीप के मध्य एक रोक का कार्य करती रही है। 'डकेन' शब्द का प्रयोग कभी–कभी सम्पूर्ण दक्षिणी प्रायद्वीप के लिए परन्तु अधिकतर दक्षिण भारत के उत्तरी तथा मध्यवर्ती प्रदेशों के लिए ही होता है। दक्षिण का अधिकांश भाग शुष्क तथा पर्वतीय पठार है जो दोनों ओर पश्चिमी तथा पूर्वी घाटों की पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ है। इन दोनों श्रेणियों में से पश्चिमी घाट अधिक ऊँचा है। अतः दक्षिण की अधिकतर नदियाँ जैसे महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी पूर्व की ओर बहकर समुद्र से मिलती है। केवल दो बड़ी नदियाँ नर्मदा और ताप्ती पश्चिम की ओर बहती हैं। अपने मुहाने के समीप दक्षिण की नदियाँ मैदानों से होकर बहती है जो गंगा के मैदानों से छोटे है, परन्तु जनसंख्या में लगभग उन्ही के समान है। प्रायद्वीप का दक्षिण–पूर्वी भाग एक बड़ा मैदान हैं, जो तमिल प्रदेश के नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी कभी अपनी संस्कृति थी और जो आज भी पूर्णतः उत्तरी भारत की संस्कृति से सामंजस्य नहीं रखती। दक्षिणी भारत के द्रविड़ आज भी ऐसी भाषाएँ बोलते हैं जिनका उत्तरी भाषाओं में कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनो भाषाओं के वर्ग पृथक हैं फिर भी उत्तरी तथा दक्षिणीं भाषाओं के बीच पर्याप्त पारस्परिक सम्मिश्रण रहा है। भौगोलिक दृष्टि से श्रीलंका भी भारत का विस्तार ही है। इसके उत्तरी मैदान दक्षिणी भारत के मैदानों के तथा इसके मध्य के पर्वत पश्चिमी घाट के समरूप हैं।

यह महाद्वीप उत्तर में कश्मीर से और दक्षिण में कन्याकुमारी अन्तरीप तक लगभग 2,000 मील लम्बा है और इसीलिए इसकी जलवायु में अतीव भिन्नता पायी जाती है। हिमालय क्षेत्र शीत–प्रधान है जिसमें यदाकदा हिमपात भी हो जाता है। उत्तरी मैदान जाड़ो में ठण्ड़े रहते हैं, दिन तथा रात के तापमान में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है जबकि ग्रीष्म ऋतु प्रायः असाध्य होती है। ऋतु के अनुसार दक्षिण के तापमान में कम परिवर्तन पाया जाता है, यद्वपि पठार के अधिक ऊँचे भागों में शरद ऋतु की रातें शीतल होती है। तमिल प्रदेश निरन्तर गर्म रहता है, परन्तु इसका तापमान उत्तरी मैदानों के ग्रीष्म के तापमान के समान कभी नहीं बढ़ता।

भारतीय जलवायु की सबसे बड़ी विशेषता यहाँ की मानसूनी वर्षा है। पश्चिमी घाट तथा श्रीलंका के कुछ भागों के अतिरिक्त, अक्टूबर से मई तक केवल नाममात्र को वर्षा होती है। अतः कृषि सम्बन्धी कार्य नदियों एवं अन्य स्रोतों के जल के विधिवत नियन्त्रण से ही हो सकता है तथा शीतकालीन उपज सिंचाई के द्वारा ही सम्भव है। अप्रैल मास के अन्त तक फसल पक जाती है। गर्मियों में मैदानों का तापमान 110 फा. अथवा इससे भी अधिक बढ़ जाता है और तीव्र लू चलने लगती है, पतझड़ होने लगता है, घास पूर्णतः झुलस जाती है, वन्य पशुओं को जलाभाव से अधिक संख्या में मृत्यु होने लगती है। कार्य में शिथिलता आ जाती तथा दिन में सन्नाटा छा जाता है।

तब सुदूर गगन में मेघ दृष्टिगोचर होने लगते हैं और अल्पकाल में ही सागर तट से उमड़–घुमड़कर समस्त आकाश को अपनी सघन राशि से आच्छादित कर देते हैं। अन्त में जून मास में मूसलाधार वर्षा आरम्भ हो जाती है और वायुमण्डल गर्जन–तर्जन से ध्वनित हो उठता है। तापमान शीघ्रता से कम हो जाता है और थोड़े ही समय में वसुन्धरा फिर हरी–भरी एवं प्रफुल्लित हो उठती है। पशु, पक्षी तथा

कीटाणु पुनः प्रकट हो जाते हैं, वृक्ष नव पल्लव धारण करते है तथा पृथ्वी इर्वाच्छादित हो जाती है। थोडे–थोडे विराम के उपरान्त मूसलाधार वर्षा दो मास तक निरन्तर होती रहती है और तत्पश्चात धीरे–धीरे समाप्त हो जाती है। वर्षा के दिनों में यात्रा एवं अन्य बाहय कार्य करना दुरुह हो जाता है। प्रायः बर्षा ऋतु के बाद महामारियों का प्रकोप भी होता है, परन्तु इन कठिनाइयों के होने पर भी भारतीय विचारधारा में मानसून का उतना ही स्वागत किया जाता है जितना यूरोप में वसन्तागमन का। यूरोप में साधारणतः मेघों की गरजन एवं बिजली की कड़क अशुभ लक्षण माने जाते है परन्तु भारतवासियों के लिए वे भय के कारण न बनकर, हृदय में वर्षा के प्रति स्वागत की भावना उत्पन्न करते हुए, कल्याण एवं सौभाग्यसूचक समझे जाते है।

प्रायः यह कहा जाता है कि भारत में प्रकृति की स्थिति एवं भारत का मानसून पर पूर्णतः आश्रित होना देशवासियों के चरित्र–गठन में सहायक सिद्ध हुआ है। आज भी बाढ़, अकाल एवं प्लेग जैसे महान प्रकोपों का सामना करना कठिन है और अतीत में तो उनका नियन्त्रण प्रायः असम्भव ही था। अनेक अन्य पुरातन सभ्यता वाले देशों जैसे यूनान, रोम और चीन के निवासियों को कठोर शीत से ही संतुष्ट होना पड़ता था जिससे उन्हें दृढता और साधन–सम्पन्नता की प्रेरणा मिली। इसके विपरीत, भारत के ऊपर प्रकृति के वरद्हस्त की छाया थी जो मानव को जीवनयापन की सामग्री देकर प्रतिकार में कुछ भी आशा नहीं करती परन्तु जिसे अपने भीषण प्रकोप में किसी भी मानव प्रयत्न द्वारा शान्त नहीं किया जा सकता। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय चरित्र इसी कारण शान्तिप्रिय एवं भाग्यवादी तथा जीवन के सुख–दुःख को बिना किसी आपत्ति के सहन करने का अभ्यस्त बन गया है।

इसमें सन्देह है कि यह निर्णय कहाँ तक उचित है। यद्यपि जीवन के प्रति शान्तिप्रियता का तत्व प्राचीन भारतीय विचारधारा में निश्चित रूप से विद्यमान

था, और आज भी है परन्तु नीतिज्ञों ने इसे कदापि स्वीकार नहीं किया। प्राचीन भारत के महान साधन, भव्य मन्दिर एवं विशाल क्रमबद्ध सैनिक आक्रमण, देशवासियों की निष्क्रियता की ओर संकेत नहीं करते हैं। यदि भारतीय चरित्र पर जलवायु का कोई प्रभाव रहा है तो हमारा विश्वास है कि वह सुविधा और सरलता के प्रति प्रेम का विकास अर्थात प्रकृति के द्वारा मुक्त रूप से प्रदत सरल आनन्द के प्रति आसक्ति ही है। इस प्रवृत्ति की स्वभाविक प्रतिक्रिया एक ओर आत्मत्याग और सन्यास की भावना तथा दूसरी ओर समय–समय पर कठोर श्रम–साध्य चेष्टा रही है।

(1) छोटे-छोटे राज्यों का उदय एवं राष्ट्रीयता का ह्रास :

अंग्रेजों ने भारतवर्ष में लगभग 200 वर्ष तक शासन किया। भारतवर्ष में सैकड़ों रियासतें थीं। उनके अलग–अलग शासक थे, ये पूरी तरह स्वतंत्र थे और आपस में लड़ते–झगड़ते रहते थे। अंग्रेजों ने रियासतों को बनाए रखा और उन्हें अपने स्वार्थ के लिये प्रयोग किया। इसीलिए भारतीय स्वतंत्रता के महायज्ञ में आन्दोलन की गति अत्यन्त धीमी रही। जिसका सबसे बड़ा कारण लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का न होना था। [1]

भारत के विभिन्न राज्यों में संघर्षो के कारण अंग्रेजी शासन की प्रगति के मार्ग खुल गये। राजस्थान में जयपुर और जोधपुर के राजाओं का युद्ध जो उदयपुर की राजकुमारी कृष्णकुमारी को लेकर हुआ था। वह राजकुमारी के आत्महत्या करने कें बाद समाप्त हुआ। पंजाब में रणजीत सिंह का शासन अच्छा था। इसलिए वहाँ कोई अशान्ति नहीं थी। [2]

मराठों ने अंग्रेजों की सत्ता उखाड़ने के कई प्रयत्न किये। इसमें बाजीराव पेशवा और सिंधिया तथा होल्कर एवं महारानी लक्ष्मीबाई ने प्रमुख भूमिका निभायी। लॉर्ड मिण्टों के बाद लॉर्ड हेस्टिंग्स कम्पनी के गवर्नर जनरल हुये। 1817

में जो दूसरी संधि हुयी उसके अन्तर्गत बुन्देलखण्ड का बहुत सा भाग अंग्रेजों के अधीन हो गया। [3] इसी प्रकार की एक सन्धि मराठों की ओर से सन् 1806 में बुन्देलखण्ड के प्रशासक गोविन्द राव ने की थी। जिसका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है। इस संधि के कारण बुन्देलखण्ड के 57 ग्रामों में अंग्रेजों का अधिकार हो गया था। जब दुबारा अंग्रेजों और मराठों का संघर्ष हुआ उस समय पूना के पेशवा अंग्रेजों के अधीन हो गये और बुन्देलखण्ड क्षेत्र पर पेशवा दरबार का अधिकार समाप्त हुआ। इसी समय बाजीराव द्वितीय ने अंग्रेजों से स्वतंत्र होने का प्रयास किया। इस समय अंग्रेजी सेना का एक रेजीडेंट पूना में रहता था, उसे जब यह हाल मालूम हुआ तो वह भागकर किरंकी पहुँचा। पेशवा ने उस पर आक्रमण किया परन्तु रेजीडेन्ट को अंग्रेजी सहायता मिल जाने के कारण पेशवा को हरा दिया और बन्दी बना लिया। इस समय नागपुर के भौसलें ने भी आक्रमण किया परन्तु वे भी हार गये। सन् 1818 में अंग्रेजों ने बाजीराव पेशवा के सभी राज्य अपने अधिकार में कर लिये। बाजीराव पेशवा कानपुर के पास बिठूर में रहने लगे। उनके खर्च के वास्ते 8 लाख रूपया वार्षिक पेंशन बाँधी गयी। इस प्रकार मराठों को हराकर अंग्रेज भारतवर्ष के शक्तिशाली शासक बन गये। यह देखकर अन्य राज्यों के राजाओं ने भी इनसे संधियाँ कर ली।

जालौन के नाना साहब की संधि होने के पश्चात् बुन्देलखण्ड पर अंग्रेजों का प्रभाव बढ गया। सागर के विनायक राव चांदोरकर ने भौसलें और पिण्डारियों को सहायता दी थी इसलिये अंग्रेजों ने इनका राज्य भी छीन लिया और 2 लाख 50 हजार वार्षिक पेंशन दे दी। [4] इसी समय रूकमाबाई ने बलवंतराव उर्फ बाबा साहब को गोद लिया था। इसलिये इन्हें भी 5 हजार रूपया वार्षिक पेंशन दे दी गयी और इनके वंशजों को जबलपुर में बसा दिया गया।

झाँसी में रघुनाथ हरि की मृत्यु के पश्चात् उनके भाई शिवराव भाऊ

सूबेदार बने। उनके अल्पवयस्क नाती का नाम रामचन्द्र राव था। उनकी ओर से उनकी माता सरवूबाई राज्य का कार्य देखती थी। उन्होंने एक बार अपने पुत्र को मारने का षडयंत्र रचा इसलिये इन्हें कैद कर लिया गया और रामचन्द्र राव को सूबेदारी करने के लिये स्वतंत्र छोड दिया गया। जब अंग्रेजों ने पेशवा राज्य पर अधिकार कर लिया उस समय रामचन्द्र राव से सीपरी छावनी में एक संधि हुई। इस संधि के अनुसार रामचन्द्र राव का अधिकार अंग्रेजों ने स्वीकार कर लिया। यह संधि 1817 में हुई जब 1818 में पेशवा की दूसरी संधि हुई उस समय गोविन्द राव का अधिकार जालौन और गुरसराँय में था। [5]

इस समय सागर जिले का धमौनी परगना भौसलें के हाथ में था। अंग्रेजों से संधि हो जाने के कारण यह इलाका सन् 1818 में अंग्रेजों को मिल गया। गढ़ाकोटा, मालथौन, देवरी, गौरक्षामर और नाहरमऊ को अर्जुन सिंह ने सिंधिया को दिये थे वे सिंधिया के पास पूर्ववत् बने रहे। बाद में सन् 1821 में सिंधिया ने ये क्षेत्र अंग्रेजों को सौंप दिये। इस प्रकार दमोह और सागर का क्षेत्र अंग्रेजों के हाथ में आ गया। 19वीं शताब्दी के प्रथम चरण में अंग्रेजों का प्रभुत्व तेजी से स्थापित हो रहा था। इसलिये बुन्देलखण्ड के बुन्देली राजाओं ने अंग्रेजों से मित्रता का व्यवहार ही उचित समझा। इस प्रकार बुन्देली राजाओं ने अंग्रेजों से संधियाँ करना प्रारम्भ कर दिया। सन् 1812 में ओरछा के राजा विक्रमाजीत, 1804 में दतिया के राजा पारीछत, 1817 में समथर के राजा रणजीत सिंह, 1803 में चरखारी के राजा विजयबहादुर सिंह, 1812 में जैतपुर के राजा गजसिंह, 1811 में बिजावर के राजा रतनसिंह, 1806 में छतरपुर के सोनेशाह आदि से अंग्रेजों की संधियाँ हुई और उन्हें सनदें प्रदान की गयी। [6]

19वीं शताब्दी के आगमन से ही बुन्देलखण्ड में सत्ता की लोलुपता के आवेश में पारस्परिक वैमनस्य बढ़ चुका था और यह कई टुकड़ों में बट चुका था।

बुन्देले आपस में संगठित नहीं थे। उनकी एकता नष्ट हो चुकी थी। चारों ओर अराजकता और ईर्ष्या तथा भय का साम्राज्य था। 40–45 रियासतें एक दूसरे से वैमनस्य के कारण संगठित नहीं हो सकीं। उनमें उत्तराधिकार के झगड़े, गोद लेने के विवाद तथा राज्य का प्रबन्ध आदि समस्यायें अपना भयंकर रूप धारण किये हुए थी। इन प्रतिकूल परिस्थितियों और विषम परिस्थितियों और समस्यायों का लाभ उठाकर अंग्रजों ने समस्त बुन्देलखण्ड पर अपना अधिकार कर लिया। 1840 ई. में जालौन को अंग्रेजों ने अपने अधिकार में कर लिया। क्योंकि गोद लेने का प्रस्ताव रद्द कर दिया। 1853 ई. में गंगाधर राव की मृत्यु के पश्चात् झाँसी को भी अंगेजी राज्य में. मिलाने का प्रयत्न शुरू कर दिया। समस्त रियासतों पर सुदृढ़ एवं ठोस अधिकार जमाने के उद्देश्य से छावनियों में सेनायें भेज दी गयी और प्रबन्ध के लिए पोलिटिकल एजेन्टों की नियुक्तियाँ की गयी।

सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् बुन्देलखण्ड पर अंग्रेजों का पूर्ण अधिकार था और बुन्देलखण्ड बिलकुल शान्त रहा। झाँसी, जालौन, हमीरपुर, बाँदा और ललितपुर संयुक्त प्रान्त के अन्तर्गत रहे। 1861 में मध्यप्रदेश का निर्माण हुआ। सागर की कमिश्नरी में सागर, दमोह, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, बैतूल, सिवनी और मण्डला के जिले थे। 1865 में प्रान्तीय कानून बनाये गये और 1872 ई. में प्रोविन्सियल सिस्टम का निर्माण हुआ। सभी रियासतों के शासन पर अंग्रेजों का हस्तक्षेप रहता था। [7] रियासतों में अंग्रेजी सेना रहती थी। सभी रियासतों की देखभाल बुन्देलखण्ड एजेन्सी के अन्तर्गत हुआ करती थी और उनका राजनीतिक प्रतिनिधि नौगाँव में रहता था।

बंगाल के मध्य श्रेणी वाले तो यों ही खार–खाए बैठे थे कि लार्ड कर्जन ने एक नया शोशा छोड़ दिया और वह पहले वाले से ही कहीं अधिक

खतरनाक था। लार्ड कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण पर शायद मैकाले का अनुसरण करते हुए यह कहा कि इस देश के लोग स्वाभावतः मिथ्यावादी होते हैं। इस पर तहलका मच गया। जब लार्ड मैकाले ने इस तरह की बातें कही थीं, उस समय राष्ट्रीयता का उदय नहीं हुआ था, पर लार्ड कर्जन के इस कथन से नवोदित राष्ट्रीयता को बहुत ठेस लगी। उसी साल के मार्च महीने में कलकत्ते के ओवर टाउन हाल की विराट सभा में बड़े लाट् साहब की इस चुनौती भरी उक्ति का जोरदार विरोध किया गया। [8]

पर लार्ड कर्जन इससे पीछे नहीं हटे। उन्होंने अपना आक्रमण जारी रखते हुए एक नया कदम उठाया। बंगाल, बिहार, उड़ीसा उन दिनों एक प्रान्त था। इस प्रान्त की जनसंख्या 7 करोड़ 90 लाख थी, और यह एक छोटे लाट के अधीन था। विशेषज्ञों को पता होगा कि बंकिमचन्द्र चटर्जी ने मूल रूप से जो 'वन्दे मातरम' गीत लिखा था, उसमे अब जहाँ 'त्रिंशकोटि–कंठकल–किनाद कराले' है पहले वह 'सप्तकोटिकंठ–कलकलनिनाद कराले द्विसप्तकोटिकरैर्घृतकरवाले' था। यह सप्तकोटि उस जमाने के बंगाल का वर्णन था। लार्ड कर्जन की यह आदत थी कि वह जिस नतीजे पर पहुँच जाते थे उसे कार्यान्वित करके ही दम लेते थे। न तो वह यह देखते थे कि इसका क्या असर होगा, न जनमत का कोई लिहाज करते थे। लार्ड कर्जन तो इस नतीजे पर पहुँच ही चुके थे कि बंगाल का अंग–भंग कर दिया जाय, फिर भी एक दिखावे के लिए वह बंगाल गए और अपनी नीति का परिचय दे दिया।

जुलाई में यह घोषित कर दिया कि बंगाल यानी सूबा बंगाल नहीं बल्कि बंगलाभाषी बंगाल को भी दो टुकड़ों में बाँट दिया जायेगा। देश में इसके विरूद्ध तीव्र आन्दोलन हो रहा था, बंगाली तो इसके खिलाफ आगबबूला हो रहे थे। सारे बंगाल में एक बिजली सी दौड़ गयी। उसी बंगाल ने जिसने गुलामी का तौक

सबसे पहले पहना था, अब ब्रिटिश–साम्राज्यवाद के विरूद्ध विद्रोह का झण्डा बुलन्द कर दिया। बंगाली यह कभी नहीं चाहते थे कि उनके 'सोने का बंगाल' दो टुकड़ों में बाँट दिया जाय, अतएव उसके विरूद्ध एक विराट् आन्दोलन खड़ा हो गया। विशेषकर मध्यावित श्रेणी को ही इस बाँट से नुकसान पहुँचता था, कि जब 'बंग–भंग' का नारा दिया तो उसके साथ सब वर्गो की सहानुभूति हो गयी। [9]

'बंग–भंग' तो हो गया, किन्तु बंगाली नेताओं ने आशा नहीं छोड़ी। वे बराबर आन्दोलन करते रहे। सभाये होती रही, जुलूस निकालते रहे। इस जमाने में सैकड़ों गाने लिखे गये, जो एक हद तक जनता के हृदय से निकले और जनता के गाने थे। जो लोग समझते हैं कि गाँधी जी ने हमारे देश में जन–आन्दोलन का श्री गणेश किया, वे गलती करते हैं। 'बंग–भंग'का आन्दोलन भी एक जन–आन्दोलन था। भारतवर्ष के वर्तमान युग के इतिहास को पढ़ते समय इस बात का स्मरण रखना बहुत आवश्यक हैं।

लार्ड कर्जन ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि प्रशासन की कुशलता तथा सुविधा के लिए बंगाल प्रान्त को पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल नाम के दो प्रान्तों में बाँटना आवश्यक है क्योंकि उस समय बंगाल प्रान्त में बिहार–उड़ीसा भी शामिल थे। परन्तु वास्तविकता यह थी कि बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता को दबाने के लिए यह नीति अपनाई गयी थी।

कई समाचार पत्र लोगों को यह बता रहे थे कि 'स्वाधीनता प्राप्ति का अन्तिम साधन तलवार हैं' गुलाम देश की मुक्ति का एकमात्र मार्ग क्रान्ति हैं, रक्तपात के बिना देवी (माँ काली) की विजय यात्रा पूरी न होगी अंग्रेजों के पाप का घड़ा अब भर चुका है। ऐसी बातें लिखने वालों में बिहारी डैकन हैरल्ड और युगान्तर के नाम लिये जा सकते हैं। रावलपिण्डी में तो देशी सेना में राजद्रोह फैलाने वाले पैम्फलेट

फकीरों ने बाँटे। पंजाब के कई स्थानों लाहौर, अमृतसर, रावलपिण्डी, फीरोजपुर, मुल्तान आदि जगहों पर यह भावना फैल रही थी कि 1857 की वर्षगाँठ पर कुछ करना चाहिये। उच्च अधिकारियों की हत्या कर देने का खुलेआम प्रचार किया जा रहा था। किसानों से सरकारी लगान न देने की बात कही जा रही थी। देशी सैनिकों और पुलिस सिपाहियों को गद्दार बताया जा रहा था। और उन्हें सरकरी नौकरियों छोड़ने की कसमें दिलायी जा रही थी। इस कार्य में मुख्य हाथ एक गुप्त कमेटी का था जिन्हें इस आन्दोलन का मुख्य सूत्रधार माना गया।

अनगिनत सार्वजनिक सभाओं में राजद्रोह का धुआँ–धार प्रचार किया जा रहा था। सरकार न केवल हिंसा बल्कि राजभक्ति एवं राष्ट्रीयता की भावनाओं का प्रसार रोकने के लिए कटिबद्ध थी। समाचार– पत्रों पर एवं सभाओं पर प्रतिबन्ध के नये कानून बनाये गये। परन्तु इससे स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा, बल्कि वातावरण और उत्तेजनापूर्ण हो गया। आमतौर से समाचार पत्रो के विरूद्व कार्यवाही में सम्पादक भाग नहीं लेते थे और 'संध्या' के सम्पादक श्री ब्रम्हा बोधव ने तो अपने लिखित वक्तव्य में स्पष्ट कहा, मैं इस मुकदमें में भाग नहीं लेना चाहता, क्योंकि मैं यह नहीं मानता कि स्वराज्य के ईश्वर–प्रेरित कार्य में अपना विनम्र योगदान देने के लिए मैं किसी भी रुप में विदेशियों के आगे जवाबदेह हूँ। उनकी अस्पताल में ही मृत्यु हो गयी। [10]

बहुधा पुलिस सभाओं को भंग करने की कोशिश करती थी। आयोजकों और श्रोताओ को बुरी तरह पीटा जाता था। और अंधा–धुंध गिरफ्तारियाँ की जाती थीं। दमन–चक्र इतनी क्रूरतापूर्वक चलाया गया कि भारत–मन्त्री मॉर्ले ने अपने एक पत्र में लिखा, 'अत्यधिक कठोरता दिखाने से शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं रखी जा सकेगी : इसके विपरीत यह बमबाजी के रास्ते को आह्मन हैं। बाद में विद्रोहियों

की शाखाऐं ढाका, सोनारंग, मैमनसिंह, कूच बिहार, दिनारपुर और चटगाँव तक लगभग 500 की संख्या में हो गई। उसके सदस्य आसाम, बिहार, पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, और पूना में भी सक्रिय थे। सभी का एक–दूसरे से सम्पर्क था। इन आन्दोलनकारियों ने जनसधारण को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए धर्म का सहारा लिया। क्रान्तिकारियों ने शक्ति की अधिष्ठात्री काली से प्रेरणा ली। मेंजिनी और गेरीबाल्डी भी उनकी प्रेरणा के केन्द्र–बिन्दु थे। अनेक पैम्फलेट तैयार किये गये जिनमें बताया गया कि ब्रिटिश शासन अधर्म पर आधारित है इसलिये उसके विरूद्ध संघर्ष करना भारतीयों का कर्तव्य है। सुझाव दिया गया है कि लोग हथियार बनाना सीख लें और धन संग्रह के लिए राजनीतिक डकैती डालें। [11]

भारतवर्ष में ब्रिटिश झण्डे का सिक्का जमते–जमते जमा किन्तु उधर उसको उखाड़ने के लिए भी कुछ शक्तियाँ जी–जीन से काम करने में लगी थीं। 1856 के मार्च तक ब्रिटिश सत्ता भारत में अपने पूर्ण विकास को पहुँच चुकी थीं। पर यह न समझा जाये कि इस बीच में जीते हुये राज्यों में कोई विद्रोह नहीं हुआ। प्लासी के कुछ सालों के अन्दर 1764 में बंगाल सेना में काफी व्यापक विद्रोह हुआ था। यह विद्रोह कुछ नये फौजी नियमों के विरूद्ध हुआ था। इन लोगों की माँग थी कि ये नियम बदल दिये जायें। ये लोग पहले हथियार विद्रोह की तरफ नहीं गये, बल्कि इन्होने एक तरह से हड़ताल कर दी थी। पर मेजर मनरों को जब उनके इस प्रतिवाद का पता लगा तो जल्दी से बाँकीपुर से छपरा में पहुँच गये और उन्होंने गोरे सैनिकों के साथ विद्रोही सैनिकों पर हमला कर दिया। फिर इन विद्रोहियों में से जो हाथ आये, उनको तोप से उड़ा दिया गया। उस विद्रोह का इतिहास कप्तान क्रम नामक अंग्रेज अफसर ने अपनी 'बंगाल आर्मी' नामक पुस्तक में बड़े गर्व के साथ लिखा है। सैनिकों का क्या वक्तव्य था यह तो इतिहास को कभी पता नहीं लगेगा।

इसी प्रकार 1795 में एक अन्य सिपाही–विद्रोह का पता लगता है। इसकी कहानी पुराने कलकत्ता गजट के पृष्ठों में छिपी हुई है। उस जमाने में यूरोप में नेपोलियन रंगमंच पर आये थे। उसके सामने फ्रेंच–प्रजातंत्र के दुश्मनों की धज्जियाँ उड़ती जा रही थी। ऐसे ही समय 3 सितम्बर को बंगाल आर्मी के पन्द्रहवें बटालियन को यह हुक्म दिया गया कि वह फौरन तमलूक रवाना हो जाये, वहाँ पर जहाज तैयार थे। उनकों जहाज पर डचों के साथ लड़ने के लिए जाना था। बटालियन तमलूक तक को चला गया, पर वहाँ जाकर जहाज पर चढ़ने से इन्कार कर दिया। गोरे सेनापति ने यह आज्ञा दी कि यह बटालियन तोड़ दिया जाये, इसका झण्डा जला दिया जाये, सब सैनिकों का कोर्ट मार्शल किया जाये। कोर्ट मार्शल में यह तय हुआ कि विद्रोहियों के नेता रघुनाथ सिंह, उमरावगिर, यूसुफ खाँ आदि को तोप के मुँह पर बाँधकर उड़ा दिया जाये। अन्य सिपाहियों को एक–एक करके वरखवास्त कर दिया गया। तब से पन्द्रहवा बटालियन खत्म कर दिया गया। सिटन कार ने कलकत्ता गजट के जो संक्षिप्त सार तैयार किये है उसी के दूसरे खण्ड में इस सिपाही विद्रोह का विवरण हैं।

इसी प्रकार उन्नीसवीं सदीं में 1857 के पहले ही कई और सिपाही विद्रोहों का पता लगता है। 1806 में बेल्लोर में मद्रास आर्मी में देशी सेना ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह ने इतना व्यापक रूप धारण किया कि इसी कारण कहा जाता है कि लार्ड़ विलियम बैंटिंग की नौकरी गई। बाद में बैंटिंग ने अपनी सफाई देते हुए कहा कि यह विद्रोह कुशासन के विरूद्ध नहीं था बल्कि वर्षो से मुसलमानों के विद्रोह की जो आग भड़क रही थी यह उसी का परिणाम था, पर यह बात गलत थी। जैसा कि लार्ड विलियम बैंटिंग ने खुद ही 1807 में 8 जनवरी के मिनिट में माना है, बाद को यह विद्रोह नन्दी दुर्ग, संकरी दुर्ग आदि जिन स्थानों में फेल गया, वहाँ फिर हिन्दू और मुसलमानों का प्रश्न नहीं रहा। सभी धर्म के सैनिक एक होकर ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध उठ खड़े हुए थे।[12]

1857 के विद्रोह के दो साल पहले भी निजाम की फौज की तृतीय घुड़सवार सेना ने 1855 के 21 सितम्बर को विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया। फौज के अध्यक्ष ब्रिगेडियर मैकेन्जी के शरीर पर दस घाव आये और वे किसी तरह जान बचाकर भागे। विद्रोहियों ने उनका घर लूट लिया। इस विद्रोह के नेता भी मुसलमान थे। इन विद्रोह का निवारण चक्रवर्ती के बंगला लेख से संकलित हैं।

1857 में जो विद्रोह हुआ, उसको बहुत से लोग भारतीय स्वतंत्रता का युद्ध मानने से इन्कार करते हैं। इस बात में तो कोई संदेह नहीं कि जिन दलों के प्रयत्नों के फलस्वरूप गदर की लपट फैल गयी थी, उन सबका एक उद्देश्य इतना ही होने पर भी कि हिन्दुस्तान से फिरंगियों के पैर उखड़ जाएँ, उन सबके अन्तिम ध्येय में कोई समता नहीं थी, कोई कुछ चाहता था, कोई कुछ। गदर का सफल होना प्रगतिशीलता के हक में अच्छा होना था या बुरा, इसमें भी सन्देह प्रकट किया जाता है, क्योंकि गदर सफल होने का अर्थ होता कि पाश्चात्य देशों में पूँजीवादी क्रान्तियाँ होने पर जिस सामन्तवाद का पैर उखड़ रहा था; उसकी भारत में पुनः स्थापना होती, पर उसकी ज्यों की त्यों पुनः स्थापना तो किसी भी अवस्था में सम्भव ही नहीं थी। इसके साथ ही यह भी जोर के साथ नहीं कहा जा सकता कि देशी सामन्तवाद देशी पूँजीवाद के सामने बहुत दिन टिकता; क्योंकि देशी पूँजीवाद को भी पनपना ही था। फिर यह बात भी है कि विद्रोह के पीछे प्रतिक्रियावादी तथा देश को सामन्तवादी युग में लौटा ले जाने वाली जो सम्भावनाएँ थी, वे कुछ भी हो कारण–रूप थी, उनका कार्यरूप परिणाम, बहुत सम्भव है, और होता। इतिहास में सैकड़ों उदाहरण हैं कि किसी आन्दोलन के संचालकों के मन के कारण–रूप भावना और होते हुए भी एक आन्दोलन के कार्य–रूप परिणाम कुछ और ही हुए। हम इसलिए विद्रोह को एक साम्राज्यवाद–विरोधी कार्य कहेंगे। सच बात तो यह है कि गदर के नेताओं का आपस

में कुछ और अधिक सहयोग होता, तो बहुत सम्भव है, भारत से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का खेमा उखड जाता। इस दृष्टि से हम इसे निश्चित रूप से एक महान क्रान्तिकारी प्रयास मानते हैं।[13]

गदर अमानुषिक अत्याचार द्वारा दबा जरूर दिया गया, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भारतवासी दब गए। सच्ची बात तो यह है इन अत्याचारों से भारतवासी 'भारतवासी' हो गए। पहले वे अपने क्षुद्र स्वार्थो, सम्प्रदायों, बहुत हुआ प्रान्तों की दृष्टि से सोचते थे; किन्तु अब–वे कुछ–कुछ अखिल भारतीय दृष्टि से सोचने लगे। जब ब्रिटेन ने इन अत्याचारों के युग में उन लोगों को, जो अपने को शेर समझते थे, तथा उन लोगों को जिनको लोग आमतौर से बकरी समझते थे, एक ही तलवार के घाट में पानी पिलाया अपमान किया, लाँछित किया तो उन सबके कान खडे हो गए। आपस की दुश्मनी भुलाकर भारत के सभी वर्ग अंग्रेजों को सार्वजनिक दुश्मन समझने लगे। यहीं से उस भावना का सूत्रपात होता है, जिसको हम भारतीयता या देशभक्ति कह सकते हैं।[14] यह बात यहाँ पर स्मरण रखने योग्य है कि इस अखिल भारतीय देशभक्ति की नींव बहुत कुछ ब्रिटिश द्वेश पर थी तथा इसकी मनोवैज्ञानिक नींव में उन अत्याचारों की याद भी थी, जो गदर में किये गये थे। भारतीय क्रान्ति आन्दोलन के उद्‌भव को समझने के लिए इस बात को समझना बहुत आवश्यक है।

क्रान्तिकारी आन्दोलन ठीक–ठीक समय पर प्रारम्भ हुआ, यह कहना कठिन है, क्योंकि बीज हमैशा मिट्‌टी के नीचे काम करता है, जब वह अंकुर के रूप में प्रकट होता है, तभी हम जान पाते है कि वह अब तक नीचे – ही नीचे कार्य करता रहा। गदर के बाद कितने ही गिरोह ऐसे आए और गए, जो ब्रिटिश सत्ता को मिटाने के लिए गुप्त रूप से प्रयत्न करते रहे, किन्तु उनकी योजनाएँ कल्पना में ही रह गई।

वे कार्य रूप में परिणित न हो सकीं। कम–से कम इतिहास को इनका कोई निश्चित पता नहीं है। कूका विद्रोह की बात हम छोड़ देते है, उस विद्रोह का दृष्टिकोण अखिल भारतीय था या नहीं इसमें सन्देह हैं। [15]

मुजफ्फरपुर, अलीपुर, बर्हा, स्याल कोट, लापलपुर, फिरोजपुर, बनारस, मैनपुरी, उड़ीसा, मद्रास, पांडिचेरी, बिहार, नागपुर, पूना, परोला, ग्वालियर, सूरत, अमृतसर, झाँसी, दिल्ली, कानपुर, बिठूर, चरखारी, लाहौर, चटगाँव, जलालाबाद, मेदिनीपुर, हिजली, गया, मेरठ, बलिया, पिपरीडीह, बम्बई, गाजीपुर, इलाहाबाद, आजमगढ़, गोरखपुर, मधुवन, जौनपुर, आगरा, प्रतापगंज, मथुरा, वृन्दावन, अलीगढ़, विजनौर, अल्मोड़ा, गढ़वाल, लखनऊ, मुरादावाद, एटा, बरेली, बाँस–बरेली, सहारनपुर, देहरादून, बुलन्दशहर, आसाम, दारांग, गोपुर, तेजपुर, ढोकाईजुली, कामरूप, ग्वालपाडा, चारीगाँव, हाथीगाँव, तेवका, सूताहाता, नन्दीग्राम, कांथी, ढाका, कलकत्ता, फरीदपुर, मुर्शिदावाद, हावड़ा, हुगली, मैमनसिंह, नीलगंज, नेतकोना, बर्दवान, बोलपुर, नदिया, रानाघाट, बगुड़ा, बालूरघाट, दीनाजपुर, डंगीरघाट, भोराडांगा, परिलाहाट, कटक, पुरी, बालासोर, गंजाम, पटना, चम्पारन, शाहाबाद, भागलपुर, पूर्णिया, सारन, दरभंगा, मानभूम, जमशेदपुर, राँची, पालामऊ, हजारी, बाग, मुंगेर, आरा, वर्धा, अष्टी, चिमूर, भंडारा, बेतूल, जबलपुर, अमरा, अमरावती, अकोला, बुलडाना, यवतमाल, ललितपुर, मऊ, सागर, दामोह, पन्ना, करेरा, गढ़मऊ, कालपी, कोंच, उरई, गुजरात, सिन्ध, काठियावाड़, अहमदाबाद, खेड़ा, डकोर, भड़ौच, कलोल, करांची, शखर, हैदराबाद, शिकारपुर, भावनगर, राजकोट, पोरबन्दर, जामनगर, अमरेडी, बड़ौदा, अहमदनगर, सतारा, तसगाँव, नौगाँव, इस्लामपुर, खानदेश, नासिक, कर्नाटक, हुबली, धारावार, सौंडटी, आन्ध्र, केरल, तमिलनाडु, चमकचेरी, चोम्बल, नडूवन्ननूर, फेरोक, कोचीन, ट्रावनकोर, त्रिची, मन्नार, कोयम्बटूर, तंजौर, तीरूवाड़ी, कोमलकानम, मदुरा, कोल्हापुर,

मिरज, मैसूर, गिरगपट्टम, होतालकर, आजूर, सीतापुर, भोपाल, इन्दौर, कोटा, मेवाड़, तालचर, नीलगिरि, नयागढ़, ढेकनाल, चादपुर, डिही मसुरिया, अलीपुरम, फतेहगढ़, इटावा, औरया, जबलपुर, गोपालपुरा आदि ।

यह सम्भव नही है कि भारतवर्ष के प्रत्येक स्थान के आन्दोलन का पूर्ण इतिहास दिया जाय। सच कहा जाय तो भारतवर्ष में सभी जगह आन्दोलन हुआ। इसीलिए थोड़े से ऐसे स्थानों का ऊपर वर्णन किया है जहाँ कोई विशेषता रही हैं। [16]

आजाद हिन्द फौज मे स्त्रियो का जो रेजिमेन्ट झाँसी की रानी रेजिमेन्ट के नाम से मशहूर हुआ उसके सम्बन्ध मे भी दो – एक बात बताना यहाँ पर मैं आवश्यक समझता हूँ। इसकी नत्री श्रीमती लक्ष्मी एक लेडी डाक्टर थी । इनके अधीन रेजिमेंट ने युद्ध के समय जान जोखिम में डालकर बडी–बड़ी सेवाएँ की थीं। 1 जुलाई, 1944 को सिंगापुर में यह रेजिमेंट बना था । इनको घायलों की सेवा के अतिरिक्त फौजी शिक्षा दी गई थी, और वे बाकायदा फौजी कवायद करती थी। जिस समय 1944 के आरम्भ में आजाद हिन्द फौज की तरफ से भारत पर आक्रमण हो रहा था, उस समय इस रेजिमेंट की स्त्रियों ने नेता जी को खून से लिखकर एक दरख्वात दी थी, जिसमें यह कहा गया था, कि उन्हें इस आक्रमण में हाथ बँटाने का मौका दिया जाए । नेता जी की यह इच्छा थी कि वह बाद में चलकर लड़ाई में भाग लें। पर कुछ ऐसी घटनाएँ हुयी, जिनके कारण इनको युद्ध में भाग लेने का मौका न मिल सका। जिस समय झाँसी की रानी रेजिमेंट की स्त्रियाँ रंगून खाली करके जा रही थीं, तो ब्रिटिश फौज की एक टुकडी ने उन पर हमला बोल दिया। इस पर झाँसी की रानी रेजिमेंट की स्त्रियों ने उन पर बन्दूक की गोली चलाकर प्रत्याक्रमण कर दिया और ब्रिटिश फौज को भागना पड़ा।

भारतवर्ष एक दिन में अंग्रेजों के अधीन नहीं हुआ था; करीब एक सौ साल के षड़यन्त्र, कूटनीति तथा विश्वासघात के बाद हिन्दुस्तान में ब्रिटिश झण्डा स्वतंत्रतापूर्वक फहरा सका था। 1757 ई. में प्लासी के मैदान में भारतवर्ष की स्वाधीनता हर ली गई, जो ऐसा समझते हैं, वे गलती करते हैं। प्लासी तो केवल उस विराट् षड़यन्त्र का, जिसके फलस्वरूप भारतवासी ब्रिटिश गुलामी की जंजीरों में जकड़े गए, एक अध्याय मात्र था। यह बात भी गलत है कि हिन्दुस्तान मक्कारी और षड़यन्त्र से जीता गया, और आवश्यकता पड़ने पर कभी–कभी तलवार भी काम में लाई गयी थी।[17]

भारत की पराधीनता का सारा दोष अंग्रेजों के सिर पर मढ़ देना गलत है। 'कोई बड़ी संस्था जब तक भीतर से सड़ती नहीं, तब तक केवल बाहर के आघातों से गिर नहीं सकती।' औरंगजेब के शासनकाल में ही मुगल साम्राज्य का पलस्तर जहाँ–तहाँ से उखड़ने लगा था। उस समय सर्वत्र ऐसी शक्तियाँ पैदा हो चुकी थीं, जो मुगल साम्राज्य को मिटाने की शक्ति तो रखती थीं, पर स्वयं निर्माण की कोई शक्ति रखती थी या नहीं इसमें सन्देह है। जो कुछ भी हो इतना तो सत्य है कि उन्हें मौका नहीं मिला। बाहर से उस समय के जगत की औद्योगिक रूप से सबसे उन्नत शक्ति ब्रिटिश साम्राज्यवाद बीच में कूद पड़ी। इसके पास उन्नत ढ़ंग के शस्त्र थे, उन्नतशील तथा विकासमान पूँजीवाद का संगठन था, जो भारत के सामन्तवादी संगठन से कहीं मजबूत था, और सबसे बढ़कर जो बात थी कि उनमें नवीन राष्ट्रीय भावनाओं (चाहे उनका रूप शोषक तथा गलत ही हो) का उदय हो चुका था, जिनसे विखरने की शक्तियों के लिए कम गुंजाइश थी। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि यह नवीन राष्ट्रीयता पूँजीवाद की ही उपज थी।

बहुत से लोग आज भी ब्रिटिश शासन की इन उपलब्धियों की प्रशंसा करते हैं। उनके विचार मे अंग्रेजों का शासन अनुशासनबद्ध और न्यायप्रिय था। परन्तु

वर्तमान प्रशासनिक भ्रष्टाचार की तुलना में श्रेष्ठ था। आज भी बुजुर्ग यह कहते है कि प्रशासन पर जनता का नियंत्रण न होने के कारण अंग्रेजों के भ्रष्टाचार से जनसाधारण परिचित नहीं हो पाया था खेद का विषय है कि अंग्रेजों ने सदैव भारतीयों को असभ्य, पददलित समझा और वे भारतीयों का हमैशा शोषण करते रहे। [18]

अंग्रेजों का शासन स्थापित होने के बाद भारत की सभ्यता एवं संस्कृति काफी प्रभावित हुई परन्तु यहाँ की रियासतें काफी सतर्क रही। इस समय अंग्रेजों की शक्ति काफी बढ़ चुकी थी। देशी नरेश सत्ता के प्रलोभन में संघर्ष करते रहते थे और लड़ते रहते थे। इसका लाभ अंग्रेजों ने उठाया। राज्य हड़प करने की अंग्रेजी शासन की नीति से वातावरण विद्रोही और क्रांन्तिपूर्ण हो गया। 1857 की क्रान्ति हुई। देशी राज्यों के नरेशों ने गोद लेने की प्रथा और अपने अधिकार के विरुद्ध ब्रिटिश शासन के आचरण को सहन नहीं किया। यह हिन्दू–मुस्लिम सभ्यता पर खुले आम कुठाराघात था जिसे वे सहन नहीं कर सकते थे। भारतीय जनता की भावनाओं पर अधिक ठेस उस समय पहुँची जब उन्हें यह प्रतीत हुआ कि कारतूसों में सुअर और गाय की चर्बी का प्रयोग किया जा रहा है। इसी प्रमुख कारण से भारत में 1857 की क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी जिसके प्रमुख नायक महारानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, कालपी के पेशवा, बानपुर के राजा मर्दन सिंह, बाँदा के नवाब अली बहादुर सानी, नानासाहब, रावसाहब, बहादुरशाह जफर इत्यादि थे। इस क्रान्ति ने असफल होने के बावजूद अंग्रेजी सरकार की जड़े हिला दी और भारत से अंग्रेजों की भावना सुनिश्चित हो गयी। अपने 200 वर्ष के शासन में अंग्रेजों ने सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में बाँध दिया लेकिन अंग्रेजों ने भारत की सैकड़ो रियासतों को आपस में बाँटे रखा जिससे उन्हें राजनीतिक लाभ मिलता रहा।

(2) प्राचीन भारत के आदर्श एवं उत्कर्ष :

भारत की प्राचीन सभ्यता मिस्र, मेसोपोटामिया तथा यूनान की सभ्यता

से इस दृष्टि में भिन्न है कि उसकी परम्पराएँ आज तक अविच्छिन्न रूप से सुरक्षित बनी हुई हैं। पुरातत्ववेताओं की खोज से पूर्व मिस्र अथवा इराक के किसान को अपने पूर्वजों की संस्कृति का कोई ज्ञान नहीं था, और यह भी सन्दिग्ध है कि उनके प्रतिरूप यूनानियों को 'पेरीक्लियन एथेंस' के वैभव का धूमिल मात्र भी ज्ञान था। इन सब देशों में ही अतीत से पूर्ण विच्छेद रहा था। दूसरी ओर भारत में सर्वप्रथम आने वाले यूरोपीय यात्रियों ने यहाँ एक ऐसी संस्कृति पायी जिसे अपनी प्राचीनता का पूर्ण ज्ञान था– एक ऐसी संस्कृति जो वस्तुतः अपने अतीत के गौरव को बढ़ा चढ़ाकर कहती थी तथा यह दावा करती थी कि उसमें हजारों वर्षों से कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन नहीं हुआ। आज भी जो पौराणिक गाथाएँ सामान्य से सामान्य भारतीय को ज्ञात हैं। जो ईशा से एक सहस्त्र वर्ष पूर्व रहे थे और कट्टरपन्थी ब्राह्मण अपने दैनिक पूजा–पाठ में उन मन्त्रों को दोहराता है जो इससे से भी पहले रचे गये थे। वस्तुतः संसार में भारत तथा चीन में ही प्राचीनतम सांस्कृतिक परम्पराएँ आज भी विद्यमान हैं। [19]

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक यूरोप निवासियों ने भारत के अध्ययन का कोई वास्तविक प्रयत्न नहीं किया तथा उसका प्रारम्भिक इतिहास यूनानी एवं लैटिन लेखकों की रचनाओं के संक्षिप्त अंशो से ही विदित हुआ था। प्रायद्वीप के थोड़े–से भक्तिपरायण पादरियों ने समकालीन भारतीय जीवन का सूक्ष्म ज्ञान तथा स्थानीय भाषाओं पर विद्वतापूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया परन्तु जिन लोगों के मध्य वे कार्य कर रहे थे, उनकी संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने का उन्होंने कोई वास्तविक प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने इस संस्कृति के प्रत्यक्ष रूप को ही अति प्राचीन एवं अपरिवर्तनशील रूप में स्वीकार किया तथा उनका भारत के अतीत का एकमात्र अध्ययन उस कल्पना के रूप में था जिसके आधार पर वे भारतीयों को नूह के उत्तराधिकारी तथा बाइबिल में उल्लिखित लुप्त साम्राज्यों से सम्बन्धित थे। [20]

इसी बीच कुछ पादरी भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत का साधिकार ज्ञान प्राप्त करने में सफल हुए। उनमें से फादर हैक्सलेडेन 1699 ई. से 1732 ई. तक मालावार में कार्य किया, संस्कृत भाषा की प्रथम व्याकरण पुस्तक का यूरोप की एक भाषा में संकलन किया। यद्वपि यूरोप और अमरीका की समसामयिक दार्शनिक विचारधारा में अन्तिम शताब्दी के ब्रह्मवाद एवं आदर्शवाद का बहुत कम महत्व हैं तथापि उनका प्रभाव अत्यधिक रहा है और वे सब किसी–न–किसी रूप में प्राचीन भारत के ऋणी हैं। [21] वे ऋषि जिन्होंने ईसा से 600 अथवा और भी अधिक वर्ष पूर्व गंगा की घाटियों में तपस्या की थी, अब भी विश्व में शक्ति सम्पन्न हैं।

मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व भारत की प्राचीन संस्कृति फारस की संस्कृति के समान नष्ट नहीं हुई। दिल्ली के कुछ मध्ययुगीन सुल्तानों के शासन–काल में अत्याचार होते थे और हम मन्दिरों के धराशायी किये जाने तथा ब्राह्मणों द्वारा सर्वसाधारण के समक्ष पूजा–पाठ करने पर मृत्यु–दण्ड दिये जाने का वृत्तान्त पढ़ते हैं। परन्तु सामान्यतः मुसलमान यथोचित रूप से सहनशील थे और हिन्दू सरदार सदैव भारत के सुदूरवर्ती भागों में शासन करते रहे तथा अपने मुसलमान अधिपतियों को कर देते रहें। इस्लाम में धर्म–परिवर्तन अत्यधिक हुए, यद्वपि केवल कुछ ही क्षेत्रों में बहुमत वाले भारतीयों को नवीन धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। हिन्दू और मुसलमान पास–पास रहते थे और कुछ शताब्दियों के पश्चात् भारत के मुस्लिम–बहुल भागों के हिन्दुओं ने प्रायः स्थिति को सामान्य रूप से ग्रहण कर लिया। ऐसी स्थितियों में पारस्परिक प्रभाव पड़ना स्वभाविक ही था। हिन्दू लोग फारसी सीखने लगे, जो उनके मुस्लिम शासकों की राजभाषा थी तथा फारसी शब्द देशी भाषाओं में स्थान पाने लगे। सम्पन्न हिन्दू परिवारों ने मुसलमानों से पर्दा प्रथा अपनायी और उन्होंने अपनी स्त्रियों को सर्वसाधारण के सामने घूँघट मारना सिखाया। अवस्थित

हिन्दू राजाओं ने मुसलमानों से नवीन सैन्य—कला ग्रहण की, अधिक प्रभाव के साथ अश्वारोही सेना तथा अधिक भारी कवच एवं नये प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग करना सीखा। मध्ययुगीन भारत के एक महान सन्त 'कबीर' (1440—1518 ई.) ने जो बनारस के गरीब जुलाहे थे, यह शिक्षा दी कि हिन्दू और मुसलमान एक ही परमपिता की सन्तान हैं। उन्होंने मूर्ति—पूजा एवं जातिवाद का खण्डन, यह घोषणा करते हुए किया कि ईश्वर की प्राप्ति मन्दिर तथा मस्जिद दोनों में समान रूप से हो सकती है। बाद में पंजाब के एक सन्त 'नानक' (1469—1533) ने इसी सिद्धान्त की शिक्षा और भी अधिक बल के साथ दी तथा एक नवीन धर्म—सिक्ख धर्म की नींव डाली, जिसमें हिन्दू तथा इस्लाम धर्मो के सर्वश्रेष्ठ तत्वों का सन्निवेश था। [22]

फिर भी मुस्लिम आक्रमणों तथा नवीन विचारों के सुदृढ़ सम्पर्क का हिन्दू संस्कृति पर ऐसा उर्वर प्रभाव न पड़ सका जैसी कि आशा की जाती थी। हिन्दू धर्म उस समय भी बहुत अनुदार था जब मुहम्मद गौरी के सहायकों ने गंगा की घाटी पर विजय प्राप्त की। मध्ययुग में प्रत्येक सहनशील एवं प्रगतिवादी सन्त के विरोध के लिए, सैकड़ों कट्टर ब्राह्मण रहे होंगे जो अपने आपको भारतवर्ष की पवित्र भूमि को पददलित करने वाले बर्बरों के विरूद्ध, अविस्मरणीय आर्य धर्म का रक्षक समझते थे। उनके प्रभाव से हिन्दू जीवन के जटिल नियम और भी अधिक कठोरता एवं दृढ़ता से लागू हो गये।

16वीं तथा 17वीं शताब्दी में मुगल सम्राटों ने लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत तथा अधिकांश दक्षिण का एकीकरण कर लिया और एक ऐसे साम्राज्य का निर्माण किया जैसे गुप्त युग से उस समय तक नहीं हुआ था। मुगलकाल एक महान वैभव का युग था जिसने भारत पर अनेक सुन्दर भवनों के रूप में अपना चिन्ह छोड़ा है जिनमें इस्लामी एवं हिन्दू आदर्शो का प्रायः पूर्ण सामंजस्य हुआ है। मुगल राजधानी

आगरा में स्थित ताजमहल वास्तव में उस समय की सबसे प्रसिद्ध इमारत है। रानी एलिजाबेथ प्रथम के समकालीन तथा चार महान मुगल सम्राटों में प्रथम अकबर (1555–1606 ई.) ने पूर्णरूप से यह अनुभव किया कि साम्राज्य केवल पूर्ण सहनशीलता के आधार पर ही खड़ा हो सकता है। समस्त धार्मिक परीक्षाएँ तथा अक्षमताएँ, जिनमें इस्लाम धर्म न मानने वालों पर लगने वाला घृणित जजिया कर भी सम्मिलित था, समाप्त कर दी गयी थीं। राजपूत राजकुमारों तथा अन्य हिन्दुओं को राज्य में उच्च पद बिना इस्लाम धर्म स्वीकार किये ही प्रदान किये गये और स्वयं सम्राट ने अपने उदाहरण द्वारा अन्तर्साम्प्रदायिक विवाहों को प्रोत्साहन दिया। यदि भारत के महानतम मुस्लिम शासक की नीति उसके उत्तराधिकारियों द्वारा चलायी गयी होती, तो देश का इतिहास बहुत ही भिन्न होता। [23]

अकबर के प्रपौत्र औरंगजेब (1659–1707 ई.) ने सहनशीलता की नीति को पलट दिया। हिन्दू संस्कारों के स्वच्छन्द प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाया गया और दरबार में केवल कट्टर मुसलमानों को ही वरीयता प्रदान की गयी। बाद में अमुस्लिमों पर जजिया पुनः लगा दिया गया। लगभग एक शताब्दी की समानता के पश्चात्, इसका बहुत–से हिन्दुओं ने घोर विरोध किया। यह विरोध विशेष रूप से हिन्दू सरंदारों ने किया जिनमें से अधिकांश ने विगत मुगल शासकों के अधीन बड़ी स्वामिभक्ति का परिचय दिया था। मुख्य विरोध दक्खिन से प्रारम्भ हुआ जहाँ मराठा सरदार शिवाजी (1627–1680) ने पूना के निकट एक नवीन हिन्दू साम्राज्य की नींव डाली। लगभग उसी समय पंजाब के सिक्खों ने नवीन नीति एवं अपने नेताओं पर हुए अत्याचारों से क्रुद्ध होकर अपने धर्म का पुनर्गठन किया और वे एक मिले–जुले सैनिक भ्रातृत्व के रूप में सुसंगठित हो गये। जब वृद्ध औरंगजेब की मृत्यु हुई, तो मुगल साम्राज्य वस्तुतः समाप्ति पर था।

राजनीतिक रूप में 18वीं शताब्दी पुनर्जागरण की शताब्दी थी। यद्वपि शिवाजी के मराठा उत्तराधिकारी एवं सुसंगठित साम्राज्य की स्थापना न कर सके, परन्तु उनके अश्वारोही भारत में दूर–दूर तक स्थानीय शासकों हिन्दुओं और मुसलमानों से एक समान कर वसूल करते फिरते थे। पंजाब में शताब्दी के अन्त में सिक्खों ने एक प्रमुख राज्य की स्थापना की और प्रत्येक स्थान पर इस्लाम अपने वचाव की स्थिति में था। परन्तु इस समय तक भी हिन्दुओं में कोई वास्तविक सांस्कृतिक पुनर्जागरण नहीं हुआ। शिवाजी एक देदीप्यमान नेता, एक न्यायप्रिय शासक तथा एक पूर्ण दक्ष राजनीतिज्ञ होते हुए भी अपने दृष्टिकोण में अनुदार था और वह अपने समकालीन व्यक्तियों को नवीन के संस्थापक की अपेक्षा, प्राचीन के रक्षक के रूप में ही प्रतीत हुआ। अकबर की भाँति उसके मन में धार्मिक मतभेदों से ऊँचे उठने वाले राष्ट्र की कोई नवीन कल्पना नहीं थी, यद्वपि उसने राज्य–कार्य–पद्धति एवं सैन्य–विज्ञान में मुगलों से बहुत कुछ सीखा था तथा वह विरोधियों के धर्म का आदर करता था।[24] मराठों ने हिन्दू समाज में सुधारों को प्रोत्साहन नहीं दिया और 18वीं शताब्दी का भारत प्रथम मुस्लिमों के आक्रमण से कहीं अधिक अनुदार था।[25]

यूरोप के प्रभाव के कारण ही देश में पुनर्जागरण हुआ। 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुर्तगालियों ने प्रथम यूरोपीय व्यापारिक केन्द्र तथा उपनिवेश स्थापित किये। डच, ब्रिटिश, डेन्स और फ्रेंच ने उनका अनुगमन किया और 17वीं शताब्दी में यूरोपीय फैक्टरियों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी। 18वीं शताब्दी में मुगल–साम्राज्य समाप्त होने पर यूरोपीय लोग स्थानीय राजनीति में अधिक रूचि लेने लगे और 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने वस्तुतः अपने समस्त प्रतिद्वन्द्वियों को भगा दिया तथा उपमहाद्वीप के अधिकांश भाग पर उसका अधिपत्य हो गया। अंग्रेजों को अपना प्रभुत्व स्थापित करने में जो तुलनात्मक सरलता हुई उससे तत्कालीन भारत के

राजनीतिक पतन का अनुमान लगाया जा सकता है। 19वीं शताब्दी के मध्य तक भारत या तो इंग्लैण्ड द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित था अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सामान्य राजाओं द्वारा जिन्हें स्थानीय अधिकार प्राप्त थे। एक नवीन विजेता ने प्रवेश किया था— एक ऐसा विजेता जो हिन्दुओं और मुसलमानों की अपेक्षा कहीं परदेशी था, जिसकी संस्कृति प्रगतिशील तथा जिसकी प्रविधिक श्रेष्ठता महान थी। [26]

हिन्दू समाज ने प्रारम्भ में ब्रिटिश शासकों के प्रति उसी प्रकार की प्रतिक्रिया की जैसी उसने मुसलमानों के प्रति की थी और उसने अपनी प्राचीन परम्पराओं के घेरे में अपने आपको अत्यधिक सीमित कर लिया और किसी प्रकार अतीत से विच्छेद का अनुभव नहीं किया। कट्टरपन्थी दृष्टिकोण से भारत के ब्रिटिश शासक ऐसी जाति का वर्ग थे जो सामाजिक स्तर पर छोटी होते हुए भी राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने में सफल हुई थी। इस जाति के अपने नियम एवं प्रथाएँ थीं, जो आर्यो से भिन्न थीं, अतः उनकी नकल नहीं की जानी चाहिये। अंग्रेजों ने इस स्थिति को प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया और 18वीं शताब्दी के पश्चात् सामाजिक सम्पर्क के लिए बहुत कम प्रयास किया। ज्यों–ज्यों शताब्दी बढ़ती गयी अंग्रेज एवं भारतीयों में किसी प्रकार की वास्तविक मित्रता कठिन होती गयी। वास्तव में भारत में अंग्रेजों ने उन भारतीयों के प्रति जिन पर कि वे शासन करते थे, अज्ञानता से सामाजिक पृथकत्व. की भावना ग्रहण की तथा वह अपने लोगों को भारतीयों की अपेक्षा इतने अधिक उच्चवर्ग का सदस्य समझने लगे कि उनसे किसी प्रकार का सम्पर्क असम्भव था। 1857 ई. के विद्रोह से यह दृष्टिकोण और भी अधिक दृढ़ हो गया।

फिर भी यूरोपीय लोगों की उपस्थिति का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। दक्षिण भारत के कुछ भागों को छोडकर 18वीं शताब्दी में मिशनरी लोगों का कार्य नगण्य ही था परन्तु 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में अंग्रेजों की ईसाई धर्म–प्रचार बुद्धि

जागृत हुई और समस्त बड़े नगरों में मिशन और मिशन स्कूल स्थापित हो गये। इस समय कम्पनी ने अंग्रेजी भाषा में प्रशिक्षित अधीन अधिकारियों एवं क्लर्को की बढ़ती हुई आवश्यकता का अनुभव किया। जिस प्रकार मुस्लिम काल में सरकारी नौकरी पाने के लिए इच्छुक हिन्दू को फारसी सीखने को बाध्य होना पड़ता था, उसी प्रकार अब उसे अंग्रेजी सीखनी पड़ी। मध्यमवर्गीय हिन्दू पिता धार्मिक अपवित्रता का भय रहते हुए भी अपने पुत्रों को यूरोपीय स्कूल में भेजने लगे और पश्चिमी विचार सम्पन्न एवं सुशिक्षित भारतीयों को प्रभावित करने लगें।

पुर्तगालियों को अपनी बहुत–सी भारतीय एवं सिंहली प्रजा को पश्चिमी रंग में रंगने में सफलता मिली थी और आज तक कुछ पुराने पुर्तगाली परिवारों की नसों में भारतीय रक्त प्रवाहित होता है। फ्रांस की सेवा में नियुक्त कुछ भारतीय अपने विजेताओं की संस्कृति समझने लगे और उसकी प्रशंसा करने लगे, परन्तु सम्भवतः पश्चिम से पर्याप्त शिक्षा ग्रहण करने वाला, अपनी संस्कृति से प्रेम और आदर करते हुए भी यूरोप के श्रेष्ठ विद्वानों का सामना करने वाला प्रथम भारतीय बंगाली एक राजा राममोहन राय था जो जेरमी बेन्थम का मित्र था। राजा राममोहन राय ने, जिनका जन्म 1772 ई. में तथा मृत्यु 1833 ई. में इंग्लैण्ड में हुई, यूरोप से प्राप्त होने वाली समस्त शिक्षा को स्वतंत्रतापूर्वक ग्रहण करने का आदेश दिया और उससे प्रेरणा प्राप्त करने वाला बह्म समाज नामक सम्प्रदाय हिन्दू धर्म की अपेक्षा ईसाई धर्म से कहीं अधिक निकट था। यद्वपि उसके अनुयायियों की संख्या कभी भी अधिक न थी, तथापि उसका प्रभाव व्यापक था।

राजा राममोहन राय के समय से ही भारतीय नवयुवक पहले कम और बाद में अधिक संख्या में शिक्षा हेतु इंग्लैण्ड जाने लगे। पाश्चात्य ढ़ंग में शिक्षित हिन्दुओं के एक छोटे से दल ने पहले बंगाल और फिर बाद में भारत के अन्य भागों

में अपने वंशजों से भी अधिक अपनी संस्कृति को ठुकराना प्रारम्भ किया। वे अपने देशव्यापी पतन से पूर्णतः परिचित थे और बहुतों को अपनी हिन्दू पृष्ठभूमि के कारण बड़ी लज्जा होती थी। सैनिक विद्रोह को जो सिद्धान्ततः प्रतिक्रियावादी था, पाश्चात्य रंगों में रंगी अल्प विद्वत्मण्डली का कोई सहयोग न मिल सका। सैनिक विद्रोह के वर्ष 1857 ई. में स्थापित हुए कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालयों ने पहले भारत की प्राचीन संस्कृति की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया और वहाँ पाश्चात्य अध्यापकों द्वारा मुख्यतः पाश्चात्य पाठ्यक्रम की शिक्षा दी जाती थी। [27]

19वीं शताब्दी के अन्त तक परिस्थिति परिवर्तित हो चुकी थी। एक नयी पीढ़ी यह अनुभव करने लगी कि भारतीय संस्कृति में अत्यधिक स्थायी महत्व है तथा भारतीय समस्यायों का समाधान पश्चिम के अन्धानुकरण द्वारा सम्भव नहीं है। नवीन संस्थाओं ने इस दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति की। आर्य समाज ने हिन्दू धर्म को उत्तरकालीन भ्रष्ट तत्वों से मुक्त कराते हुए तथा वेदों को अत्यन्त उदारता से ग्रहण करके उनकी ओर पुनः लौटते हुए, हिन्दू धर्म को सुधारने का प्रयास किया तथा उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस, जिसकी स्थापना 1885 ई. में हुई थी, भारतीय जनमत को व्यक्त करने वाली संस्था हो गयी। अंग्रेजी तथा देशी भाषाओं के समाचार–पत्रों की संख्या बढ़ती गयी।

बुद्धिमान हिन्दुओं की दृष्टि में न केवल हिन्दू संस्कृति को बहुत अधिक पूर्व की स्थिति ही प्राप्त हुई, अपितु इसका विपरीत दिशा में प्रचार होना भी प्रारम्भ हो गया। कुछ यूरोपीय तथा अमरीकन विद्वान इससे पूर्व ही अत्यधिक प्राचीन भारतीय धार्मिक विचारों की महानता को स्वीकार कर चुके थे। अब थियोसोफिकल सोसाइटी (जो समस्त धर्मो के सार का प्रतिनिधित्व करते हुए भी आधुनिक हिन्दू धर्म का प्रचार करती है) तथा रामकृष्ण मिशन द्वारा हिन्दू धर्म की वाणी पश्चिम में

सुनी गयी। स्वामी विवेकानन्द (1862–1902) जो महान आध्यात्मिक शक्ति एवं व्यक्तिगत आकर्षण शक्ति के वक्ता थे, ने यूरोप तथा अमरीका में विशाल जनसमूह के समक्ष हिन्दू धर्म की शिक्षा दी तथा उन्हें स्वेच्छा से सुनने वाले श्रोता प्राप्त हुए। यत्रतत्र भारतीयों ने पश्चिम का पूर्णरूपेण विरोध किया तथा हिन्दू धर्म के उन दृष्टिकोणों का भी पक्ष लिया जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी। परन्तु इन प्रतिक्रियावादियों के होते हुए भी नवीन हिन्दू धर्म प्राचीन धर्म से अत्यधिक भिन्न था।[28]

राजा राम मोहन राय ने समाज सुधार का सावेश समर्थन करते हुए विषय को प्रस्तुत किया। विवेकानन्द ने और भी अधिक राष्ट्रीय ध्वनि में उसकी पुनरावृत्ति की, जब उन्होंने यह घोषणा की कि भारतमाता की सेवा का उच्चतम रूप समाज सेवा है। अन्य महान भारतीयों ने जिनमें महात्मा गाँधी प्रमुख थे, समाज सेवा को एक धार्मिक कर्तव्य के रूप में विकसित किया और यह विकास गाँधी जी के उत्तराधिकारियों में अब भी चल रहा है।[29]

अनेक भारतीय तथा यूरोपीय महात्मा गाँधी को भारतीय परम्पराओं का संक्षिप्त संग्रह मानते थे परन्तु यह एक असंगत निर्णय हैं क्योंकि वे पाश्चात्य विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे। गाँधी जी अपनी प्राचीन संस्कृति के सिद्धान्तों में विश्वास करते थे परन्तु उनका दलितों के प्रति अत्यधिक प्रेम तथा जातिवाद के प्रति उनकी घृणा, यद्यपि ये प्राचीन भारत में अभूतर्पूव न थीं, तथापि इनमें हठधर्मी न थी और ये किसी भी भारतीय तत्व की अपेक्षा यूरोप की 19वीं शताब्दी की उदारता से अधिक निकट थे उनका अहिंसा में विश्वास, जैसा कि हम देख चुके हैं, किसी प्रकार भी हिन्दू धर्म का कट्टर रूप नहीं था। इस दृष्टि से विद्रोह में उनके अग्रेंज सुयोग्य मराठा ब्राह्मण बाल गंगाधर तिलक तथा गाँधी जी के उत्साही सहायक सुभाषचन्द्र बोस कहीं अधिक दृढ़ थे। गाँधी जी की शान्ति प्रियता के लिये हमें, 'समरन ऑन दि

माउण्ट' तथा टालस्टाय की ओर देखना चाहियें।

स्त्रियों के अधिकारों के लिए उनका प्रयास भी पाश्चात्य प्रभाव का ही परिणाम है। अपने सामाजिक प्रसंगों में वे सदैव नवीन रीति चलाने वाले ही थे, अनुदार न थें। यद्यपि उनके कुछ साथी उनके सीमित समाज सुधार के कार्यक्रम की गति अत्यन्त मन्द समझते थे, तथापि गाँधी जी हिन्दू विचारधारा के सम्पूर्ण बल को जाति एवं वर्ग के प्रमुख के स्थान पर एक लोकप्रिय एवं समानतापूर्ण समाज के रुप में परिवर्तित करने में सफल हुए 19वीं शताब्दी के कुछ ख्याति प्राप्त सुधारकों का अनुगमन करते हुए गाँधी जी और उनके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अनुयायियों ने शताब्दियों की स्थिरता के पश्चात हिन्दू सभ्यता को नवीन रूप एवं नव–जीवन प्रदान किया था।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में जो कुछ अनुपयोगी था, उसका अधिकांश भाग इसं समय तक नष्ट हो चुका है। वैदिक युग की अमितव्यापी एवं बर्बर प्रथाएँ, बहुत समय हुआ, विस्मृत हो चुकी हैं, यद्यपि कुछ सम्प्रदायों में पशु–बलि अब भी प्रचलित हैं। विधवाओं का अपने पतियों की चिताओं पर जलाया जाना, बहुत दिन हुए, समाप्त हो चुका हैं। नियमानुसार बालिकाओं के विवाह बाल्यावस्था में नहीं हो सकते हैं। सारे भारत में बसों और रेलगाड़ियों पर ब्राह्मण बिना धर्म–भ्रष्ट होंने के भय से निम्न जाति के लोगों से कन्धा से कन्धा मिलाकर चलतें हैं। और मन्दिरों के द्वार सबके लिए वैधानिक रुप से उन्मुक्त हैं। जातिवाद समाप्त हो रहा है। इस समाप्ति को प्रारम्भ हुए बहुत समय हो गया परन्तु अब तो उसकी गति इतनी तीव्र है कि जातिवाद के अधिक आपत्तिजनक अंग एक–दो पीढ़ियों में ही समाप्त हो जायेंगे। प्राचीन परिवार प्रणाली वर्तमान स्थितियो के अनुरूप परिवर्तित हो रही है। वस्तुतः भारत का पूर्णरूप ही परिवर्तित हो रहा है, परन्तु उसकी सांस्कृतिक परम्परा

अविच्छिन बनी है तथा वह कदापि विनष्ट न होगी। अपने इतिहास के अधिकांश समय में भारत एक सांस्कृतिक इकाई होते हुए भी पारस्परिक युद्धों से जर्जर होता रहा। यहाँ के शासक अपने शासन कौशल में धूर्त एवं असावधान थे। समय–समय पर यहाँ दुर्भिक्ष, बाढ तथा प्लेग के प्रकोप होते रहे जिससे सहस्रों व्यक्तियों की मृत्यु हुई। जन्मजात असमानता धर्मसंगत मानी गयी, जिसके फलस्वरूप निम्न कुल के व्यक्तियों का जीवन अभिशाप बन गया। इस सबके होते हुए भी हमारा विचार है कि पुरातन संसार के किसी भी भाग में मनुष्य के मनुष्य से तथा मनुष्य के राज्य से ऐसे सुन्दर एंव मानवीय सम्बन्ध नहीं रहे है। किसी भी अन्य प्राचीन सभ्यता में गुलामों की संख्या इतनी कम नहीं रही जितनी भारत में रही, न ही 'अर्थशास्त्र' के समान किसी प्राचीन न्याय ग्रन्थ ने मानवीय अधिकारों की इतनी सुरक्षा की। मनु के समान किसी अन्य प्राचीन स्मृतिकार ने युद्ध में न्याय के ऐसे उच्चादर्शो की घोषणा भी नहीं की। हिन्दूकालीन भारत के युद्धों के इतिहास में कोई भी ऐसी कहानी नहीं है जिसमें नगर के नगर तलवार के घाट उतारे गये हों अथवा शान्तिप्रिय नागरिकों का सामूहिक वध किया गया हो। असीरिया के बादशाहों की भयंकर क्रूरता जिसमें वे अपने बन्दियों की खाल खिंचवा लेते थे, प्राचीन भारत में पूर्णतः अप्राप्य है। निःसन्देह कही–कही क्रूरता एवं कठोरतापूर्ण व्यवहार था, परन्तु अन्य प्रारम्भिक संस्कृतियों की अपेक्षा यह नगण्य था। हमारे लिए प्राचीन भारतीय सभ्यता की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी मानवीयता है। [31]

हिन्दू एंव बौद्व धर्मग्रन्थों के प्रसंगच्युत परिच्छेदों को लेकर 19वीं शताब्दी के कुछ पादरी दुर्भिक्ष, रोग, हिन्दू वर्ण व्यवस्था और जाति–प्रथा के दुर्गुणों के आधार पर इस व्यापक भ्रान्ति का प्रचार करने में सहायक हुए कि भारत आलस्यपूर्ण अन्धकार का देश है। बम्बई में उतरने वाला विदेशी यात्री तो एकमात्र व्यस्त जनसमूह को देखता है और लन्दन के ऐसे ही दृश्यों की कल्पना से उनकी

तुलना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भारतीय चरित्र में न आलस्य है और न विषाद। यह परिणाम प्राचीन भारत के अवशेषों के सामान्य परिचय से ही पुष्ट हो जाता है। प्राचीन भारत सम्बन्धी हमारा दूसरा सामान्य मत यह है कि उसके निवासियों ने भौतिक और आत्मिक दोनों प्रकार के पदार्थो का लालसापूर्ण आनन्द लेते हुए जीवन का सुखोपयोग किया।

यूरोपीय विद्वान, जो एक विशेष प्रकार के धार्मिक ग्रन्थों पर अपने को केन्द्रित करता है, यह धारणा बना लेता है कि प्राचीन भारत करोड़ों अन्धविश्वासी अनुगामियों पर अपने औदास्यपूर्ण और अर्नुवर विचारों का प्रभाव डालने वाले जीवन–विरक्त सन्यासियों का देश है, यह भ्रान्तिपूर्ण विचार तत्कालीन धर्मनिरपेक्ष साहित्य, मूर्तिकला एवं चित्र लेखन से पूर्णतः स्पष्ट हैं। यह बात और है कि एक सामान्य भारतीय किसी सन्यासी की मौखिक प्रशंसा एवं उसके आदर्शों का सम्मान कर लें, परन्तु वह अपने जीवन को विषाद पूर्ण मानते हुए उससे प्रत्येक मूल्य पर बचने का प्रयत्न कभी नहीं करता। इसके विपरीत, उसने इस संसार को जैसा देखा, उसको उसी रूप में स्वीकार करने तथा उससे जो भी आनन्द प्राप्त हो सके, उसे साग्रह प्राप्त करने का सदा इच्छुक रहा। उपनिषदों की अपेक्षा दण्डी का वह वर्णन जिसमें उसने एक तुलनात्मक निर्धन घर में साधारण भोजन के आनन्द का वर्णन किया है; प्राचीन भारतीय के दैनिक जीवन का सम्भवतः अधिक आर्दश रूप है। भारत एक हर्षोल्लास पूर्ण देश था, जिसके निवासियों ने विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति तथा शनैः–शनैः विकसित होने वाली सामाजिक प्रणाली में अपना स्थान बनाये हुए पारस्परिक सम्बन्धों के सहारे दयालुता और सौजन्य के उस उच्च स्तर को प्राप्त किया जो किसी भी प्राचीन जाति के स्तर से अपेक्षाकृत उच्च था। इसके लिए तथा धर्म, साहित्य, कला और गणित की सफलताओं के निमित्त एक यूरोपीय विद्वान

निश्चय ही प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रशंसा करेगा।

(3) राष्ट्रीयता के अभाव में भारत में विदेशी आधिपत्य एवं राष्ट्रीय एकता :

भारतीयों के ऊपर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव था। वे यह विश्वास करते थे कि भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास में ब्रिटिश शासन का पर्याप्त योगदान है। अंग्रेजों ने भारत में अपना एकछत्र राज्य स्थापित करके छिन्न– भिन्न भारत का राजनीतिक एकीकरण किया है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव ने भारतवासियों को एक साथ मिलनें–जुलनें तथा पारस्परिक विचारों के आदान– प्रदान करने में मद्द दी हैं। भारत में प्रशासनिक एकता लाने के उद्देश्य से अंग्रेजों के प्रयास भारतीय राष्ट्रीय एकता की स्थापना लाने के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। इंग्लैड हमारा पथ–प्रदर्शक रहा है। ब्रिटिश शासन ने भारत को नयी जागृति प्रदान करके उसे मध्य युग के अवनति के गर्त से ऊपर उठाया है। ब्रिटिश शासन के कारण ही भारतवासी पाश्चात सभ्यता तथा संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सके हैं और उस ज्ञान ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना को एक नई दिशा प्रदान की है। इन समस्त धारणाओं की पृष्ठभूमि में भारतीय ब्रिटिश शासन को भारत का शत्रु न समझकर उसके प्रति निष्ठा की भावना रखते थे। उनका मत था कि अंग्रेजी जाति की न्यायप्रियता तथा उदारता में हमारी अगाध निष्ठा है भारतीयों की निम्न (नीची) राष्ट्रीयता की भावना को निम्न कथन से अच्छी तरह समझा ज़ा सकता है – हमें पुरुषों की तरह यह घोषणा करनी चाहिये कि हम पूर्णरूपेण अंग्रेजी शासन के राजभक्त हैं। [32]

कुछ भारतीय एक सशक्त साम्राज्यशाही के विरुद्ध क्रान्तिकारी आन्दोंलन द्वारा सफलता पर विश्वास नहीं करते थे। इन्हें यह विश्वास था कि भारतीय प्रशासन में क्रमिकं सुधार लाकर यदि भारतवासियों को शासन में भाग लेंने का अवसर मिलता रहे तो वह स्वशासन की शिक्षा के लिए अच्छा साधन सिद्ध हो सकता है, क्योंकि

बिना ऐसा प्रशिक्षण प्राप्त किये स्वायत शासन या स्वाधीनता की माँग सफल नहीं हो सकेगी। उनका विश्वास शासन सुधारों में अधिक था और वे इसी बात से सन्तुष्ट थें कि यदि भारतीय शासन परिषदों में भारतवासियों का प्रतिनिधित्व बढ़ा दिया जाय, सेंना एवं सिविल सेवाओं में उन्हें अधिक अवसर दिया जाए और स्थानीय स्वायत शासन को प्रभावशाली ढंग से विस्तृत किया जाय, तो वह संन्तोषजनक कदम सिद्ध होगा। अतएव शासन के विरूद्ध कोई प्रतिरोध उन्हें पसन्द नहीं था। उनकी धारणा यह नहीं रही कि वे ब्रिटिश सरकार की दमनकारी तथा निरंकुशतावादी नीतियों एवं आचरणों का हिंसात्मक तथा क्रान्तिकारी साधनों से विरोध करे। वे न तो ऐसे साधनों को उचित समझते थे और न ही ऐसे साधनों का अवलम्बन करनें में सफलता सम्भव थी। वास्तविकता यह थी कि इन लोगों को अंग्रेज जातियों की न्यायप्रियता तथा ईमानदारी पर पूरा विश्वास था। वे पाश्चात्य शिक्षा तथा ब्रिटेन में अपने व्यक्तिगत अनुभवों के प्रभाव से यह विश्वास करते थे कि अंग्रेज लोग स्वाभावतः स्वतन्त्रता–प्रेमी हैं, अतः वे अपनी भारतीय प्रजा को भी ऐसी सुविधा देंगे। साथ ही लोगों की यह भी धारणा थी कि अभी भारत स्वशासन के लिये भली–भाँति तैयार नहीं हो पाया है, अतः ज्यों–ज्यों अंग्रेज शासक यह अनुभव करने लगेंगे कि अब भारतवासी ऐसी क्षमता रखनें लग गये हैं। त्यों–त्यों वे शनैः–शनैः भारतवासियों को ऐसे राजनीतिक अधिकार देना प्रारम्भ कर देंगे।

भारतीयों की इन राष्ट्रीयताहीन भावनाओं ने अंग्रेजों को भारत में अपना शासन स्थापित करनें में पूर्ण सहयोग दिया। और इस प्रकार अंग्रेज अपनी सफल राजनीति एवं कूटनीति के द्वारा भारत में अपना राज चलातें रहें। [33]

आधुनिक भारत के इतिहास में 19 वीं शताब्दी बहुत ही महत्वपूर्ण युग है। इस युग में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपना पूर्ण राजनीतिक आधिपत्य स्थापित कर

लिया था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को भारतीय संस्कृति, धर्म, भाषा, परम्पराओं आदि को बनाये रखने में कोई अभिरुचि नहीं थी। वे भारत के राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक शोषण में ही अपना हित समझते रहे थे। इसलिए भारत में पाश्चात्य शिक्षा, संस्थाओं एवं शासन–पद्धतियों को लागू करने में उनकी अभिरूचि बनी रही। मैकाले सदृश राजनेता भारतीय संस्कृति को समाप्त करके यहाँ पूर्णतया यूरोपीय संस्कृति थोप देना चाहते थे। परन्तु जब 19वीं शताब्दी के अनेक भारतीय प्रतिभाशाली व्यक्तियों को पाश्चात्य देशो में जाने, वहाँ शिक्षा प्राप्त करने तथा उन देशो की प्रगति का अनुभव करने का अवसर प्राप्त हुआ तो उन्हें अपने देश की सांस्कृतिक अवनति को देखकर अत्यन्त दुःख हुआ। इनमें से अनेक महापुरूषों ने यह अनुभव किया कि भारत की प्राचीन संस्कृति पाश्चात्य देशो की तुलना में महानतर थी। परन्तु ऐसी महान संस्कृति का महान देश विदेशी आधिपत्य के प्रभाव में आकर पतितावस्था में चला जा रहा हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि भारतीय हिन्दू समाज में कतिपय बुराइयाँ घर कर चुकी हैं। धार्मिक अन्धविश्वासिता, संकीर्णताएँ, छुआछूत की भावना, बाल–विवाह, सतीप्रथा, विधवाओं की समस्या, अशिक्षा आदि ने हिन्दू समाज को बिल्कुल गिरा दिया है। ऐसी स्थिति मे जब तक हिन्दू समाज को इन बुराइयों से मुक्त न किया जाये, तब तक भारत का उत्थान सम्भव नहीं हैं। उक्त सामाजिक तथा धार्मिक बुराइयों से हिन्दू समाज को मुक्त कराकर उनमें आत्म–सम्मान, आत्म–विश्वास तथा देश–प्रेम की भावना का संचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत के कुछ बुद्धिवादी महापुरुषों में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविन्द रानाडे तथा स्वामी रामकृष्ण परमहंस का नाम अग्रणी है। ये नेता विशुद्ध रूप में राष्ट्रवादी तो नहीं माने जा सकते, क्योंकि ये न तो राष्ट्रीय राजनीतिक स्वतंत्रता की भावना रखने वाले

आन्दोलनकारी नेता थे और न ही इनमें से कोई ऐसे राजनीतिक चिन्तक की श्रेणी में आता है जैसे कि पाश्चात्य देशों के चिन्तक रूसो, कांट, ग्रीन, हीगल, मार्क्स आदि थे। परन्तु इन्होंने जिन समाज–सुधार तथा धर्म प्रचार आन्दोलनों का सूत्रपात्र किया, वे परोक्ष रूप में भारत में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने वाले सिद्ध हुए। इन सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलनों को राजनीतिक धारणाओं, विचारों एवं सक्रिय राजनीति से पृथक समझा जा सकता है। इन आन्दोलनों ने अन्ततोगत्वा भारतवासियों में यह भावना जाग्रत करने में सहायता प्रदान की कि भारत का सांस्कृतिक पतन मुख्यतया राजनीतिक पराधीनता का फल हैं। चूकि भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी थी, अतः प्रारम्भ में इन पुनर्जागरण आन्दोलनों के नेताओं में यह धारणा रही कि सामाजिक एवं धार्मिक सुधार राष्ट्रीय स्वतंत्रता की पूर्व शर्ते है। [34]

परन्तु शनैः–शनैः जब राष्ट्र–भावना अधिक विकसित हो गयीं तो आगामी आन्दोलनों में यह विचार व्यक्त किये जाने लगे कि पहले राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी आवश्यक है और राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने पर सामाजिक तथा धार्मिक सुधार इच्छित ढ़ंग से सम्पन्न किये जा सकेगे ।

इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के आरम्भिक युग के नेताओं को हम दो श्रेणियों में रख सकते हैः प्रथम के अन्तर्गत पुनर्जागरण के सुधारवादी नेता आते हैं। इनमें राजा राममोहन राय तथा उसके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज कार्यक्रम को बढ़ाने वाले उनके अनुयायी नेता थे। इसी श्रेणी में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य समाज के नेता, महादेव गोविन्द रानाडे द्वारा स्थापित प्रार्थना समाज के नेता, स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द और अन्ततः थियोसोफिकल समाज की प्रमुख नेता श्रीमती एनी बेसेन्ट के नाम प्रमुख थे। दूसरी श्रेणी में हम कांग्रेस की स्थापना हो जाने पर काग्रेस के

आरम्भिक युग के उन नेताओ को रखते हैं जिन्हें उदारवादी कहा जाता है। इनके अन्तर्गत दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ, बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, ओमेशचन्द्र बनर्जी, सुब्रह्मण्य अय्यर, दीनशावाचा, ए0 ओ0 ह्यूम, विलियम वैडरबर्न आदि प्रमुख थे। ये लोग सक्रिय राष्ट्रीय नेता थे और इनके कार्यकलाप तथा विचार मुख्यतयः राजनीतिक थे, यद्यपि पूर्व के समाज–सुधार तथा धर्म सुधार आन्दोलनों के विचारों का भी इनके ऊपर पर्याप्त प्रभाव था। ये नेता उदारवादी इस अर्थ में थे कि ये ब्रिटिश शासन का सहयोग लेकर सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सुधारों को सम्पन्न कराना तथा वैधानिक तरीकों से शनैः शनैः भारतवासियों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त कराना चाहते थे। परन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत के राष्ट्रीय नेतृत्व में कुछ उग्रवादी धारणायें उत्पन्न होने लगीं। परिणामस्वरूप उदारवादियों की नीतियों के विरोध में बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द घोष, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, श्रीमती ऐनीबेसेन्ट आदि ने उग्र राष्ट्रीयता के विचार रखे। ये नेता भारत को विदेशी सत्ता से स्वतंत्रत कराना प्रथम कार्य मानते थे। ये समाज–सुधार तथा धार्मिक–सुधार कार्यो के विरोधी नहीं थे। परन्तु इनका विश्वास था कि विदेशी राजनीतिक सत्ता की सहायता लेकर ऐसे सुधारों को करवाया जाना कोई औचित्य नहीं रखता और न वह प्रभावशाली हो सकते हैं।

इस प्रकार इन आन्दोलनों तथा इनके नेताओं के विचारों ने भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम तथा श्रद्धा की भावना को जाग्रत करके देश प्रेम तथा राष्ट्र प्रेम को प्रोत्साहित किया। लोगों में यह धारणा बलवती होने लगी कि अपने धर्म तथा अपनी संस्कृति को बनाये रखने तथा उनके विकास करने के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में विदेशी सामान न रहे। राष्ट्रीय स्वाधीनता इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक थी साथ ही इन सुधार आन्दोलनों ने भारतीय जनता को अनेक सामाजिक

कुरीतियों को समाप्त करके अन्धविश्वासों को त्यागने की प्रेरणा भी दी। [35]

इन आन्दोलनों के कुछ प्रवर्तकों पर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव भी पर्याप्त था। पाश्चात्य शिक्षा ने उन्हें देश के सुधार आन्दोलनों की प्रेरणा दी और विवेक, तर्क तथा विज्ञान के आधार पर अपनी संस्कृति को सुधारने का प्रोत्साहन दिया। यद्यपि ये धर्म–सुधारक राष्ट्रवादी थे तथापि इन्होने अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता की व्यवस्थाओं की भलाइयों को भी स्वीकार किया। इनकी शिक्षाओं के प्रभाव से भारतवासियों में नयी चेतना जाग्रत हुई। यद्यपि हिन्दू तथा मुस्लिम समाज एवं धर्म सुधार आन्दोलनों की समानान्तर प्रगति ने बाद के काल में साम्प्रदायिक भावना के विकास में मदद दी तथापि साम्प्रदायिक शक्तियों के शक्तिशाली खिचाव के होते हुये भी 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीयता का पौधा बढ़ता चला गया। और इसका सबसे अच्छा व सच्चा उदाहरण है 1957 के विद्रोह में रानी लक्ष्मीबाई का अंग्रेजी राज्य के विरूद्ध साहसपूर्ण संघर्ष।

भारत में पाश्चात्य शिक्षा–प्रणाली के फलस्वरूप उच्च शिक्षा प्राप्त भारतवासियों को पाश्चात्य देशो के दर्शन राजनीतिक संस्थाओं तथा आन्दोलनों, इतिहास, साहित्य आदि का अध्ययन करने का अवसर मिला। इन शिक्षित वर्गो के ऊपर मैंजनी, रूसो, वाल्टेयर आदि के क्रान्तिकारी विचारों तथा लॉक, बर्क, मिल, मांटेस्क्यू, मैकाले आदि की रचनाओं का प्रभाव पड़ा। साथ ही फ्रांस की क्रान्ति, अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम, इंग्लैण्ड की जनता के स्वतंत्रता–प्रेम आदि के अध्ययनों ने भी उन्हें अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता की आकांक्षा रखने की प्रेरणा दी। इस समूचे साहित्य के अध्ययन ने भारतीय शिक्षित वर्ग के मनोबल को उन्नत किया। साथ ही उन्हें पाश्चात्य साहित्य तथा दर्शन के प्रति अगाध प्रेम रखने की प्रेरणा दी। इस प्रकार यद्यपि भारत में पाश्चात्य शिक्षा–प्रणाली लागू करने का ब्रिटिश शासको का

उद्देश्य भारतीय शिक्षित वर्ग को केवल छोटे–छोटे शासकीय पदों पर नियुक्त करना तथा भारतवासियों में पाश्चात्य ढंग की शासन तथा न्याय–व्यवस्था के प्रति आस्था रखने की भावना का प्रचार करना था, जिससे कि वे भारत में अपने ढंग की शासन–व्यवस्था को लोकप्रिय बना लें और भारतवासियों में यूरोपीय शिक्षा सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति निष्ठा जाग्रत करके उन्हें सदा अपनी दासता में बनायें रखें, तथापि उनकी इच्छा के प्रतिकूल यह प्रणाली भारतवासियों में राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने के निमित्त वरदान सिद्ध हुई। शिक्षित भारतवासियों को यह समझने में देर नहीं लगी कि विदेशी शासको का उद्देश्य भारत का राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक शोषण करके अपने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाये रखने तथा भारतवासियों को सदैंव दासता की स्थिति में रखना मात्र है, साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि कोई राष्ट्र या जाति पराधीन रहकर उन्नति नहीं कर सकती। पाश्चात्य देशों के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलनों के अध्ययन ने भारतवासियों को यह पाठ पढ़ाया कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आन्दोलन प्रारम्भ करके वह भी स्वतंत्र राष्ट्र बन सकते हैं। यह भी एक कारण था कि प्रारम्भ के भारतीय देशभक्त राष्ट्रीय नेताओं ने पाश्चात्य शिक्षा–प्रणाली का स्वागत किया ताकि अधिकतम भारतवासी पाश्चात्य देशों के साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन द्वारा अपनी राष्ट्रीय चेतना को विकसित कर सकें। अतएव पाश्चात्य शिक्षा भारत में राष्ट्रीय जागरण के लिये वरदान सिद्ध हुई। दादाभाई नौरोजी के विचार से पाश्चात्य शिक्षा से हमें एक नूतन प्रकाश मिला है और उसमें बताया है कि राजा राममोहन राय ने भी पाश्चात्य शिक्षा को भारत के लिए वांछनीय. माना था। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रमुख नेतागणों ने (आरम्भ से अन्त तक) पाश्चात्य शिक्षा के कारण ही प्रेरणा प्राप्त की थी।

भारत में राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत करने में भारतीय समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं का भी महत्वपूर्ण योगदान हैं। भारत में प्रेस का विकास यूरोपियनों ने प्रारम्भ में ईसाई धर्म प्रचार के साहित्य का प्रसार करने के उद्देश्य से किया था। कालान्तर में प्रारम्भ के कुछ उदार गवर्नर जनरलों ने भारत में प्रेस के विकास तथा उसकी स्वतंत्रता को प्रोत्साहित किया। यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रेस को ऐसा प्रोत्साहन ईमानदारी की नीयत से दिया गया था क्योंकि ऐसा करने में भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के कई निहित स्वार्थ भी थे। इतने विशाल देश का शासन संचालित करने के लिए उन्हें जनमत का ज्ञान कराना आवश्यक था। जन–प्रतिनिधि सभाओं के अभाव में प्रेस ही एकमात्र ऐसा साधन था जो शासकों को जनता की समस्याओं का ज्ञान करा सकता था। यदि शासक यह सुविधा भी न देते तो उनके लिए शासन चलाना कठिन हो जाता परन्तु भारत में प्रेस का विकास पर्याप्त द्रुत गति से हुआ। शीघ्र ही अंग्रेजी तथा विविध भारतीय भाषाओं में अनेक पत्र–पत्रिकाओं का सम्पादन होने लगा। 1857 के विद्रोह में भारतीय समाचार पत्रों ने शासन की दुर्बलताओं तथा शिकायतों को निर्भीकता के साथ प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। साथ ही प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले पत्रों ने आंग्ल–भारतीय पत्रों के शासन के प्रति पक्षपातपूर्ण विचारों की भी खुले रूप से आलोचना की इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के जनसाधरण में शासन की नीतियों के विरूद्ध जनमत का निर्माण करने तथा जनता को शासन की खराबियों से अवगत कराने में भारतीय समाचार पत्रों ने महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की। इसके कारण जनता में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने में बहुत सहायता मिली। यद्यपि ब्रिटिश शासक हिन्दू मुस्लिम पत्रों में एक–दूसरे सम्प्रदाय के विरूद्ध लगाये जाने वाले विचारों को प्रोत्साहन देने लगे थे। तथापि 'अंग्रेजी और देशी भाषाओं के पत्र मिलकर भारत को एकता के सूत्र मे बांधते चले जा

रहे थे।' भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सभी भारतीय नेताओं (राजा राममोहन राय, रानी लक्ष्मीबाई से लेकर जवाहरलाल नेहरू) को जनता तक अपनी राष्ट्रवादी विचार धाराओं का प्रसार करने में प्रेस से बहुत अधिक सहायता मिली। समाचार–पत्रों तथा पत्र–पत्रिकाओं के अतिरिक्त आंग्ल तथा भारतीय भाषाओं में नये साहित्य का सृजन होने लगा। भारत के राष्ट्रप्रेमी विद्वानों की राष्ट्रवादी विचारधारायें प्रेस के विकास के परिणामस्वरूप जनता में द्रुत गति से प्रसारित होने लगी। बंकिमचन्द्र चटर्जी का 'आनन्द मठ', उनका गीत 'वन्दे मातरम', रविन्द्र बाबू का 'जन–गण–मन', मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत–भारती', तिलक का 'गीता रहस्य' आदि विविध रहस्यों का सृजन, प्रसार तथा प्रचार प्रेस के विकास का ही फल था। पाश्चात्य साहित्य के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद तथा प्रकाशन होने लगा। अतएव 1857 के पश्चात भारतीय प्रेस की तीव्र प्रगति ने राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने में बहुत मदद पहुचायी। [36]

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत में राष्ट्रीयता की चेतना जागृत हो चुकी थी, परन्तु अभी उनमें सक्रियता का अभाव था। इसे आन्दोलन का रूप प्राप्त नहीं हो पाया था। कोई भी आन्दोलन बिना सुसंगठित प्रयास के सफल नहीं हो सकता। भारतीय राष्ट्रीय चेतना को सुसंगठित करने के प्रयासो में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के द्वारा स्थापित इण्डियन एसोसियेशन तथा बम्बई और मद्रास के प्रान्तीय संगठन प्रथम कदम थे। सुरेन्द्र बनर्जी के द्वारा आहूत इण्डियन नेशनल कांफ्रेंन्स (1883) के अधिवेशन ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को सुसंगठित रूप में संचालित करने की प्रेरणा दी। अतः इण्डियन एसोसियेशन को यदि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का प्रथम सक्रिय प्रयास कहा जाये तो यह सर्वथा उपयुक्त होगा। लॉर्ड लिटन के अत्याचारी कृत्यों से भारत में पर्याप्त रोष उत्पन्न हो चुका था। परन्तु उसके उत्तराधिकारी लॉर्ड

रिपन की उदार नीतियों ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना को उग्र बनाने से रोक लिया। लॉर्ड रिपन के द्वारा स्थानीय स्वायत शासन का श्रीगणेश किया जाना तथा लॉर्ड रिपन द्वारा की गयी अनेक भूलों का सुधार किया जाना, स्वतंत्रता संग्राम को उदार रूप से विकसित करने मे सहायक सिद्ध हुआ, रिपन के पश्चात 1884 में लॉर्ड डफरिन भारत के गवर्नर जनरल हुए। उसके शासन काल में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की सबसे महत्वपूर्ण घटना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की 1885 में स्थापना थी। भारत की राष्ट्रीय एकता से किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि विविध दृष्टियों से भारत सदैव एक राष्ट्र रहा है। यद्यपि भारत की राजनीतिक एकता के मार्ग में ब्रिटिश शासन के पूर्व अनेक बाधायें रहीं, तथापि अनेक शासन कालों में समूचा भारत एक राजनीतिक इकाई भी रहा था। अंग्रेजों ने 1857 तक लगभग समूचे भारत को एक शासनिक इकाई के रूप में परिणत कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि सारे देश की प्रशासनिक व्यवस्था, राजकीय कानून एवं न्याय पद्धति समरूप हो गयी। इसके कारण समस्त भारतवासियों के लिए यह बात बडे गौरव की है कि उनमें विधर्मियों के साथ राष्ट्रीय सह अस्तित्व बनाये रखने की क्षमता रही है। भारत में हिन्दू तथा मुसलमान अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि मामलों में परस्पर मिल–जुल कर रह रहे थें। ब्रिटिश शासन से उत्पन्न कष्ट दोनों सम्प्रदायों के लिये समान होनें के कारण उनमें एक–राष्ट्रीयता की भावना का उदय होने लगा। यह तो बाद में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की चाल रही कि उन्होंने इस राष्ट्रीय एकता को नष्ट करने के लिये 'फूट डालों और राज्य करो' की नीति अपनाकर इन दोनों सम्प्रदायों के मध्य फूट उत्पन्न कराने का अभियान चलाया। ब्रिटिश शासन ने भारत में रेल, तार, डाक आदि की व्यवस्था की। यद्यपि ऐसा उन्होंने केवल अपने शासन की सुविधा को

तथा अंग्रेज व्यापारी एवं व्यवसायियों के हितों को ध्यान में रखकर ही किया, तथापि इन साधनों ने भारतीय राष्ट्रीय एकता का विस्तार करने में भी मदद पहुँचायी। अंग्रेजों द्वारा स्थापित शिक्षा–संस्थाओं में अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का परिणाम यह हुआ कि देश के विभिन्न भागों के शिक्षित भारतीयों को परस्पर विचारों का आदान–प्रदान करने की सुविधा प्राप्त हो गयी। उन्हें अपनी सामूहिक समस्याओं पर एक–साथ विचार करने के लिए आसानी से एकत्र होने की सुविधा प्राप्त हुई और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से विविध भाषा–भाषी क्षेत्रों के लोग एक साथ बैठकर अपनी समस्याओं पर विचार–विनिमय करने लगे। इससे उनमें एकता की भावना बढ़ने लगी।

(4) महारानी लक्ष्मीबाई के काल में सर्वधर्म सम्भाव का भारतीय आदर्श :

परिस्थितियों की मानव जीवन में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रहती हैं। महारानी. लक्ष्मीबाई के जीवन–चरित्र का अवलोकन करने पर इन परिस्थितियों का बड़ा विचित्र रूप हमारे सामने आता है। एक सामान्य आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति मोरोपन्त की सात वर्षीया अबोध कन्या परिस्थितियोंवश झाँसी के प्रौढ नरेश गंगाधर राव की धर्मपत्नी रानी लक्ष्मीबाई बन जाती है, अठारह वर्ष की अवस्था में वह विधवा बन जाती हैं, फिर वह अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए अंग्रेजी सरकार से आवेदन करती है जिसका उसे कोई फल नहीं मिलता, फिर परिस्थितियोंवश वह अनायास झाँसी की कार्यवाहक प्रशासिका बनती है, युद्ध लड़ती है और अन्त में उन्हें प्रबल पराक्रमी अंग्रेजी सत्ता से संघर्ष करना पड़ता है। यद्यपि यही संघर्ष उनके जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है, फिर भी इस संघर्ष पर जाने से पूर्व कार्यवाहक प्रशासिका के रूप में उनके कुछ अन्य कार्यो का उल्लेख करना हम समीचीन समझते हैं ।[37]

झाँसी में सैनिक–विद्रोह के अनन्तर महारानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजी

सरकार के प्रतिनिधि के रूप में प्रायः दस मास तक शासन किया। इस अवधि में उन्होंने सेना में नयी भरती भी की। पति के जीवनकाल में उन्हे इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से शासन–संचालन का अनुभव नहीं हुआ था, फिर भी यथाशक्ति उन्होंने अच्छा प्रबन्ध किया। उनके इन प्रयत्नों से राज्य में शीघ्र ही सुख–शान्ति स्थापित हो गयी। उन्होंने इतनी अल्प अवधि में ही कुछ कारखाने भी स्थापित किये। पहले पति की मृत्यु के बाद महारानी का जीवन एक संयासिनी जैसा हो गया था। केवल भजन पूजा आदि ही उनके जीवन का अंग बन गये थे। उस समय की उनकी मनोवृत्ति का अनुमान लगााने से उनकी इस जीवनचर्या को अर्कमण्यता का सूचक ही कहा जा सकता है। साथ ही उस समय उनके पास शासन–सम्बन्धी कोई उत्तरदायित्व भी नहीं रह गया था, किन्तु अब शासन का उत्तरदायित्व आने पर उन्होंने अपनी जीवनचर्या बदल दी थी। वह नित्य प्रातः चार बजे उठ जाती थी। फिर स्नान आदि करने के बाद स्वच्छ सफेद साड़ी पहनती। तत्पश्चात् पार्थिव पूजन उनकी जीवनचर्या का अभिन्न अंग था। उस समय वहाँ पर गायन और कथवाचन चलता रहता। फिर कर्मचारी आदि उनका अभिवादन करने आते। यदि कोई कर्मचारी एक दिन भी अभिवादन करने नहीं आता तो दूसरे दिन महारानी उसके न आने का कारण अवश्य पूँछती। इसके बाद उनके भोजन का समय होता और फिर विश्राम का। यदि इस बीच कोई उन्हें भेंट देने आ जाता तो वह विश्राम नहीं करती। भेंट में आयी बहुमूल्य वस्तुएँ रख ली जाती, शेष याचकों, निर्धनों आदि को दान कर दी जाती। अपरान्ह में तीन बजे वह दरबार में जाकर राज्य व्यवस्था तथा विवादों को देखतीं सुनतीं। सब जातिओं को किले में जाने की आजादी थी। किले के उस भाग मे जहाँ महादेव और गणेश का मन्दिर था और जिसको 'शंकर किला' कहते थें। सब कोई जा सकता था – अछूत कहलाने वाले चमार, बसोर और भंगी भी।

इस काल में महारानी ने परदा छोड़ दिया था । वह स्वयं सिंहासन पर बैठकर कर्मचारियों की बातें सुनती उन्हें आदेश देती तथा न्याय करती किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वह दरबार मे सबके सामने बैठती थी, जैसे राजा लोग बैठते थे। उनके बैठने के लिये दरबार में एक विशेष प्रकार का कक्ष बना दिया गया था। दरबार में बैठे लोग उन्हे नहीं देख सकते थे। उनके कक्ष के प्रवेश द्वार पर दो भाले लिये सैनिक खड़े रहत थे और कक्ष में उनके पास उनके दीवान लक्ष्मण राव बैठते थे। महारानी जो आदेश देतीं, दीवान लक्ष्मण राव लिखते जाते। इस विषय में टेलर ने लिखा है—

''महाराष्ट्र की ब्राह्मणी होकर भी वह परदे में रहना पसन्द नहीं करती थी। वह नित्य अपने स्वर्गीय पति के सिंहासन पर बैठती, रिपोर्ट और प्रार्थना—पत्र सुनती तथा आदेश देती। वह अपने पद के सर्वथा योग्य धैर्य तथा विवेकपूर्ण व्यवहार करती थी।''

महारानी लक्ष्मीबाई अभी केवल बाईस वर्ष के आसपास ही थी, किन्तु उनकी बुद्धि बड़ी विलक्षण थी। वह प्रस्तुत किये गये प्रत्येक मामले पर सूक्ष्मता से विचार करने के बाद ही कोई निर्णय देती थी। इस विषय में श्री पारसनीस के शब्द उल्लेखनीय है —

''लक्ष्मीबाई की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। उनके सामने जो मामला पेश होता था, उसकी वे खूब जाँच करती और स्वयं उसका निर्णय करती। उनकी दक्षता से सब लोग प्रसन्न थे।''

इस काल में उनके रहन—सहन स्वाभाव आदि का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। महारानी स्वभाव से ही धार्मिक थी। वह अपनी कुलदेवी महालक्ष्मी के मन्दिर में प्रायः नित्य ही जाती थी, कभी घोड़े पर बैठकर जाती तो कभी पालकी

में। मन्दिर आते–जाते यदि कोई दीन–दुखी मिल जाता तो महारानी उसे कुछ न कुछ अवश्य देती। कहा जाता है, एक बार वह मन्दिर से वापस आ रही थी तो उन्हे देख रास्ते में खड़े भिखारी ऊँची–ऊँची आवाज में चिल्लाने लगे। महारानी ने अपने साथ चल रहे दीवान लक्ष्मण राव से इसका कारण पूछा तो उसने बताया– "ये सब भिखारी है, जाड़े के दिन है, इन्हे जाड़े से कष्ट होता है, अतः आपसे प्रार्थना कर रहे है कि आप इनका कष्ट दूर करे।"

यह सुनकर महारानी ने उसी समय आज्ञा प्रसारित करा दी कि राजकोष से प्रत्येक भिखारी को भर पेट भोजन दिया जाए तथा प्रत्येक को एक –एक कम्बल, मिरजई तथा टोपी दी जाए। महारानी के इस शासनकाल में झाँसी में कोई भी भिखारी दुखी नहीं था। [38] यही नहीं, उनकी दया का प्रमाण पूर्व घटित इस शासनकाल में लड़ी गयी दोनों लड़ाइयों से भी देखने में आया। उस युद्ध में आहत हुए सैनिकों की उन्होंने स्वयं देखभाल की। उनके इन गुणों को बताते हुए श्री पारसनीस ने अपनी पुस्तक 'महारानी लक्ष्मीबाई' में लिखा है –

"महारानी लक्ष्मीबाई बड़ी दयालु थी। युद्ध में जो पुरूष घायल होते थें, उनको वे स्वयं देखती थीं, उनके शरीर पर हाथ फेरती और उनके दवा–पानी और मलहम–पट्टी का प्रबन्ध करती थीं। इस दयालुता के कारण ही उनकी प्रजा उन पर माता की भाँति श्रद्धा करती थी। लक्ष्मीबाई की चतुरता, उदारता, दयालुता आदि गुणों को देखकर यही कहना पड़ता है कि यदि उस भंयकर विद्रोह के समय वे झाँसी की रक्षा न करती और किले को अपने अधिकार में न ले लेती तो वह प्रान्त विद्रोहियों के हाथ में चला जाता, परन्तु दुर्भाग्य से महारानी लक्ष्मीबाई के शासन–काल का अन्त और उसी के साथ उनकी जीवनलीला के भी समाप्त होनें का समय निकट आ गया।

''महारानी को घुड़सवारी का शौक तो था ही; साथ ही उन्हें घोड़ों की परख भी अच्छी थी। यदि झाँसी में कोई घोड़ा लेता तो खरीदने से पहले उसे महारानी को दिखाने लाता। एक बार घोड़ो का एक व्यापारी दो घोड़े लेकर महारानी के पास आया। उसने महारानी को घोड़े दिखाये तथा उनका मूल्य लगाने की प्रार्थना की। इस पर महारानी ने घोड़ो को अच्छी तरह देखने के बाद कहा–

''इसमें एक घोड़ा एक हजार रूपये का तथा दूसरा केवल पचास रूपये का है । ''इससे घोड़ो का व्यापारी उनका लोहा मान गया।

महारानी लक्ष्मीबाई सार्वजनिक रूप में इसी अवधि में लोगों के समक्ष आयी थी। अतः उनकी वेश–भूषा आदि का भी पुस्तकों में वर्णन मिलता है। गिलीन ने अपनीं पुस्तक 'रानी' में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है – ''यद्यपि उनकी वेश भूषा महिलाओं के समान थी। फिर भी वह उनके समान उच्चस्तर की महिला से भिन्न थी। उनके सिर पर लाल रेशमी टोपी रहती थी, जिसमें मोतियों की लड़े और जवाहरात जड़े रहते थे। कम से कम एक लाख रूपयें की मूल्य की छोटी सी हीरो की माला उनके गले की शोभा बढ़ाती थी। उनकी चोली सामने खुली रहती थी। जिससे उनका सन्तुलित और भरा हुआ वक्ष दीख पड़ता था। यह चोली कमर तक पहुँचती थी तथा सुनहरी जरीदार पेटी से अच्छी तरह बँधी रहती थी। कमर की इस पेटी में दो उत्तम नक्काशीदार चाँदी से मढ़े हुए पिस्तौल रहते थे। इन्ही के साथ एक सुडौल पेशकब्ज भी रहता था जिसकी तीखी नोक विष बुझी हुई थी। उसका एक मामूली–सा घाव भी प्राणाहारी होता था। मामूली साड़ी के बदले वह एक ढीला–ढाला पायजामा पहनती थी।'' झाँसी का भार हाथ में लेने के साथ ही साथ रानी ने अपने कार्यकलांप से अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी। के0 ओ0 मेलसन के शब्दों में–

उसने अपने को अत्यंत सुयोग्य शासक के रूप में सिद्ध कर दिया। एक

टकसाल की स्थापना की। किले और शहर के महत्वपूर्ण केन्द्रो को सैन्य व्यवस्था के द्वारा अभेध कर दिया। तोपों की ढलाई शुरू की एवं नई फौज का गठन शुरू कर दिया ।

सुदर्शनीय तेजस्विनी रानी जनसामान्य के सामने खुले रूप में जरा भी कुंठित नहीं होती थी इसलिए वह प्रजा पर जल्दी ही अपना प्रभाव ड़ालने में समर्थ हो गई। [39]

श्रद्धा आकर्षित करने की इस क्षमता और चरित्र की दृढ़ता के साथ मिला हुआ था उसका असाधारण साहस। ऐसे ही विभिन्न गुणों के समावेश के कारण रानी ह्यूरोज की सेनाओं का अदुभुत और शक्तिशाली प्रतिरोध करने में समर्थ हुई थी। ह्यूरोज की अपेक्षा अगर और किसी अयोग्य व्यक्ति के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना होती तो रानी के·लिए सफल होना उतना अंसभव न रहता।

रानी ने सबसे पहले बुन्देलखण्ड के गरीब किसानो को गए वर्ष की लगान वसूली से मुक्ति देकर उनकी आस्था और प्रेम जीत लिया। 1854 ई. से झाँसी सरकार के 3,240 सैनिक बर्खास्त होकर जो घर बैठे हुए थे उन्हें पुनः बुला लिया गया।

बुंदेला, ठाकुर इन सब उच्च्य वर्गो से लेकर काछी, कोरी, तेली सभी वर्गो के लोग उसकी सेना में आकर शामिल हो गए। उसी प्रबल स्वधर्म पालन के लिये रानी ने अफगान, पठानों और मकरानी मुसलमानों को आह्मन किया। अपने विश्वास के द्वारा उन्हें अनुप्राणित कर दिया। इसी तरह से उसकी सेना तैयार होने लगी।

युद्ध हो अथवा शान्ति, लोगो को खा–पहनकर जीवित रहना पड़ता है। किन्तु विद्रोह से आक्रान्त इलाकों में उन दिनो जनसामान्य की रोजी–रोजगार की आशा खतरे में पड़ गई थी। इसलिये रानी ने झाँसी शहर में चार उघोग केन्द्रो की

स्थापना की और कठोर कानून–व्यवस्था के अनुसार आन्तरिक शासन व्यवस्था चलाकर खेती–बारी को जारी रखा।

सब कर्मचारियों को अपने–अपने विभागो को दृढ़ता और सावधानी के साथ सँभालने और चलाने का आदेश रानी ने कर दिया। रिसाले और पैदल पलटनों की कवायद और निशानेबाजी शुरू हो गई। समय पर बिगुल बजा और ठीक समय पर सब काम हुआ और होता रहा। सेना में लगभग सभी पुराने सिपाही आ गये। नई भरती भी बहुत हुई। सब जातियाँ और वर्गों के आदमी लिये गए। रानी की हिदायत थी कि सेना को सारे राज्य की जानता अपना समझे और यह तभी हो सकता था, जब सेना में सब जातियो के लोग रखे जाते।

झाँसी का राज्य लेने पर अंग्रेजों ने लगभग सब पुरानी तोपों को कीले ठोककर बेकार कर दिया था। इनमें से एक भवानीशंकर नाम की थी, जिसको सन् 1781 में राजा उदेतसिह के राज्यकाल में उस्ताद जयराम ने ढाला था। तोपो के ढालने के कारखानों को चालू करने का कार्य तुरन्त शुरू कर दिया गया। गोले गोलियाँ बनाने का, तलवारे, बंदूके पिस्तौले आदि तैयार करने का भी काम जारी हो गया। परन्तु नए हथियारों का कारखानों से बनकर निकलना शीघ्र संपादित नहीं हो सकता था। इसलिए रानी ने जहाँ मिले, पुरानें हथियार इकट्ठे किए। जनता ने जी खोलकर रूपया दिया।

गुलाम गौस खाँ ने दो दिन में तोपों को ठीक कर लिया। कुछ तोपें गड़ी थी, उनको भी सँभाल लिया।

महारानी लक्ष्मीबाई के पूर्वज नेवलकर लोगों की मूल जागीर खानदेश में स्थित परोला में थी, खानदेश इस समय बम्बई राज्य (महाराष्ट्र में) के अंतर्गत एक जिला मात्र है। परोला जलगाँव और मुसावल के दक्षिण–पश्चिम में स्थित है।

नेवलकर वंश के मूल पुरूष रघुनाथ राव परोला के थे। उनके प्रथम पुत्र खंडेराव के वंशधरों में 1857ई. में काशीनाथ और वासुदेव जीवित थे। काशीनाथ झाँसी शहर के तहसीलदार थे, वे निःसन्तान थे। काशीनाथ के काका के पुत्र वासुदेव नेवलकर के एक मात्र पुत्र आनन्द राव को गंगाधर राव ने गोद लिया। इसलिए परोला में खंडेराव के वंश का कोई नहीं था। वासुदेव सिर्फ वहाँ बने रहते थे।

रघुनाथ के दूसरे पुत्र दामोदर राव के दो पुत्र थे, हरिपन्त और सदाशिव पन्त। हरिपन्त के तीन पुत्रों में पहले लड़के झाँसी के सूबेदार द्वितीय रघुनाथ राव पुत्रहीन अवस्था में मरे थें। दूसरे पुत्र शिवराव भाऊ से झाँसी राजवंश का पता चलता है। तीसरे पुत्र की एकमात्र सन्तान लालाभाऊ पुत्रहीन थे और झाँसी राजवंश के परम हितैषी के रूप में झाँसी में निवास करते थे। दामोदर राव के दूसरे पुत्र सदाशिव पन्त के वंशधर परोला में अपनी जागीर का उपभोग कर रहे थे। सदाशिव पन्त के प्रपौत्र सदाशिव नारायण परोला में जागीरदार थें।

झाँसी राज्य के अधिग्रहण के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार एवं रानी लक्ष्मीबाई के बीच चिट्ठी–पत्री का जो आदान प्रदान हुआ था, उससे पता चलता है कि यही सदाशिव नारायण चचेरे भाई गंगाधर राव के बाद अपने दावे को न्यायसंगत मानकर बार–बार अर्जी पेश करते हैं, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उस निवेदन को कभी भी स्वीकार नहीं किया था।

झाँसी राज्य के सम्बन्ध में सदाशिव राव सदा बड़ी सतर्कतापूर्वक अपने पास सारी खबरों का पता रखा करते थें। 8 जून को अंग्रेजों के झोकनबाग हत्याकाँड के बाद उन्होंने रानी की असुरक्षित अवस्था तथा झाँसी राज्य की हाल की अनिश्चित अवस्था के अवसर का लाभ उठाने का संकल्प लेकर परोला से तीन हजार सेना लेकर झाँसी के अधीन कड़ेरा दुर्ग पर अधिकार कर लिया। वहाँ के तहसीलदार

को धमकाकर उससे 16 जून 1857 को अपना राज्याभिषेक करा लिया। खिताब लिया 'झाँसी के गौरव महाराज सदाशिव राव नारायण'। अपने नाम से जागीरनामा लिखकर झाँसी राज्य की विभिन्न तहसीलों के तहसीलदारों के पास भिजवाया। राजापुरदिहाला के तहसीलदार गुलाम हुसैन को लिखा–

"मैने तुम्हारी नौकरी बहाल रखी है। तुम मुझे उचित नजराना भेजो। क्योंकि इस समय मैं ही झाँसी का स्वतंत्रत शासक हूँ।" [40]

आषाढ़, वैध अष्टमी संवत, 1914 गुलाम हुसैन की ओर से राजकीय आदेश के पालन में उचित तत्परता के अभाव में, दो दिन बाद उसने फिर लिखा–

"तुम्हें नौकरी से बरखास्त करने का निर्णय ले लिया है। इसलिए तुम्हारी नौकरी अब चली गई।"

सदाशिव राव रानी को प्रतिपक्षी के रूप में जरा भी नही मानता था, इसी कारण उससे सावधान रहने की कोई जरूरत ही नहीं समझता था। रानी ने इस नए राजा को कैद करने के लिये एक हजार सैनिक भेजे। सदाशिव राव विपत्ति देखकर ग्वालियर के अन्तर्गत नरवर भाग गया, किन्तु वहाँ भी उसका पीछा रानी की सेना ने किया और उसे बन्दी बनाकर झाँसी के किले में रखा। रानी ने सदाशिव राव के साथ किसी भी तरह का असम्मानजनक व्यवहार नहीं किया और 1858 ई. में अंग्रेजों के झाँसी दुर्ग पर अधिकार करने के बाद उन्होंने उसे वहाँ बंदी अवस्था में पाया। अंग्रेजों के विचार से सदाशिव राव दोषी सिद्ध हुआ था । [41]

अपने ही आचरण के कारण सदाशिव नारायण परोला की जागीर के अधिकार से च्युत हो गया था। परोला में गंगाधर राव का जो हिस्सा था उसकी देख–परख के लिए केशव भास्कर ताम्बे और उसका पुत्र कृष्ण केशव ताम्बे परोला गए थे। केशव भास्कर ताम्बे पूना से ब्रह्मनन्द स्वामी के आदेश से चिम्माजी अप्पा के

साथ काशी गए थे। मोरोपन्त ताम्बे और केशव भास्कर ताम्बे सजातीय थे। काशी में रहते समय उनके सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ हो जाते है। काशी से बिठूर आकर उन्होंने बिठूर घाट के पास दो घर पास–पास बनवाए थे। केशव भास्कर ताम्बे झाँसी में 1858 ई. में उपस्थित थें। अंग्रेजों के झाँसी के किले पर अधिकार करने बाद वे परोला में आए। परोला नेवलकर लोगों की जागीर के रूप में उन दिनों अंग्रेजों के अधिकार में थी। अंग्रेज लोग केशव भास्कर ताम्बे को निर्दोष, निष्पक्ष और शान्तिप्रिय रूप में मानते थे और परोला की जागीर उन्हें दे दी। यह सुसमृद्ध जनपद आज भी इसी ताम्बे परिवार के अधिकार में है। इन लोगों का पैतृक घर पूना में है । केशव भास्कर के प्रपौत्र राजरत्न श्री जी0 आर0 ताम्बे बड़ोदा निवासी हैं और वहाँ सभी के श्रद्धास्पद हैं ।

सदाशिव राव को बन्दी बनाने के बाद रानी ने पुनः राज्यशासन और युद्ध की तैयारी की तरफ ध्यान दिया और विभिन्न लोगों को विभिन्न पदों पर नियुक्त किया। लक्ष्मण राव बान्दे प्रधानमन्त्री नियुक्त किए। रामचन्द्र राव देशमुख हुए दीवान, न्यायाधीश हुए नाना भोपटकर। प्रधान सेनापति हुए दीवान जवाहर सिंह। दीवान रघुनाथ सिह, मुहम्मद जुमा खाँ आदि पैदल सेना के अधिनायक बनाए गए। प्रधान गोलदाज बने गुलाम गौस खाँ। उनके अधीन दूल्हाजू गोलंदाज बनाए गए। [42]

अंग्रेजों के अधीन झाँसी फौजदारी न्यायालय में बड़े बाबू थे गोपाल राव सरस्तेदार ने रानी की अधीनता स्वीकार कर ली। गोपाल राव अंग्रेजी जानते थे, अंग्रेजी में पत्र –व्यवहार करने का उन्हें अभ्यास था। अवसर पड़ने पर उनकी सहायता मूल्यवान हो सकती है यह सोचकर रानी लक्ष्मीबाई उन पर विश्वास करती थी। यही गोपाल राव सरस्तेदार (बड़े बाबू) अंग्रेजों के नमक की निष्ठा नहीं भूल सके। वे रानी की गतिविधियों के सम्बन्ध में गुप्त रूप से कमिश्नर एरस्काइन को जबलपुर सूचनाएँ देने लगे।

रानी ने बिना जाति–धर्म का विचार किए सेना का गठन किया। उस महत्वपूर्ण स्वधर्म पालन के दिन भी हिन्दू–मुसलमानों ने बिना किसी भेदभाव के रानी की पताका के नीचे योग दिया। उत्साह एवं प्रेरणा का संचार हो गया प्रत्येक हद्रय में। घर–घर में सैनिक तैयार हो गए।

नीली चंदेरी पठानी पोशाक में सारंगी घोड़ी की पीठ पर बैठकर नगर की सड़कों पर घूम–घूम कर रानी सैनिकों के साथ अपना काम किया करती थी और उन्हें विविंध प्रकार के निर्देश देती थी वे लोग जानते थे कि रानी उन लोगों की तरह ही मेहनत करती है। वह सिपाहियों के साथ कैसा व्यवहार किया करती थी इसकी चर्चा आंज भी कभी–कभी साँझ के अंधेरे में वृद्ध किसानों के मुख से गीतो के रूप में वायु में बहने लगती हैं –

जिन्नें सिपाही लोगों को मलाई खिलाई

अपने खाई गुड़धानी

अमर रहे झाँसी की रानी।

रानी सिपाहियों को मलाई खिलाकर, स्वयं खाती है गुड़ और लहिया। इसलिए वह थी उन लोगों की परम आत्मीयजन। इन्हीं दिनो ओरछा और दतिया राज्यों के बार–बार आक्रमणों से झाँसी की अवस्था संकटग्रस्त हो गई। यहाँ यह याद रखना जरूरी है कि एक समय प्रायः सारा बुन्देलखण्ड ओरछा राज्य के अर्न्तगत था। बुन्देलखण्ड़ में मराठो का अधिकार स्थापित होने के बाद ओरछा राज्य की सीमा अत्यन्त संकुचित हो गई। 26–12–1812 ई. को अंग्रेजों के साथ ओरछा के राजपूत राजा विंक्रमजीत ने जो सन्धि की उसके कारण ओरछा राज्य मराठों का ग्रास होने से बच गया। [43]

नत्थे खाँ महारानी लक्ष्मीबाई को अबला समझ बैठा था, इसीलिए

उसने झाँसी पर आक्रमण किया था, किन्तु महारानी ने अपने बुद्धिचातुर्य से उसका मनोरथ विफल कर दिया था। इससे वह अपने आपको अत्यन्त अपमानित अनुभव कर रहा था। वह कोई ऐसा उदार प्रवृति का व्यक्ति नहीं था, जो अपने वीर शत्रु के गुणों का सम्मान करता अथवा प्रतिपक्षी को केवल युद्ध–भूमि में ही अपना शत्रु समझता, वह अत्यन्त धूर्त तथा नीच स्वभाव का मनुष्य था। अतः जब वह महारानी से युद्ध में हार गया, तो उन्हें किसी प्रकार हानि पहुँचाने का विचार करने लगा। फलतः उसने अपने अपमान का बदला लेने के लिये हैमिल्टन को इस आशय का पत्र लिखा कि महारानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोही बन गई है। और वह (नत्थे खाँ) इसीलिए उन्हें दबाने के लिए युद्ध कर रहा है। महारानी के संकेत पर झाँसी में अंग्रेजों का हत्याकाण्ड हुआ ।

नत्थे खाँ की यह कुटिल युक्ति काम कर गयी। अंग्रेजों ने महारानी को अपना शत्रु समझ लिया, जिसकी परिणति अनिवार्य रूप से युद्ध के ही रूप में सामने आंयी। इसका वर्णन स्पष्ट करते हुए मार्टिन ने लिखा है–

''इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब बागियों की सेना झाँसी से चली गयी, तो उन्होंने (महारानी लक्ष्मीबाई) वह प्रदेश अपने अधिकार में ले लिया किन्तु उस समय दतिया और टेहरी के नरेशो ने हमारी सहायता के लिए एक बार अंगुली भी नहीं उठायी। यदि वे चाहते तो बड़ी सरलता से हमारी सहायता कर सकते थें, क्योंकि ओरछा की सीमा झाँसी परेड से केवल डेढ़ मील तथा दतिया राज्य की सीमा छैः मील थी। वे अपनी–अपनी सीमा में सेना सहित हमारी सेना की कार्यवाही देख रहे थें। उन दोनों ने अपनी सेना एकत्र कर महारानी लक्ष्मीबाई पर यह विचार कर आक्रमण, किया कि वे युद्ध के लिए तत्पर न होगी और हम सरलता से उनका राज्य छीन लेगे, किन्तु इस वीरांगना ने उनके दांत खट्टे कर दिये।''

अब इस विवाद में पड़ना आवश्यक ही होगा कि अंग्रेजों ने केवल नत्थें खाँ के कहने मात्र पर ही महारानी लक्ष्मीबाई को अपना शत्रु समझ लिया था अथवा महारानी वास्तव में अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिए प्रतिबद्ध थी। विभिन्न इतिहासकारो के विचारों एवं अपने विस्तृत अध्ययन के बाद में इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि वास्तव में महारानी लक्ष्मीबाई भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के उद्वेश्य को सफल बनाने के लिए ही अंग्रेजों के विरूद्ध समरांगण में कूंदी थी। [44]

इसी युद्ध के समय रानी ने मराठी युद्ध की रीति के अनुसार राजमहल में एक युद्धकालीन अस्पताल स्थापित किया था। घायल सैंनिको को युद्ध–क्षेत्र से लाकर यहाँ उनकी यथायोग्य चिकित्सा की व्यवस्था की जाती थी। रानी की विमाता चिमाबाई कहती है, रानी स्वयं घायलों के बीच घूम–घूम कर कुशल–क्षेम पूछा करती थी। देह और माथे पर हाथ फिराकर सांत्वना दिया करती थी। जरूरत पड़ने पर अपने हाथो से उनकी मलहम–पट्टी भी बदल दिया करती थी। अनेक चिकित्सकों के मना करने पर भी उनके पास बैठ जाती थी और उनसे बातचीत करने लगती थी। आहत अवस्था में उत्तेजना अहितकर होती है, इस कारण उनके पास खड़ी नहीं होती थीं, बचकर निकल जाती थीं।

इस समय और बाद में भी रानी पूरी तरह निःसंकोच भाव से मुसलमान सैनिकों के साथ घुलमिल जाती थी, विपत्ति के समय पास खड़े होकर सहायता किया करती थी। इसी तरह से उनसे पारस्परिक प्रीति और श्रद्धा की भिति पर उनका जो सम्बन्ध गढ़ उठा था वह किसी भी दिन विच्छिन्न नहीं हुआ।

पति की जीवित अवस्था में रानी का चरित्र सम्यक रूप से व्यक्त नहीं हो पाता है। जिस समय उसने झाँसी का शासन किया उसी अवधि में उसके चरित्र का पूर्ण विकास हुआ। महाराष्ट्रियों की निरलस रूप से कार्यदक्षता की बात सर्वजन–विदित

है। रानी ने अपने चरित्र एवं कार्यदक्षता में अपनी जाति का यश अक्षुण्ण रखा। [45]

सुखद विषय है कि अंग्रेजों की द्विमुखी नीति को रानी बहुत जल्दी समझ गई और कूटनीति छोड़कर खुले रूप में युद्ध में अवतरित हो गई ।

उसने अपने को स्वाधीन राज्य झाँसी के नाबालिग राजा के अभिभावक के रूप में घोषित कर दिया और अपने नाम से रूपया चला दिया। झाँसी के किले पर अपनी पताका फहरा दी। नगाड़ा और चामर चिन्हों से युक्त झाँसी राज्य की पताका के ऊपर उड़ने लगी उसकी अपनी पताका।

एक समय मराठा राज्य की पताका गौरिक वर्ण की थी। गेरूआ रंग क्षमा और त्याग का प्रतीक है। किन्तु वह गैरिक वर्ण रानी के मन पर कोई प्रभाव नहीं फैला सका। इसीलिए उसने किले के दक्षिणी बुर्ज पर लाल पताका फहरा दी। गहरे लाल रंग के रेशम की पताका मे नगाड़ा और चामर का चिन्ह छिप गया। [46]

1857 ई. के आकाश का रंग तब लाल था। सारे मध्यभारत में उस समय प्रबल क्षोभ था। मालवा, इन्दौर, ग्वालियर, बानपुर, चरखारी, चंदेरी, शाहगढ़, रायगढ़,–सभी जगह प्रबल ब्रिटिश–विरोधी जागरण के फलस्वरूप ब्रिटिश प्रभुत्व हिल उठता है। ग्वालियर, इन्दौर, नेपाल, बड़ौदा और इन सब प्रबल पराक्रमी सामंत राजाओ की भक्ति और अधीनता को भी ब्रिटिश शासन रोक कर नहीं रख सका। जनसाधारण के ब्रिटिश–विरोधी प्रबल विक्षोभ को भी दबा नहीं सका। लक्ष–लक्ष भारतीय जनों के विद्रोह को साकार करती हुई वही लाल पताका झाँसी के किले से असीम गौरव से भरकर 1857 ई. के आकाश में उड़ने लगी। ह्यूरोज की सेनाओं द्वारा 1858 ई. में उतारकर फाड़ न दिए जाने तक वह पताका उसी प्रकार वहाँ पर उड़ती रही थी ।

REFERENCES

1. मन्मथनाथ गुप्त : भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास, पृ022
2. वही पृ0 25
3. The Gazzetiar of Jhansi District, P.42
4. The Gazzetiar of Banda District,P.121
5. K.N. Knox: Note on Bundelkhand, P.8
6. W.R. Pogson: A History of the Boondelas, P.151
7. The Gazzetiar of Jalaun District, P.241
8. The Gazzetiar of North-West prorince, P.39
9. K.N. Knox Note on Bundelkhand, P.8
10. Shyam Narain Sinha : The revolt of 1857 in Bundlekhand, P.32
11. Ibid , P.55
12. मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ0 16
13. वही पृ0 33
14. वही पृ0 76
15. डॉ0 दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी : भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन, पृ043
16. Charles Ball : History of the Indian Mutiny, 2 Vols. London, N.D., P.211
17 O.T. Burne : Clyde and Strathnairn, Oxford, 1891, P.79
18. G. Dodd : History of the Indian Revolt and of the Expeditions to, Per sia, China and Japan, London, 1860, P.66
19. ए0 एल0 बाशम : अद्भुत भारत , पृ0 6
20. रोंहित यादव : विलुप्त होती हमारी सास्कृतिक धरोहर, पृ0 22

21. मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ0 29

22. अवधेश चतुर्वेदी : 1857 का स्वतंत्रता संग्राम, पृ0 46

23. डॉ0 भवान सिह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 23

24. श्री हरिकृष्ण देवसरे : स्वतंत्रता के 51 वर्ष, पृ0 45

25. वही पृ0 73

26. वृदावनलाल वर्मा : झाँसी की रानी, पृ0 27

27. वृदावनलाल वर्मा : माधवजी सिंधिया, पृ0 8

28. श्री हरिकृष्ण देवसरे : स्वतंत्रता संग्राम प्रशस्त, पृ0 39

29. A. Duff: The Indian Rebellion, its Causes and Results, in a series of letters, 2nd ed. London, 1858, P. 79

30. Major Evans : Retrospect and Prospect of Indian policy, London, N.D, P. 77

31. G.W. Forrest : History of the Indian Muteny, 3 vols. Edinburgh and London, 1904-12, P.241

32. Hedayet : Ali A few words relative to the Late Muteny of the Bengal Army and Rebellion in the Bengal Presidency, Calcutta, 1858, P. 163

33. T.R. Holmes : History of the Indian Muteny London, 1898, P. 312

34. Sir John William Kaye : A History of the Sepoy War in India, Vol. I 9th ed. London, 1880, vols. II and III, 4th ed. London, 1878, P.211

35. H. G. Keene : Fifty Seven, London, 1883, P.142

36. J. Lang : Wanderings in India other sketches of life in Hindustan, London, 1859, P.241

37. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 30

38. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 151

39. L.M. Sharma : Rani Jhansi, P. 89

40. सुभाष चन्द्र 'सत्य' : भारतीय नारी कितनी जीती कितनी हारी, पृ0 42

41. वृंदावनलाल वर्मा : झाँसी की रानी, पृ0 72

42. महाश्वेता देवी : जली थी अग्निशिरवा : पृ0 53

43. अवधेश चतुर्वेदी : 1857 का स्वतंत्रता संग्राम, पृ0 146

44. दतात्रेय बलवंत पारसनीस : झाँसी की रानी, पृ0 157

45. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 71

46. वही पृ0 82

पंचम अध्याय

रानी लक्ष्मीबाई का प्रादुर्भाव

भारतीय वसुन्धरा को गौरावान्वित करने वाली झाँसी की रानी वीरांगना लक्ष्मीबाई वास्तविक अर्थ में आदर्श वीरांगना थी। सच्चा वीर कभी आपत्तियों से नहीं घबड़ाता। उसका लक्ष्य उदार एवं उच्च होता है। उसका चरित्र अनुकरणीय होता है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उन्होंने सदैव आत्मोत्सर्ग के लिये अपने को प्रस्तुत रखा। वह आत्मविश्वासी, कर्तव्यपरायण, स्वाभिमानी और धर्मनिष्ठ थी। वीरांगना लक्ष्मीबाई जिनका उज्जवल चरित्र राष्ट्र प्रेम और राष्ट्र निर्माण की भावनाओं से ओत–प्रोत था। उनके प्रेरक चरित्र एवं आत्म बलिदान ने देश में नये जागरण की लहर उत्पन्न कर दी, जनता में शौर्य एवं उत्साह जागृत हुआ।

इसे एक सुखद आश्चर्य ही कहा जाएगा कि महारानी लक्ष्मीबाई ने भारतीय नारियों की दासतापूर्ण मानसिकता को ध्वस्त कर दिखाया। उन्होंने यह आश्चर्यजनक कार्य ऐसे समय में किया, जब समग्र भारतीय नरेश अपनी आभा खो चुके थे या यों कहा जा सकता है कि वे सभी ब्रिटिश साम्राज्य के सूर्य की आभा के समय तेजहीन हो चुके थे। महारानी लक्ष्मीबाई ने नारी के अबला होने की उस मिथ्या धारणा को निराधार कर दिखाया, जो शताब्दियों से भारतीय जनमानस में अपनी गहरी जड़े जमा चुकी थी। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि भारतीय नारी अबला नहीं है, उसे मानसिक रूप से अबला बना दिया गया है। समय आने पर वह सबला ही नहीं, अपितु परम वीरांगना भी बन सकती हैं। उन्होंने चिरकाल तक दासता की निद्रा में सोई हुई भारतीय नारी को उसकी निद्रा से जगाया और इतिहास में एक सर्वथा नवीन गरिमामय अध्याय की सर्जना की। निःसन्देह महारानी लक्ष्मीबाई नारी जाति का ही गौरव नहीं, अपितु एक स्मरणीय ऐतिहासिक विभूति है।

(1) रानी लक्ष्मीबाई का जीवन परिचय :

सतारा (महाराष्ट्र) के पास कृष्णा नदी बहती है। इसी कृष्णा नदी के

तट पर वाई नामक एक गाँव है। मराठा साम्राज्य के संस्थापक छत्रपति शिवाजी महाराज के उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए और साम्राज्य पर पेशवाओं का अधिकार हो गया। पेंशवाओं के शासनकाल में इसी वाई गांव के कृष्णराव ताम्बे नामक एक ब्राह्मण किसी उच्च राजकीय पद पर नियुक्त थे। उनका बलवन्त नाम का एक पुत्र था। जो अत्यन्त वीर तथा पराक्रमी था। फलतः उसकी वीरता से प्रसन्न होकर पेशवा द्वारा उसे सेना मे एक सम्मानित पद प्राप्त हुआ था। इस प्रकार पिता–पुत्र दोनों पर पेशवाओं की कृपादृष्टि रही तथा दोनों को उच्च पद प्राप्त हुए। स्पष्ट है कि दोनों ने अपने–अपने पदों पर पूर्ण योग्यता से कार्य किया, अन्यथा इस कृपा का परम्परागत रूप में बना रहना संभव न होता। बलवन्त के दो पुत्र हुए मोरोपन्त तथा सदाशिव, ऊपर कहा जा चुका है कि इस परिवार पर पेशवाओं की कृपादृष्टि दो पीढ़ियो से बनी आ रही थी। तीसरी पीढ़ी में भी यह परम्परा अक्षुण्ण रही। [1] पेशवा बाजीराव द्वितीय के भाई चिमाजी आपा साहब तथा मोरोपन्त में अन्तरंग मित्रता थी। सन् 1818 में जब पेशवा बाजीराव ने अंग्रेजों से आठ लाख वार्षिक की पेंशन लेकर पद से त्याग पत्र दे दिया, तो अंग्रेजों ने चिमाजी आपा साहब के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि वह पेशवा का पद स्वीकार कर ले किन्तु उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि अंग्रेजों के अधीन अधिकारविहीन पेशवाई को वह अर्थहीन समझते थे। उसके बाद वह बनारस चले गए और वहीं रहने लगे। उनके बनारस आ जाने पर मोरोपन्त ताम्बे भी बनारस आ गए। वह चिमाजी आपा साहब के सचिव का कार्य करते थे, जिसके लिए उन्हें पचास रूपये प्रति माह वेतन मिलता था। [2]

यही मोरोपन्त ताम्बे वह व्यक्ति हैं, जिन्हें वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई के पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इनकी पत्नी का नाम भागीरथीबाई था, जो अत्यन्त रूपवती पतिपरायण, सुशील तथा व्यवहारकुशल महिला थी। दोनों पति–

पत्नी में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था। उनके इस प्रेम के विषय में श्री दत्तात्रेय बलवन्त अपनी पुस्तक 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' में लिखते हैं–

"पति और पत्नी में सदैव बड़ा प्रेम रहता था। संसार में प्रेम से बढ़कर और कोई पवित्र वस्तु नहीं है। यदि वह प्रेम सच्चे और शुद्ध हृदय से किया गया हो। यदि दो मनुष्य प्रेमबद्ध होकर किसी दुस्तर से दुस्तर कार्य को करना चाहें, तो वह सरलतापूर्वक किया जा सकता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा कि यदि दो दिल मिलकर चाहें, तो पहाड़ भी तोड़ सकते हैं। फिर यदि पति और पत्नी में परस्पर सच्चा प्रेम हो तो यह बताने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि संसार यात्रा किस प्रकार उत्तम रीति से निर्वाह हो सकती है। ऐसा ही सच्चा प्रेम मोरोपन्त और उनकी पत्नी में था।"

मोरोपन्त की पत्नी भागीरथीबाई ने कार्तिक कृष्ण चर्तुदशी संवत 1891 अर्थात 16 नवम्बर, सन 1835 ई. के दिन एक कन्या को जन्म दिया। कन्या आगे चल़कर इतिहास में महारानी लक्ष्मीबाई के नाम से प्रसिद्ध हुई।[3] कन्या के जन्म पर मोरोपन्त और उनकी पत्नी भागीरथीबाई को अपार हर्ष हुआ। उनके सभी सम्बन्धियों तथा परिचितों ने उन्हें कन्यारत्न की प्राप्ति पर बधाईयाँ दी। नवजात शिशु को चिरायु होने का आर्शीवाद दिया तथा कामना व्यक्त की कि वह बालिका 'परम' पराक्रमशालिनी तथा यशस्विनी बनें। सहजभाव से दिया गया यह आशीर्वाद कालान्तर में सत्य ही सिद्ध हुआ। कहा जाता है, इस कन्या के जन्म पर ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि यह कन्या राज्यलक्ष्मी युक्त तथा अनुपम शौर्यशालिनी होगी। उस समय नवजात अबोध बालिका के शान्त, सौम्य एवं निश्छल मुख को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि यह बालिका अपने स्वाधीनता प्रेम तथा राज्य की रक्षा के लिए इतिहास के एक स्वर्णिम अध्याय की सर्जना करेंगी। माता–पिता ने इस

कन्या का नाम मनूबाई रखा तथा प्रेम से उसका पालन–पोषण करने लगें। [4]

बालिका मनूबाई चन्द्रमा की कलाओ के समान शनैः–शनैः बढ़ने लगी। इसी बीच मोरोपन्त को एक भीषण आघात लगा। उनके परम दयालु आश्रयदाता चिमाजी आपा साहब का देहावसान हो गया। एक सच्चे सुहद् के चल बसने पर मोरोपन्त आश्रयविहीन हो गए थे। उनके पास आजीविका–निर्वाह का भी कोई साधन नहीं रह गया था। उनके सामने एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई थी उनकी कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें। इस संकट की घड़ी में उन्हें पूर्व पेशवा बाजीराव ने आश्रय देकर अपनी कुल–परम्परागत उदारता का परिचय दिया, जो स्वयं इस समय महाराष्ट्र छोड़कर उत्तरी भारत में निर्वासित जैसा जीवन–यापन कर रहे थे। मोरोपन्त बाजीराव की इस उदारता से अभिभूत होकर उन्हीं के आश्रय में रहने लगे। उन्हें अपने पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह में कोई कठिनाई नहीं हुई।

बालिका मनूबाई अपने माता–पिता के साथ बनारस छोड़कर बाजीराव के आश्रय में आ गई थी। यहीं उसका बाल्यकाल व्यतीत हो रहा था, अभी वह केवल तीन–चार वर्ष की ही थी कि उसे दुर्भाग्य के एक क्रूर विषाद का सामना करना पड़ा, उसकी माँ भागीरथीबाई की मृत्यु हो गई। पिता एवं पुत्री दोनों के ही लिए यह एक भंयकर आघात था। बालिका मनूबाई भले ही मृत्यु का अर्थ अभी भली प्रकार नहीं समझ सकती थी, फिर भी माँ के अभाव का उसके अबोध मन पर भारी आघात पहुँचा होगा, मोरोपन्त को भी जीवन संगनि के वियोग से आघात तो भीषण लगा, किन्तु वह विचलित नहीं हुए। उन्होंने भावना पर नियंत्रण रखा और पूर्ण मनोयोग से कर्तव्य का निर्वाह कंरने लगे। उन्होंने पुत्री मनूबाई को माँ के अभाव का अनुभव नहीं होने दिया और स्वयं उसका पालन पोषण करने लगें। अब वही उसके पिता थे और वही माँ भी।

इस प्रकार नन्ही बालिका मनूबाई पिता की छत्रछाया में पलने और बढ़ने लगी। मोरोपन्त जहाँ भी जाते, उसे अपने साथ ही ले जाते। उनका उठना–बैठना प्रायः पुरूषों के साथ ही होता। और मनूबाई भी उनके साथ रहती। बालिका मनूबाई बाल्यकाल से ही बड़ी नटखट और सुन्दर थी। वह पिता के साथ प्रायः बाजीराव के पास जाती रहती। पेशवा बाजीराव का उस पर अपार स्नेह था। वह मनूबाई को छबीली नाम से पुकारते थे। [5]

पेशवा बाजीराव द्वितीय पुत्रहीन थे। अतः उन्होंने 7 जून, 1827, को एक ढाई वर्षीय बालक गोद लिया। यही बालक आगे चलकर प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अप्रतिम महारथी नाना साहब पेशवा बना। महाराष्ट्र के माथेरन पहाड़ों की घाटी में एक गाँव है– वेणुग्राम। इसी वेणुग्राम में माधवराव नारायण भट्ट नामक एक कुलीन ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नी गंगाबाई से 1824 ई. के अन्त में नाना साहब का जन्म हुआ था। नाना साहब के साथ ही बाजीराव ने एक अन्य पुत्र रावसाहब को साथ भी गोद लिया था।

बालिका मनूबाई को नाना साहब और रावसाहब की अच्छी मित्र–मण्डली मिल गई। बच्चे विभिन्न प्रकार के खेल खेलते रहते। तत्कालीन परम्परा के अनुसार मनूबाई को घर पर ही शिक्षा देने की भी समुचित व्यवस्था की गई बालिका मनूबाई चंचल तो थी ही, उस पर एकमात्र सन्तान और मातृविहीन थी। अतः वह नाना सांहब को जो कुछ करते देखती, पिता से स्वयं भी वही मांग बैठती। पिता मोरोपन्त पुत्री की किसी भी इच्छा को मारना नहीं चाहते थे। नाना साहब घोड़े पर बैठकर घूमने जाते तो मनूबाई भी उनके साथ घोड़े पर बैठकर जाती। आखिर नाना साहब एक पूर्व पेशवा के पुत्र थे, जबकि मनूबाई पेशवा के आश्रित की पुत्री। भला बालिका मनूबाई इसे क्या समझ पाती, उसका तो काम केवल हठ करना भर था।

कहा जाता है कि एक बार नाना साहब हाथी पर बैठकर घूमने जा रहे थे। उन्हें हाथी पर बैठा देख मनूबाई भी हाथी पर बैठने का हठ करने लगी। उसकी हठ देख पेशवा बाजीराव ने नाना साहब से उसे हाथी पर बैठाने का इशारा किया, लेकिन नाना सहाब ने उसकी अनदेखी कर दी आखिर वह भी तो अभी बच्चे ही थे। उन्हें मनूबाई पर अपना रौब जो गाँठना था, अतः वह पिता के संकेत की अनदेखी कर चलते बने। इधर मनूबाई थी कि अपना हठ छोड़ती ही न थी, बार–बार अपने पिता से हाथी पर बैठने की जिद किये जा रही थी। खिन्न होकर मोरोपन्त कह बैठे–'' अरी, क्यों व्यर्थ हठ करती है, अपना भाग्य तो देख, तेरे भाग्य में हाथी पर बैठना लिखा भी है?'' [6]

पिता के शब्द सुन बालिका मनूबाई ने तपाक से उत्तर दिया,'' हाँ – हाँ, लिखा है, मेरे भाग्य में, एक छोड़ दस हाथियों पर बैठना लिखा है। ''बात आई –गई हो गई, किन्तु उस समय कौन कह सकता था कि इन शब्दों में कितनी सच्चाई छिपी हैं।

नाना साहब के साथ ही मनूबाई की युद्ध, शारीरिक शिक्षा आदि सम्पन्न होती रही। ब्राह्मण की पुत्री होने पर भी वह युद्धकला में विशेष रूचि लेती थी। इसी विषय में वीर विनायक दामोदर सावरकर अपनी पुस्तक '1857 का स्वातंत्रय समर' में लिखते हैं –

''नाना साहब और छबीली को शस्त्रशाला में असिलता घुमाने का अभ्यास करते देखने का भाग्यलाभ करने वालो में किसकी आँखे असीम आनन्द से प्रसन्न नहीं हुई होगी ? कभी लक्ष्मी की प्रतिक्षा में अश्वारूढ़ नाना खड़ा रहता था, तो लक्ष्मी भी कमर में तलवार बांध वायु से बिखरे कुन्तलों को संवारती हुई अश्वारूढ़ होकर वहां आती थी। अपनी बैठक से उस तेज घोड़े को नियन्त्रित रखने का सफल प्रयास करती, उस समय नाना की अवस्था अठारह वर्ष की तथा लक्ष्मी सात वर्ष की थी।''

कहने का आशय यहीं है कि मनूबाई को बचपन में पुरूष–समाज में ही उठने–बैठने का अवसर अधिक प्राप्त हुआ था। उसे शिक्षा भी प्रायः पुरूषो के ही समान मिली थी। फलतः उसमें पुरूषोचित गुणों का समुचित विकास हुआ। कदाचित यही वह कारण रहा हो, जिसने अंग्रेजों से टक्कर लेनेवाली वीरागंना महारानी लक्ष्मीबाई का निर्माण किया। [7]

आज भले ही यह बात हास्यास्पद लगे, किन्तु वास्तविकता यही है कि मनुबाई का विवाह केवल सात वर्ष की अवस्था में हो गया था। इस विवाह का घटनाचक्र भी अपने–आपमें कम रोचक नहीं है। यद्यपि आजकल नगरों में बालिकाओं के विवाह प्रायः अठारह वर्ष की अवस्था के बाद ही होते हैं, जो वैधानिक रूप में भी आवश्यक है, फिर भी आए दिन बाल–विवाह के समाचार पढ़ने और सुनने को मिल जाते है। उस समय तो प्रचलन ही बाल–विवाह का था। मनुबाई अभी एक अबोध बालिका ही थी कि सामाजिक प्रथा के अनुसार उसके पिता उसके विवाह के लिए चिन्तित होने लगे। एक तो रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज वह भी उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का समय और मोरोपन्त हुए एक मराठा ब्राह्मण। कालचक्र के कारण वह पूर्व पेशवा बाजीराव के आश्रय में ब्रह्मवर्त में रह रहे थे। यहाँ उन्हें अपने कुल के अनुरूप योग्य वर नहीं दिखाई दे रहा था। फलतः उनका चिन्तित होना स्वाभाविक ही था।

इसी बीच एक बार झाँसी राज्य के राजपुरोहित पण्डित तात्या दीक्षित पेशवा बाजीराव से मिलने आए। पण्डित तात्या दीक्षित प्रकांड ज्योतिषी थे। उनके आगमन से मोरोपन्त को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह पण्डित दीक्षित से मिले और उनके सामने अपनी समस्या रखते हुए बोले, "महाराज ! यह मेरी एकमात्र कन्या है। इसकी माता का देहावसान हो चुका है। अब मैं ही इसका पिता हूँ और मैं ही इसकी माँ भी। यदि आपकी दृष्टि में इसके योग्य कोई वर हो तो ध्यान रखिएगा। इसके हाथ पीले

कर मैं चिन्तामुक्त हो जाना चाहता हूँ।''

पण्डित तात्या दीक्षित ने मनुबाई की जन्मकुण्डली देखी। ग्रहों की स्थिति पर सूक्ष्म विचार करने के बाद बोले, ''भैंया इस कन्या की जन्मकुण्डली में राजयोग है। इसका विवाह किसी साधारण घर में नहीं होगा। आप कुछ भी चिन्ता न करे। समय का खेल देखते जाइए, इसके लिए स्वयं कोई राजा आपके पास आएगा। इसके लिए मैं या आप कुछ नहीं कर सकते। हाँ, फिर भी आप पिता है, प्रयत्न करना आपका कर्तव्य है। मैं भी प्रयत्न करूँगा। हमारे प्रयत्न केवल करने भर के लिए होगें। प्रभु की इच्छा को कोई नहीं जान सकता।

''ज्योतिषी की भविष्यवाणी सुनकर मोरोपन्त को अपार हर्ष हुआ। इसके बाद ज्योतिषी वापस चले गए। झाँसी के राजा गंगाधर राव प्रौढ़ हो चले थे, किन्तु उनका कोई पुत्र नहीं था। पुत्र प्राप्ति के लिए वह पुनः विवाह करना चाहते थे। उन्होंने अपनी यह इच्छा अपने सभासदो के सामने व्यक्त की। पण्डित तात्या दीक्षित ने मनूबाई के विषय में विस्तार से बताया, तो गंगाधर राव उसके साथ विवाह करने के लिये लालायित हो उठे। राज ज्योतिषी ने मनुबाई के रूप–सौन्दर्य, जन्मकुण्डली आदि के बारे में बताया तो राजा अपनी प्रौढ़ अवस्था को भी भूल गए। उन्होंने विचार किया, कदाचित इसी स्त्रीरत्न से उनकी वंशबेल आगे बढ़ जाए। अतः मनूबाई और गंगाधर राव का विवाह होना निश्चित हो गया।

सम्बन्ध निश्चित हो जाने के कुछ ही दिनों बाद 1842 ई. में सात वर्षीया मनूबाई का विवाह झाँसी के प्रौढ़ राजा गंगाधर राव के साथ हो गया। सात वर्षीया अबोध बाला विवाह का अर्थ भला क्या समझ सकती थी। उसके लिये तो यह केवल गुड्डे–गुड़िया का खेल भर था, भले ही विवाह संस्कार काफी धूम–धाम से सम्पन्न हो रहा था। बालिका मनूबाई, जो वधू बनी हुई थी, उसकी मानसिकता का

अनुमान इस घटना से अच्छी तरह लगाया जा सकता है– कहा जाता है कि जिस समय विवाह संस्कार सम्पन्न हो रहा था अग्नि की परिक्रमा की जानी थी, उस समय जब पुरोहित ने वर–वधू के दुपट्टे में गाँठ लगाई, तो मनूबाई पुरोहित से कह उठी,'' पुरोहित जी महाराज ! गाँठ जरा मजबूती से बाँधना।'' 8

मनूबाई का विवाह हो गया। अब वह मनूबाई से झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई बन गई थी, गंगाधर राव की महारानी लक्ष्मीबाई। पिता मोरोपन्त ताम्बे अपना कर्तव्य पूर्ण कर असीम हर्षित हुये। कहाँ बाजीराव का वेतनभोगी एक सामान्य सेवक, और कहाँ झाँसी के राज परिवार से सम्बन्ध। उन्हें तो स्वपन में भी इस सम्बन्ध की आशा नहीं रही होगी। इस विवाह से लक्ष्मीबाई को कोई लाभ हुआ या न हुआ, यह एक विवाद का प्रश्न हो सकता है, किन्तु अपने पितृ पक्ष के लिये वह अवश्य लक्ष्मी सिद्ध हुई। विवाह के बाद मोरोपन्त तथा उनके सम्बन्धियों को गंगाधर राव द्वारा अनेक पुरस्कार दिये गये। मोरोपन्त को तीन सौ रूपये मासिक पर झाँसी के दरबार में एक उच्च पद दे दिया गया। आज से डेढ सौ वर्ष पूर्व तीन सौं रूपये एक बहुत बडी धनराशि थी। वह झाँसी राज दरबार के सर्वोच्य सभासद बन गए। उनके सम्बन्धियों को भी झाँसी राज्य में महत्वपूर्ण पदो पर नियुक्त कर दिया गया।

मनूबाई के विवाह से लगभग तीन–चार वर्ष पूर्व ही उसकी माँ का देहावासन हो गया था। पुत्री पर विमाता का साया न पडें, इसी विचार से मोरोपन्त ने अपना दूसरा विवाह भी नहीं किया था। पुत्री के लक्ष्मीबाई बन जानें पर वह सर्वथा अकेले रह गये थे। अब वह पहले की तरह निर्धन भी नहीं रहे थे। अतः अब वह भी विवाह करने का विचार करने लगे। शीघ्र ही उन्होंने दूसरा विवाह चिमाबाई से कर लिया। हाँ, उन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि उनकी द्वितीय पत्नी मनूबाई के समान बालिका न होकर एक पूर्ण युवती थी। उनकी यह पत्नी गुरसरायं के एक

कुलीन ब्राह्मण वासुदेव शिवराज खानवलकर की पुत्री थी। पुत्री के विवाह के बाद मोरोपन्त अपने नये पद और नवीन ग्रहस्थी का सुखोपभोग करने लगे। [9]

परिस्थितियों ने एक सामान्य ब्राह्मण पुत्री को झाँसी की महारानी बना दिया। यही रानी लक्ष्मीबाई जब विवाह से पूर्व मनूबाई थी, तो एक बार नाना साहब द्वारा हाथी पर न बैठाने पर वह हठ करने लगी थी। उस समय जब पिता ने उसे भाग्य का उलाहना दिया था तो उसने कहाँ था– ''हाँ–हाँ, लिखा है–मेरे भाग्य में, एक छोड़ दस हाथियों पर बैठना लिखा है। ''इसे नियति का एक विचित्र संयोग ही कहा जाएगा, आज वही मनूबाई अपने पति राजा गंगाधर राव के 22 हाथियों की स्वामिनी थी। महारानी लक्ष्मीबाई ने अपने बैठने के लिये एक सुन्दर हाथी चुन लिया। गंगाधर राव उनकी हर इच्छा पूर्ण करने को तैयार रहते थे। उन्होंने उस हाथी के लिये सोने –चांदी के तारों से मढ़ा हुआ झूला बनवा दिया, उसके दांत–सोने से मढ़ दिये गये तथा उसे अनेक प्रकार के सोने–चाँदी के आभूषणो से अलंकृत कर दिया गया। उस पर बैठकर महारानी लक्ष्मीबाई घूमने जाती, तो उनकी प्रजा बड़ी उत्सुकता के साथ उनके दर्शन करने लगती। [10]

महारानी लक्ष्मीबाई को घुड़सवारी का भी शौक था। पतिगृह में आकर उनकी यह इच्छा भी पूर्ण हो गयी। उनकी घुड़सवारी के लिए महाराज गंगाधर ने कई उत्तम घोड़े खरीदे थे। यही नहीं, उन्होंने महारानी के लिए एक बहुमूल्य एवं भव्य पालकी भी बनवाई, जिसे एक दर्जन कहार उठाते थे। उन कहारों के लिये भी विशेष प्रकार के सुन्दर वस्त्र बनाये गये।

अगहन शुक्ल एकादशी संवत 1908 अर्थात् सन् 1851 को महारानी लक्ष्मीबाई ने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र–रत्न पाकर महाराज तथा महारानी दोनो को अपार प्रसन्नता हुई। सारे राज्य में मंगल मनाया गया। सम्पूर्ण झाँसी में प्रसन्नता

का सागर हिलोरे लेने लगा। महाराज ने दीन–दुखियो, याचकों, ब्राह्मणों आदि के लिए अपने कोष का मुँह खोल दिया। महाराज को अपना जीवन सफल जान पड़ा। महारानी भी पुत्र–लाभ से अपनी नारी होने की समग्रता का अनुभव कर फूली न समायी, किन्तु सम्भवतः भाग्य को कुछ और ही स्वीकार्य था, यह प्रसन्नता क्षणिक सिद्ध हुई, केवल तीन मास में ही वह पुत्र इस संसार से चल बसा।

पुत्र–वियोग से राजा गंगाधर राव को भारी आघात पहुँचा। परिणास्वरूप धीरे–धीरे उनका स्वास्थ्य गिरने लगा और अन्त में वह गम्भीर रूप से अस्वस्थ हो गये। अनेक प्रकार से चिकित्सा–उपचार होने पर भी उनकी दशा में कोई विशेष सुधार न हुआ। अक्टूबर, 1853 की नवरात्रि में उन्होंने कुलदेवी महालक्ष्मी की उपासना की। इसमें उन्हें कुछ परिश्रम करना पड़ा। इससे उनका स्वास्थ्य और भी गिर गया। विजय दशमी के दिन से उन्हे संग्रहणी भी हो गयी। झाँसी के सभी प्रसिद्ध चिकित्सकों ने उपचार किया किन्तु परिणाम शून्य ही रहा। झाँसी के उप–राजनीतिक अभिकर्ता मालकम ने भी उनकी चिकित्सा के लिए प्रबन्ध किया और उनके स्वास्थ्य के विषय में अंग्रेजी सरकार को भी सूचना दें दी।

प्रत्यक्ष उपायो अथवा पौरूष के निष्फल हो जाने पर मनुष्य अदृश्य परमात्मा को ही अपना आश्रय समझने लगता है। अतः महाराज गंगाधर राव की सुस्वास्थ्य की कामना के लिए भी पूजा, होम जप अनुष्ठान आदि कराये गये। नवम्बर के तीसरे सप्ताह में महाराज की दशा दत्यन्त दयनीय हो गयी। उनके जीवित रहने की आशा जाती रही।

अन्त में प्रधानमंत्री नरसिंह राव तथा मोरोपन्त ने राज्य के विषय में उनके विचार पूछे, तो वह (गंगाधर राव) बोले–''भले ही मुझे अभी तक आशा है कि मैं बच जाऊँगा, फिर भी में धर्मानुसार दत्तक पुत्र लेना चाहता हूँ। हमारे घराने में

वासुदेव नेवालकर का आनन्द राव नामक एक पुत्र है, उसे गोद ले लेना चाहिए।" आनन्द राव उस समय पांच वर्ष का बालक था। इसके लिए रानी लक्ष्मीबाई भी सहमत हो गयी। अतः गोद लेने का दिन निश्चित कर लिया गया और उस दिन झाँसी के राजदरबार में पण्डित विनायक राव ने पूर्ण धार्मिक नीति से दत्तक विधान सम्पन्न कराया। इसके पश्चात दत्तक का नाम आनन्द राव से बदलकर दामोदर गंगाधर राव रख दिया गया। महाराज ने स्वयं उसका राज कुल की परम्परा के अनुसार स्वागत किया। दत्तक विधान के सम्पन्न होते समय दरवार में सभी मन्त्री सभासद, राज्य के कई प्रतिष्ठित पुरूष, बुन्देलखण्ड के उपराजनीतिक अभिकर्ता मेजर एलिस तथा स्थानीय अंग्रेज सेना का अधिकारी कप्तान मार्टिन आदि उपस्थित थे।

जिस समय महाराज ने उक्त पुत्र गोद लिया, उसी समय उन्होंने स्वयं बोलकर अंग्रेज सरकार के लिए एक सूचना पत्र लिखाया। लिखते समय उपर्युक्त सभी व्यक्ति वहाँ पर उपस्थित थें। यह पत्र निम्नलिखित शब्दो में लिखा गया था–

"बुन्देलखण्ड में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने से पूर्व मेरे पूर्वजों ने अंग्रेजी सरकार की जो सेवा की, उसे सारा यूरोप जानता है। मैं स्वयं भी जिस प्रकार यथाशक्ति सरकार की प्रत्येक आज्ञा का पालन करता हूँ इसके विषय में सभी राजनीतिक अभिकर्ता परिचित ही हैं। अब एक असाध्य रोग से पीड़ित होने के कारण मुझे भय है कि मेरे वंश के नष्ट होने का समय आ गया है मैं सदैव ब्रिटिश सरकार का सच्चा सेवक रहा हूँ तथा उसकी भी मुझ पर कृपादृष्टि रही हैं। अतः मैं सरकार का ध्यान उस सन्धि की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ , जो मेरे पूर्वजों के साथ हुई थी। इस सन्धि के अनुसार मैंने एक पाँच वर्षीय बालक आनन्द राव को गोद लेकर उसका नाम दामोदर गंगाधर राव रख दिया है। यह बालक मेरे ही वंश का है और

सम्बन्ध में मेरा पोता लगता है। मुझे यह भी आशा है कि ईश्वर की कृपा तथा सरकार बहादुर की दयादृष्टि से मैं शीघ्र नीरोग हो जाऊँगा। मेरी अवस्था के विचार से यह भी बहुत सम्भव हैं कि भविष्य में कभी मेरी कोई अपनी सन्तान हो जाए। यदि ऐसा हुआ, तो उसी समय पुनः विचार कर लिया जाएगा। किन्तु इस समय मैं इस रोग से न बच सका, तो जिस प्रकार मैं सरकार की उत्तम व्यवहार के साथ सेवा करता आया हूँ, उस पर समुचित रूप से ध्यान रखते हुए उस अल्पावस्था के बालक पर भी सरकार की दया–दृष्टि उसी प्रकार बनी रहें, जैसी मुझ पर रही है। जब तक मेरी पत्नी जीवित रहे, वही इस राज्य की स्वामिनी तथा इस बालक की माँ समझी जाए। समस्त राज्य व्यवस्था उसके हाथों में उसी प्रकार रहें, जिससे मेरे बाद उसे किसी प्रकार का कष्ट न हो।"[11]

इस पत्र को लिखाने के बाद महाराज ने इसे मेजर एलिस को दिया और उससे बार–बार आग्रह करते हुए पूर्व सन्धि की दूसरी धारा की याद दिलायी, जिसमें स्पष्ट लिखा था कि झाँसी का राज्य वंश–परम्परागत रूप में चलता रहेगा। पत्र को देते समय महाराज का गला भर आया, तब मेजर एलिस ने अत्यन्त विनम्रता से उत्तर दिया–"महाराज आपका सूचना पत्र सरकार के पास भेजकर इसके लिये मुझसे जो भी प्रयत्न हो सकेगा, मैं अवश्य करूंगा।"

जिस समय महाराजा गंगाधर राव ने गोद लेने सम्बन्धी सूचना–पत्र मेजर एलिस को दिया, बोलने के कारण वे बेहोश हो गए। मेजर एलिस और कप्तान मार्टिन ने उन्हें दवा दी तथा अपने निवास पर चले गये। महारानी लक्ष्मीबाई पति के पलंग के पास ही परदे के पीछे बैठी हुई थी। अंग्रेज अधिकारियों के चले जाने पर वह पति के पास आयी। उस समय उनकी मनोदश क्या रही होगी, इसकी कल्पना भर की जा सकती है। मेजर एलिस ने बुन्देलखण्ड़ के राजनीतिक अभिकर्ता को उसी

समय राजा गंगाधर राव का समस्त विवरण लिख भेजा। [12]

महाराज को औषधि दी गयी, जिससे उन्हें कुछ तात्कालिक लाभ हुआ। वह कुछ देर के लिए सो गये। दोपहर बाद जब लगभग 4 बजे महाराज ने आँखे खोली तो राजमहल के बाहर विशाल जनसमुदाय एकत्र हो गया था, यह घटना 20 नवम्बर, 1853 ई. की है। सभी लोग स्वास्थ्य के विषय में जानना चाहते थे। मेजर एलिस ने भी महाराज को बचाने के लिए काफी भाग–दौड़ की, वह अंग्रेज डॉक्टर एलन को उपचार के लिए लाया, किन्तु महाराज ने अंग्रेजी दवा लेना अस्वीकार कर दिया। वस्तुतः उस समय उच्च कुलीन हिन्दू अंग्रेजी दवाओं का प्रयोग नहीं करते थे। 21 नवम्बर, 1853 को महाराज की नाड़ी की गति अत्यन्त मन्द पड़ गयी शरीर ठण्डा पड़ने लगा और अन्ततः वह चल बसे। इससे सारा राज्य शोक में डूब गया। मेजर एलिस, कप्तान मार्टिन भी शोक सूचक वस्त्रों में शवयात्रा में सम्मिलित हुए, दाह–संस्कार से लौटने पर एलिस आदि अंग्रेज अधिकारी लक्ष्मीबाई के पास गये और उन्हें सांत्वना देकर चले गये।

महाराजा गंगाधर राव स्वर्गवासी हो गये। समाज के लोगों ने लक्ष्मीबाई को सांत्वना देकर औपचारिकता पूरी कर ली, किन्तु उस नारी के हृदय की वेदना को कौन समझ सकता है, जो अपने जीवन के अठारह वर्ष पूर्ण होते ही विधवा हो गयी थी। वह एक सामान्य स्तर के ब्राह्मण की पुत्री थी। संयोग से अथवा पुरूष जाति के एकाधिकार से वह बाल्यावस्था में ही एक प्रौढ़ की रानी बनीं। रानी बनने पर भी एक स्त्री के रूप में क्या मिला ? विवाह के प्रायः ग्यारह वर्ष बाद वैधव्य।

पति के देहांत के बाद से रानी की दिनचर्या इस प्रकार हो गई–

वह नित्य प्रातः काल चार बजे स्नान करके आठ बजे तक महादेव का पूजन करती और उसी समय गवईये भजनगायन सुनाते। फिर ग्यारह बजे तक

महल के समीपवर्ती खुले आँगन में घोड़े की सवारी, तीरंदाजी, नेजा चलाना, दौड़ते हुए घोंड़े पर चढ़े–चढ़े दाँतो से लगाम पकड़कर दोनो हाथो से तलवार भाँजना, बंदूक से निशाना लगाना, मलखंब, कुश्ती इत्यादि करती थीं और अपनी सहेलियों तथा नगर से आने वाली कुछ स्त्रियों को ये सब काम सिखाती थी। इनमें भाऊ बख्शी की पत्नी प्रमुख थी और बहुधा आने वालों में झलकारी कोरिन। [13]

ग्यारह बजे के उपरांत रानी फिर स्नान करती और भूखो को खिलाकर तथा कुछ दान धर्म करके तब भोजन करती। भोजन के उपरान्त थोड़ा सा विश्राम। फिर तीन बजे तक ग्यारह सौ रामनाम लिखकर आटे की गोलियाँ मछलियों को खिलाती। उस समय वह किसी से बातचीत नहीं करती थी और ना ही कोई उस समय उनके पास बैठ सकता या आ सकता था। वह किसी गूढ़ चिंतन, किसी गूढ़ विचार में निमग्न रहती थी। तीन बजे के उपरान्त संध्या तक फिर वे ही व्यायाम और कसरते–शरीर को फौलादी बनाने की क्रियाएँ।

संध्या के उपरान्त आठ बजे तक कथावार्ता, पुराण, भगवद्गीता का अठारहवाँ अध्याय और भजन सुनती। इसके बाद एक घंटा आगंतुकों को भेट के लिये दिया जाता था। [14] इसके बाद रानी तीसरी बार स्नान करती। इसके बाद थोड़े समय तक इष्टदेव का एकांत ध्यान किया करती थी। फिर भोजन। पश्चात् सुन्दर, मुंदर और काशीबाई के साथ थोड़ा सा वार्तालाप और फिर ठीक दस बजे शयन। वह समय की बहुत पाबंद थी। शिथिलता तो छूकर नहीं निकली थी।

यहाँ तक की घटनाओं को वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई के जीवन का पूर्व चरित्र कहा जा सकता है। इसके बाद की घटानाओं में वह एक वीर योद्धा के रूप में सामने आती है। उनका यही दूसरा रूप इतिहास का एक अविस्मरणीय गौरवमय अध्याय है।

(2) रानी लक्ष्मीबाई की कर्मस्थली झाँसी राज्य का इतिहास

मध्य भारत में बुन्देलखण्ड का इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। अंग्रेजों के काल में बुन्देलखण्ड में झाँसी सहित अनेक देशी राज्यों का अस्तित्व था। इस क्षेत्र का नाम बुन्देलखण्ड क्यों पड़ा, इस विषय में निर्विवाद रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी एक कहानी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, जो इस प्रकार कही जाती है– प्राचीनकाल में काशी में क्षत्रियों का राज्य था। कालक्रम से एक बार वहाँ पंचम नामक एक क्षत्रिय नरेश था। उसके भाइयों ने उसके विरूद्ध षडयन्त्र कर उसे राज्यविहीन कर दिया। दुःखी होकर पंचम विन्ध्याचल चला गया। उसके व्यथित मन को वहाँ अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई। वह विन्ध्याचलवासिनी माँ दुर्गा के मन्दिर में जाकर अपने खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए तपस्या करने लगा। बहुत लम्बे समय तक तप करने के बाद भी जब उसे माँ दुर्गा के दर्शन नहीं हुए तो वह उद्विग्न हो उठा। अतः उसने आत्म–घात करने के लिये दुर्गा की मूर्ति के समक्ष अपना सिर काट दिया। उसके इस त्याग से माँ दुर्गा प्रसन्न हो गयी। उन्होंने उसे पुनर्जीवित कर दिया तथा वरदान मांगने को कहा। पंचम को इसकी प्रतिक्षा थी। उसने वरदान मांगा– "माँ! मुझे मेरा खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त हो जाए।" [15]

'तथास्तु' कहकर भगवती अन्तर्धान हो गयी। कुछ ही दिनों बाद पंचम ने अपना खोया हुआ राज्य वापस प्राप्त कर लिया। कहा जाता है, जिस समय उसने अपना सिर काटकर भगवती को चढ़ाया, उस समय उसके रक्त के कुछ बिन्दु भगवती की मूर्ति पर जा पड़े। अतः भगवती ने उसे 'बिन्दुल' कहकर सम्बोधित किया। इसी बिन्दुल शब्द से पंचम के वंशज कालान्तर में बुन्देला कहे गये। और इस क्षेत्र का नाम बुन्देलखण्ड पड़ गया।

राजा गंगाधर राव झाँसी के राजा थे। उनका यह राज्य राजधानी

झाँसी के नाम पर झाँसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। गंगाधर राव स्वयं मराठा ब्राह्मण थे, तब वह मध्य भारत कैसे आ पहुचें ? उन्हें इस राज्य की प्राप्ति कैसे हुई ? रानी के काल में झाँसी राज्य की परिस्थितियाँ कैसी थी ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान हेतु झाँसी राज्य के संक्षिप्त इतिहास का परिचय देना अप्रासंगिक न होगा। यही परिचय आगे चलकर शोध–ग्रन्थ की चरित्र–नायिका के अंग्रेजों के विरूद्ध संग्राम का औचित्य भी सिद्ध करेगा ।[16]

किसी भी क्षेत्र का इतिहास उसके भूगोल के सामान्य ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता है। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के इतिहास को समझने के लिये उनकी कर्मभूमि बुन्देलखण्ड़ की भौगोलिक पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक हैं। संक्षेप में, बुन्देलखण्ड की महत्वपूर्ण भौगोलिक विशेषतायें अग्रलिखित हैं :–

बुन्देलखण्ड को 'भारत का हृदय' माना जाता है। इसको बिन्ध्य पर्वतमाला प्राप्त है और यह पर्वतो का एक समतल नीचा पठार है, जो भारत के मध्य में कर्क रेखा पर स्थित है।[17]

बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध कवि एवं यशस्वी लेखक श्री वियोगी हरि ने निम्नलिखित पंक्तियों में बुन्देलखण्ड़ की सीमा निर्धारित की है:

''इत यमुना उत नर्मदा, इत चम्बल उत टोस।
छत्रसाल सों लड़न की, रही न काहू होस।।''

यद्यपि, उक्त दोहा छत्रसाल के राज्य की सीमा से सम्बन्धित है, परन्तु इतिहास में सुविख्यात है। उक्त दोहे के अनुरूप अन्य स्रोतो से भी ज्ञात होता है कि बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक सीमायें उत्तर में यमुना, दक्षिण में नर्मदा, पूर्व में टोस और पश्चिम में चम्बल से निर्धारित होती थी/हैं।

बुन्देलखण्ड का क्षेत्रफल लगभग 2 लाख वर्ग किमी के क्षेत्र में

विस्तृत है। बुन्देलखण्ड़ में उत्तर प्रदेश के 7 जिले–झाँसी, ललितपुर, जालौन, बाँदा, चित्रकूट; हमीरपुर, महोबा, तथा मध्य प्रदेश के 16 जिले–दतिया, मुरैना, ग्वालियर, भिण्ड, शिवपुरी, टीकमगढ़, सागर, दमोह, गुना, सतना, पन्ना, छतरपुर, जबलपुर, विदिशा, रायसेन, नरसिंहपुर सम्मिलित हैं।[18]

धरातल एवं भूमि की दृष्टि से बुन्देलखण्ड़ में विविधता है। यहाँ, ऊँचे –ऊँचे पहाड़, छोटी–छोटी पहाड़ियाँ, पठार, नदियाँ, हरे–भरे वन एवं विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ मिलती है। बुन्देलखण्ड का अधिकांश भाग पठारी है। इसका प्राकृतिक सौन्दर्य बिन्ध्याचल पर्वत की श्रेणियों से अधिक समुज्जबल प्रतीत होता है। इसका ढाल दक्षिण से उत्तर की ओर हैं। सतपुडा, स्वर्णगिरि और हंस अन्य महत्वपूर्ण पर्वतमालायें है। बुन्देलखण्ड़ की प्रमुख नदियों में बेतवा, धसान, यमुना, चम्बल, नर्मदा, मन्दाकिनी, सिंध और टोस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बुन्देलखण्ड की मृदा को चार वृहद विभागो में विभाजित किया जा सकता है, यथा मार, कावर, पडुआ और राकड़। मार मिट्टी का रंग काला होता हैं, यह चिकनी अधिक होती हैं। जिसके कारण नमी अधिक दिनो तक रहती हैं, इसमें गेहूँ अधिक पैदा होता हैं। कावर मिट्टी काली व कड़ी होती हैं । यह पानी अधिक चाहती है, इसमें चना ज्वार अधिक पैदा होता हैं। पडुआ मिट्टी का रंग सफेदी मिला पीला होता है, यह भी पानी अधिक चाहती हैं। इसमें गेहूँ, ज्वार, बाजरा, गन्ना, सोयाबीन व मसूर पैदा होती हैं। राकड़ मिट्टी में कंकड़ों की अधिकता होती हैं तथा कड़ी होती हैं। यह जोतने पर भी नहीं जुतती। यह नदियों के किनारे पायी जाती हैं। इसमें कुछ पैदा नहीं होता हैं। इसमें झाड़ियाँ मिलती हैं।[19]

बुन्देलखण्ड में गर्मी, वर्षा और सर्दी तीनो ही मौसम होते है। सामान्यतः यहाँ की जलवायु शुष्क और स्वास्थ्यवर्धक है। परन्तु गर्मी का मौसम अधिक निर्दयी

है जो कि सम्भवतः वृक्षो की कमी तथा नंगी चट्टानों एवं अनुपजाऊ मैदानो के विकिरणों से सम्बन्धित किया जा सकता है। गर्मी के मौसम में पेयजल का अभाव रहता हैं। बुन्देलखण्ड़ की गर्मी की मौसम की राते अत्यधिक शीतल, सुखद एवं सुहावनी होती हैं। यहाँ पर खाद्यान्न अच्छी मात्रा में होते हैं, जैसें–चावल, गेहूँ , ज्वार, मोटे अनाज, कपास, दालें, तिलहन। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनचांग ने सन् 1642 ई. के लगभग बुन्देल भूमि के सम्बन्ध में कहा था– '' The Soil was rich, the crops abundent and pulse and wheat were products.''

बुन्देलखण्ड में पर्याप्त जैव विविधता दिखाई देती है। भंयानक विषधर सर्पो, आरण्य महिषों और सिंहो से लेकर साधारण जन्तु तक यहाँ पाये जाते हैं। बुन्देलखण्ड में नर्मदा तट नदी पर बसी हुई महिष्मती नगरी से दूर बेतवा के तट पर बसे हुये ओरछा नगर तक सहस्रों वन उपवन हैं। यहाँ के प्रत्येक जनपद और तहसील में जलाऊ और इमारती लकड़ी प्राप्त होती है। इस प्रदेश में लगभग 2500 वृक्षो की जातियाँ विद्यमान हैं।[20] यहाँ के वनों में वृक्षो, खाद्य एवं सुगन्ध युक्त फल–फूल, छाल, रस, पत्तियाँ, जड़ी–बूटियाँ मनुष्य के लिये सदैव उपलब्ध रहती है।

बुन्देलखण्ड़ की भूमि रत्नगर्भा हैं। भूमि रत्नगर्भा होने के अनेकों प्रमाण हैं। पन्ना की हीरे की खानें तो इसके ज्वलंत प्रमाण है। इस भूमि के नीचे अनेकों खनिज दबे पड़े होगे। यदि शासन इस ओर ध्यान दे, यदि भूगर्भशास्त्री इस ओर ध्यान आकृष्ट करे, तो उन्हें खनिज सम्बन्धी जानकारी प्राप्त हो सकती हैं, और विपुल खनिज ज्ञान हो सकता है, विगत वर्षो में होने वाले सर्वेक्षणों से ज्ञात हुआ है कि इस क्षेत्र में विपुल खनिज भण्डार है। खनिजों के उत्खनन की योजना से बुन्देलखण्ड की जनता की बेरोजगारी दूर हो सकती है, वहीं, देश आर्थिक प्रगति कर सकता हैं।

बुन्देलखण्ड की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है, तथा उसे कठिन परिश्रम करना पड़ता है। पत्थरों को खानों से निकालना, जंगलों से लकड़ी काटना, वस्त्र बनाना व रंगना, चूना तैयार करना आदि ऐसे कार्य हैं, जिन्हे यहाँ का मनुष्य लघु उद्योगो के रूप में कार्यान्वित करता है। बड़े उद्योगो की दृष्टि से बुन्देलखण्ड बहुत पिछड़ा हुआ हैं। [21]

इस क्षेत्र के अधिकांश भाग में बोली जाने वाली सामान्य भाषा 'बुन्देलखण्डी' हैं, जो हिन्दुस्तानी के बहुत समीप है और जिसकी लिपि 'देवनागरी' हैं। सदर बोर्ड ऑफ रेवेन्यू, नार्थ वेस्ट प्रातिन्सेज के एक वरिष्ठ सदस्य आर. एम. वर्ड की यह टिप्पणी उल्लेखनीय है– ''सम्पूर्ण प्रदेश में बिल्कुल विशुद्ध हिन्दुस्तानी बोली जाती है या कम से कम उस भाग में जिसका मैने भ्रमण किया। .... मुझे दिखाये गये स्थानीय लेख देवनागरी में थें।''

भौगोलिक विशेषताओं के कारण बुन्देलखण्ड की प्रकृति बहुत ही विविधतापूर्ण तथा भारत जीवन के लिये बहुत ही रमणीय एवं अनुकूल है। यह आबादी और क्षेत्रफल में भारत के अनेक प्रान्तो से आगे हैं। परन्तु, अंग्रेजी शासन द्वारा यह प्रदेश उपेक्षित रहा है। आज भी शासन ने बुन्देलखण्ड़ को नया प्रान्त नहीं बनाया। यह वैभवशाली प्रदेश दो सरकारो द्वारा शासित किया जाता हैं। इसके सात जिले उत्तर प्रदेश सरकार में सम्मिलित है और बाईस जिले मध्य प्रदेश सरकार मे सम्मिलित है। बुन्देलखण्ड़ प्रत्येक क्षेत्र में अविकसित और उपेक्षित है और सरकार द्वारा उपेक्षित दृष्टि से देखे जाने के कारण प्रगति के पथ पर अग्रसर नही हो पाया है। [22]

बुन्देलखण्ड़ की वीर प्रसविनी तथा रत्नगर्भा भूमि अपने अंचल में अतीत की ऐतिहासिक घटनाओं, परम्पराओं, सांस्कृतिक चेतनाओं, रीति–रिवाजों तथा

वैभवशाली गाथओं को समेटे हुये है। बुन्देलखण्ड़ का प्राचीन नाम 'दशार्ण' था। वैदिक काल में इसे "असर पुनीत" कहा जाता था।

पौराणिक काल में इसी भूमि का नाम "जैजाकभुक्ति" और "चेदि" था। अंगुत्तर निकाय से ज्ञात होता है कि महाजनपद काल मे "चेदि" महाजनपद की गणना षोडश महाजनपदो में थी। आधुनिक बुन्देलखण्ड और उसका समीपवर्ती प्रदेश इसके अन्तर्गत था। जातकों में वर्णित सोत्थवती यहीं नगरी थी। चेदि राज्य का उल्लेख महाभारत में भी आता है। शिशुपाल यहीं का राजा था। उल्लेखनीय है कि चेदि नरेश शिशुपाल ने कृष्ण की सर्वमान्य सत्ता को चुनौती दी थी।

सर्वमान्य सत्ता के समक्ष बुन्देलखण्ड के शासकों द्वारा चुनौती प्रस्तुत करना–बुन्देलखण्ड के इतिहास की एक महत्वपूर्ण विशेषता हैं। मध्यकालीन भारत में मधुकरशांह ने अकबर की तथा चम्पतराय ने औरगंजेब की सर्वमान्य सत्ता को चुनौती दी थी। आधुनिक भारत में सन 1857 में अंग्रेजों की सर्वमान्य सत्ता को झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने गम्भीर चुनौती प्रस्तुत की थी। [23]

मौर्यकालीन बुन्देलखण्ड में गुर्जरा और विदिशा का उल्लेख समीचीन होगा। गुर्जरा अभिलेख (म. प्र. के दतिया जिलें) से देवानां प्रिय एवं प्रियदर्शी सम्राट का मूल नाम अशोक ज्ञात होता हैं। दीपवंश, महावंश और सामन्त पासादिका के अनुसार अशोक प्रान्तीय शासक के रूप में जब उज्जैन जा रहा था। वह मार्ग में विदिशा में रूका जहाँ उसने एक श्रेष्ठ की पुत्री 'देवी' के साथ विवाह कर लिया। महाबोधिवंश में उसका नाम 'विदिश–महादेवी' मिलता है तथा उसे शाक्य जाति का बताया गया है। उसी से अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा का जन्म हुआ था। और वही उसकी पहली पत्नी थी।

प्रारम्भिक स्तूपों में साँची का स्तूप समूह (म. प्र. के रायसेन जिले में

स्थित) प्रसिद्ध हैं। साँची में एक बड़ा एवं दो छोटे स्तूप है। मार्शल के अनुसार महास्तूप का निर्माण अशोक के शासनकाल में हुआ था। यह ईटों का बना था जिसके चारों ओर लकडी की बाढ़ (Raillings) लगाई जाती थी। इसमें महात्मा बुद्ध के अवशेष है। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में महास्तूप का आकार दुगुना कर दिया गया। लकड़ी की बाढ़ के स्थान पर नौ फीट ऊँची पत्थर की चारदीवारी बनवायी गयी। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के अन्त में चारो ओर चार भव्य तोरणों का निर्माण किया गया। वस्तुतः यहाँ के तोरण अत्यन्त सुन्दर, कलापूर्ण एवं आकर्षक हैं और वे इतिहास में अपनी सानी नहीं रखते है। [24]

शुंगकाल में बुन्देलखण्ड में शुंग नरेश भागभद्र का शासन था। एन्टियालकीड्स तक्षशिला का शासक था। जिसने शुंगनरेश भागभद्र के विदिशा स्थित दरबार मे हेलियोडोरस नामक अपना एक राजदूत भेजा था। बेसनगर (विदिशा) से प्राप्त हेलियोडोरस का गरूड़ स्तम्भ शुंगकला का एक सुन्दर नमूना है। हिन्दू धर्म से सम्बन्धित यह प्रथम प्रस्तर स्मारक है। [25]

गुप्तकालीन मन्दिरों में देवगढ़ (ललितपुर, उ.प्र.) का दशावतार मंदिर सर्वाधिक सुन्दर है, जिसमें गुप्त मंदिरों की सभी सामान्य विशेषतायें प्राप्त होती हैं। मंदिर के गर्भगृह का प्रवेश द्वार आकर्षक तथा कलापूर्ण है। मंदिरो की दीवारों पर शयन करते हुये भगवान विष्णु, नर नारायण, गजेन्द्र मोक्ष आदि के सुन्दर दृश्य उत्कीर्ण हैं। सर्वप्रथम, इसी मंदिर में शिखर बनाया गया था। इस प्रकार देवगढ का मंदिर गुप्तकाल के उत्कृष्ट वास्तु का नमूना है। इसके अनेक तत्वों को बाद में ग्रहण किया गया है ।

राजपूतकाल में चन्देल राजाओं नें बुन्देलखण्ड के गौरव को राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से शिखर पर पहुँचाया। चन्देल वंश में धंगदेव, विद्याधर,

मदनवर्मन और परमर्दिदेव जैसे प्रसिद्ध राजा हुये। धंगदेव ने अपनी राजनैतिक सत्ता का विस्तार बुन्देलखण्ड के बाहर कन्नौज, प्रयाग और बनारस क्षेत्रो को जीतकर किया। उसने अपनी राजधानी कालिंजर से बदलकर खजुराहो में स्थानान्तरित की। उसके बाद चन्देलों की राजधानी खजुराहों में ही रही। धंग केवल महान विजेता ही नहीं था, अपितु कुशल प्रशासक तथा कला एवं संस्कृति का उन्नायक भी था। उसके सुशासन में चन्देल साम्राज्य के गौरव में अद्‌भुत वृद्धि हुई। [26]

धंग एक महान निर्माता था जिसने खजुराहो में अनेक भव्य मन्दिरो का निर्माण करवाया। इनमें जगन्नाथ, विश्वनाथ, बैद्यनाथ आदि मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है।

धंगदेव के पश्चात् गण्ड और उसके पश्चात उसका पुत्र विद्याधर (1017—1029) शासक बना। वह चन्देल शासकों में सर्वाधिक शक्तिशाली था। महमूद गजनवी ने 1018 ई. में कन्नौज के प्रतिहार राजा राज्यपाल पर आक्रमण किया। राज्यपाल को दंडित करने के उद्वेश्य से विद्याधर ने कन्नौज पर आक्रमण कर राज्यपाल को मार डाला। [27] उसने राज्यपाल के स्थान पर उसके पुत्र त्रिलोचनपाल को कन्नौज का राजा बनाया जिसने विद्याधर की अधीनता स्वीकार की। इस कार्य से विद्याधर निश्चित रूप से भारतवर्ष का सबसे शक्तिशाली राजा माना जाने लगा। राजपूत राजाओं में एकमात्र विद्याधर ही था, जिसने महमूद गजनवी के समक्ष न केवल राजपूत शौर्य का परिचय दिया, बल्कि, उसके विजय अभियान को भी रोक दिया।

विद्याधर के बाद मदनवर्मा (1129—63 ई.) चन्देल वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली राजा हुआ। उसने चेदि नरेश, काशी नरेश तथा अन्य राजाओ को पराजित किया। चन्देलवंश का अन्तिम महान शासक परमर्दिदेव (1165—1203 ई.) हुआ। 1182 ई. में पृथ्वीराज चौहान ने परमर्दिदेव को युद्ध में पराजित किया। उस

युद्ध में चन्देल सेना के दो वीर नायक आल्हा और ऊदल वीरगति को प्राप्त हुये।

1203 ई. में कुतुबुद्दीन ने परमर्दिदेव को पराजित कर कालिंजर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। कालिंजर के दुर्ग में ही परमर्दिदेव की मृत्यु हो गई। परमर्दिदेव के साथ ही चन्देलों की स्वाधीनता का अंत हुआ। तेरहवीं सदी तक चन्देल राज्य का अस्तित्व बना रहा। अन्ततः 1305 ई. में इसे दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया। [28]

चन्देल काल मे कला की बड़ी उन्नति हुईं। इस काल का प्रधान केन्द्र खजुराहों था। यहाँ इस काल के लगभग 30 मदिर मिले हैं। इस मदिर का निर्माण अधिकांशतः धंग और विद्याधर के शासनकालों में हुआ था। इन मन्दिरो में शैव, वैष्णव और जैन मन्दिर हैं, परन्तु बौद्ध नहीं। ये मन्दिर अपनी वास्तुकला और स्थापत्य कला के लिये संसार भर में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि, यह स्थापत्य उड़ीसा के स्थापत्य की भाँति सुदृढ़ नहीं है, फिर भी यह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सजीव एवं आकर्षक है। खजुराहों के मंदिरों में सर्वाधिक सुन्दर कन्दरिया महादेव मन्दिर है। वैष्णव मन्दिरों में सर्वाधिक उत्कृष्ट चतुर्भुज का मन्दिर एवं जैन मन्दिरों में सबसे सुन्दर पार्श्वनाथ मन्दिर हैं। [29]

'जेजाक मुक्ति' में चन्देलों के पतन के पश्चात बुन्देलों का उदय एवं उत्कर्ष हुआ। बुन्देला राजपूतो के नाम पर इस प्रदेश का नाम 'बुन्देलखण्ड' पड़ा। बुन्देले स्वयं को काशी के गाहड़वार वंश सें सम्बन्धित मानते थे। [30]

सरदारो एवं शासको के रूप मे बुन्देले इतिहास में अपना महत्व रखते है। राष्ट्रीय भावना एवं विद्रोही प्रवृत्ति ने अन्य शक्तियों के लिये उनको अधिक समय तक अपने अधिपत्य में रखना कठिन कर दिया था। दिल्ली की मुस्लिम सत्ता के विरूद्ध बुन्देलखण्ड के राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिये दीर्घकाल तक संघर्ष किया।

बुन्देलों का उत्थान काल हेमकर्ण पंचम बुन्देला की नवीं पीढ़ी के सोहनपाल बुन्देला के छोटे से बुन्देला राज्य से प्रारम्भ होता है, जिसे उसने कुंडार के खंगारों को हराकर स्थापित किया था। इस प्रकार, संवत 1288 विक्रमी (सन 1231 ई.) के लगभग बुन्देलखण्ड की स्थापना हुई। इसके पश्चात् सोहनपाल से नवीं पीढ़ी में राजा रूद्रप्रताप संवत 1550 विक्रमी (सन् 1493 ई.) में सिंहासनारूढ़ हुये। [31] उन्होंने ओरछा के नगर एवं दुर्ग का निर्माण कर उसे राजधानी बनाया। उन्होंने बुन्देलखण्ड की स्वतंत्रता के लिये अपने प्राणो की बाजी लगा दी। उन्होंने लोदी शासकों से टक्कर ली तथा बाबर से युद्ध किया था।

सम्बत 1611 वि. (सन् 1554 ई.) में रूद्रप्रताप के पुत्र मधुकरशाह गद्दी पर बैठे। बुन्देल राजा मधुकरशाह बुन्देला का राज्य अकबर को तीर की भाँति चुभता था। अतः अकबर ने उसको नीचा दिखाने के लिये यह शाही फरमान जारी किया कि कोई भी भारतीय राजा तिलक लगाकर दरबार में सम्मिलित नहीं हो सकता। आज्ञा का उल्लंघन करने वाले का मस्तक गर्म लोहे से दाग दिया जायेगा। परन्तु सभी राजाओं के विपरीत, राजपूती परम्परा के अनुरूप मधुकरशाह तिलक लगाकर ही अकबर के दरबार में उपस्थित हुये। अकबर ने मधुकरशाह की निर्भीकता की भूरि–भूरि प्रशंसा की। [32]

मधुकरशाह की मृत्यु के पश्चात, उनके पुत्र एवं बड़ौनी के जागीरदार वीर सिंह देव ने राजगद्दी को सम्हाला।

झाँसी के प्राचीन इतिहास के विषय में विद्वानों को कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसका कुछ वर्णन सर्वप्रथम 1500 ई. से हुआ है। पहले यहाँ ओरछा नरेश वीरसिंह देव अथवा वीरसिंह का राज्य था। उनके शासन काल में झाँसी एक गाँव मात्र था। उन्होंने झाँसी में एक दुर्ग का निर्माण कराया था, जो आज भी भग्नावस्था

में अतीत की गौरवगाथा का साक्षी हैं। सन 1602 में राजा वीरसिंह देव ने अकबर के पुत्र शाहजादा सलीम (जो आगे चलकर मुगल सम्राट जहाँगीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ) के कहने पर अकबर के प्रख्यात सभासद अबुलफजल को युद्ध में मार डाला था। कूटनीति में चतुर अकबर ने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण कर दिया और युद्ध का सेनापति शाहजादा सलीम को ही बनाकर भेजा। मुगलों की विशाल सेना का सामना करने में स्वय को असमर्थ देख वीरसिंह देव ने शत्रु का प्रत्यक्ष सामना न करने में ही अपना हित समझा। वह पर्वतों की शरण में चले गए। फलतः बुन्देलखण्ड पर मुगलों का अधिकार हो गया। समय ने करवट बदली। अकबर की मृत्यु के बाद सलीम, जहाँगीर के नाम से सम्राट बन गया। उसने वीरसिंह देव को क्षमा ही नहीं किया अपितु 1605 ई. में उनका राज्य भी वापस कर दिया।

1627 ई. में शाहजहाँ भारत सम्राट बना। उसके साथ वीरसिंह देव के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण न रह सके, अतः उसने बुन्देलखण्ड का राज्य वीरसिंह देव से छीनकर 1642 ई. में मुगल साम्राज्य में मिला लिया। इसके लगभग पैंसठ वर्षों तक यहाँ मुगलों का ही शासन रहा। सन् 1707 में तत्कालीन मुगल सम्राट ने झाँसी की जागीर छत्रसाल को दें दी। छत्रसाल एक योग्य शासक सिद्ध हुए। उनकी प्रजा उनके कार्यो से प्रसन्न होकर उनका गुणगान करने लगी। कुछ ही समय में उन्होंने सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड पर अधिकार कर लिया। उनकी लोकप्रियता इलाहाबाद के नवाब मुहम्मद खाँ बगस तथा मालवा के सूबेदार को सहन नहीं हुई। वे जब तब छत्रसाल के साथ वैर लेने लगे, किन्तु छत्रसाल के सामने उन्हें सदा मुँह की खानी पड़ी। [33]

उक्त दोनों शत्रु छत्रसाल को किसी भी प्रकार अपने अधीन करना चाहते थे। तभी मालवा के सूबेदार ने उनके पास एक सन्देश भिजवाया जिसमें कहा गया था कि वह (छत्रसाल) उसे कर देना स्वीकार कर ले, अन्यथा उन्हें इसका

भंयकर परिणाम भुगतना पड़ेगा। स्पष्ट है कि यह सन्देश, सन्देश न होकर एक खुली धमकी थी। भला परम स्वाभिमानी वीर छत्रसाल इसे कैसे स्वीकार करते। उन्होंने इस सन्देंश के उत्तर में मालवा के सूबेदार को लिखा–"मेरा यह देश देवगढ़ या दक्षिण के नरेंश का राज्य नहीं है, जो की तुम मुझे हराकर लूट ले जाओगे। मेरा राज्य वह चन्दाबाद का नगर भी नहीं है, जिसके बडे–बड़े महलो पर तुमने अधिकार कर लिया था। न ही मे कोई व्यापारी हूँ, जो तुम्हारी धमकियों से डर जाऊँगा। न मेरा देश कोई देव–मंदिर है, जहाँ तुम जूते सहित अन्दर भी चले जाते हो , तो वहाँ के पुजारी अपमान को चुपचाप सहन कर लेते है। मैं महाराज चम्पतराय का पुत्र हूँ। मैं युद्ध में तुम्हारे साथ जब चाहो दो–दो हाथ करने को तैयार हूँ। यदि तुमने मुझसे युद्ध किया तो मुझसे कर मांगना तो दूर, उलटे तुम्हें ही मुझे चौथ देनी पड़गी।"[34]

कविवर भूषण ने इस पत्र का वर्णन अपनी वीरतापूर्ण कविता में इस प्रकार किया हैं –

देवगढ़ देश नही दक्षिण नरेश नहीं,
चांदाबाद नहीं जहाँ घने महल पाइहों।
सौदागर सान नही देवन को थान नही,
जहाँ तुम पाहुन लै बहु उठि धाइहों।
मैं तो सुत चम्पत को युद्ध बीच लौहों हाथ,
यही जिय जानि उल्टि चौथे दे पठाइहों।
लिखा परवाना महाराज छत्रसाल जू ने,
औरन के धोखे यहां कबहूं न आइहों।।

इस उत्तर को पाकर मालबा का सूबेदार आग बबूला हो उठा। इसे उसने अपना अपमान समझा। उसने छत्रसाल को इसका सबक देने की ठान ली वह

अकेले उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। अतः उसने इलाहाबाद के नबाव से सहायता माँगी तथा मुगल सम्राट को भी सहायता देने के लिए सहमत कर लिया। अपनी तथा इन दोनों की विशाल सेनाएँ लेकर वह छत्रसाल पर चढाई करने के लिए चल पड़ा ।[35]

छत्रसाल समझ गये कि शत्रु की विशाल सेना का सामना करना कठिन कार्य है, अतः महाराष्ट्र नरेश छत्रपति साहू के पेशवा बाजीराव प्रथम को पत्र लिखकर उनसे सहायता माँगी। उन्होंने अपने इस पत्र में लिखा– ''आपके सनातन धर्म, गौ, ब्राह्मणों की रक्षा के लिए ही मैंने यह युद्ध अपने ऊपर लिया हैं। उधर सम्राट की पूर्ण शक्ति और इधर मैं अकेला, मैं केवल धर्म के ही सहारे खड़ा हूँ, यदि ऐसे समय में आप मेरी रक्षा नहीं करेगे, तो आपके लिए भी सनातन धर्म की रक्षा करना कठिन हो जाएगा।''

कहा जाता है कि छत्रसाल ने यह पत्र एक सौ दोहो में लिखा था जिसमें निम्न दोहा विशेष उल्लेखनीय है–

जो गति ग्राह गजेन्द्र की सो गति भई है आज।

बाजी जात बुन्देल की राखो बाजी लाज।।

अर्थात् जो दशा ग्राह से गजेन्द्र की हो गई थी, वैसी ही दशा आज मेरी भी हो गयी है। आज बुन्देला छत्रसाल अपने जीवन की बहुत बड़ी बाजी हार जाएगा, अतः हे बाजीराव मुझे अपमानित होने से बचा लो।

पेशवा बाजीराव ने छत्रसाल को ऐसी दुख की घड़ी में सहायता देना पुनीत कर्तव्य समझा। उहोंने छत्रसाल को उत्तर देते हुए लिखा–धर्म की रक्षा के लिए हम आपकी सहायता करेंगे। आप तो स्वयं वीर हैं, अतः आप स्वयं ही दिल्ली साम्राज्य को नष्ट करने में समर्थ हैं। कहा जाता है कि अपने इस उत्तर में बाजीराव

ने निम्नांकित दोहा भी लिखा था–

वे होगे छत्तपता, तुम होगे छत्रसाल।

वे दिल्ली की ढील तो, तुम दिल्ली ढाहन वाल।।

अर्थात वे तुम्हारे शत्रु यदि छत्तपता (छत डालने वाले) हैं, तो तुम छत्रसाल (छत्र को नष्ट करने वाले) हो। यदि वे दिल्ली की ढाल (सुरक्षा करने वाले) हैं तो तुम दिल्ली के अस्तित्व को मिटा देने वाले हो।[36]

पेशवा बाजीराव अपनी भारी सेना लेकर छत्रपति साहू की आज्ञा से बुन्देलखण्ड की ओर चल पड़े तथा लगभग 21–22 दिनों में बुन्देलखण्ड पहुँच गए। छत्रसाल और मराठा सेना का मुगलो की साठ हजार सेना के साथ भयकर युद्ध हुआ, जिसमे शत्रु की एक न चली। शत्रु समझ गये कि प्रतिपक्षी से और अधिक युद्ध करने का अर्थ अपना सर्वनाश करना हैं, अतः उन्होंने सन्धि करने में ही अपना हित समझा इस प्रकार मराठों की सहायता सें छत्रसाल शत्रु का मानमर्दन करने में समर्थ हुए। शत्रुओं ने उनसे सन्धि कर ली।[37]

इस सन्धि के बाद महाराज छत्रसाल ने पेशवा बाजीराव से पन्ना में भेंट की। पन्ना उस समय बुन्देलखण्ड की राजधानी थी। छत्रसाल ने वहाँ बाजीराव प्रथम का राज्योचित सम्मान किया तथा उनके इस उपकार के प्रति अपना कृतज्ञता व्यक्त की। इसके बाद पेशवा वापस महाराष्ट्र लौट गये। यही से मराठो के बुन्देलखण्ड में नये सम्बन्धो का सूत्रपात होता है। यद्यपि पेशवा बाजीराव ने छत्रसाल की सहायता निरपेक्ष भाव से की थी, फिर भी इस कृपा से छत्रसाल बाजीराव से अभिभूत हो गये थे।[38]

इस युद्ध के समय छत्रसाल प्रायः वृद्ध हो चले थे। बाजीराव प्रथम को इस सदांशयता के कारण वह अपने पुत्र के समान मानने लगे। अतः अपनी मृत्यु के

समय उन्होंने अपने राज्यों को तीन भागो में विभक्त कर दिया था। जिसमें से दो भाग अपने दोनों पुत्रों तथा तृतीय भाग बाजीराव प्रथम को दे दिया। यही से मध्य भारत में माराठा ब्राह्मणो के राजवंश की नींव पड़ती है।

पेशवा बाजीराव को मिले इस राज्य की तत्कालीन वार्षिक आय एक करोंड रूपयें थी।[39] मराठो की सत्ता का केन्द्र महाराष्ट्र होने से बुन्देलखण्ड के इस राज्य को बाजीराव ने अपने सीधे नियन्त्रण में नहीं रखा, अपितु इसके निम्नलिखित तीन भाग कर दिये।

सागर, गुलसराय, जालौन आदि क्षेत्र जिसकी वार्षिक आय उस समय चालीस लाख रूपये थी, गोविन्द पन्त बुन्देल को दे दिया गया, जो मराठा ब्राह्मण होते हुए भी बुन्देलखण्ड का राज्यपाल (सूबेदार) बनाये जाने के कारण बुन्देल कहा गया। पानीपत के तीसरे युद्ध में गोविन्द पन्त बुन्देल नजीब खां रूहेले से युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। बाद में उसके पुत्रों ने कालपी में अपने राज्य की स्थपना की और काफी पीछे तक उनके वंशज इस भूभाग पर राज्य करते रहे। इसके पश्चात इस राज्य को अंग्रेजी राज्य में मिला लिये जाने पर गोविन्द पन्त बुन्देल के वंशजों को तीन लाख की जागीर दें दी गयी। उनके वंशज आज भी गुरसराय (झाँसी) में रहते है।

पेशवा बाजीराव प्रथम की एक मुसलमान नर्तकी रखैल थी, जिसका नाम मस्तानी था। मस्तानी के प्रेम–प्रसंग के कारण उन्हें विवाद का विषय बनना पड़ा था। बाजीराव उसे अपनी रानी ही समझते थे। यद्यपि मराठा सरदार मस्तानी को पूर्ण सम्मान देते थे, फिर भी उनकी दृष्टि में वह बाजीराव की एक रखैल भर थी। यह समस्त प्रेम–कथा मराठा इतिहास का एक पृथक अध्याय है। मस्तानी से पेशवा बाजीराव का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, जिसका नाम शमशेर बहादुर था। उसकी

शिक्षा–दीक्षा पेशवा के अन्य पुत्रों के समान हुई। पेशवा की सभा में उसे वही सम्मान प्राप्त था, जो पेशवा के अन्य पुत्रों को। छत्रसाल से प्राप्त हुए इस राज्य का एक भाग, जिसमें कालपी और बाँदा के क्षेत्र आते थे, पेशवा ने शमशेर बहादुर को दे दिया। इस क्षेत्र की तत्कालीन वार्षिक आय चालीस लाख रूपये थी। सन् 1816 ई. तक इस क्षेत्र पर शमशेर बहादुर के ही वंशजों का अधिकार रहा। इसके बाद 1817 ई. में इस क्षेत्र को अंग्रेजों ने अपने राज्य में मिला लिया तथा राज्य के स्वामी को चार लाख रूपये वार्षिक की पेंशन नियत कर दी। शमशेर बहादुर कें वंशज आज भी मध्य प्रदेश में इन्दौर आदि स्थानों पर रहते हैं। [40]

उपर्युक्त 80 लाख के क्षेत्र के बाद बीस लाख आय का झाँसी का क्षेत्र शेष रह गया। पेशवाओं के अभिलेंखों से स्पष्ट नहीं होता कि सर्वप्रथम झाँसी का मराठा राज्यपाल किसे बनाया गया। सम्भवतः पहले गंगाधर पन्त को ही इस पद पर नियुक्त किया गया। एक बार उसका प्रतिनिधि मल्हार कृष्ण राज्य में कर लेने गया था, तो ओरछा के बुन्देलों ने उसे उसके दो पुत्रों सहित धोखे से मार डाला। इस पर क्रुद्ध होकर पेशवा ने ओरछा पर चढ़ाई कर दी। वहाँ का राजा बंदी बना लिया गया, राजमहल भूमिसात कर दिये गये तथा राजधानी में गधों से हल फिरवा दिया गया।

इसके बाद झाँसी का सूबेदार गोविन्दराव पन्त को बनाया गया। सन् 1742 में इस पद पर नारोशंकर मोतीवाले की नियुक्ति हुई। वह इस पद पर लगभग चौदह वर्षो तक रहा। बाद में उसने पेशवा के पास राज्य की आय का निश्चित भाग भेजना भी बन्द कर दिया, अतः 1757 में उसे वापस बुला लिया गया। उसके पेशवा को न जाने कैसे प्रभावित किया कि उसे एक उच्च पद दे दिया गया। वह सदा मूल्यवान मोतियों का हार पहनता था, अतः उसे मोतीवाले की उपाधि दी गयी। उसके कार्यकाल में सन् 1756 ई. में झाँसी में गुसाइयों ने विद्रोह कर दिया तथा उसे अपने

अधिकार में कर लिया। स्मरणीय हैं कि ये गुसाई पहले झाँसी के स्वामी रह चुके थे। कदाचित इसी विद्रोह के कारण नारोशंकर मोतीवाले को वापस बुला लिया गया था।

झाँसी में गुसाइयों के विद्रोह का दमन करने के लिए पेशवा ने एक वीर पुरूष रघुनाथ हरि नेवालकर को सूबेदार बनाकर झाँसी भेजा। रघुनाथ हरि नेवालकर ने इस विद्रोह को कुचल डाला। उसकी इस सफलता से प्रसन्न होकर पेशवा ने उसे झाँसी की सूबेदारी के साथ ही दस हजार वार्षिक की एक जागीर भी वंश–परम्परागत रूप में सदा के लिए दे दी। इन गुसाइयों के बुन्देलखण्ड में आनन्त, आमात, आख्यात और नागा नाम के चार मठ थे। ये मठ युद्ध में उनकी सहायता करते थे। रघुनाथ हरि ने इस व्यवस्था को समाप्त कर इन्हें झाँसी राज्य में मिला लिया ।

यही रघुनाथ हरि नेवालकर राजा गंगाधर राव के पूर्वज थें, जिन्हें सर्वप्रथम झाँसी का राज्यपाल बनाया गया। उनके पूर्व पूर्वज पहले महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के पावस नामक गाँव में रहते थे। उनमे कुछ व्यक्ति पेशवाओं का शासन आरम्भ होने पर खानदेश चले गये थे, जो बाद में पेशवा तथा होल्कर की सेनाओं में महत्वपूर्ण पदों पर रहे।

बुन्देलखण्ड में मराठों का अस्तित्व सुदृढ़ करने में रघुनाथ हरि नेवालकर की सहायता उनके दो छोटे भाइयों लक्ष्मणराव और शिवराव भाऊ ने भी की थी। वृद्ध हो जाने पर रघुनाथ हरि नेवालकर ने झाँसी की सूबेदारी शिवराव भाऊ को सौप दी और स्वयं वाराणसी चले गए। वहीं सन् 1796 में उनका देहान्त हुआ। [41]

जिस समय शिवराव भाऊ झाँसी के राज्यपाल बने, उस समय बाजीराव द्वितीय पेशवा थे, जो एक अयोग्य शासक सिद्ध हुए। उनके शासन में राज्यों में अव्यवस्था फैल गई। मराठा सरदार स्वतंत्र होने के लिए विद्रोह करने लगे। अंग्रेजों

ने इसे उचित अवसर देख उनके राज्य में हस्तक्षेप किया, जिसके परिणामस्वरूप बाद में पेशवा को अपना पद छोड़ना पड़ा। इसे देख शिवराव भाऊ का आशंकित होना स्वाभाविक था। अतः उन्होने भी पेशवाओ से सम्बन्ध–विच्छेद कर बुन्देलखण्ड के सभी शासको को अपने पक्ष में कर लिया, जिससे उनकी शक्ति काफी बढ़ गई। इसके साथ ही एक कुशल राजनीतिज्ञ की तरह उन्होंने समय को पहचानते हुए 6 फरवरी, 1804 को ब्रिटिश शासन के साथ एक सन्धि कर ली। इस सन्धि में स्पष्ट लिया है– "शिवराव भाऊ और अंग्रेजी सरकार परस्पर मित्र हैं। किसी भी प्रकार के संकट के समय उन्हें एक–दूसरे की सहायता करनी चाहिए।"

इस सन्धि के बाद बुन्देलखण्ड के अन्य नरेशों ने भी अंग्रेजी सरकार से मित्रतार्पूण सन्धियाँ की, जिससे इस क्षेत्र में ब्रिटिश राज्य के सुदृढ़ होने में बड़ी सहायता मिली।[42]

बुन्देलखण्ड में अंग्रेजी राज्य का उत्थान अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति का परिणाम था, जिसकी शुरूआत लार्ड क्लाइव ने की थी और जिसे उसके अनेक उत्तराधिकारियों ने उत्साह के साथ जारी रखा। किसी भी क्षेत्र में साम्राज्य विस्तार की अनुकूल परिस्थितियों को देखकर अंग्रेज उस पर अधिकार करने के लिये लालायित हो उठते थे तथा उसे प्राप्त करने के लिये कूटनीति और युद्ध दोनों का सहारा लेते थे। उन्नीसवीं सदी के बुन्देलखण्ड में भी साम्राज्य विस्तार हेतु अंग्रेजों के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं जिनका उन्होंने पूरा लाभ उठाया।

19वीं शताब्दी के आगमन से ही बुन्देखण्ड में सत्ता की लोलुपता के आवेग में पारस्परिक वैमनस्य बढ़ चुका था और यह कई टुकड़ो में बँट चुका था। बुन्देंले आपस में संगठित नहीं थे। उनकी एकता नष्ट हो चुकी थी। चारों ओर अराजकता एवं ईर्ष्या तथा भय का साम्राज्य था। 40–50 रियासतें एक–दूसरे से

वैमनस्य के कारण संगठित न हो सकी। उनमे उत्तराधिकार के झगड़े, गोद लेने के विवाद तथा राज्य का प्रबन्ध आदि समस्यायें अपना भंयकर रूप धारण किये थी। पेशवा के द्वारा सागर मुख्यालय में नियुक्त किये गये सूबेदार बल्लाल खरे और बुन्देलो के बीच सम्बन्धों में कटुता आ गयी थी। [43]

भौगोलिक, राजनैतिक तथा सामरिक स्थिति के कारण बुन्देलखण्ड अंग्रेजों के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण था। अतः उपरोक्त परिस्थितियों के परिपेक्ष्य में वे बुन्देलखण्ड पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का स्वप्न देखने लगे। दैवयोग से शीघ्र ही उन्हें पूना के पेशवा पद के विवाद के कारण यह सुअवसर भी प्राप्त हो गया।

बुन्देलखण्ड में अंग्रेजों के आधिपत्य का शुभारम्भ दो तरफ से हुआ एक तो हिम्म्त बहादुर गुसाई के द्वारा जिसने सबसे पहले 1803 ई. में अंग्रेजों से संधि की और दूसरे व्यक्ति थे– झाँसी के पेशवा–शिवराव भाऊ जिन्होने 1804 ई. में अंग्रेजों से संधि की। [44]

हिम्मतबहादुर का वास्तविक नाम अनूपगिरि था जो दतिया में उत्पन्न हुआ था। उसने अपने सैनिक जीवन का प्रारम्भ अवध के नवाब शुजाउद्दौला के यहाँ किया और बक्सर के युद्ध में उसने अंग्रेजों के विरूद्ध होने वाले युद्ध में ऐसा शौर्य एवं पराक्रम दिखलाया कि नवाब शुजाउद्दौला ने उसे 'हिम्मत बहादुर' की उपाधि दी तथा साथ में मोठ का क्षेत्र (झाँसी जिला) भी इनाम में दिया। तभी से अनूपगिरि हिम्मतगिरि के नाम से ही गुसाइयों के इतिहास एवं भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। [45]

हिम्मतबहादुर अवसरवादी था एवं उसने किसी के भी प्रति स्थाई निष्ठा नही रखी। उसने शुजाउद्दौला के बुरे दिनों में उसका साथ छोड़ दिया। वह कुछ दिनों के लिये मुगल साम्राज्य की सभा में चला गया ओर उसके बाद महादजी सिन्धिया का अनुयायी बन गया। यही वह अली बहादुर, जिसे नाना फड़नवीस ने

सिन्धियां के शिविर में भेजा था, के सम्पर्क में आया।

हिम्मतबहादुर के पास स्वयं की एक सेना थी और वह युद्ध करने की विधि में पूर्ण पारंगत था। पेशवा बाजीराव द्वितीय ने अली बहादुर को सन् 1789 ई. में बाँदा का नबाव बनाकर भेजा क्योंकि वह सिंधिया की बढ़ती शक्ति (हिम्मत बहादुर की मित्रता के कारण) से संशकित था। अली बहादुर ने हिम्मत बहादुर को सिंधिया का साथ छोड़ने के लिये एक राज्य देने का प्रस्ताव पहुँचाया। अतः सन् 1795 ई. में हिम्मतबहादुर बाँदा के नबाव अली बहादुर (पेशवा बाजीराव और मस्तानी से उत्पन्न) की सेवा में चला गया। इनकी संयुक्त सेनाओं ने बुन्देलखण्ड में अपना आतंक फैलाया। उन दोनों ने अजयगढ़, चरखारी, जैतपुर, पन्ना, छतरपुर, विजावर जैसे महत्वपूर्ण व बड़े क्षेत्रों तथा लुगासी, जिगनी, सरीला, अलीपुर जैसे छोटे राज्यों पर आक्रमण कर भारी लूट–पाट की। स्थानीय राजाओं और किलेदारों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर एवं धन देकर पीछा छुड़ाया। अन्ततः इनकी संयुक्त सेनाओं ने सम्पूर्ण पन्ना और बाँदा राज्यों पर अधिकार कर लिया। परन्तु कालिंजर अभियान के दौरान सन् 1802 ई. में अलीबहादुर की मृत्यु हो गयी। [46]

अली बहादुर के दो पुत्र थे। शमशेर बहादुर और जुल्फिकार अली। अपने पिता की मृत्यु के समय शमशेर बहादुर पूना में था। अतः उसके दो वर्षीय छोटे भाई जुल्फिकार अली को हिम्मतबहादुर की सलाह से नबाव बना दिया गया। शमशेर बहादुर ने शीघ्रता से लौटकर नवाब का पद धारण किया। तथा हिम्मत बहादुर से उसने सम्बन्ध विच्छेद कर लिये। इसी समय, अंग्रेजों और पेशवा बाजीराव द्वितीय के बीच प्रसिद्ध संधि हुई। इसके अनुसार ईस्ट इंडिया कम्पनी को पेशवा द्वारा दिये गये क्षेत्रों में से वे क्षेत्र भी थे जिन्हें अली बहादुर ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में प्राप्त किया था।

शमशेर बहादुर के साथ सम्बन्ध में कटुता आ जाने के कारण हिम्मत बहादुर ने अंग्रेजों से सन्धि करके शमशेर बहादुर को नीचा दिखाना तय कर लिया। दूसरी ओर अंग्रेज भी हिम्मत बहादुर से सन्धि करने को उत्सुक थे, क्योंकि हिम्मत बहादुर बुन्देलखण्ड के बारे में पर्याप्त जानकारी रखता था। अतः जब कम्पनी सरकार की सेना और उसका राजनैतिक प्रतिनिधि ग्राइम मर्सर सन 1803 ई. में बुन्देलखण्ड़ में आया तो हिम्मत बहादुर ने 4 सितम्बर 1803 ई. को उससे सन्धि कर ली तथा उसने अपने मार्गदर्शन में अंग्रेजों को बुन्देलखण्ड का सार्वभौभ स्वामी बनवा देने का वचन भी दिया। बदले में अंग्रेजों ने उसे 'महाराज बहादुर' की उपाधि दी। इसके अलावा इस संधि में यह भी वचन दिया गया था कि "ब्रिटिश सरकार की सेवा के लिये एक सेना जो हिम्मत बहादुर के नियंत्रण में रहेगी के रखरखाव के लिये बुन्देलखण्ड में ब्रिटिश प्रदेश का एक भाग, जिसका लगान 12 लाख रूपये वार्षिक होगा, महाराज बहादुर के लिये छोड़ दिया जायेगा। इसके अलावा राजा को बुन्देलखण्ड में ब्रिटिश प्रदेश में एक स्थाई जागीर देने का भी वचन दिया गया। "इस प्रकार, हिम्मत बहादुर को जितना पूर्व नवाब अली बहादुर से प्राप्त हुआ था, उससे भी अधिक अंग्रेजों से मिला। अतः उसने जीवन भर अपनी राजभक्ति अंग्रेजों के प्रति बनाये रखी। [47]

हिम्मत बहादुर ने अंग्रेजों से संधि होते ही अपनी सेना तथा अंग्रेजी सेना के संयुक्त अभियान में पहला निशाना बाँदा को बनाया। शमशेर बहादुर को संयुक्त सेनाओं के समक्ष अनेक स्थानों पर पराजय का सामना करना पड़ा। सन् 1803–04 ई. में जालौन और हमीरपुर जिलों के अनेक क्षेत्रों तथा बाँदा जिले के आस–पास के क्षेंत्रों पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। अन्त मे, विवश होकर बाँदा के नवाब शमशेर बहादुर ने भी अंग्रजों से एक समझौता कर लिया जिसे गवर्नर जनरल

की कौंसिल ने 2 फरवरी 1804 को अपनी मंजूरी दे दी। इसके तहत, बाँदा के नवाब द्वारा 4 लाख रूपये का वार्षिक लगान (भूमि या रूपये के रूप में) अंग्रेजों को देना तय हुआ जबकि अंग्रेजों ने नवाब की बाँदा की गद्दी को मान्यता दे दी।

बाँदा राज्य पर अंग्रेजी शासन स्थापित होते ही हिम्मत बहादुर ने कम्पनी से मौदहा का राज्य माँगा। कम्पनी ने उसे मौदहा का राज्य दे दिया। परन्तु उसी वर्ष सन् 1804 ई. में मौदहा के राजा के रूप में हिम्मत बहादुर की मृत्यु हो गई। उसे सेना रखने के लिये दी गई जागीर अंग्रेजों ने जब्त कर ली तथा उसकी सेना को भंग कर दिया। उसके परिवार के सदस्यों को पेंशन एवं छोटी जागीरें दे दी गईं। [48]

4 सितम्बर सन् 1803 ई. में हिम्मत बहादुर और अंग्रेजों के बीच संधि होने के बाद, बुन्देलखण्ड में अंग्रेजों के पक्ष में एक ऐसी हवा चली कि राजा, नवाब, मराठे सभी अंग्रजों से संधि करने लगे। सन् 1812 ई. मे ओरछा के राजा विक्रमाजीत, 1804 में दतिया के राजा पारीछत, 1817 में समथर के राजा रणजीत सिंह, 1803 में चरखारी के राजा विजय बहादुर सिंह, 1812 में जैतपुर के राजा गज सिंह, 1811 में बिजावर के राजा रतन सिंह, 1806 में छतरपुर के शाह आदि ने अंग्रेज़ों से सन्धियाँ की।

अंग्रेजों ने भिन्न–भिन्न लोगों के साथ उनके सम्माननीय स्तर को देखते हुये भिन्न–भिन्न रूप में संधियाँ की यथा –

1. बुन्देलखण्ड के राज्यों से, जो धसान नदी के पश्चिमी भाग में स्थित थे, उन्हें कम्पनी सरकार ने स्वतंत्र, प्राचीन और सम्माननीय मानते हुये, उनसे समान भाव पर मैंत्री और परस्पर सुरक्षात्मक सहयोगी संधियाँ की। इन राज्यों को सन्धि करने वाले राज्य (Trearty States) कहा गया। सन्धि राज्यों में ओरछा, दतिया और समथर के राज्य प्रमुख थे। [49]

2. बुन्देलखण्ड के पूर्वोत्तर राज्य जिनकी गारन्टी, इकरारों के पालन और कम्पनी सरकार की वफादारी करने तक दी गई, इस प्रकार के राज्यो को 'सनद राज्य' की संज्ञा दी गई। सनद राज्यों में 19 राज्य स्वीकार किये गये थे—पन्ना, बिजावर, अजयगढ़, छतरपुर, अलीपुर, बिजना, टोड़ी, फतेहपुर, चरखारी, ढुरबई, बंका पहाड़ी, लुगासी, सरीला, जिगनी, बेरी, नेहट, गोरिहार, गरौली, नैगवाँ रेबई, बावनी (मुस्लिम जागीर)। [50]

3. **विलीनाकृत राज्य :** इनकी संख्या 4 थी। इन राज्यों को अंग्रेजो ने अपने शासन तंत्र में लें लिया था। ये राज्य थे— झाँसी, जालौन, जैतपुर और खादी (KHADI)।

4. **अधिकृत राज्य :** इनकी संख्या 6 थी। इन राज्यों को इसलिये अधिकृत कर लिया गया क्योंकि 1857 ई0 के विद्रोह में इन राज्यों ने विरोध किया था। ये राज्य थे— चिरगाँव, पुरवा, तिरोहा, राधौगढ़, शाहगढ़ और बानपुर। [51]

शिवराव भाऊ एक साहसी व्यक्ति थे। सन् 1794 ई. में रधुनाथ हरि नेवालकर की मृत्यु के बाद शिवराव भाऊ उनके उत्तराधिकारी बने। वह अपना शासन अच्छे ढ़ंग से चला रहे थें। तभी सन् 1802 ई. में और अंग्रेजों और पेशवा बाजीराव के बीच बेसिन की सन्धि हुई। बेसिन सन्धि के तहत 36,16,000 रूपये लगान तथा बुन्देलखण्ड का क्षेत्र पेशवा ने अंग्रेजों को दे दिया। इस समस्या को सामने देखकर शिव राव भाऊ ने 6 फरवरी सन् 1804 को अंग्रेजों से एक रक्षात्मक सन्धि की। यह सन्धि परस्पर मैत्री और सहायता के आधार पर की गई थी। [52] पेशवाई निर्बल हो चुकी थी। सूबेदार सशक्त थे। बुन्देलखण्ड को अधिकृत करने के लिये अंग्रेजो को झाँसी के सूबेदार की मित्रता अभीष्ट थी। अंग्रेजों के मित्र होने के कारण बुन्देलखण्ड के शासकों को अंग्रेजों की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करने के

लिये प्रेरित करने में शिवराव भाऊ ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्होंने झाँसी की आनबान और शान के लिये कोई कसर नही छोड़ी थी। उन्होंने झाँसी नगर की रक्षा के लिये रक्षा प्राचीर का निर्माण करवाया था। वस्तुतः उस युग में इतना विशाल निर्माण कार्य झाँसी के अलावा कहीं नहीं हुआ था। सन् 1815 ई. में शिवराव भाऊ की मृत्यु के पश्चात उनका उत्तराधिकारी उनका पौत्र रामचन्द्र राव बना। रामचन्द्र राव शिवराव भाऊ के ज्येष्ठ पुत्र कृष्णराव का पुत्र था। कृष्णराव का देहान्त हो चुका था। [53]

शिवराव भाऊ के तीन पुत्र थे– कृष्णराव, रघुनाथ राव तथा गंगाधर राव। ज्येष्ठ पुत्र कृष्णराव की मृत्यु शिवराव भाऊ के जीवनकाल में ही हो गई थी, जिससे उन्हें अत्यन्त दुख हुआ और राज्य से विरक्ति हो गई, अतः वह सब कुछ छोड़–छाड़कर ब्रह्मवर्त चले गये। तब कृष्ण राव के अल्पवयस्क पुत्र रामचन्द्र को झाँसी का शासक बनाया गया और उसकी माँ सखूबाई उसके नाम पर शासन का संचालन करने लगी। इस कार्य में झाँसी का पूर्व मंत्री गोपाल राव उसकी सहायता करता था।

धीरे–धीरे रामचन्द्र राव बड़ा हुआ, तो उसने राज्य का शासन–भार अपने नियंत्रण में लेना चाहा। सखूबाई इतने समय तक शासन का सुख भोग चुकी थी, अतः उसे पुत्र की यह भूमिका पसन्द न आई। कहा जाता है कि 'पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाए, किन्तु माता कुमाता नहीं होती' परन्तु सखूभाई के सन्दर्भ में यह कथन सर्वदा असत्य सिद्ध हुआ। वह अपने पुत्र के प्रत्येक कार्य में बाधाएं उत्पन्न करने लगी। रामचन्द्र राव ने उसके कार्य का विरोध किया। सखूबाई समझ गई कि देर–सबेर उसे शासन–सत्ता पुत्र को सौंपनी ही पड़ेगी, अतः उसने एक क्रूर निर्णय ले लिया कि रामचन्द्र राव को सदा के लिये रास्ते से हटा दिया जाए। उसने अपने

पुत्र की हत्या के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। रामचन्द्र राव को तालाब में तैरने का बड़ा शौक था। वह घण्टो झाँसी के लक्ष्मीबाई ताल में तैरता था। सखूबाई ने उस तालाब में रात्रि में गुप्त रूप से उलटे भाले गड़वा दिये, ताकि उसमें कूदतें ही रामचन्द्र राव का प्रणान्त हो जाए। [54]

सखूबाई की इस क्रूरतम योजना का पता रामचन्द्र राव के एक परम विश्वासपात्र सेवक लालू कोदलकर को लग गया। उसने अपने स्वामी को सारी बात बता दी। परिणामस्वरूप रामचन्द्र राव तो बच गया, किन्तु लालू कोदलकर को सखूबाई के प्रतिशोधस्वरूप अपने प्राणो से हाथ धोने पड़े। सब–कुछ जानते हुए भी माँ के परिवाद के भय से रामचन्द्र राव को मौन रहना पड़ा, किन्तु सखूबाई का यह दुष्कृत्य अधिक दिन तक छिपा न रह सका। कुछ ही दिनों में सभी मंत्रियों तथा प्रजा को इस विषय में ज्ञात हुआ, तो सारे राज्य में सखूबाई के विरूद्ध आक्रोश व्याप्त हो गया। प्रजा उसके विरूद्ध विद्रोह पर उतर आई, अतः उसे बन्दी बना लिया गया। बाद में कारावास में ही उसकी मृत्यु हो गई। [55]

लगभग इसी समय अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव द्वितीय को अपदस्थ कर दिया और 13 जून 1817 को अंग्रेजों ने पेशवा से बुन्देलखण्ड के सभी अधिकार अपने हाथो में ले लिये। अब अंग्रेजो को बुन्देलखण्ड में नवीन अधिकार प्राप्त हो गए थे। [56] इस समय झाँसी में रामचन्द्र राव का शासन था, जो अपने मंत्री गोपाल राव की सहायता से राज–कार्य चलाता था। अपने नये अधिकारो की स्थापना के लिये अंग्रेजों ने रामचन्द्र राव के साथ एक नयी सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार शिवराव भाऊ की पिछली सेवाओं के उपलक्ष्य में अंग्रेजों ने झाँसी का राज्य वंश–परम्परा के लिए इनके (शिवराव भाऊ के) पौत्र रामचन्द्र को दे दिया। यह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सन्धि 17 नवम्बर, 1817 को सीपरी में सम्पन्न हुई, जिस पर रामचन्द्र राव की ओर

से मन्त्री गोपाल राव तथा अंग्रेजों की ओर से जानबाहु चप ने हस्ताक्षर किये। [57]

इसके बाद रामचन्द्र राव के अंग्रेजों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रहे । सन् 1825 के आसपास नानापन्त नामक एक मराठा वीर ने अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह कर उनके कई स्थानो पर अधिकार कर लिया। रामचन्द्र राव की सहायता से अंग्रेजों ने नानापन्त को पराजित कर दिया। रामचन्द्र राव की इस सहायता के प्रति आभार व्यक्त करते हुए तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिंग ने लिखा हैं –

" यदि झाँसी की सेना हमारी सहायता के लिए समय पर न पहुँचती तो कालपी में हमारा जीतना असंभव था।"

अतः 1832 में विलियम बैंटिंग ने रामचन्द्र राव के सम्मान में झाँसी में एक दरबार का आयोजन किया, जिसमें रामचन्द्र राव को 'महाराजाधिराज' तथा 'फिदवी बादशाह जान–जाने इंग्लिस्तान' की सम्मानजनक उपाधियाँ दी गयी। दुर्भाग्य से रामचन्द्र राव अधिक दिनों तक राजसुख का उपभोग नहीं कर सका, 1835 में उसकी मृत्यु हो गई। रामचन्द्र राव की अपनी कोई सन्तान न थी। उसने कृष्णराव नामक युवक को गोद लिया था। कृष्णराव को गोद लेना शास्त्रों के अनुकूल नही माना गया। अतः रामचन्द्र राव के बाद इसके बड़े चाचा रघुनाथ राव राज्य के उत्तराधिकारी माने गए, जिसे झाँसी के तत्कालीन पोलिटिकल एजेण्ट बैगवी ने राजसिंहसन पर बैठाया। रघुनाथ राव एक अयोग्य, अत्याचारी और दुर्व्यसनी राजा निकला, उसके समय में प्रजा बहुत दुखी हो गई तथा राज्य की आय भी घट गई। फलतः 1837 ई. में अंग्रेजों ने उसे पदच्युत कर अस्थायी रूप में झाँसी का शासन अपने हाथो में ले लिया। इसके दूसरे ही वर्ष रघुनाथ राव की मृत्यु भी हो गई। [58]

रघुनाथ राव की मृत्यु पर फिर यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि झाँसी राजसिंहासन पर किसे बैठाया जाए क्योंकि उसका कोई वैध पुत्र नहीं था। उत्तराधिकारी

के चयन के लिए चार नाम सामने आए–रघुनाथ राव के छोटे भाई गंगाधर राव, रामचन्द्र राव का दत्तक पुत्र कृष्णराव, रघुनाथ राव की रखैल बाँदी गजरा का पुत्र अलीबहादुर तथा रघुनाथ राव की महारानी। इन सभी नामों पर विचार करने के लिए एक आयोग का गठन किया गया, जिसकी अध्यक्षता ग्वालियर राज्य के रेजीडेण्ट स्पीयर्स ने की। सभी नामों तथा उनके दावो पर विचार करने के बाद आयोग ने गंगाधर राव को सभी प्रकार से इसके योग्य पाया। अतः उनके नाम की संस्तुति अंग्रेज सरकार द्वारा मिल गई। इस प्रकार गंगाधर राव झाँसी के शासक बन गए, किन्तु अभी उन्हें संपूर्ण अधिकार नहीं मिले थे। क्योंकि रघुनाथ राव के दुष्प्रबन्ध के कारण झाँसी राज्य पर कई लाख रूपयो का ऋण चढ़ गया था, अतः अंग्रेज सरकार ने इस ऋण के चुक जाने के बाद ही पूर्ण अधिकार देने का प्रतिबन्ध रखा था।

राजा गंगाधर राव एक कुशल शासक थे। उनके प्रयत्नो से झाँसी की आर्थिक स्थिति मे धीरे–धीरे सुधार आने लगा। इधर लक्ष्मीबाई से विवाह हो जाने के कुछ ही वर्षो में राज्य पर चढ़ा हुआ सभी ऋण भी चुका दिया गया। इस प्रकार लक्ष्मीबाई अपने पति के लिए लक्ष्मीस्वरूप सिद्ध हुई। समस्त ऋण चुक जाने पर उन्हे राज्य के सभी अधिकार प्राप्त होने का समय आ गया था। इसकी सूचना बुन्देलखण्ड के राजनीतिक अभिकर्ता (पॉलिटिकल एजेण्ट) कर्नल स्लीमन ने अंग्रेज सरकार के पास भेज दी। सरकार ने उन्हे पूर्ण अधिकार देना स्वीकार कर लिया, किन्तु इसके साथ ही एक शर्त रख दी कि बुन्देलखण्ड में अंग्रेजों के हितों की रक्षा के लिए उन्हें झाँसी में एक अंग्रेज सेना रखनी होगी जिसका व्यय उन्हें स्वयं वहन करना होगा। विवश होकर गंगाधर राव को यह शर्त स्वीकार करनी पड़ी। इसके लिए उन्होंने 2,27,458 रू0 अलग से रख दिये। इसके साथ ही उन्होंने दो पल्टने तथा दो तोपखाने अपने अधीन भी रखे। [59]

इन सब बातो के स्वीकार हो जाने पर गंगाधर राव ने अपना राज्याधिकार–प्राप्ति उत्सव मनाया। इस अवसर पर राजनीतिक अभिकर्ता ने झाँसी राज्य के कोष में बचे हुए तीस लाख रूपये भी उन्हे सौंप दिये तथा उन्हे बहुमूल्य खिलअत भेंट की। राज्य के प्रतिष्ठित नागरिको, सामन्तो, जागीरदारो आदि ने भी महाराज गंगाधर राव को बहुमूल्य भेंट समर्पित की।

झाँसी में सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए गंगाधर राव ने अनेक महत्वपूर्ण काम किये। सर्वप्रथम उन्होंने शासन कार्य में परामर्श देने के लिए कुछ योग्य और अनुभवी मन्त्रियों की नियुक्ति की। राघव रामचन्द्र सन्त नामक एक अत्यन्त बुद्धिमान ओर योग्य व्यक्ति को उन्होंने अपना प्रधानमन्त्री बनाया। उसी के परामर्श पर नरसिंह राव को राजदरबार में विधि परामर्शदाता बनाया गया। न्यायाधीश के पद पर नाना भोपटकर की नियुक्ति की गयी।

रधुनाथ राव के शासनकाल में राज्य को भारी हानि उठानी पड़ी थी, अतः इसके लिए गंगाधर राव ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। जिन स्थानों पर बुन्देले आंतक मचाते थे, वहाँ राजकीय सेना की चौकियाँ बना दी गयी। अल्प ही समय में झाँसी फिर सें फूलने–फलने लगी। महाराज गंगाधर राव को हाथी–घोड़ो का बहुत शौक था। उनके पास अनेक हाथी घोड़े थे, जिनमें सिद्धवकश नाम का एक बहुत ही श्रेष्ठ हाथी था, जिसे वह निजी सवारी के लिए काम में लाते थे। उसे पहनाये जाने वाले आभूषण तथा उसका हौदा, अम्बारी आदि सभी समान सोने का बनाया हुआ था।[60]

झाँसी राज्य तथा उसके अधीनस्थ जागीरदारो की कुल सेना पाँच हजार थी। महाराज गंगाधर राव का स्वभव अत्यन्त विन्रम एवं मधुर था, किन्तु शासन काल में वह बड़े कठोर थे। जिस व्यक्ति को जो कार्य दिया गया है, वह यथा समय

अवश्य पूर्ण हो जाना चाहिए, यह उनके शासन का सामान्य नियम था। इसमें विलम्ब होने पर सम्बन्धित व्यक्ति को महाराज के सामने उपस्थित होना पड़ता था। उनके इन्ही राजोचित गुणो के कारण तत्कालीन अंग्रेज अधिकारी उससे बड़े प्रभावित थे तथा उनका सम्मान करते थे।

शासन–प्रबन्ध व्यवस्थित हो जाने पर महाराज गंगाधर राव ने तीर्थ –यात्रा का विचार किया। इस विषय में उन्होंने गवर्नर जनरल को सूचना दे दी। अतः अंग्रेज सरकार की ओर से उनकी यात्रा का समुचित प्रबन्ध कर दिया गया, तब माघ शुक्ल सप्तमी संवत 1907 को वह पत्नी सहित तीर्थ यात्रा पर चले पड़े। सम्भवतः वह इस तीर्थ–यात्रा में गया, प्रयाग आदि होते हुए अन्त में वाराणसी पहुँचे। यह नगरी लक्ष्मीबाई की जन्मभूमि थी। वहाँ पहुँचने पर उन्हे अपार प्रसन्नता हुई। सभी तीर्थो में राजा और रानी ने पूजा, दान आदि धार्मिक कार्य सम्पन्न किये। फिर वह वापस झाँसी लौट आये। तीर्थ–यात्रा सें लौटने के अवसर पर झाँसी में आनन्दोत्सव मनाया गया।

इस तीर्थ–यात्रा की कुछ घटनाओं से महाराज गंगाधर राव के स्वाभिमानी व्यक्तित्व का परिचय मिलता हैं। इस यात्रा के लिए मार्ग में सभी स्थानो पर उनके लिए अंग्रेज सरकार ने समुचित व्यवस्था की थी तथा सभी अधिकारियों को इसकी सूचना दे दी गयी थी। वाराणसी पहुँचने पर एक अधिकारी राजा गंगाधर राव को नहीं पहचान पाया, अतः उसने उनके सम्मान पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इस पर महाराज रूष्ट हो गये। जब उसे अपनी भूल के विषय में ज्ञात हुआ, तो उसने महाराज से क्षमा–याचना की। महाराज ने उसे क्षमा कर दिया। इसी प्रकार एक स्थान पर राजेन्द्र बाबू नामक एक बंगाली महोदय ने भी महाराज के समक्ष खड़े होकर अभिवादन नहीं किया। इस पर राजा गंगाधर राव उससे बडे कुपित हुए तथा

उसे कड़ा दण्ड दिया। राजेन्द्र बाबू अच्छी पहुँच वाला व्यक्ति था। उसने गंगाधर राव के इस व्यवहार के विरूद्ध अंग्रेज उच्चाधिकारियों से शिकायत की, किन्तु इसका कोई परिणाम न निकला। उससे कहा गया कि "गंगाधर राव एक बहुत बड़े राजा हैं। उनका उचित सम्मान करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। यदि आप उनका उचित सम्मान नहीं करना चाहतें थे, तो यही अच्छा रहता कि आप घर में बैठे रहते। "उनके स्वाभिमानी व्यक्तित्व की एक अन्य घटना उल्लेखनीय है– कहा जाता है कि जिस समय गंगाधर राव ने झाँसी में अंग्रेजी सेना रखना स्वीकार किया, उसी समय उन्होंने अंग्रेजों से अपनी भी एक शर्त मनवा ली कि वह अंग्रेज सेना प्रतिवर्ष दशहरे के दिन उन्हें सलामी देगी। एक बार दशहरा रविवार के दिन पड़ा। अतः अंग्रेज सेना के अधिकारी ने उनके पास सूचना भेज दी कि रविवार की छुट्टी के कारण अंग्रेज सेना उन्हे सलामी नहीं दे सकेगी। इस सूचना के मिलने पर महाराज गंगाधर राव अत्यन्त क्रोधित हुए और तत्काल अपनी सजी–धजी सेना के साथ अंग्रेज सेना की छावनी जा पहुँचे। उन्होंने उस सैनिक अधिकारी से इस घृष्टता का स्पष्टीकरण माँगा। विवश होकर उसे महाराज से क्षमा माँगनी पड़ी तथा सलामी परेड में भाग लेना पड़ा।[61]

राजा गंगाधर राव की मृत्यु होते ही झाँसी पर दुर्भाग्य के काले बादल घिर आये। विधवा का अभिशप्त जीवन आरम्भ होते ही महारानी लक्ष्मीबाई के जीवन की सभी प्रकार की सुख–शान्ति को ग्रहण लग गया। महाराज की अन्त्येष्टि से लौटने पर एलिस, मार्टिन आदि अंग्रेज अधिकारी उन्हे सान्त्वना देने भी आये थे, किन्तु शीघ्र ही उन्हें अंग्रेजों का एक नया रूप देखने को मिला। उनके विदा लेने के बाद एलिस सर्वप्रथम किले में पहुँचा उसने राजकोष का निरीक्षण किया, उसमें अंग्रेजी सेना के लिए रखें गये 2,45,768 रूपये सुरक्षित थे। अतः उसने राजकोषाध्यक्ष पं0 ज्वालानाथ के सामने उसमें ताला लगाकर उसे सील्ड कर दिया। इसके बाद

अन्य कक्षो में रखे बहुमूल्य वस्त्राभूषणो की भी उनकी सूची बनाकर सील्ड कर दिया और वहाँ ग्वालियर राज्य की कंटिंजेन्ट सेना की नौवीं बटालियन का पहरा लगा दिया गया।

21 नवम्बर को ही उपराजनीतिक अभिकर्ता एलिस ने गंगाधर राव की मृत्यु की सूचना बुन्देलखण्ड के राजनीतिक अभिकर्ता मेजर मालकम को भेज दी थी।[62] सूचना मिलते ही मालकम ने भारत सरकार के परराष्ट्र सचिव को 25 नवम्बर को जो पत्र लिखा, उसका संक्षिप्त रूप यहां प्रस्तुत किया जा रहा है –

''महोदय''

1. महामहिम गवर्नर जनरल को यह समाचार देते हुए मुझे दुख होता हैं कि 21 नवम्बर को झाँसी के राजा गंगाधर राव का देहान्त हो गया है।
2. मृत्यु के एक दिन पूर्व उन्होंने एक दत्तक पुत्र गोद लिया है, जो उनके अनुसार उनका पोता है, किन्तु वास्तव में वह रघुनाथ राव की पांचवी पीढ़ी में हैं। इस प्रकार उनका भतीजा होता हैं।
3. मेजर एलिस द्वारा भेजे गये महाराज से भेट विषयक तीनो पत्र तथा महाराज द्वारा गोद लेने के विषय में लिखा गया सूचना–पत्र आपकी सेवा में अवलोकनार्थ भेजा जा रहा है।
4. झाँसी की प्रजा समझती थी कि रानी के जीते–जी राज्य की सम्पति पर उन्हीं के अधिकार की प्रार्थना की जाएगी, किन्तु महाराज ने अपने यहाँ कोई भी निकट सम्बन्धी उत्तराधिकारी न देखकर मृत्यु से एक दिन पूर्व दत्तक पुत्र ले लिया। इससे झाँसी के लोगो को आश्चर्य हुआ होगा।[63]
5. भारत सरकार के सूचनार्थ झाँसी राजघराने की आद्यतन वंशावली का दत्तक पुत्र उनके पूर्वज रघुनाथ राव के वंश का हैं।

6. मैंने एलिस को 22 तारीख को एक सूचना पत्र भेजा था, जिसकी सूचना 23 तारीख को सरकार को भेज दी गयी हैं। एलिस उसी के अनुसार कार्यवाही कर रहा हैं। सरकार का अन्तिम निर्णय ज्ञात न होने तक स्व0 महाराज की दत्तक विधि पर ध्यान नहीं दिया जाएगा।
7. झाँसी–ब्रिटिश शासन के पारस्परिक सम्बन्धो को जानने के लिए नीचे कुछ प्रमाण दिये जा रहे हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाएगा कि स्व0 महाराज को दत्तक पुत्र बनाने का अधिकार था या नहीं।
8. सन् 1804 में बुन्देलखण्ड पर अधिकार करते समय हमने शिवराव भाऊ से पेशवा के सूबेदार के रूप में सन्धि की थी। सन् 1819 में पेशवा ने बुन्देलखण्ड का अधिकार हमें दे दिया था, तब हमने रामचन्द्र राव को झाँसी का राज्य वहाँ परम्परागत रूप में दे दिया था। सन् 1832 में उसे सूबेदार के स्थान पर राजा की पदवी दी गयी थी।
9. सन् 1835 में रामचन्द्र राव के देहान्त पर, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, भाऊ के दो पुत्र रघुनाथ राव तथा गंगाधर राव जीवित थे, अतः उन्हे क्रम से राज्य दिया गया। गंगाधर राव की मृत्यु पर यह वंश समाप्त हो गया हैं।
10. सन् 1835 में रामचन्द्र राव तथा उसकी रानी के दत्तक पुत्रो को राज्य का उत्तराधिकारी नहीं माना गया था। इससे स्पष्ट हैं कि वहाँ राजा या रानी को दत्तक पुत्र लेने से पूर्व सरकार से अनुमति लेना आवश्यक था।
11. गंगाधर राव ने शासन अपनी पत्नी को सौंपने की इच्छा व्यक्त की हैं जो एक योग्य स्त्री हैं, फिर भी झाँसी को अपने अधिकार में लेने में सरकार को विलम्ब नहीं करना चाहिए। मुझे विश्वास है कि रानी स्वर्गीय राजा की निजी सम्पति तथा कुछ मासिक पेंशन देने से प्रसन्न हो जाएगी।

12. रानी को कितनी पेंशन दी जाए, इस विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता। बुन्देलखण्ड में मराठों का अब यही राजघराना रह गया है, अब सभी पदच्युत मराठा नरेशों के आश्रित इसी रानी की शरण में आएगें। अतः उन्हे कम–से–कम 5000 रूपये मासिक पेंशन दी जाए।
13. झाँसी लम्बे समय से हमारे अधीन रहा हैं, मेजर रास पहले भी उसकी व्यवस्था कर चुका है। उसकी व्यवस्था पड़ोसी सिन्धिया सरकार के समान करने में हमें कोई कठिनाई नहीं होगी।
14. यदि सरकार इसे मेरे अधीन रखना चाहे, तो मैं तैयार हूँ। मुझे मेजर एलिस की योग्यता पर सन्देह है। अतः झाँसी बुन्देलखण्ड के कुछ अन्य जिलों के समान जबलपुर के कामेश्वर के अधीन कर दिया जाए।

स्पष्ट हैं इस सूचना में मालकम ने तथ्यों को तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत किया था। इस सूचना के बाद वह झाँसी की व्यवस्था करने में संलग्न हो गया।

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आये थे, किन्तु अल्प समय में वे भारत के भाग्यविधाता बन बैठे। सन् 1848 में लार्ड डलहौजी भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया। वह किसी भी ऐसे राज्य को अपने अधिकार में लेना उचित समझता था, जिसके शासक का अपना सगा पुत्र उत्तराधिकारी न हो। इस विषय में उसने कहा था–"जो प्रदेश पहले हमारे अधिकार में हैं, उनके बीच यदि कोई छोटी रियासत हो तो उस पर अधिकार करके हमें अपने राज्य का विस्तार करना चाहिए इस पर कोई भी आपत्ति करने का अधिकारी नहीं हैं, इन छोटी रियासतों से हमें कष्ट ही मिलता हैं। इन्हे अपने राज्य में मिलाने से इनके कष्ट भी दूर हो जाएंगे, और हमें भी आर्थिक लाभ होगा। यह मेरी निश्चित विवेकपूर्ण राय हैं। इस नीति का पालन करना अंग्रेजी सरकार का आवश्यक कर्तव्य हैं। रियासतों पर अधिकार करने के

अवसर हाथ से नहीं जाने देने चाहिए। इस प्रकार के अवसर पैदा किये जाते हैं राज्य का कोई उत्तराधिकारी न हो अथवा सरकार की अनुमति पर ही कोई उत्तराधिकारी क्यों न बनाया गया हो, इन दोनों प्रकार के अवसरो को हाथ से निकल जाने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए।"

अंग्रेजी सरकार इस नीति पर चल रही थी। अतः वह किसी भी प्रकार झाँसी को अपने अधिकार में कर लेना चाहती थी। मालकम द्वारा भारत सरकार को भेजी गयी उपयुक्त सूचना भी इसी नीति का प्रतिनिधित्व करती है। अतः गंगाधर राव की मृत्यु के बाद सरकार ने जान–बूझकर उनकी सूचना का समय पर कोई उत्तर नही दियां। [64]

जिस समय मालकम ने उपर्युक्त सूचना सरकार को भेजी, गवर्नर जनरल अवध प्रान्त के दौरे पर थे। चार–पाँच मास तक कोई भी उत्तर न मिलने पर महारानी लक्ष्मीबाई का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। वह बार–बार अपने पिता से इसी विषय पर चर्चा करती और पिता मोरोपन्त उन्हें धैर्य बंधाते। अन्त में महारानी ने अपने मन्त्रियो से परामर्श कर मेजर एलिस के माध्यम से गवर्नर जनरल को एक पत्र लिखा, इस पत्र का संक्षिप्त रूपान्तर निम्नलिखित है–

" झाँसी राज्य के अभिलेखों से स्पष्ट है कि इस प्रांत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना से पूर्व हमारे श्वसुर भाऊ ने अंग्रेजी सरकार की सहायता की थी, जिसके बदले में की गयी अंग्रेजी कृपा से हम सदा अनुगृहीत हुए। सन् 1842 में कर्नल स्लीमन ने हमारे पति से एक सन्धि की थी, जिसके अनुसार 1817 में रामचन्द्र राव के साथ हुई सन्धि को पूर्ण मान्यता दी गयी। शिवराव भाऊ के सद्व्यवहार तथा उनके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के कारण अंग्रेजी सरकार ने उनकी अन्तिम इच्छा के अनुसार ही रामचन्द्र राव के साथ उक्त सन्धि करते समय झाँसी राज्य उन्हें

वंशानुगत रूप में दे दिया था। इससे इस बात की पुष्टि होती हैं कि यदि कभी दुर्भाग्य से झाँसी का कोई राजा सन्तानहीन रह जाय, तो सरकार उसके दत्तक पुत्र को पूर्ण मान्यता देगी तथा हमारे वंश परम्परागत राज्य का कभी अन्त नहीं होने देगी। हिन्दू–शास्त्र में मृत पूर्वजो को पिण्डदान देने के लिए औरस तथा दत्तक पुत्र में कोई अन्तर नहीं माना गया है। अतः दत्तक पुत्र बनाना हिन्दू धर्म के अनुकूल हैं। इसी नियम के अनुसार हमारे मृत पति ने दत्तक पुत्र बनाने की इच्छा व्यक्त की तथा विद्वान पण्डितों द्वारा नियमपूर्वक दत्तक विधान किया गया। महाराज की आज्ञा पर इस अवसर पर मेजर एलिस तथा कप्तान मार्टिन को भी आमन्त्रित किया गया। तब उन्होंने इसकी लिखित सूचना आपके पास भिजवाने के लिये मेजर एलिस को दे दी थी। उन्होंने वचन दिया था कि वह समस्त वृतान्त से सरकार को अवगत करा देगें। दूसरे दिन हमारे पति की मृत्यु हो जाने पर उनका समस्त क्रियाकर्म हमारे दत्तक पुत्र ने ही किया। इस बालक को हमारे पति ने सरकार की कृपा के अधीन ही गोद लिया हैं। अब उसकी रक्षा–सुरक्षा आपकी कृपा पर ही निर्भर करती हैं। अन्त में सरकार से हमारी यह भी प्रार्थना हैं कि उसनें जिस प्रकार दतिया नरेश परीक्षित, जालौन के राजा बालाराव तथा ओरछा के शासक तेजसिंह के दत्तक पुत्रों को मान्यता दी हैं, उसी प्रकार हमारे दत्तक पुत्र को मान्यता दी जाए। झाँसी की पूर्व सन्धि में 'सदा' शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः उक्त राजाओ की अपेक्षा हमें दत्तक पुत्र बनाने का अधिकार अधिक है।"

यह पत्र गवर्नर जनरल के लिए भेज दिया गया। मेजर एलिस ने 24 दिसम्बर, 1853 को रानी के अधिकार को न्यायोचित बताते हुए सरकार को एक पत्र में लिखा था – "झाँसी और ओरछा के साथ हुई सन्धियों का आशय समान है, अतः एक को दत्तक पुत्र लेने का अधिकार देना और दूसरे को ना देना न्यायसंगत न

होगा। 27 मार्च, 1836 के पत्र में कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने स्वीकार किया हैं कि देशी रियासतो के शासकों को पुत्र गोद लेने का पूर्ण अधिकार है। आज यदि यह कहा जाए कि जिन राजाओ को उनकी सेवा के बदले शासक बनाया गया हैं, वे अन्य राज्यवंशो के समान प्राचीन नहीं है, और केवल इसीलिए उनका यह अधिकार स्वीकार न किया जाए, तो मैं समझता हूँ, ऐसा करना डायरेक्टरो के आदेशो की महान अवमानना होगी।''

यह पत्र कई दिनों तक बुन्देलखण्ड के राजनीतिक अभिकर्ता के ही पास

गंगाधर राव के निधन पर झाँसी राज्य का अनिश्चित भविष्य देख, उनके पूर्व स्थान खानदेश का उनका एक अन्य सजातीय इस राज्य का दावेदार बन बैठा, जिसका नाम सदाशिव राव नारायण था। उसने झाँसी के सिंहासन पर अपना अधिकार जताते हुए मालकम के पास एक प्रार्थना–पत्र भेजा। मालकम ने इस पत्र को 31 दिसम्बर 1853 को गवर्नर जनरल के पास भेजा और साथ में अपनी संस्तुति में लिख भेजा–''यदि स्वर्गीय राजा के पूर्वजों में किसी उत्तराधिकारी के अधिकार को मान्यता दी जाए, तो यह प्रार्थी उनका सबसे निकट सम्बन्धी हैं, जो झाँसी के राजसिंहासन को प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है ।''[65]

यह बात समझ में नहीं आती कि मालकम वस्तुतः क्यों झाँसी राज्य को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाने पर तुला हुआ था। उसकी इस दूसरी धूर्तता का यह अर्थ न लगाया जाए कि वह सदाशिव राव नारायण को झाँसी के सिंहासन पर बैठाना ही चाहता था। उसने यह संस्तुति केवल मामले को और अधिक उलझाने के उद्देश्य से ही की थी, यही सत्य जान पड़ता है।

गंगाधर राव की मृत्यु के प्रायः तीन मास बाद जब गवर्नर जनरल अपने दौरे से लौटे तभी झाँसी के मामले पर विचार किया गया। विदेश सचिव जे0

पी0 ग्रसण्ट इस प्रकार के मामलों मे बड़ा घाघ माना जाता था। उसी ने झाँसी राज्य के विलय की रिर्पोट तैयार की। इसमें उसने झाँसी राज्य के समग्र इतिहास तथा अंग्रेजी सरकार से उसके सम्बन्धो पर विहंगम दृष्टि डालते हुए इस बात पर बल दिया कि झाँसी का अंग्रेजी राज्य में विलय कर दिया जाए। उसकी रिपोर्ट पर पर्याप्त विचार विमर्श के बाद गवर्नर जनरल और उनके कौंन्सिलरो ने अपना जो निर्णय व्यक्त किया, उसका संक्षिप्त रूप निम्न प्रकार हैं –

झाँसी नरेश गंगाधर राव ने नवम्बर 1853 में पुत्र न होने के कारण अपनी मृत्यु के एक दिन पूर्व एक दत्तक पुत्र बनाया। उनकी पत्नी प्रार्थना करती हैं कि उक्त पुत्र को झाँसी का उत्तराधिकारी स्वीकार किया जाए। परराष्ट्र सचिव के संक्षिप्त वृतान्त से झाँसी और ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध स्पष्ट हो जाते हैं। अतः उस पर तथा झाँसी राज्य से हुए पत्र–व्यवहार पर विचार पूर्वक ध्यान देते हुए मैं झाँसी राज्य की भावी व्यवस्था किस प्रकार हो, इस बात पर अपनी सम्मति व्यक्त करता हूँ मेरा मत हैं कि यह राज्य ब्रिटिश सरकार के हाथ में आ गया हैं, अतः राजनीतिक दृष्टि से अब इसे अपने हाथो में रखना ही उचित होगा।

झाँसी की व्यवस्था किस प्रकार होगी, इसका निर्णय हाल ही में वाद–विवाद के समय कर लिया गया हैं। बुन्देलखण्ड की छोटी–छोटी रियासतों के विषय में चार्ल्स मेटकाफ द्वारा बनाए गए निर्णय 1837 में स्वीकार कर लिये गए हैं। आश्रित राज्यों के लिए 1846 में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स द्वारा निर्धारित निमयों के अनुसार उत्तराधिकारी रहित झाँसी राज्य के विलय का हमें पूर्ण अधिकार हैं। [66]

उक्त सिद्धान्तों में सतारा के समान सार्वभौम सत्ता न होने पर कोई भी रियासत गोद लिये उत्तराधिकारी को नहीं प्राप्त हो सकती। इसकी अनुमति देने के लिए हम बाध्य नहीं हैं बुन्देलखण्ड के विषय में चार्ल्स मेटकाफ का भी यही मत

हैं। फ्रेजर ने वंशानुगत तथा जागीर प्राप्त राजाओं में कोई भेद नहीं माना हैं, मैं मानता हूँ पुत्र न होने पर दत्तक पुत्र बनाया जा सकता हैं, किन्तु दत्तक पुत्र हिन्दू धर्मशास्त्रो के अनुसार हो तथा इसके लिये ब्रिटिश सरकार से पूर्व अनुमति ली जाए। जागीर में मिले राज्यो में उत्तराधिकारी नियत करने का अधिकार जागीर देने वाले को है। वह औरस पुत्र न होने पर जागीर वापस ले सकता है। झाँसी राज्य ब्रिटिश सरकार द्वारा दी गयी जागीर थी। अतः औरस पुत्र न होने पर उसे वापस लेने का हमें पूर्ण अधिकार हैं।

निर्विवाद रूप से झाँसी एक आश्रित राज्य है। यह टिहरी राज्य से भी कम स्वतन्त्र है। वस्तुतः यह टिहरी के समान ही हैं जो टिहरी के पूर्व स्वामी पेशवा द्वारा सूबेदार को दिया गया था। शिवराव भाऊ और अंग्रेजी सरकार की 1804 की सन्धि में झाँसी के सूबेदार को पेशवा का आश्रित कहा गया है। शिवराव भाऊ ने इसे स्वयं भी स्वीकार किया है। जब उसने सरकार से प्रार्थना की थी राज्य उसके पौत्र को दिया जाए, तो सरकार ने कहा था कि इसके लिए पेशवा की सहमति आवश्यक हैं। सभी प्रमाणो से स्पष्ट हैं कि झाँसी के शासक पेशवा के अधीन थे। सन् 1817 में पेशवाओं का अधिकार अंग्रेजी सरकार को मिल गया था। फिर भी झाँसी पर रामचन्द्र राव का वंशानुगत अधिकार नहीं माना गया। इसी वर्ष सम्पन्न सन्धि से उसे वंशानुगत अधिकार मिल गया, फिर भी वह पूर्ण राजा नही माने गए। सन् 1835 में रामचन्द्र के दत्तक पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी नहीं माना गया, उसके चाचा उत्तराधिकारी माने गए।

गंगाधर राव का औरस पुत्र नहीं हैं, अतः झाँसी राज्य को वंशानुगत रूप से चलाने वाला कोई उत्तराधिकारी नही हैं।

अपनी मृत्यु से एक दिन पूर्व लिया गया गंगाधर राव का दत्तक पुत्र

उनके वंश का दूर का सम्बन्धी है। आसन्न मरणकाल में की गयी इस दत्तक विधि को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। इससे पूर्व राजा ने कभी दत्तक पुत्र बनाने की इच्छा व्यक्त नहीं की थी। लोग समझते थे राजा राज्य को अपनी रानी के अधीन रखने की प्रार्थना करेगे। अतः उनके इस निर्णय से सभी को आश्चर्य हुआ होगा। मालूम होता हैं, पुत्र गोद लेने के पीछे कोई चाल हैं, क्योकि सरकार की पहली सन्धि शिवराव भाऊ से हुई थी, उसके वंश का कोई उत्तराधिकारी नहीं रह गया हैं।

लक्ष्मीबाई ने दतिया, टिहरी और जालौन आदि बुन्देलखण्ड के राज्यों के समान दत्तक पुत्र को स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की है। टिहरी और दतिया स्वतन्त्र राज्य हैं। उनके नियम आश्रित राज्यो पर लागू नहीं हो सकते। हाँ, जालौन इसका अपवाद है, किन्तु यह सरकार की अपनी इच्छा है, इसका अर्थ यह नहीं हैं कि सरकार ने दत्तक पुत्र लेने के अधिकार को स्वीकार कर लिया है। दत्तक पुत्र लेने के बाद जालौन सरकार की रियासत मानी जाती हैं। रानी ने 1817 की सन्धि का हवाला देते हुए वंश–परम्परा में इस दत्तक को स्वीकार करने की प्रार्थना की है, यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की जा सकती है। यदि पुत्र गोद लेना ही था, तो उत्तराधिकारी का निर्णय सरकार करती। रामचन्द्र राव के दत्तक पुत्र को भी अस्वीकार कर दिया गया था, अतः इस विषय में किसी विवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता।

उपर्युक्त तथ्यों से सिद्व होता है कि झाँसी एक आश्रित रियासत है। वहाँ के शासक बुन्देलखण्ड के अन्य आश्रित जागीरदारों के समान ही है। अतः जागीर देने वाले को उत्तराधिकारी नियत करने का पूरा अधिकार है। झाँसी के जितने शासको के अंग्रेजों से सम्बन्ध रहे, उनमें किसी का भी उत्तराधिकारी नहीं रहा। गंगाधर राव का कोई पुत्र न था। उनक पुत्र गोद लेने की इच्छा प्रजा को भी ज्ञात न थी। जिस रामचन्द्र राव को झाँसी राज्य वंश–परम्परा के लिये दिया गया था,

उसके दत्तक पुत्र को भी सरकार ने अस्वीकार कर दिया था। अतः गंगाधर राव के दत्तक पुत्र को अस्वीकार करने का सरकार को पूरा अधिकार है।[67]

इस अधिकार के अनुसार सरकार को झाँसी को अपने नियन्त्रण में लेने का पूर्ण अधिकार है। यद्यपि इस छोटे से राज्य को अपने अधिकार में लेने से सरकार को विशेष लाभ नहीं है। फिर भी यह सरकारी क्षेत्र है। इसे अधिकार में लेने से सरकार को बुन्देलखण्ड की व्यवस्था सुधारने में मद्द मिलेगी। इससे झाँसी का भी कल्याण होगा। निम्न तथ्य ध्यान देने योग्य है –

रामचन्द्र राव के बाद जिसे गद्दी दी गयी, वह कुष्ठ रोगी निकला। उसने अपने तीन ही वर्षो के कार्यकाल में अपनी अयोग्यता सिद्ध कर दी, झाँसी की आर्थिक व्यवस्था डाँवाडोल हो गयी। फिर गंगाधर राव को सिंहासन पर बैठाया गया वह भी शासन के अयोग्य थे, अतः कुछ समय तक उन्हें भी पूर्ण राज्य नहीं दिया गया।

रानी ने जालौन के समान दत्तक पुत्र को स्वीकार करने की प्रार्थना की है। सन् 1832 में दत्तक पुत्र लेने की स्वीकृति देते समय जालौन की वार्षिक आय 15 लाख थी, जो आठ वर्षो में आधी से भी कम रह गयी है। वहाँ अव्यवस्था फैल गयी है तथा राज्य पर तीस लाख का ऋण चढ गया है। उसकी हरीभरी भूमि वीरान होने लगी है। अतः झाँसी के राजा के दत्तक पुत्र को स्वीकार करना उचित नहीं होगा।

इस तरह जालौन के ही समान झाँसी में दत्तक पुत्र को मान्यता देने के परिणाम अच्छे नहीं होंगे। इन सब बातों पर सचेत होकर विचार करने पर मेरा यही मत है कि राजनीति और कर्तव्य को ध्यान में रखकर ब्रिटिश सरकार झाँसी पर अपने अधिकार को पूरी तरह कार्यान्वित करे। गंगाधर राव के दत्तक पुत्र को अस्वीकृत कर झाँसी को उत्तराधिकारहीन माना जाए तथा अंग्रेजी राज्य में मिला

लिया जाए। राजनीतिक अभिकर्ता की राय के अनुसार रानी को अच्छी तरह वेतन दिया जाए तथा झाँसी की व्यवस्था लेफ्टीनेट गवर्नर के अधीन रखी जाए।

– दिनाँक 27 फरवरी 1854 ई.

डलहौजी के इस निर्णय में दिये गए तर्को में कितना सार है, यह बात पिछले वृतान्तों से भली–भाँति स्पष्ट हो जाती है। [68] उसने यह दिखाने का प्रयास किया है कि रामचन्द्र राव को झाँसी का राज्य अंग्रेजों की कृपा पर दिया गया था। पूर्व वृत्तान्तो से स्पष्ट है कि यह कथन पूर्ण तथा सत्य नही है। डलहौजी के लिए ऐसा करना कोई नयी बात नहीं थी। उसके इन तर्को में कितना दम है, जालौन के प्रसंग से यह भली–भाँति स्पष्ट हो जाता है, एक राज्य को एक अधिकार दिया जाय और दूसरे को नहीं इसे तानाशाही नहीं तो और क्या कहा जा सकता है। उसने उपर्युक्त विवरण में कहा है कि पुत्र न होने पर देशी राजा उसी व्यक्ति को गोद ले सकतें है, जिसे अंग्रेजी सरकार निश्चित करे। इसे क्या कहा जा सकता है ? गोद भी ले तो अंग्रेजों द्वारा तय किये बालक को। इस निर्णय से हिन्दुओं के गोद लेने के धर्म–सम्मत अधिकार का स्पष्ट उल्लंघन होता था। जबकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में ही जार्ज तृतीय द्वारा प्रदत्त अधिकार–पत्र में स्पष्ट कर दिया गया था कि धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा–"देश के निवासियों के सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं तथा नियमों का उचित सम्मान करने के लिए यह नियम बनाया जाए कि परिवारो के स्वामियों के अधिकार उसी प्रकार सुरक्षित रहेगे जिस प्रकार उन पर हिन्दू या मुसलमानों के नियमो के अनुसार व्यवहार होता था।" [69]

डलहौजी के इस निर्णय की भारतीयो ने ही नहीं, स्वयं कई अंग्रेजों ने भी आलोचना की है। अपनी पुस्तक 'इण्डियन इम्पायर' में मेजर बेल ने इस निर्णय

की कड़ी आलोचना की है। यह निर्णय अंग्रेजी राज्य का मित्रता के साथ विश्वासघात का एक प्रबल प्रमाण है। स्पष्ट है कि अंग्रेजी सरकार ने स्वयं अपना वचन भंग कर दिया था। उसने झाँसी के पूर्ववर्ती शासको के साथ हुई सन्धियों को एक किनारे रख दिया था। ब्रिटिश सरकार की देशी राज्यो के साथ जो भी सन्धियां हुई उनके आशय को स्पष्ट करते हुये पार्लियामेन्ट सभा के एक सदस्य डब्ल्यू. एम. टारेंस ने लिखा है–

"सन्धियो की भाषा प्रायः संक्षिप्त होती हैं और उनके शब्द सामान्य अर्थ ही सूचित करते हैं। उनमें यह बात पायी जाती है कि काल्पनिक और आकस्मिक रूप से घटित होने वाली घटनाओं का समस्त अर्थ पहले ही निश्चित करके उन सभी का समुचित प्रबन्ध कर दिया जाता है। उनका वास्तविक निश्चित उद्‌देश्य यही होता है कि सरल भाषा में शान्ति और मित्रता के सम्बन्धो का स्थूल वर्णन कर दिया जाए। इन सन्धियो का सूचित अर्थ यही होता हैं, कि जब भी आवश्यकता हो, उनका ऐसा प्रयोग करना चाहिए, जो दोनो पक्षो को स्वीकार हो या किसी निष्पक्ष व्यक्ति से निर्णय कराया जाना चाहिए। परस्पर व्यवहार विषयक अधिकार का यही नियम हैं। इस नियम का पर्यावलोकन करने पर यही ज्ञात होता हैं कि जब उत्तराधिकारी वंशानुगत रूप में दिया गया था, तब उसका यही अर्थ लगाया गया कि समय पर जो भी उत्तराधिकारी होगें, उन्हें राज्य का समस्त अधिकार तथा वैभव प्राप्त होगा। इस बात का निर्णय विदेशियों के विधान के अनुसार नहीं किया जाएगा, अपितु उस राज्य के नियमों के अनुसार किया जाएगा, जिसकी स्वायत्तता की रक्षा के लिए सन्धि की गयी थी।"

किन्तु झाँसी पर अपना निर्णय लिखते समय डलहौजी ने इस आशय को समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वस्तुतः गोद लेने के विषय में अंग्रेजी सरकार ने सदा मनमानी की। जहाँ और जब वह ऐसा करना अपने हित में समझती थी, तो

गोद लेने की अनुमति दे देती थी, और जहाँ ऐसा न करना अपने लिए लाभदायक समझती थी, तो इसे अस्वीकार कर देती थी। पूर्व कथित जालौन आदि के प्रसंगो में उसकी यह नीति सर्वथा स्पष्ट हो जाती हैं। इसके कुछ अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते है। इस विषय में वीर विनायक दामोदर, सावरकर की कृति '1857 का स्वतन्त्रता संग्राम' की निम्नलिखित पंक्तियो को उद्दत करना समीचीन होगा –

"अब तक मृत राजाओं की पत्नियों के गोद लिये पुत्रों को अंग्रेजों ने इससे पूर्व कभी मान्यता न दी होती, तो हम कुछ न कहते, किन्तु यह तो सर्वश्रुत हैं कि 1826 में दौलत राव शिन्दे की विधवा रानी के, 1836 में जनकोजी शिन्दे की विधवा के, 1834 में धार के राजा की विधवा के और 1841 में किशनगढ़ की रानी के गोद लिये पुत्रों को अंग्रेजों ने मान्यता दी थी। एक नहीं, दो नहीं, अनेक दत्त विधानों को उन्होंने मान्य किया था, किन्तु इस सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि उस समय गोद लेने का अधिकार मान्य करना अंग्रेजों के लिए लाभप्रद था।" [70]

इस बीच जब तक सरकार की ओर से कोई उत्तर न आया तो महारानी ने 16 फरवरी, 1854 को एक पत्र मालकम के माध्यम से पुनः गवर्नर जनरल को भेजा जिसमें उन्होंने अपने दत्तक विधान के औचित्य का प्रतिपादन किया था। इसे मालकम ने 28 फरवरी को भेजा। ध्यान देने योग्य है कि अभी तक मालकम न सदा रानी के अधिकार का विरोध किया था, किन्तु इस पत्र में उसने उनके अधिकार को उचित ठहराया था। इस पत्र के भेजे जाने से पूर्व ही डलहौजी अपना निर्णय ले चुका था।

महारानी तथा उनके दरवारी आशा लगाये बैठे थें, किन्तु फिर भी संशय उन्हें चैन नहीं लेने दे रहा था। इन दिनो महारानी अधिकतर पूजन–अर्चन, पठन–पाठन तथा धार्मिक ग्रन्थों की कथाओं को सुनने में समय बिता रही थीं।

वस्तुतः झाँसी के अंग्रेजी राज्य में विलय की घोषणा तो 27 फरवरी, 1854 के दिन डलहौजी के उपर्युक्त निर्णय के साथ ही हो गयी थी, किन्तु सूचना पहले बुन्देलखण्ड के राजनीतिक अभिकर्ता मालकम के पास भेजी गयी। मालकम ने इसे झाँसी के उप–राजनीतिक अभिकर्ता एलिस के पास भेजा तथा वह इसे लेकर रानी के पास गया। [71]

उस दिन प्रातः काल रानी नित्यकर्मो से निवृत होकर बैठी ही थी कि तभी उन्हे एलिस के आने की सूचना दी गयी। सूचना मिलतें ही उनके मानस में कई तर्क–विर्तक जन्म लेने लगे। एलिस को दरबार में बुलाने का कह रानी स्वयं भी वहाँ पहुँची। दरबार में सभी मन्त्री–सभासद, मोरोपन्त आदि बैठे हुए सरकारी आदेश सुनने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे। रानी परदे के पीछे बैठ गयी। एलिस को भी सम्मान के साथ बैठाया गया। गम्भीर होकर सहानुभूति पूर्ण स्वर में वह बोला–

"महारानी साहिबा ! मुझे अत्यन्त खेद हैं कि मैं आपको वह शुभ समाचार नहीं सुना सकता, जिसकी इच्छा लम्बे समय से मेरे मन में थी तथा जिसे प्राप्त करने के लिए मैं अब तक बड़ी व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रहा था। मैं इसके सर्वथा विपरीत सरकारी घोषणा सुनाने के लिए बाध्य हूँ, जिसे सरकार बहादुर ने आपकी प्रजा के नाम जारी किया है। वह घोषणा इस प्रकार है।" [72]

इसके बाद उसने लिखित घोषणा पढ़कर सुनाई–

"झाँसी राज्य की समस्त प्रजा के लिए सरकार इस आज्ञा–पत्र द्वारा यह घोषणा करती हैं कि 21 नवम्बर 1853 को महाराज गंगाधर राव का देहान्त हो गया हैं। वह महाराज अंग्रेजी सरकार के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त थे, जो स्वतन्त्र शासक कभी नहीं रहें। उनके पूर्वजों को झाँसी की सूबेदारी पेशवा से प्राप्त हुयी थी, अतः वे पेशवाओं के अधीन थें। सन् 1817 में अंग्रेजों से हुई सन्धि में पेंशवा ने झाँसी

प्रान्त के सभी शासनाधिकार हमें दे दिये, तब से अंग्रेजी सरकार ही इसकी वास्तविक अधिकारी है। तब से झाँसी के सिंहासन पर बैठे सभी शासक अंग्रेजों के अधीन उनके प्रतिनिधि थें। अंग्रेजी सरकार ने अपने किसी भी अधीनस्थ राजा को पुत्र गोद लेने का अधिकार कभी नहीं दिया और न ही कभी यह शर्त स्वीकार की कि अधीनस्थ राजा के गोद लिये पुत्र को उसके औरस पुत्र के समान अधिकार प्राप्त होंगे।

अतः गवर्नर जनरल गंगाधर राव के निधन के बाद उनका कोई औरस पुंत्र न होने के कारण उनके दत्तक पुत्र को अस्वीकार करते हैं तथा 7 मार्च, 1854 की आज्ञा के अनुसार सरकार घोषणा करती हैं कि झाँसी राज्य के समस्त क्षेत्र को बुन्देलखण्ड के उप–राजनीतिक अभिकर्ता मेजर एलिस के अधीन कर दिया गया है। अतः अब से इस समस्त प्रदेश पर अंग्रेजी सरकार का शासन समझा जाएगा तथा झाँसी राज्य की प्रजा ध्यान दे कि भविष्य में वह अंग्रेजी राज्य के अधीन रहेगी और अपने सभी कर आदि अंग्रेजी सरकार के प्रतिनिधि मेजर एलिस को देगी।" [73]

इन शब्दों को सुनते ही महारानी ने गर्जना की–

"मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी।"

यद्यपि रानी के इन शब्दों को उस समय उनके भावावेश के उद्‌गार मात्र समझा गया, किन्तु भावी घटनाओं ने सिद्ध कर दिखाया कि ये शब्द कोरे शब्द नहीं थे, अपितु यह रानी का दृढ़ निश्चय था, अपनी इसी आन का मान रखने के लिए अन्तः उन्होंने अपने प्राणो की आहुति दे दी।

(3) रानी लक्ष्मीबाई की सामरिक, सामाजिक व राजनैतिक सोच :

रानी जब से घुड़सवारी के लिए बाहर निकलने लगी, तब से वह मर्दाना पोशाक पहनने लगी थी– सिर पर लोहे का कुला, ऊपर साफा, उसका एक खूँट पीछे फहराता हुआ। कंचुकी के ऊपर सटा हुआ अँगरखा, पैजामा, अँगरखे और

पैजामें पर कसी हुई पेटी। दोनो बगलो में पिस्तौले और दोनों ओर परतलो में तलवारें। कभी–कभी इतने सब हथियारों के अलावा नेजा भी हाथ में साध लेती थी। उनको काठियावाड़ी घोड़े अधिक पसन्द थे और सफेद रंग के खास तौर पर। घोड़ो की उनको विलक्षण पहचान थी। [74]

उन्हें कुला् लगाकर साफा बाँधने में एक असुविधा अवगत होती थी–लम्बे केशो के कारण। विघवा थी, इसलिए महाराष्ट्र की प्रथा के अनुसार बाल मुड़वाने में कोई बाधा न थी। अपने केशों का कोई मोह था नहीं। सोचा काशी जाकर मुंडन करा ले। इस प्रकार काशी में बैठकर उस ओर की राजनीतिक परिस्थिति का आभास भी मिल जाएगा। एक भावना और थी–जिस घर में माता ने जन्म दिया था, उसके भी दर्शन मिल जाएँगे।

खोज करने पर मालूम हुआ कि बिना डिप्टी–कमिश्नर की अनुमति के काशी यात्रा के लिए नहीं जा सकती।

अनुमति के लिए गार्डन को अरजी दी गई। उसके पास दीवान जवाहर सिंह इत्यादि के रानी के पास आने–जाने की खबरे, पहुँच चुकी थी। वह चिढ़ा हुआ था। दूसरे अपने अधिकार को करारे के रूप में लाने का अभ्यासी था। काशी–यात्रा के लिए जो अरजी दी गई थी, वह उसने अस्वीकृत कर दी। जिसने सुना, उसी के जी को चोट लगी। रानी ने प्रण किया कि–"मैं केश–मुंडन तभी कराऊँगी, जब हिन्दुस्तान को स्वराज्य मिल जाएगा, नहीं तो श्मशान में अग्निदेव मुंडन करेगें।" उनकी यह भीषण प्रतिज्ञा सभी को मालूम थी। वे सब इस प्रतिज्ञा पर प्रसन्न थे।

जिस दिन गंगाधर राव का देहान्त हुआ, लक्ष्मीबाई अठारह वर्ष की थी। इस दुर्घटना का उनके मन और तन पर जो आघात हुआ वह ऐसा था, जैसे

कमल को तुषार मार गया हो। परन्तु रानी के मन में एक भावना थी, एक लगन थी, जो उनको जीवित रखे थी। वह छुटपन के खिलवाड़ में प्रकट हो जाती थी। इस अवस्था में वह उनके मन के किस कोने में पड़ी हुई थी, इसको बहुत कम लोग जानते थे। जो जानते थे, उनमें से एक तात्या टोपे था, दूसरा नाना धोंडूपंत। [75]

राजा गंगाधर के फेरे के लिए बिठूर से नाना धोडूपंत अपने दोनों भाईयों सहित आया। तात्या भी साथ था। वे सब जवान हो गए थे। पेंशन के जब्त हो जाने के कारण संतप्त थे और रोष भरे। गंगाधर राव के देहांत के कारण उनको बड़ी ठेस लगी। जालौन का राज्य समाप्त हो चुका था। महाराष्ट्र की एक गद्दी झाँसी की ही बची थी। उनको भय था कि यह भी विलीन होने जा रही है। रानी किलेवाले महल मे ही रहती थी। वही उनकी सहेलियाँ और सिपाही–प्यादे भी। नीचे का महल, हाथीखाना, सेना, घोड़े, हथियार इत्यादि सब हाथ में थे। नगर का शासन सूत्र भी अधिकार में था। राज्य की माल दीवानी भी उनके मन्त्रियों के हाथ में थी, परन्तु कम्पनी सरकार झाँसी की छावनी में अपनी सेना और तोपें बढ़ाने में व्यस्त थी। इससे मन में कुछ खटका उत्पन्न होता था। शोक संवेदना के उपरान्त नाना के दोनों भाई बिठूर चले गए। नाना और तात्या रह गए। विकट ठंड थी। ठिठुरा देने वाली, दीन–दरिद्रों के दाँत–से–दाँत बजाने वाली। उस पर संध्या से ही बादल घिर आए। आँधी चल उठी और पानी बरस पड़ा। नाना और तात्या रानी से बातचीत करने संध्या के पहले ही किले के महल में गए। भोजन के उपरान्त बातचीत होनी थी और फिर डेरे को लौटना था। परन्तु ऋतु की कठोरता के कारण उनके विश्राम का वही प्रबन्ध करवा दिया।

दीवाने खास में बैठक हुई। सुंदर, मुंदर और काशीबाई भी रानी के साथ थी। दुर्बल हो जाने के कारण रानी का मुख जरा लम्बा जान पड़ता था। तो भी

उस सतेज सौंदर्य के आतंक में वही आदर उत्पन्न करने वाला ओज था। विशाल आँखो की ज्योति और भी ज्वलंत थी। रानी कोई भी आभूषण नहीं पहने थी–केवल गले में मोतियों की एक माला और हाथ में हीरे की एक अँगूठी। श्वेत साड़ी पर एक मोटा दुशाला ओढ़े थी। सहेलियाँ भी जेवरो का त्याग करना चाहती थी, परन्तु रानी के आग्रह से उन्होंने ऐसा नहीं किया था।

बातचीत का सिलसिला शुरू होता हैं। रानी ने कहा बुन्देलखण्ड के रजवाड़े बुझे हुए दीपक है। उनमें तेल है, परन्तु लौ नहीं। हमें उनमें लौ पैदा करनी होगी। तुम लोगो ने ढूँढ़–खोज की। उन्होंने कहा कि आज वीरसिंह देव, छत्रसाल और दलपति के बुन्देलखण्ड का हाल कुछ और होना चाहिए था। लखनऊ, दिल्ली, ग्वालियर, इंदौर, भोपाल, हैदराबाद, पंजाब की सिक्ख रियासतों का क्या हाल है ? जहाँ तक झाँसी की बात है तो झाँसी में तो अब कुछ है ही नहीं। नाना ने कहा झाँसी में ही तो हम लोगों का सब कुछ है। मनू बाईसाहब, झाँसी ही तो हम लोगों की एक आशा है। दामोदरराव की गोद अवश्य स्वीकार की जाएगी। एलिस ने गोलमोल अवश्य लिखा है परन्तु कलकत्ता में अपने कुछ मित्र हैं। वे लोग कुछ सहायता करेगें। रानी ने कहा एलिस, मालकम सब एक ही थैली के चट्टे–बट्टे है। ये लोग अपने लाट के नेत्रकोर के संकेत पर चलते है।

तात्या ने कहा मैं यो ही घूमा–फिरा हूँ। विशेष तौर पर यहाँ के किसी राजा ने प्रसंग नहीं छेड़ा। परन्तु वातावरण बिलकुल ठस जान पड़ा। राजाओं को अपने सरदारों और प्रजा से प्रणाम लेने में सुख की इति अनुभव होती है। हास–विलास और सुरापान में मस्त रहते हैं। लखनऊ और दिल्ली का हाल कुछ अच्छा हैं। दिल्ली का बादशाह वृद्ध है। अपनी स्थिति से बहुत दुखी है। मन के महाकष्ट को कविता में होकर घटाता रहता हैं। ग्वालियर के राजा का अभी लड़कपन है। अंग्रेज प्रबन्ध

कर रहे हैं। इंदौर में गया था। वहा का तो कचूमर ही निकल गया है। हैदराबाद एवं भोपाल अंग्रेजों का परम भक्त है लेकिन जनता अपने साथ है। पंजाब में मैं कहीं–कहीं गया, सिक्खों में अंग्रेजों को पछाड़ने की शाक्ति होते हुए भी फूट इतनी विकट है और राजा इतने स्वार्थाध हैं कि अंग्रेज उस ओर से बिलकुल निश्चिंत रह सकते हैं। [76]

नाना ने कहा, बाईसाहब, यह लाट और इसके भाई–बंद 'यावच्चंद्र दिवाकरौ' वाली सन्धि को समूचा ही पचा गए है। झाँसी वाली सन्धि में न तो दिवाकर की सौगंध है और न चन्द्रमा की। इनकी लिखतम का, इनकी बात का कोई भरोसा नहीं। हमारी पेंशन के छीनने के समय कहा था– तीस बत्तीस साल में आठ लाख रूपया साल के हिसाब से तीन करोड रूपया बैठता है। वह सब कहाँ डाला ? इनका विश्वास नहीं करना चाहिए। बाईसाहब ये लोग अपने स्वार्थ पर अचल रूप से डटे रहते हैं जब तक स्वार्थ को ठोकर लगने का अंदेशा नहीं रहता तब तक हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर जैसा बर्ताव करते है, परन्तु जहाँ देखते हैं कि स्वार्थ को धक्का लग जाएगा, तुरंत पैतरा बदल देते है, और इतने धूर्त है। कि इनमें से कुछ न्याय करने–करवाने का ढ़ोग बनातें है। और दूसरे उसी ढोंग की ओट में स्वार्थ की सिद्धि करते है। जैसे, हेस्टिंग्स ने अवध की बेगमों को लूटा। कुछ अंग्रेजों ने उस पर मुकदमा चलाया। बाकी ने इनाम देकर उसको छोड़ दिया। इधर बेचारा नंदकुमार बंगाली फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

रानी ने जरा सोचकर कहा, मैं इन सब बातों को सुनकर इस निष्कर्ष पर पहुँचती हूँ कि जनता के चित का पता अभी पूरा नहीं लगाया गया हैं। जनता असली शक्ति है। मुझको विश्वास है कि वह अक्षय है। छत्रपति ने जनता के भरोसे ही इतने बडे दिल्ली सम्राट को ललकारा था, राजाओं के भरोसे नही। मावले, कुणभी

किसान थे और अब भी हैं। उनके हलों की मूठ में स्वराज्य की लालसा बँधी रहती है। यहाँ की जनता को भी मैं ऐसा ही समझती हूँ। उसको छत्रपति ने नेतृत्व दिया था, यहाँ की जनता को तुम दो। वे दोनों सिर नीचा करके सोचने लगे। रानी ने अपनी सहेलियो की ओर देखकर कहा, तुम लोग क्या कहती हो ? सुन्दर ने तुरन्त उत्तर दिया मैं सरकार, कुणभी हूँ और क्या कहूँ ? आपकी आज्ञा का पालन करते हुए मरने के समय आगे–पीछा नहीं सोचूँगी। नाना ने कहा तुम ठीक कहती हो बाईसाहब अभी हम लोग जनता के पास नहीं पहुँचे हैं। आशा हैं, जनता शीघ्र जागृत हो जाएगी। परन्तु वह बिना नेता के कुछ नहीं कर सकती। नेता को नहीं ढूँढ़ना पड़ता रानी बोली, समर्थ रामदास का आशीर्वाद नेता को तो बिना विलंब उत्पन्न कर देता हैं। हाँ, जो साधन जहाँ मिले उसका उपयोग करना चाहिए। जनता मुख्य साधन हैं। राजा और नवाब की पीढ़ी दो पीढ़ी ही योग्य होती है, परन्तु जनता की पीढ़ियो की योग्यता कभी नहीं छीजती। नाना ने एक प्रश्न और क्या कि यदि तुम्हारा अधिकार लाट के यहाँ से मान्य रहा तो हमको स्वराज्य प्राप्ति के उपायों के जुटाने में सुविधा रहेगी, परन्तु यदि लाट ने न माना जैसी कि मुझको आशंका है, तब किस प्रकार कार्य साधन होगा ? रानी ने कहा मैं ऐसा क्षण भर भी नहीं सोचती कि लाट नहीं मानेगा। नहीं मानेगा तो मैं मनवाऊँगी। झाँसी राज्य की जनता सोलह आना मेरे साथ है और यहाँ की जनसंख्या महाराष्ट्र के मालवा से अधिक ही हैं, कम नहीं। बुन्देलखण्ड में बाह्मण से लेकर भंगी तक हथियार चलाना जानते है और हथियार चलाने की हौंस रखते हैं। [77]

सन 1854 के आरम्भ में कम्पनी सरकार के बड़े लाट ने गोद को अस्वीकार किया और झाँसी को कम्पनी के राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी। परन्तु मालकम ने इस घोषणा को बहुत छिपा–लुकाकर एलिस के पास भेजा उसको

हिदायत की कि बहुत सावधानी के साथ काम किया जाए, क्योकि उसे मालूम था कि रानी जनप्रिय हैं, कही झाँसी की जनता दंगा–फसाद न कर बैठे। इसलिए एलिस ने सेना द्वारा झाँसी का कठोर प्रबन्ध किया। एलिस ने होशियारी के साथ उस घोषणा को एक जेब में रखा और दूसरी में पिस्तौल। सशस्त्र अंगरक्षको को साथ लेकर रानी के पास किलेवाले महल में पहुँचा। रानी को सूचना दे दी गई थी कि छोटे साहब के पास बड़े लाट की आज्ञा आ गई हैं, उसी को सुनाने आ रहें हैं। मोरोपन्त इत्यादि बहुत दिन से आशा लगाए बैठे थे। दीवाने खास में वे नियुक्त समय पर आ गए। रानी परदे के पीछे बैठी। दीवाने खास में एक ऊँची कुरसी पर दामोदर राव ।[78]

एलिस दृढ़, पर अदृढ़ ह्दय के साथ दीवाने खास में प्रविष्ट हुआ। उसने जेब से मालकम वाली घोषणा निकाली। घोषणा सुनने के बाद यकायक ऊँचे, परन्तु मधुर स्वर में रानी ने परदे के पीछे से कहा, **"मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी।"** इन शब्दो से दीवाने खास गूँज गया। वायुमंडल ने उनको अपने भीतर निहित कर लिया। भारत के इतिहास में वे शंब्द पिरो दिए गए। झाँसी की कलगी में वे शब्द मणि–मुक्ता बनकर चिपक गए। अब एलिस का धड़कता हुआ ह्दय कुछ स्थिर हुआ। बोला, मुझको गवर्नर जनरल साहब की जो आज्ञा मालकम साहब के द्वारा मिली, उसको मैंने पेश कर दिया। जो कुछ मेरे सामर्थ्य में था, मैंने किया। हम सब गवर्नर जनरल साहब की आज्ञा से बँधे हुए है, परन्तु मैं समझता हूँ कि असन्तोष का कोई कारण नहीं है। पाँच हजार रूपया मासिक वृत्ति महारानी साहब और उनके कुटुंब के लिए काफी हैं यह मानना पड़ेगा कि गवर्नर जनरल साहब ने बहुत उदारता का बरताव किया हैं। एलिस का वाक्य समाप्त न हुआ था कि परदे के पीछे से रानी ने उसी ऊँचे और मधुर स्वर में कहा, "मुझको यह वृति नही चाहिए, मैं न लूंगी।"

एलिस ने अधिक ठहरना उचित नहीं समझा। मुंदर रानी के पास

परदे में बैठी थी। जब घोषणा सुनाई गई, वह मूर्छित हो गई थी। एलिस के चले जाने के बाद वह होश में आई। रानी ने कहा क्योंरी मूर्छित होना किससे सीखा ? क्या इस छोटे से राज्य के लिए ही हम लोग जीवित हैं। कुछ ही क्षणो में समाचार सारे नगर में फैल गया। उस समय झाँसी निवासियो के क्षोभ का ठिकाना न था। रानी की सेना तुरन्त युद्ध छेड़ देना चाहती थी, परन्तु रानी ने निवारण किया। कहलवाया, अभी समय नहीं आया है। झलकारी ने जब सुना तो अपने पति पूरन से कहा, 'छाती बर जाय इन अंग्रेजन की, गुटक लई झाँसी।'

रानी के नित्य नियम में कोई अन्तर नहीं आया। अपने कार्यक्रम के अनुसार जब वह विश्राम के लिए बैठी तब मुंदर, सुन्दर और काशीबाई उनके पास आई। वे अपने आभूषण उतार आई थी। रानी ने कहा आभूषण क्यो उतार आई हो ? क्यो इसी समय रणभूमि में चलना हैं ? मुंदर सिसकने लगी, सुन्दर और काशी के नेत्र तरल हो गए। रानी बोली ये चिन्ह तो असमर्थता और अशाक्ति के हैं। अपने सब आभूषण पहनो और इस प्रकार रहो मानो कुछ हुआ ही नहीं हैं। चंचल आँसुओं में होकर उन तीनो ने रानी के तेजस्वी रूप को देखा–कई लक्ष्मीबाइयाँ, कई सतेज नेत्र दिखाई पड़े। उन्होंने अपनी आँखे पोछी। रानी ने कहा, ये आँसू बल का क्षय करेगें। अभी तो अपने कार्य का प्रारम्भ भी नहीं हुआ है। सोचो, जब छत्रपति के उपरांत शंभूजी मारे गए, साहू समाप्त, राजाराम गत, तब ताराबाई की गाँठ में क्या रह गया था ? इतने बड़े मुगल सम्राट को ताराबाई कैसे परास्त कर सकी ? रो–रोकर ? और सोचों, जीजाबाई को पति का सुख नहीं मिला। उन्होंने छत्रपति को पाला। काहे के लिए ? किस आशा से ? गद्दी पर बैठाने के लिए ? उन्होंने इतना तप, इतना त्याग अपने पुत्र को केवल हाथी की सवारी और नरम–नरम गद्दी पर विराजमान कराने के लिए किया था ? वे सहेलियाँ सचेत हुई। रानी कहती गई हमको जो कुछ करना

हैं उसकी दिशा निश्चित है। मार्ग में विधनबाधाएँ तो आती ही हैं। खरीते का स्वीकृत न होना केवल एक बाधा ही हैं। स्वीकृत हो जाता तो क्या हम लोग केवल सो जाने के लिए ही जीवित रहती ? भगवान कृष्ण की आज्ञा को याद रखो की हमको केवल कर्म करने का अधिकार हैं। कर्म के फल का नहीं। देखो, छत्रपति के उपरान्त जिन लोगों ने स्वराज्य के आर्दश को आगे बढ़ाया और उसकी जड़े, प्रबल बनाई वे बाधाओं का डटकर प्रतिरोध करते रहतें थे। जिन लोगो की लालसा अपने लिए फलों की ओर गई, वे गिर गए और स्वराज्य की धारा धीमी पड़ गई। परन्तु वह सूखी कभी नहीं। दादा बाजीराव पेशवा हतप्रभ होकर बिठूर चले आए। परन्तु हम लोगो को वे स्वराज्य की शिक्षा देने से कभी नहीं चूके। यदि हिन्दुस्तान में कोई भी उस पवित्र काम को अपने हाथ में न ले तो भी, मैंने अपने कृष्ण के सामने अपनी आत्मा के भीतर उसका बीड़ा उठाया है। करूँगी और अवश्य करूँगी। चाहे मेरे पास खड़े होने के लिए हाथ भर भूमि·ही क्यों न रह जाए। मान लो कि मैं सफल न हो पाई तो भी जिस स्वराज्य धारा को आगे बढ़ा जाऊँगी, वह अक्षय रहेगी। [79]

उसी महावाक्य को सदा याद रखो–हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, फल का कभी नहीं। हमको एक बड़ा सन्तोष है, जनता हमारे साथ हैं। जनता सब कुछ है, जनता अमर है, इसको स्वराज्य के सूत्र में बाँधना चाहिए। राजाओं को अंग्रेज भले ही मिटा दे। परन्तु जनता को नहीं मिटा सकते। एक दिन आएगा, जब इसी जनता के आगे होकर मैं स्वराज्य की पताका फहराऊँगी। सहेलियों की आँखों में चमत्कार उत्पन्न हो गया। रानी बोली, मुझसे आज एक भूल हो गई। मुझको एलिस के सामने कुछ नहीं कहना चाहिए था। मेरे उस वाक्य से वह अपने संगी अंग्रेजों सहित चौकन्ना हो जाएगा। वृति भी अस्वीकृत नही करनी चाहिए थी। अंग्रेज जाति बहुत धूत हैं उसका सामना चाणक्य नीति से ही हो सकता हैं। मैं वृति

को स्वीकृत करूँगी और आगे सावधानी के साथ काम करूँगी।

इस प्रकार रानी को पाँच हजार रूपये महीने की मासिक वृति और रहने के लिए झाँसी नगर का महल मिला। किला खाली करा लिया गया। रानी की सेना को छह महीने का वेतन देकर अपदस्थ कर दिया गया। हिन्दुस्तान उस ओर चलाया जाने लगा, जिसको एक कवि ने इस पद्य में प्रकट किया

महफिल उनकी साकी उनका

आँखे अपनी बाकी उनका।

ओरछा की रानी लँड़ई दुलैया अत्यन्त महत्वाकांक्षी थी। उसने सुजानसिंह के साथ राज्य का बँटवारा कर लिया एवं हमीरसिंह नामक एक लड़के को दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण कर लिया। रानी लँड़ई दुलैया की तीक्ष्ण बुद्धि के सामने पराभूत होकर 1851 एवं 1853 ई. में सुजान सिंह झाँसी के राजा गंगाधर राव की शरण ग्रहण कर लेता हैं। ब्रिटिश सरकार 1854 ई. में रानी लँड़ई दुलैया के दत्तक पुत्र हमीरसिंह को उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार कर लेती हैं। इसी समय निर्णय होता हैं कि पुरानी सहायता एवं कर्जा चुकाने की बाबत ओरछा की टहरौली जागीर का वार्षिक लगान 6,000 रूपया झाँसी राज्य को देना होगा। ओरछा के नाबालिक राजा हमीरसिंह की तरफ से रानी लँड़ई दुलैया आपत्ति के साथ यह कर प्रतिवर्ष झाँसी राज्य को देती आ रही थी। झाँसी एक समय ओरछा के अन्तर्गत था। बुन्देलखण्ड के इस मराठा राज्य के प्रति दतिया, ओरछा आदि राजपूत राज्य विद्वेश रखते थे। उसका कारण नेवलकर शासको के द्वारा झाँसी की उत्तरोत्तर समृद्धि थी। झाँसी को ह्यूरोज ने 'मध्य भारत का सर्वाधिक समृद्विशाली नगर' कहा था। [80]

ब्रिटिश सरकार के द्वारा ओरछा राज्य को वार्षिक छह हजार रूपया कर के रूप में देने को बाध्य करने के कारण दोनों राज्यो के बीच में पुराना विरोध

और विद्वेष और भी तीव्र हो उठा था। इसी कारण झाँसी की इस असुरक्षित अवस्था में रानी लँड़ई दुलैया उस सब विरोध का बदला लेने के लिए कमर कसकर तैयार हो गई। उसका दीवान नत्थे खाँ बीस हजार सेना एवं पर्याप्त मात्रा में युद्ध का समान लेकर झाँसी राज्य के विभिन्न भागो पर विजय प्राप्त करता हुआ झाँसी नगर की तरफ बढ़ने लगा। नत्थे खाँ के आक्रमण और लक्ष्मीबाई द्वारा ओरछा की सेना के प्रतिरोध के सम्बन्ध में दतिया के राजा विजय बहादुर के आश्रित एक कवि कल्याण सिंह कुड़रा ने 'लक्ष्मीबाई रासो' की रचना की थी। बुन्देलखण्ड़ी भाषा में रचित इस रासो को आज भी दतिया, ओरछा, पन्ना, छतरपुर, हमीरपुर, आदि सब जगह घर–घर में गाया जाता है। कवि ने कहा हैं–

संवत् दस सौ सैकरा, ऊपर चौदह साल।
तास मध्य अंग्रेज कौ, आपुस में हलचल।।
फिरि फिरटौं छावनी, भरौ गदर असवार।
जे पाए अंग्रेज जहँ, ते ताँ डारे मार।।

छलबल सौ झाँसी लई, गंगाधर की नार।
ताकौ अब आगे कहत, भलीभाँति व्यवहार।।
शहर ओरछे की हती, कहि लड़ाई (रानी) सिरकार।
नत्थे खाँ मुख्तियार सौं, बात कही निरधार।।

रानी ने अंग्रेज अधिकारियों को पड़ोसी राजपूत राज्यों के क्रिया कलापों के सम्बन्ध में अवगत करा देने की आवश्यकता महसूस की। उसने राजनैतिक सुरक्षा की खातिर झाँसी के किले पर विलियम बैंटिंग के द्वारा झाँसी के राजा रामचन्द्र राव को प्रदत्त यूनियन जैक को लगवा दिया। नत्थे खाँ उन्हीं दिनो बेतवा के किनारे तम्बू लगा लेता है। रानी ने एरस्काइन के पास सहायता के लिए एक पत्र

भेजा। एरस्काइन को रानी का वह पत्र मिल गया था इसका प्रमाण राजकीय अभिलेखागार (दफ्तर) में है। उसने लिखा था–

रानी नाममात्र की शासक हैं। सारे जनपदो में अराजकता चल रही है। टेहरी की रानी के सेनापति और दतिया के राजाओं द्वारा दोनों ओर से झाँसी पर आक्रमण कर देने के कारण विपदाग्रस्त रानी ने सहायता की याचना की हैं।

– 2–10–1857

रानी की विपन्नावस्था सहज ही अनुमान के योग्य है। क्योंकि 19 अक्टूबर एवं 16 और 21 नवम्बर इन तीनो बार एरस्काइन ने उपर्युक्त आशयवाली एक ही रिपोर्ट प्रस्तुत की हैं।[81]

आश्चर्य यह हैं कि एरस्काइन ने स्वयं ही रानी को झाँसी के शासन का भार सौंपा था, किन्तु रानी की आसन्न विपत्ति के समय उसने रानी के पत्रो की पहुँच तक स्वीकार नहीं की और रानी के इस समय के क्रिया कलापों के लिए स्वयं का घोषणापत्र ही जिम्मेदार है, यह बात भी उसने प्रकट नहीं की। इससे भी आश्चर्य की बात यह हैं कि झाँसी पर ओरछा के आक्रमण को युक्ति युक्त ठहराने के लिए उसने तर्क दिया कि "ओरछा की रानी ब्रिटिश शासन की मित्र हैं।"

एरस्काइन के इस निहित स्वार्थवाले आचरण के कारण रानी ब्रिटिश सरकार की सहायता की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं युद्ध के लिए तैयार होने लगी।

इसी बीच बेतवा नदी के बालू भरे तट पर तंबू डाले नत्थे खाँ ने रानी को पत्र लिखा–

"ब्रिटिश सरकार ने तुम्हें जो मशविरा दिया है वही मैं भी दूँगा। तुम किला और शहर छोड़कर चली जाओ।"

महारानी ने नत्थे खाँ के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और

अपने कर्मचारियो से विचार–विमर्श किया कि परिस्थिति का सामना किस प्रकार किया जाए। झाँसी के पास उस समय साधनो का अभाव था, जबकि नत्थे खाँ साधन–सम्पन्न था। इस सब पर विचार करते हुए कुछ कर्मचारियों ने परामर्श दिया कि नत्थे खाँ का प्रस्ताव स्वीकार कर लेना चाहिए। अपने कर्मचारियो के मुँह से ऐसी भीरूता भरी बात सुनकर महारानी को बड़ी निराशा हुई। क्रोधित होकर वह बोली–''तुम्हारे मनुष्य जीवन को धिक्कार है, मैं स्त्री होकर भी साहस और धैर्य से अपने कर्तव्य का पालन करना चाहती हूँ और तुम पुरूष होकर ऐसे कायरतापूर्ण शब्द मुँह से निकालते हो। इस निःसार संसार में एक दिन सभी को मारना हैं। यदि हम अपनें राज्य के काम आ जाएँ और कर्तव्य–पालन में हमारा जीवन समाप्त हो जाएँ, तो क्या हमे इस लोक और परलोक में यश नहीं मिलेगा ? मैं युद्ध से कभी विमुख नहीं होना चाहती।''

महारानी के कई कर्मचारी ओरछा राज्य के थे। कहा जाता हैं कि उनमें से कुछ नत्थे खाँ से मिल गये थे। उन्हीं कर्मचारियो ने महारानी को नत्थे खाँ का प्रस्ताव मान लेने का परामर्श दिया था। किन्तु महारानी ने उनके परामर्श को ठुकरा दिया। इसके बाद उन्होंने नत्थे खाँ के प्रस्ताव के विषय में उसे पत्र लिखा, जिसके निम्न शब्द विशेष उल्लेखनीय हैं –

''मैं वीर–श्रेष्ठ शिवराव भाऊ के वीरवंश की प्रतिनिधि और महाराज गंगाधर राव की पत्नी हूँ। अतः प्रत्येक अभिमानी शत्रु का मानमर्दन करना अच्छी तरह जानती हूँ।''

इस पत्र को पाकर नत्थे खाँ क्रोध से भर उठा और उसने अपने सैनिकों को झाँसी के किले पर धावा बोलने का आदेश दे दिया। महारानी इस परिणाम से पहले ही परिचत हो गई थी, अतः नत्थे खाँ को पत्र लिखने के बाद उन्होंने अपने विश्वासपात्र कर्मचारियों तथा झाँसी राज्य के बड़े–बड़े जागीरदारों को

आमन्त्रित कर एक सभा बुलाई। उन बुन्देले जागीरदारो में ओरछा के राजा के दामाद दीवान दिलीपसिंह, उनके मित्र दीवान रघुनाथ सिंह, झाँसी राज्य के दीवान जवाहर सिंह कटीले वाले आदि थे। सभा में उन्हे सम्बोधित करती हुई रानी ने कहा–"आप लोग ओरछा नरेश के सम्बन्धी तथा झाँसी राज्य के सिंहासन के सेवक है। आप इस कुघड़ी में मेरी सहायता करें। मैं निर्णय ले चुकी हूँ कि मर मिटूँगी, किन्तु नरपशु नत्थे खाँ के समक्ष झुककर अपने पूज्य पति और उनके स्वनामधन्य सर्वमान्य पूर्वज वीरश्रेष्ठ शिवराव भाऊ के पवित्र कुल को कभी कलंकित नहीं करूँगी। अब आप लोग इस विषय पर क्या निर्णय लेते है। आप इस जीवन–मरण के प्रश्न में मेरा साथ देते हैं और अमर यश प्राप्त करते हैं या"

सभी उपस्थित जागीरदार उनका साथ देने के लिए सहमत हो गये। तुरन्त सामना करने की तैयारियाँ होने लगी। किले पर अधिकार करते समय अंग्रेजों ने वहाँ रखी पुरानी तोपे भूमि में दबा दी थी। उन्हें निकाला गया। उनकी मरम्मत की गई। कारखाने में तेजी से गोला–बारूद आदि बनाया जाने लगा। सभी जागीरदार अपनी–अपनी सेनाएँ लेकर पहुँच गये। दूसरी प्रातः महारानी ने दीवान जवाहरसिंह को सेनापति बनाकर रणकंकण बाँध दिया और स्वयं पुरूष वेश में किले के मुख्य बुर्ज पर पहुँच गयी। किले पर तोपें लगा दी गयी और पेशवाओं की प्राचीन ध्वजा तथा यूनियन जैक फहरा दिये गये।[82]

किले के दक्षिणी तरफ, जहाँ आजकल किले में प्रवेश करने की सड़क हैं, उसी का दक्षिणी भाग सबसे सुरक्षित था। अनंत चतुर्दशी के दिन नत्थे खाँ सदलबल उसी तरफ अग्रसर होने लगा। शत्रु सेना के आक्रमण के साथ–ही–साथ किले की बुर्जो से तोपे गरज उठी दो दिन भयंकर युद्ध हुआ। ओरछा गेट की हालत शोचनीय जानकर रानी स्वयं वहाँ की देखरेख करने गई। नत्थे खाँ ने इसी ओरछा

गेट के बाहर प्रायः अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। भग्नोधम सिपाहियो को उत्साहित करने के लिए रानी स्वयं उन्हें सोने की मुहरे आभूषण आदि पुरस्कार में देने लगी। उत्साहित होकर गुलाम गौस खाँ ने हाथी द्वारा खीच लाकर रानी की सर्वश्रेष्ठ तोप कड़क बिजली से भारी गोला–वर्षा शुरू कर दी।

इतै गौस खाँ कमानी चलाई।
कड़के कड़क गाज घन तें सबाई।।
इतै पाँच तोपें चढ़ीं मौत ओपैं।
पचासी घलैं ओड़छे की अलोपैं।

रानी सिपाहियो को भरोसा बँधाती हुई कहने लगी, तुम लोग अगर आज मेरी लाज की रक्षा करते हो, तो युद्ध में मारे गए सैनिको की विधवाओं की मैं भरसक क्षतिपूर्ति करूँगी। कवि की भाषा में –

बाई ने विनती करी सुनो सिपाही बात।
अबके कठिन लड़ाई, लाज तिहारे हात।।
लाज तिहारे हात कौन शंका तब गुण मानो।।
जाँ तक जीबत रहूँ ताँ तक न मानो।।
कहे सुकवि विचार, लोन के लेओ मँजाई।
राँड़न रोटी देऊँ, सनद करकैं मैं बाई।।

सैनिकों ने उत्साहित होकर प्राणपण से युद्ध किया। गुलाम गौस खाँ को रानी ने स्वयं अपने द्वारा पहने जाने वाले स्वर्णिम आभूषणो को देकर सम्मानित किया। घबड़ाकर नत्थे खाँ अपने बीस हाथी, तोपें, अश्त्र–शस्त्र सब झाँसी किले के दक्षिण और पूर्व की दीवार के बाहर फेंककर भागने को विवश हुआ।

रघुनाथ सिंह जाजरवाले रानी की सहायता के लिए झाँसी के पहाड़ी

अंचल में सेना लेकर प्रतीक्षा करने लगे। उसके पराक्रम से नत्थें खाँ की भागती हुई फौज घबड़ाकर तितर–बितर हो गई। नत्थे खाँ के साथ युद्ध में जिन लोगों ने विशेष रूप से पराक्रम दिखाया था, उनमे रघुनाथ सिंह जरैया और दीवान रघुनाथ सिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

रानी की विमाता चिमाबाई के अनुसार बाद में कालिंजर के जागीरदार चौबे और बाणपुर के राजा मर्दनसिंह की मध्यस्थता से झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई एवं ओरछा की रानी लँड़ई दुलैया के बीच सन्धि हो जाती हैं। वे दोनो लोग' झा सहोदर बहिनी प्रमाणें मिलाल्या' (वे दोंनों स्त्रियाँ सहोदर बहनो की तरह मिल गई)। ओरछा राज्य के साथ झाँसी की रानी का विरोध उसके बाद भी बहुत दिनो तक चलता रहा था, इसका प्रमाण अंग्रेज सरकार के दस्तावेजों में विद्यमान हैं। ह्यूरोज झाँसी शहर और किले पर मार्च मास में घेरा डालता है। उन लोगों के आ पहुँचने के कुछ दिन पहले तक ओरछा की रानी की फौज ने झाँसी पर आक्रमण किया था। टॉमस लो ने अपनी 'सेंट्रल इण्डिया' पुस्तक में लिखा हैं –

"हम लोगों की फौज के आ पहुँचने के कुछ दिन पहले टेहरी (ओरछा) की रानी एक छोटी सेना और एक तोप लेकर झाँसी के पास आती है। वह घोषणा क़रती हैं कि वह इंग्लैंड की रानी की ओर से युद्ध करने आई हैं। कुछ देर गोली चलाने के बाद ही उसका युद्ध करने का क्षोभ शान्त हो जाता है।"

ओरछा की सेना झाँसी पर सबसे पहले आक्रमण करती है अक्टूबर 1857 ई. में। नवम्बर मास में जब झाँसी के किले पर नत्थे खाँ आक्रमण करता हैं, तब सिर्फ झाँसी शहर को छोड़कर और कुछ भी रानी के अधिकार में नहीं था। दिसम्बर मास में रानी अपने खोए हुए इलाको को पुनः प्राप्त कर लेती हैं। इसीलिए समझ में आ जाता हैं कि अंग्रेजो से लड़ने के समय तक रानी को इसी अन्तर्कलह को लेकर

परेशान रहना पड़ा था।

झाँसी और ओरछा के इस युद्ध के सम्बन्ध में अंग्रेज सरकार की तत्कालीन नीति विशेष रूप से अनुधावन करने योग्य है। एरस्काइन ने खुद ही अपनी कलम और कागज के द्वारा रानी को झाँसी के शासन का भार दिया था। किन्तु उसने इस युद्ध के सम्बन्ध में ऊपर वालो के पास जो साप्ताहिक रिपोर्ट पेश की उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया हैं कि झाँसी की रानी विद्रोही है और ओरछा की रानी का कार्य पूरी तरह समर्थन के योग्य हैं। उसकी भाषा हैं –

सागर और नर्मदा संभाग के संभागीय आयुक्त की 25–11–1857 ई. के सप्ताहांत की रिपोर्ट।

"झाँसी की विद्रोही रानी बानपुर के राजा के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए समझौता कर रही है। ब्रिटिश सरकार की भक्त टेहरी (ओरछा) की रानी पर आक्रमण करने के लिए फिर से ग्वालियर पद्यति सेना के एक भाग की सहायता प्राप्त करने का प्रयास कर रही है। अनुमान है कि टेहरी की रानी ने हम लोगों के हित में पहले उस (झाँसी की रानी) पर आक्रमण किया था"

ब्रिटिश सरकार टेहरी–ओरछा राज्य की रानी को जो मित्र के रूप में पहचानती थी, संभवतः इस बात को ओरछा की रानी जानती थी। और आज अगर दस्तावेजों से यह सत्य प्रमाणित होता हैं कि ब्रिटिश सरकार एक ओर तो झाँसी की रानी को और दूसरी तरफ ओरछा की रानी को एक–दूसरे से लड़वाकर मध्यभारत में ब्रिटिश विरोधी जागरण को रोके रखना चाहती थी, तो इसमें विस्मित होने की कोई बात नहीं हैं ।[83]

किन्तु ब्रिटिश सरकार के इन दो विरोधी मनोभावो का कारण रानी संभवतः उस समय भी नहीं समझ पाती हैं। ओरछा राज्य से हुए युद्ध के समय उसने

सिर्फ ब्रिटिश सरकार की निष्क्रियता अवश्य लक्षित की। नवम्बर मास के मध्य में वह जान सकी कि झाँसी में हुए हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में एक मात्र उसी को मुजरिम माना गया है और उसी के साथ–साथ पूरे झाँसी राज्य के विरूद्ध एक मृत्यु का परवाना अवश्य लिख दिया गया हैं। इस घटना के औचित्य पर विवाद हो सकता हैं। जहाँ आदर्श को महत्व देने वाले लोग इसे एक अमानवीय कृत्य और विश्वासघात की संज्ञा देगें, वही 'युद्ध और प्रेम में सब उचित हैं' के समर्थक इसके पक्ष में अपना मत देगे। जो भी हो हमारी चरितनायिका महारानी लक्ष्मीबाई का इस घटना से कोई सम्बन्ध नहीं था। यही नहीं, अनेक इतिहासकारों का मानना है कि महारानी प्रारम्भ से ही क्रान्ति के नेताओं के सम्पर्क में आ चुकी थी। अनेक पाश्चात्य लेखको का मत हैं कि झाँसी के विद्रोह से उनका (महारानी) सम्बन्ध आरम्भ से ही था और अंग्रेजों की हत्याओं में भी उनका हाथ था। राबर्ट मौण्टगोमरी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय साम्राज्य' में लिखा हैं– ''वह मूर्ति –पूजक थी, अपराधो को क्षमा करना उनके धर्म में था ही नहीं। दत्तक और उत्तराधिकारी सम्बन्धी हिन्दू–धर्मशास्त्र के नियमों की अवमानना से वह कुपित थी। इसलिए लिंग एवं अवस्था का विचार किए बिना वह महान शक्तिशाली सरकार से युद्ध करने पर उतर आयी। उन्हें इस बात का ज्ञान था कि इस कार्य का परिणाम अपने प्राणों से हाथ धोना होगा।''

मौण्टगोमरी का यह कथन पूर्वाग्रहयुक्त तथा पक्षपातपूर्ण हैं। कोई भी निष्पक्ष विचारक इसे थोथा तर्क ही कहेगा।

महारानी पहले ही क्रान्तिकारियो से मिल गयी थी, यही मानते हुए एक अन्य अंग्रेज लेखक मेलिसन ने लिखा है –

''ब्रिटिश सरकार ने महारानी के क्रोध और उनके द्वारा की गयी शिकायतो की परवाह नहीं की इसीलिए उन्होंने यह अनुचित कार्य किया, अपनी

मान—हानि के कारण वह इस नीचता पर उतर आयी। जिस समय सरकार ने झाँसी राज्य का अधिग्रहण किया, महारानी को पाँच हजार रू. मासिक पेंशन निश्चिय की गई। पहले वे इस पर सहमत न हुई और फिर स्वीकार कर लिया। इस बात से उनके विचारो का सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि जब उनसे कहा गया कि इस पेंशन से उन्हे अपने स्व0 पति का ऋण भी चुकाना होगा, तो उन पर क्या बीती होगी, तब वह अनेक शिकायते करने लगी, जैसे कि हिन्दू मन्दिरो के नाम पर पूर्व नरेशों द्वारा दिये गये गाँव जब्त कर लिये गये हैं। इस पर रानी ने रोष प्रकट किया। सबसे बड़ा दुख उन्हें अंग्रेजों द्वारा किये गये अपमान का था। अतः सन् 1857 के आरम्भ में 'जब विद्रोह के तीव्र संकेत मिलने लगे' तो हमारे भारतीय सैनिकों के हृदय में अंग्रेजों क़े प्रति प्रबल घृणा का भाव प्रकट होने लगा। इस पर महारानी ने इस सबका सधन्यवाद स्वागत किया और स्वाभाविक रूप में इसका पूरा लाभ उठाया।''

ये शब्द भी लेखक की महारानी के प्रति घृणा की भावना का ही परिचय देते है। उपयुर्क्त लेखक के शब्दों की विवेचना करते हुए श्री पारसनीस ने लिखा हैं –

''पेंशन और लक्ष्मीबाई के पति के ऋण के विषय में जो बाते ऊपर लिखी गयी है, वे बिलकुल निराधार हैं, उनमें सत्य का कुछ भी अंश नहीं हैं। लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों की दी हुई पेंशन को कभी स्वीकार नहीं किया न उनके पति पर एक पैसे का ऋण था। यह बात भी ध्यान में रखने योग्य हैं कि इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ भी नहीं दिया गया है कि जब झाँसी में बलवा हुआ, तब लक्ष्मीबाई अपना बदला चुकाने के लिए विद्रोहियो में शामिल हुई थी। इसी प्रकार अंग्रेज ग्रन्थकारो की प्रत्येक ब़ात की जाँच की जाती है, तब यही बोध होता है कि उन सब इतिहासो के सत्य होने पर जो दोष आरोपित किये गये हैं, वे सप्रमाण नहीं हैं। हाँ, इसमें सन्देह

नहीं कि उस समय की बहुत–सी बातों का सम्बन्ध बलवे से है, परन्तु जब सब प्रमाणों का अभाव है, तब केवल अनुषंगिक बातों पर जोर देकर तत्कालीन न्याय से उन बातो का सम्बन्ध लक्ष्मीबाई से लगाना और उन्हें झाँसी मे बलवा करने का दोषी ठहराना सत्य ओर न्यायसंगत नही हो सकता। जो प्रमाण मिलते हैं, उनसे यही जाना जाता हैं कि लक्ष्मीबाई झाँसी–बलवे में शामिल नहीं थी। केवल इतना ही नहीं, किन्तु यह भी विदित हो जाएगा कि लक्ष्मीबाई ने उस भयानक और विकट समय में भी अंग्रेजों की सहायता की थी।''

3 जून तक की कमिश्नर की रिपोर्टों से भी यही सिद्ध होता है कि उसे महारानी लक्ष्मीबाई पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं था। सेना में विद्रोह–भावना दिखाई देने पर कप्तान गार्डन तथा कुछ अन्य अंग्रेज महारानी के पास गये और उनसे किसी भी विपत्ति के आने पर रक्षा की प्रार्थना की। इस पर महारानी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा था–''इस समय न तो हमारे पास युद्ध–सामग्री है और न ही सेना, फिर भी जहाँ तक हो सकेगा, हम आपकी सहायता करने में कोई कमी नहीं करेगें।''.

4 जून को गार्डन पुनः उनके पास गया और उसने प्रार्थना की– ''इस समय हम सबके प्राण संकट में हैं। हम तो पुरूष है, हमें अपनी कोई चिन्ता नहीं, किन्तु हमारे बच्चो और महिलाओं का क्या होगा ? अतः आप उन्हें अपने महल में आश्रय दे दीजिए।''

महारानी ने उसकी यह बात मान ली, अतः कई अंग्रेज महिलाएँ अपने बच्चो को लेकर उनके महल में आ गयी। कहा जाता है कि अंग्रेज किले में घिर गये थे, तब भी महारानी गुप्त रूप से उनकी सहायता करती रही। इस बीच उन्होंने किले में अंग्रेजों के लिए बराबर खाना भी भेजा था। झाँसी के पूर्व कथित हत्याकाण्ड में

मीर्टिन नामक एक अंग्रेज किसी प्रकार बच गया था। उसने 20 अगस्त, 1889 को आगरा से महारानी के दत्तक पुत्र दामोदर राव को एक पत्र लिखा था। उसका यह पत्र महारानी के इस विद्रोह में सम्मिलित न होने का सबसे बड़ा प्रमाण माना जाएगा। इस विषय में उसने लिखा था –

" आपकी माँ के साथ अत्यन्त क्रूरता और अन्याय पूर्ण व्यवहार हुआ है। उनके विषय में जो सत्य वृतान्त मैं जानता हूँ, उसे अन्य कोई भी नहीं जानता। सन 1857 ई. के जून मास में झाँसी में यूरोपियो की जो हत्याएँ हुई थी, उनसे उस बेचारी का कोई सम्बन्ध नहीं था। यही नहीं, जब अंग्रेज किले में चले गये, तो उन्होंने दो दिन तक उन्हें भोजन भी दिया था। उन्होंने हमारी सहायता हेतु 100 सशस्त्र सैनिक करेरा से मंगवाकर किले मे भेज दिए। हमने उन सैनिको को दिन भर किले में रखकर शाम को वापस भेज दिया। इसी के बाद महारानी लक्ष्मीबाई ने मेजर स्कीन तथा कप्तान गार्डन को परामर्श दिया कि आप लोग यहाँ से भागकर दतिया के राजा के आश्रय में चले जाएँ, किन्तु उस समय उन लोगों ने ऐसा नहीं किया। अन्त में हमारी ही सेना (विद्रोही) ने उन सबकी हत्या कर दी।"

प्रसिद्ध इतिहासकार 'के' ने भी महारानी को अब तक के विद्रोह से सर्वथा असम्बद्ध माना है। इस विषय में उसने लिखा हैं –

"मुझे प्रबल प्रमाण के साथ यह ज्ञात हुआ है कि इस हत्याकाण्ड के समय महारानी का एक भी सेवक वहाँ पर विद्यमान नहीं था। यह कृत्य हमारे ही पुराने अनुचरों का लगता है। इरेग्युलरी केवलरी ने हत्या का आदेश दिया और हमारा जेल–दरोगा हत्यारों का मुखिया था।"[84]

इनके साथ ही उस समय विद्रोहियों को महारानी द्वारा समझाया जाना इस बात का प्रमाण हैं कि इस हत्याकाण्ड से उनका कोई सम्बन्ध नहीं हैं

सिपाहियों में अनुशासन न था। घृणा और गुस्सा मन को घेरे थे। अपनी विजय पर उनको पागलों जैसा हर्ष था। रानी के महल पर वे पीछे पहुँचे, उनका शोरगुल पहले पहुँच गया। पहरेदार ने फाटक बन्द कर लिये। सेना के कुछ सिपाही शहर को लूटने की बातचीत करने लगे। कवायद–परेड सीखे हुए वे सिपाही अच्छे नेता की कमी के कारण महज हुल्लड़ और शोर करने लगें। कोई किसी की नहीं सुन रहा था। हर एक आदमी अपना–अपना गुबार निकालने की धुन में था। इतने में काले खाँ चिल्लाया, "खलक खुदा का, मुलक बादशाह का, राज महारानी लक्ष्मीबाई का।" सब सिपाहियों ने यही नारा लगाया। सिपाहियों की विचारधारा इसी नारे की ओर मुड गई–उस नारे ने अनुशासन की कमी को कुछ पूरा किया। खिड़की का पर्दा हटा। हाथ जोड़े हुए लक्ष्मीबाई दिखाई दीं। पीछें सशस्त्र सहेलियाँ। बिलकुल गौर–बदन। गले में हीरों का कंठा। होठ एक–दूसरे से सटे। सिपाहियों ने फिर नारा लगाया। रानी ने नमस्कार किया। हाथ उठाकर चुप रहने का संकेत किया। भीड़ में सन्नाटा छा गया। रिसालदार आगे बढ़ा। रानी ने तीव्र स्वर में पूछा, 'क्या हैं ? तुम रिसालदार काले खाँ हो ? स्वर में तीव्रता होते हुए भी कंठ में प्राकृतिक सुरीलापन था। काले खाँ ने सैनिक प्रणाम किया। बोला हुजूर का ताबेदार काले खाँ रिसालदार, मैं ही हूँ। रानी ने अनर्निमेष दृष्टि से काले खाँ से आँख मिलाई। काले खाँ की आखँ झपक गई। नीची हो गई। रानी ने कहा, 'इन तलवारों में रक्त कैसे लगा ?' काले खाँ ने बताया कि हमने सभी अंग्रेजों को मौत के घाट उतार दिया हैं। रानी बोली इन्हीं कर्मो से स्वराज्य और बादशाही स्थापित करोगे ? तुम लोगों ने घोर दुष्कर्म किया हैं तुम यह समझते हो कि संसार से नियम–संयम उठ गए ? और अभी तुम लोगों में से कुछ झाँसी नगर को लूटने की भी चर्चा कर रहे थें। तुम अपने को इतना भूल गए। क्या तुम लोगों को यही सिखाया गया है ? काले खाँ बोला हुजूर के हुक्म के खिलाफ अगर अब कुछ

हो तो हम सबको तोप से उड़ा दिया जाए। जो आज्ञा हो उसका हम लोंग पालन करेगे। तो मैं यह कहती हूँ कि छावनी को लौट जाओ। सोच विचार कर संध्या तक आज्ञा दूँगी कि आगे तुम्हे क्या करना हैं। काले खाँ सिपाहियो से बातचीत करने लगा कुछ ने कहा छावनी चलो, कुछ बोले दिल्ली चलो। अन्त में सिपाहियो ने निश्चय किया कि रानी साहब से रूपया लो और दिल्ली चल दो। रानी सहाब रूपया न दे तो जितना शहर से वसूल करते बने, बसूल करके झाँसी की रानी के हवाले करो और आगे बड़ो। काले खाँ ने सिपाहियों का निर्णय रानी को सुना दिया। कहा सरकार सिपाही भूखे हैं। रानी परिस्थिति को समझ गई। उन्होंने दूरदर्शिता से काम लिया। बोली अंग्रेजों ने मेरे पास रूपया नहीं छोड़ा। राज्य अंग्रेजों के अधीन रहा हैं। मैं कहाँ से रूपया लाऊ ? काले खाँ ने कहा हम लोग मजबूर हैं। आप मालिक हैं। आपसे कुछ नहीं कह सकते। यदि यहाँ से रूपया नहीं मिलता हैं तो हम लोग शहर से उघाएँगे। रानी समझ गई कि शहर लुटने वाला हैं। उन्होंने गले से हीरों का कंठा उतारा और काले खाँ की अंजलि में डाल दिया। बोली इससे तुम्हारी सारी अटके पूरी हो जाएँगी। मनुष्यो की तरह यहाँ से जाओं। कहीं लूटमार बिलकुल न करना, अदब के साथ दिल्ली पहुँचो। हिन्दुओं को गंगा की और मुसलमानो को कुरान की सौगंध हैं। कुछ सिपाहियो ने रानी की नौकरी करनी चाही। परन्तु बहुमत दिल्ली जाने के पक्ष में था। इसलिए लगभग सब दिल्ली चले गए, केवल थोड़े से रह गए। उनमें से एक लालता तोपची था। विद्रोही प्रसन्न थे और जाते समय उनके हृदय में यह नारा उत्साह एवं उमंग का संचार कर रहा था –

खल्क खुदा का,
मुल्क बादशाह का,
अमल महारनी लक्ष्मीबाई का।

सिपाहियों के चले जाने पर रानी ने रकसा से दीवान जवाहरसिंह इत्यादि को तुरन्त ससैन्य बुलवाया। सिपाही फौजी सामान, तोपें इत्यादि अपने साथ दिल्ली ले गए।

हत्याकाँड के साथ रानी का नाम जोड़े जाने पर उसे (रानी) विशेष आपत्ति थी। अपने निर्दोष होने की बात प्रतिपादित करते हुए उसने सर रोबर्ट हेमिल्टन को एक पत्र लिखा। उत्तर–पश्चिम प्रान्त की रिपोर्ट में लिखा हुआ हैं –

सर रोबर्ट हेमिल्टन को झाँसी की रानी की तरफ से जून मास में हुए हत्याकांड में उसकी निर्दोषिता के सम्बन्ध में एक पत्र मिलता हैं। उसका हूबहू अनुवाद माननीय गवर्नर जनरल के पास भेज दिया गया हैं, किन्तु झाँसी की रानी के पूर्व क्रिया–कलापो को लक्षित करके गवर्नर जनरल उसके सम्बन्ध में अपनी धारण बदलने को सहमत नहीं हुए। रानी के पत्र की पूरी तरह उपेक्षा कर दी जाती है।

यद्यपि रानी अपने पत्र का जवाब नहीं पाती किन्तु अंग्रेजों का स्वरूप पहचानने में उसे देरी नहीं लगी। एक अन्तिम निर्णय लेने के पूर्व मनुष्य जहाँ तक सम्भव होता हैं वहाँ तक आपस में समझौता करके ही चलना चाहता है। रानी ने भी यही प्रयास किया। किन्तु समझ गई ये सब घटनाएँ उसे एक अनिवार्य परिणति की ओर आगे बढ़ाए लिए जा रही हैं। [85] इसलिए उसने अन्तिम निर्णय ले लिया।

1857 ई. के शुरूआती दिनो में रानी की भूमिका के सम्बन्ध में कुछ कहना जरूरी हैं। जिस वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई नें 1858 ई. में ह्यूरोज के विरूद्ध ब्रिटिश विरोधी युद्ध में अवतरित होकर युद्ध क्षेत्र में अपने प्राण दिए उसी रानी को हम लोग 1857 ई. के प्रारम्भ में अंग्रेज अफसर एरस्काइन के साथ पत्र–व्यवहार करते हुए देखते हैं। उसके इस सब आचारण का अर्थ महाराष्ट्रीय जीवनीकारो ने यह लगाया हैं जिससे लगता हैं कि रानी अंग्रेजो के पक्ष में थी, अंग्रेजों ने सिर्फ उसकी इस निष्ठा

और वश्यता को ठुकरा दिया इस कारण वह युद्धक्षेत्र में अवतरित होती हैं।

मूल रूप में 1857 ई. के प्रारंम्भिक दौर में विद्रोह सिर्फ उत्तर भारत तक सीमित था। झाँसी की स्थिति उस समय मध्यभारत में थी। उसके आसपास विद्रोह का नामोनिशान भी नहीं था। निकटवर्ती चारों ओर के राजपूत राजा ब्रिटिश के पक्ष में और झाँसी के विपक्ष में थे। मराठा राज्यों में प्रबल पराक्रमी ग्वालियर, इन्दौर सभी ब्रिटिश सरकार के मित्र थे। भोपाल की बेगम की उस समय की अंग्रेज–भक्ति प्रसिद्ध थी। ब्रिटिश–विरोधी क्षोभ उस समय भी एक व्यापक संग्राम का रूप लेगा कि नहीं यह भी समझ में नहीं आया था। उस दशा में ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध युद्ध की घोषणा करने से उसकी और झाँसी शहर की अवस्था शोचनीय हो जाती और झाँसी में अंग्रेजों द्वारा नर–नारियो की हत्या का उत्तरदायित्व भी उसी का होता। [86]

यह सब सोचकर ही उसने एरस्काइन को सारी वस्तु स्थिति से अवगत करा दिया था। इधर एरस्काइन रानी को राज्यशासन का अधिकार देने के बाद ही जान गया कि केनिंग ने जून मास में हुए हत्याकाँड के सम्बन्ध में रानी को पूरी तरह से अपराधी माना हैं। एरस्काइन ने उस समय द्विमुखी नीति का अवलम्बन किया। ओरछा की रानी को उसने परोक्ष रूप से जता दिया कि झाँसी की रानी ब्रिटिश सरकार की शत्रु हैं एवं अंग्रेजो की हत्या के लिए दोषी हैं। इसी कारण अगर ओरछा झाँसी पर आक्रमण करता है, तो मित्रता का ही काम करेगा।

एरस्काइन की इस गुप्त भूमिका के कारण ही ओरछा की फौज ब्रिटिश सरकार का झंडा हाथ में लेकर 'मैं अंग्रेजों की मित्र हूँ' यह कहते हुए झाँसी पर आक्रमण करती है। एरस्काइन प्रकट में झाँसी की रानी को राज्यशासन का अधिकार देकर गुप्त रूप से लिखता है –

ओरछा की रानी ब्रिटिश सरकार की मित्र हैं एवं झाँसी की रानी ब्रिटिश सरकार की शत्रु है। ओरछा राज्य का झाँसी पर आक्रमण करना एक न्यायसंगत काम हुआ हैं।

सुखद विषय हैं कि अंग्रेजों की इस 'फूट डालो और राज करो' की नीति को महारानी लक्ष्मीबाई शीघ्र ही समझ गईं और कुटनीति छोड़कर खुले रूप में अंग्रेजो का नरसंहार करने के लिये, उन्हें हिन्दुस्तान से बाहर भगाने के लिये युद्ध में अवतरित हो गई।
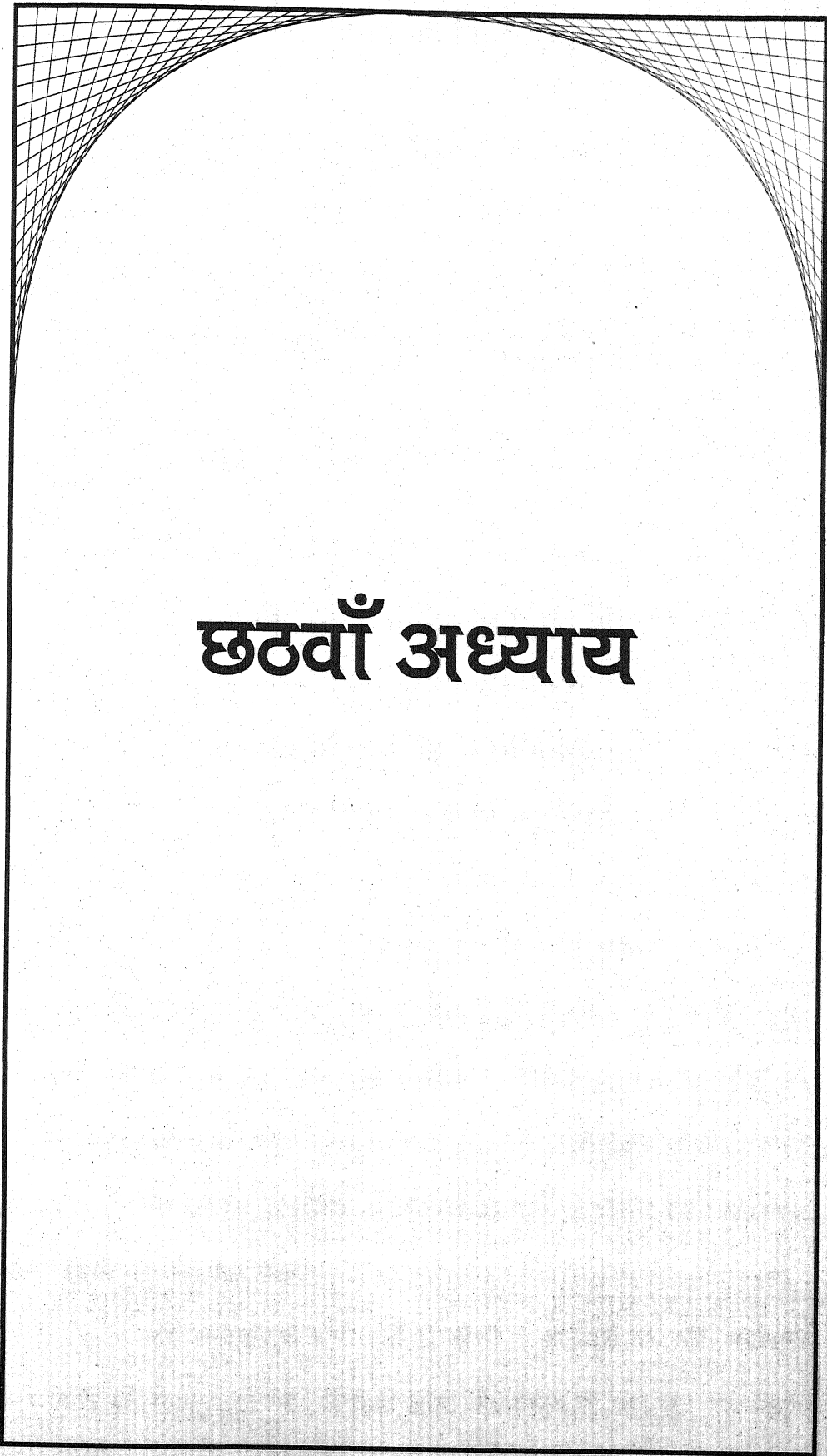
REFERENCES

1. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 10
2. वही पृ0 11
3. वही पृ0 12
4. वही पृ0 13
5. वही पृ0 16
6. वृंदावनलाल वर्मा : झाँसी की रानी, पृ0 18
7. वही पृ0 22
8. महाश्वेता देवी : जली थी अग्निशिखा, पृ0 72
9. वृंद्रावन लाल वर्मा : झाँसी की रानी, पृ0 31
10. L. M. Sharma : Rani Jhansi, P.42
11. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 48
12. वही पृ0 52
13. वही पृ0 81
14. ठाकुर प्रसाद वर्मा : वीरागंना लक्ष्मीबाई, पृ0 51
15. के0 के0 त्रिपाठी : वीरांगना मस्तानी, पृ0 96
16. पारस नीति : महारानी लक्ष्मीबाई का चरित्र, पृ0 16
17. मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ0 2
18. वही पृ0 3
19. The Gazateer of India : Vol. I, P.42
20. K. N. Knox : Note on Bundelkhand, P.1
21. W. R. Pogson : A History of the Boondelas, P. 130

22. मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ0 5
23. वही पृ0 6
24. K. N. Knox : Note on Bundelkhand, P. 5
25. Shyam Narain Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.2
26. Ibid, P.2
27. मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ0 6
28. वही पृ0 3
29. वही पृ0 5
30. वही पृ0 10
31. वही पृ0 20
32. Sadar Borad of Revenue (North - wesdorn provinces), procedings 28 January, 1845, Cons No.2
33. मोतीलाल त्रिपाठी ' अशान्त' : बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ0 3
34. वही पृ0 26
35. वही पृ0 28
36. वही पृ0 32
37. विमल चन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास (1989), भाग –1, पृ0 224
38. के0 सी0 श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास (1990), पृ0 205
39. वही पृ0 273
40. ए0 एल0 बाशम : अद्भुद भारत, पृ0 294
41. वही पृ0 294

42. के0 सी0 श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास (1990), पृ0 274

43. विदिशा (म0 प्र0) स्थित हेलियोडोरस का गरूड़स्तम्भ

44. के0 सी0 श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास (1990), पृ0 294

45. वही पृ0 480

46. विमल चन्द्र पान्डेय : प्राचीन भारत का इतिहास (1989–90), पृ0 172

47. के0 सी0 श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास (1990), पृ0 480

48. वही पृ0 626

49. वही पृ0 626–627

50. वही पृ0 629

51. वही पृ0 635

52. वीं0 सी0 पाण्डेय : प्राचीन भारत का इतिहास (1990), पृ0 411

53. के0 सी0 श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास (1990), पृ0 628

54. आर0 सी0 मजूमदार : एनसियेट इण्डिया

55. वही

56. मऊ प्रस्तर अभिलेख

57. के0 सी0 श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास (1990), पृ0 630

58. वही, पृष्ठ 631

59. वही, पृ0 633

60. वी0 सी0 पाण्डेय : प्राचीन भारत का इतिहास (1990), पृ0 422

61. Goswami (editor), Indian Temple sculpture

62. A.L. Basham : The Wondir that was India, P. 29

63. मोंतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुन्देलखण्ड का इतिहास पृ0 52

64. Shyam Narain Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.4

65. मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ0 54

66. वही पृ0 55

67. वही पृ0 105

68. डॉ0 राजकुमार भाटिया : बुन्देलखण्ड समग्र पत्रिका– 1998

69. ए0 एल0 श्रीवास्तव : शुजा–उद्–दौला, भाग–1, पृ0 2

70. वही पृ0 5

71. S. N.Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.10

72. G. S. Sardesae : New history of the maratha Vol III, P.206

73. S. N. Sinha : The Revalt of 1857 in Bundelkhand, P.11

74. एटचिसन : भाग–ए पृष्ठ 74

75. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.11

76. Ibid

77. एटचिसन : भाग–ए पृष्ठ 139

78. B. R. (F. W.), Progs. 11 Janoury, 1805, Cons. No. 18

79. S. N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.19

80. Ibid, P.20

81. B. R. (F. W.), Progs. 20 June, 1806,Cons. No. 19

82. मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ0 107

83. S. N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.26-27

84. पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी : 'बुन्देलखण्ड समग्र' 98

85. वही

86. S. N. Sen : Eighteen Fifteen Seven, P. 267

छठवाँ अध्याय

रानी लक्ष्मीबाई का अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध का संकल्प

"युद्ध का वास्तव में बजूद जब होता हैं जब वह अपने जीवन और धर्म की रक्षा के लिए, अपनी संस्कृति और कला को बचाने के लिए लड़ा जाता है। नहीं तो युद्ध एक व्यर्थ का रक्तपात है। वास्तव में अब रानी का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजों के छक्के छुटाना और हिन्दुस्तान को उनकी गिरफ्त से मुक्त कराना था।"

इन शब्दो को वास्तविकता में परिवर्तित करने के लिए भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजो का काल बन कर युद्ध–क्षेत्र में डट गयी।

20 मार्च, 1857 को ह्यूरोज ने एक तोपखाने तथा कुछ घुड़सवार सेना को झाँसी के मार्गो की नाकेबन्दी करने के लिए भेज दिया। इसके बाद वह स्वयं भी जाने की तैयारी करने लगा। तभी उसे गवर्नर जनरल का एक पत्र मिला, जिसमें उसे पहले चरखारी जाने का आदेश दिया गया था। चरखारी का राजा अंग्रेजों का मित्र था। उस पर तात्या टोपे ने आक्रमण कर दिया था, अतः पहले उसकी रक्षा करना आवश्यक बताया गया था। ऐसा ही पत्र बुन्देलखण्ड के राजनीतिक अभिकर्ता हैमिल्टन के पास भी आया था। इस पत्र ने उनके लिए एक दुविधा की स्थिति पैदा कर दी। जिस स्थान पर सेना पहुँच गई थी, वहाँ से झाँसी केवल 22 किलोमीटर दूर था, जबकि चरखारी की दूरी प्रायः 129 किलोमीटर थी। हैमिल्टन पहले झाँसी पर अधिकार करना अधिक महत्वपूर्ण समझता था, अतः उसने इसके महत्व को स्पष्ट करते हुए एक पत्र गवर्नर जनरल को लिखा। इसके बाद 20 मार्च को ह्यूरोज अपने दल–बल सहित झाँसी की ओर चल पड़ा।

इस समाचार के प्राप्त होते ही झाँसी में खलबली मच गई। महारानी के दरबारी बड़े व्याकुल हो गए। अनुभवी लोगो का अभाव ही था। अब क्या किया

जाए, इस विषय पर चर्चा होने लगी। नाना भोपटकर के परामर्श पर कुछ लोग ग्वालियर में कुछ अनुभवी लोगों की सलाह लेने भेजे गए। वहाँ के लोगों ने यही सलाह दी कि अंग्रेजों से युद्ध नहीं करना चाहिए। ह्यूरोज के पास एक व्यक्ति भेजा जाए, जो वहाँ जाकर सारी स्थिति स्पष्ट कर दे और मित्रता हो जाए। इस सलाह से महारानी लक्ष्मीबाई व झाँसी के कुछ लोग सहमत न हुए। इसका कारण यह था कि झाँसी के अधिकांश लोग अंग्रेजों से अप्रसन्न थे। अतः उन्होंने युद्ध करने का परामर्श दिया। उस समय महारानी किले में रहती थी। अनुभवहीन लोगों को उनके पास जाने की अनुमति नहीं थी। महारानी ने यह विचार विमर्श अपनें विश्वासपात्र परामर्शदाताओं के साथ किया।

जिस समय यह विचार–विमर्श चल रहा था, उसी समय अंग्रेजों की ओर से एक सन्देश वाहक के आने की सूचना मिली। उसे सम्मान पूर्वक अन्दर बुलाया गया। उसने महारानी को सम्मान सहित सलामी दी और ह्यूरोज का भेजा हुआ एक पत्र आगे बढ़ा दिया। मन्त्री ने पत्र लिया और पढ़कर सुनाया, जिसमें महारानी को निम्नलिखित सूचना दी गई थी–

"रानी लक्ष्मीबाई को यह सूचना दी जाती हैं कि हम अपनी सेना सहित यहाँ पहुँच गए हैं। आपके हित में यही होगा कि आप दो दिन के अन्दर अपने आठ मन्त्रियो के साथ निःशस्त्र होकर हमारे शिविर में हमसे मिलें, जिससे आपके भविष्य के विषय में कोई निर्णय लिया जा सके। आपके साथ आने वाले आठ व्यक्तियो के नाम निम्नलिखित है–

1. दीवान लक्ष्मण राव, राज्यमन्त्री
2. दीवान जवाहर सिंह
3. दीवान रघुनाथ सिंह

4. सरदार लाला भाऊ बख्शी

5. सरदार मोरोपन्त ताम्बे (आपके पिता)

6. सरदार नाना भोपटकर

7. सरदार गुलाम गौस खाँ

8. मोतीसाई

यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि आठवें व्यक्ति का सही नाम मोतीबाई होना चाहिए था लेकिन अंग्रेजों को मोतीबाँई नाम की सही जानकारी नहीं थी, इसीलिये ह्यूरोज ने महारानी लक्ष्मीबाई को जो पत्र भेजा था उसमें उसने इस अज्ञानता के कारण ही मोतीबाई नाम का उल्लेख किया था।

रानी ने और भी अधिक गम्भीर होकर कहा मैं अकेली उत्तर देने वाली कौन होती हूँ ? झाँसी के समग्र मुखियो को, सब जातियो के पंचों को जोड़ो। अपने सब सरदार इस समय झाँसी में ही हैं। वे सब लोग एकमत होकर कह दें तो मैं अकेली निःशस्त्र चली जाऊँगी। तुरन्त झाँसी के मुखिया, पंच, सरदार इत्यादि इकट्ठे किए गए। जो कुछ उन लोगों ने कहा उसमें महत्व की बात ये थीं – लड़ेगे। अपनी झाँसी के लिए, अपनी रानी के लिए मरेगे। हमारे पास जितना रूपया और आभूषण हैं, सब स्वराज्य की लड़ाई के लिए रानी के हाथ में सौंप देंगे। जनमत रानी के मत से मिला हुआ था ही, इस समय बहुत प्रबल हो गया। परन्तु रानी ने झाँसी की हुँकार को, वीणा की टंकार में परिवर्तित करके भेजा। उन्होंने लिखा–

"आपने अपने पत्र में बुलावे का कोई कारण नहीं लिखा है, जिसे हम अपना खुला अपमान समझते हैं। इसके साथ ही इसमें आपने जो शर्त रखी है उसे कोई भी स्वाभिमानी वीर स्वीकार नहीं कर सकता। ऐसी दशा में हम यह विश्वास कैसे करे कि आपके शिविर में आने पर हमारे साथ विश्वासघात नहीं होगा। कारण,

दिल्ली के मुगल सम्राट के साथ ही अंग्रेज सरकार इससे पूर्व ऐसा व्यवहार कर चुकी है। अतः यदि आप चाहे तो हम आपने राज्य की प्राचीन परम्परा के अनुसार अपने दीवान साहब को सशस्त्र अंगरक्षको के साथ आपके शिविर में भेजने को तैयार हैं। रही हमारी आपके शिविर में आने की बात, तो इस विषय में आपको ज्ञात होना चाहिए कि हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के अनुसार कोई भी स्त्री किसी पर पुरूष से इस प्रकार मिलने कभी नहीं जा सकती। अतः आप हमसे भी अपेक्षा न करे।''

ह्यूरोज के लिए इस पत्र को भेजने के बाद महारानी ने अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की दी।

(1) महारानी लक्ष्मीबाई के काल की क्षेत्रीय एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ :

'क्या वेद–शास्त्र, गीता, पुराण, दर्शन, काव्य–ये सब व्यर्थ हो जाएँगे ?' कद्यपि नहीं, कभी नहीं। मैं लड़ूंगी! उन गरीबो के गीतो की रक्षा के लिए, इन पुस्तकों के लिए और जो कुछ इनके भीतर लिखा है उसके लिए। ऋषियो का रक्त ऐसा हीन और क्षीण नहीं हो गया हैं कि उनकी संतान तपस्या न कर सके, कीड़ो–मकोड़ो की तरह यों ही विलीन हो जाए। नहीं कृष्ण अमर हैं। गीता अक्षय है। हम लोग अमिट है। भगवान की दया से शंकर के प्रताप से मैं बताऊगी कि अभी भारत में कितना लौ शेष है। और यदि मैं इस प्रयत्न में मारी गई तो क्या होगा, कोई दूसरा तपस्वी मुझसे अच्छा खड़ा हो जाएगा और इस भूमि का उद्दार करेगा। तपस्या का क्रम कभी खंडित नहीं होगा।[1] इसी बीच मोतीबाई रानी के पास एक महत्वपूर्ण खबर देने आती है। बोली सरकार इस चिट्ठी को पढ़ ले। चिट्ठी पर किसी के हस्ताक्षर नहीं थे। उसमें लिखा था–

''अब और नहीं सहा जाता। कब तक कलेजे में छुरी चुभोए रहें। उठो और धर्म के लिए कट मरो। थोड़े से विदेशियों ने विशाल देश को घेर रखा हैं।

निकाल दो इन्हें, देश को स्वतंत्र करो, धर्म की रक्षा करो।" [2]

यह चिट्ठी कहाँ मिली ? इस प्रकार की कई चिठियाँ छावनी में आई हैं। मुझको भरोसे के लोगों ने आज दिन में बताया था। इस चिट्ठी को सरदार तात्या साहब ने दिया हैं। तात्या टोपे कहाँ है, झाँसी कब आये ? मोतीबाई ने बताया कि संध्या के समय आए और प्रातः काल के पहले चले जाएँगे। वह इसी समय दर्शन करना चाहते हैं। बाहरी कमरे में बिठाओ मैं आती हूँ। [3]

रानी ने पूछा इस चिट्ठी का क्या प्रयोजन हैं, मुझको तो असमय जान पड़ती हैं। हाँ 'बाईसाहब' तात्या ने उत्तर दिया इसीलिए ले आया हूँ। मोतीबाई ने बताया कि इस प्रकार की चिट्ठियाँ यहाँ की छावनी में भी आई हैं। सिपाहियों में बेहद जोश फैला हुआ हैं परन्तु न तो अभी कोई व्यवस्था हो पाई हैं और न काफी संगठन हुआ हैं। समय के पहले यदि विस्फोट हो गया तो अनेक सिपाही व्यर्थ मारे जाएँगें। असफलता और निराशा देश को दबा लेगी और न जाने कितने समय के लिए यह देश विपदाग्रस्त हो जाएगा। [4] रानी ने कहा इसको रोकना चाहिए और संगठन शीघ्र कर लिया जाना चाहिए। तात्या बोला रूपए–पैसे की कोई असुविधा नहीं रही। काफी समय तक लड़ाई चलाते रहने के लिए धन इकट्ठा हो गया हैं। बारूद का और शस्त्रों का बहुत अच्छा प्रबंध है। इसलिए जल्दी–से–जल्दी की जो तारीख हो सकती थी, नियुक्त कर ली गई। दिल्ली, लखनऊ इत्यादि के शासक सहमत हैं। आपकी सहमति लेकर सवेरे के पहले रवाना हो जाऊँगा। कौन सी तारीख रानी ने प्रसन्न होकर पूछा। इक्कतीस मई, रविवार ग्यारह बजे दिन, तात्या ने बताया। रानी बोली तीन–चार महीने है। मुझको यह तारीख पसन्द है। देश भर में एक साथ। तब तक हम चाहते हैं कि सिपाही और जनता, आत्म–नियंत्रण से काम ले।

दामोदरराव रानी के प्रगाढ़ स्नेह में पल रहा था, बढ़ रहा था। कोई निज माता अपने गर्भ–प्रसून को इतना प्यार न करती होगी जितना वह दामोदरराव को चाहती थी। झाँसी राज्य का अंग्रेजी राज्य में विलय हो जाने के बाद मेजर मालकम ने गवर्नर जनरल को एक पत्र लिखा, जिसमें महारानी लक्ष्मीबाई के लिए निम्नलिखित सुविधाएँ देने की संस्तुति की गयी थी–

1. महारानी लक्ष्मीबाई को झाँसी के कोष से अथवा जहाँ से वह चाहें पाँच हजार रूपये मासिक उनको जीवन पर्यन्त दिये जाएँ।
2. झाँसी का राजमहल रहने के लिए उन्हें दे दिया जाए तथा उस पर उन्ही का स्वामित्व माना जाए।
3. महारानी के जीवन–काल में उनके तथा उनके सेवकों के कार्य व्यवहार पर अंग्रेजी सरकार के न्यायालयो को विचार करने का अधिकार न हो। [5]
4. स्वर्गीय महाराज गंगाधर राव की अन्तिम इच्छा के अनुसार उनके निजी धन में से राज्य का लेन देन चुका कर जो कुछ बचे, उस पर तथा उसके निजी वस्त्र–आभूषण पर एवं अन्य वस्तुओं पर महारानी का अधिकार हो। उनके सम्बन्धियो की एक तालिका बनाकर उनकी आजीविका निर्वाह की व्यवस्था की जाए।

गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने इन माँगों में प्रथम तीन तो यथावत मान ली, किन्तु चौथी माँग के विषय में संशोधन करते हुए 25 मार्च, 1854 के अपने पत्र में मालकम को लिखा–

"भले ही गंगाधर राव का दत्तक पुत्र संविधान के अनुसार झाँसी राज्य का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता, फिर भी उनकी व्यक्तिगत सम्पति तथा राज्य कें जवाहरात आदि पर उसी का अधिकार हैं। अतः यह सम्पत्ति महारानी को

नहीं दी जा सकती।

इसी के अनुसार महारानी को उपर्युक्त वृतान्तों से अवगत करा दिया गया। झाँसी के राजनीतिक अभिकर्ता ने झाँसी के राजकोष से निकालकर 6 लाख रूपये महारानी के पुत्र दामोदर राव के नाम से अंग्रेजों के कोष में जमा कर दिये तथा व्यवस्था कर दी कि यह धन–राशि उसके व्यस्क हो जाने पर ब्याज सहित उसे लौटा दी जाए। राज्य के सभी हीरे–जवाहरात आदि महारानी को दे दिये गयें। झाँसी के पूर्व शासक रामचन्द्र राव की मृत्यु के पश्चात् झाँसी का राज–परिवार किले में ही रहता था, किन्तु महारानी लक्ष्मीबाई को उसे भी छोड़ना पड़ गया। जब सब कुछ चला गया, तो फिर किले में रहकर क्या करना। यही विचार कर एक दूसरे महल में चली गयी। [6]

झाँसी–विलय के सम्बन्ध में अंग्रेजों का एक तर्क यह भी था कि इससे झाँसी के लोगों का कल्याण होगा। यह तर्क नितान्त थोथा था। इस प्रकार के विलय से सदा बेरोजगारी, अव्यवस्था आदि ही बढ़ती है। इस विषय में जान साल्विन ने अपनी पुस्तक 'एप्ली फार प्रिन्सेज ऑफ इण्डिया' में लिखा है–

"जब किसी देशी रियासत की स्वायत्तता का हनन किया जाता है, तो कोई एक अंग्रेज कमिश्नर बनकर राजा के आसन पर बैठ जाता है। उसके तीन–चार साथी उतने ही दर्जन देशी अधिकारियों को पदच्युत कर देते है और हजारो देशी सैनिको के स्थान पर कुछ सौ सैनिक भरती कर लिये जाते हैं। प्राचीन समय के दरबार का लोप हो जाता है तथा अंग्रेजों की बड़ी उन्नति हो जाती है। अंग्रेज स्पंज के समान गंगा के तटो को, इस भूमि को सोखकर टैक्स नदी के तट पर इंग्लैण्ड ले जाते है। व्यापार चौपट हो जाता है, राजधानी नष्ट हो जाती है, लोग कंगाल हो जाते है।"

जान साल्विन के इन शब्दो में भले ही कुछ भावुकता का पुट हो, भले ही उनकी शैली आलंकारिक हो किन्तु इनमें अत्युक्ति किसी प्रकार की नहीं कही जा सकती अंग्रेजों द्वारा झाँसी की शासन–सत्ता अपने हाथो में लेते ही वहाँ की सेना के सैनिकों को छः–छः मास का वेतन देकर उनकी सेवाएँ समाप्त कर दी गयी। उनके स्थान पर अंग्रेजी सेना की नयी भरती की गयी। झाँसी के किले पर बंगाल इन्फैंट्री की बारहवीं पल्टन नियुक्त कर दी गयी। किले में कई वर्षो से संचित युद्ध का समान नष्ट कर दिया गया। पेशवा के समय की तोपें भी नष्ट कर दी गयी। [7]

कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने स्वामिभक्त सैनिको को इस प्रकार अंग्रेजों द्वारा सेवा से निकाल दिये जाने से तथा अपने पति के पूर्वजों की पीढ़ियों से संचित युद्ध–सामग्री की दुर्गति किये जाने से महारानी लक्ष्मीबाई को असीम वेदना हुई होगी। ऐसी विवशता की स्थिति में वह कर ही क्या सकती थी।

कहा जाता हैं, 'जब तक सांस तब तक आस' झाँसी का राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया था। वहाँ का कमिश्नर मेजर स्कीन को बना दिया गया था, फिर भी रानी आशावान बनी हुई थी कि कदाचित उन्हें उनकी झाँसी वापिस मिल जाऐ। या फिर उन्होंने यही सोचा होगा कि प्रयत्न करना तो मनुष्य का कर्तव्य ही है। अतः उन्होंने अपने अधिकार के लिए लन्दन के **'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स'** में याचिका प्रस्तुत करने का निर्णय लिया। इस कार्य के लिए उन्होंने प्रख्यात वकील उमेशचनद्र बनर्जी को चुना। उन्हें तथा एक अन्य यूरोप निवासी सज्जन को साठ हजार रूपये देकर लंदन भेजा गया। इन दोनों महानुभावों ने लन्दन जाकर इस सिलसिले में क्या किया, इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। यह भी कहा जाता है कि ये दोनों रूपये डकार गये।

दुर्भाग्य से महारानी लक्ष्मीबाई को इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिली।

अन्त में 2 अगस्त, 1854 को 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' ने भी झाँसी के अंग्रेजी राज्य में विलय पर अपनी स्वीकृति दे दी तथा उसकी औपचारिक घोषणा भी कर दी।

समय अपनी प्राकृतिक गति से चला जा रहा था। इसी में रानी की योजना भी संवृद्धि और पुष्ट होती जा रही थी। कहाँ क्या हो रहा, इसके समाचार उनको निरन्तर मिलते रहते थे। वह युद्ध–सामग्री तैयार करने वाले कारीगरों को एकत्र करने की योजना पर बहुत जोर देती थी और यह हो रहा था। इस ओर उनके जासूस और विश्वसनीय सहायक काम कर रहे थे, उस ओर नाना और राव, तात्या तथा बाँदा के नबाब, बहादुर शाह, अवध के नबाब के साथ सहानुभूति रखने वालों के लोग, अपने–अपने काम में जुटे हुए थे।

रानी ने देखा कि लोगों को इकट्ठा करने का समय आ गया है। वह जानती थी कि ऐन मौके पर तुरन्त इकट्ठा करना दुष्कर होगा, इसलिये वह सबको एक बार एकत्र करके, तब व्यवस्था के साथ योजना को आगे बढ़ाना चाहती थीं। हर काम की योजना वह पहले बना लेती थीं, तब व्यवस्था के साथ उसको व्यवहार का रूप देती थी।

इसलिये उन्होंने दामोदर राव का जनेऊ करना निश्चित किया और उसके समारोह में जगह–जगह से प्रमुख लोगों का जमाव करके, आगे के कदम की बावत परामर्श करना तय किया।

इस काम के लिये एक लाख रूपये की जरूरत थी। नगद रूपया उनकी गांठ में न था। दामोदर राव छः वर्ष का हो चुका था। सातवां लग गया। इस वर्ष में जनेऊ होना ही चाहिये। योजना भी इस स्थिति में आ गई थी कि इस वर्ष में एक महान सम्मेलन का किया जाना जरूरी था। मोतीबाई इत्यादि ने समाचार दिया कि अंग्रेजों की हिन्दुस्तानी सेना में काफी असंतोष फैल गया है। [8]

रानी ने पुरोहित को बुलाकर मुहूर्त सुधवाया। मुहूर्त निकलने पर धन के विषय में उन्होंने अपने पिता तथा अन्य कर्मचारियों से विचार–विमर्श किया। उन लोगों ने परामर्श दिया कि इस कार्य के लिये दामोदर राव के नाम पर जो छः लाख रूपये अंग्रेजों के कोष में जमा हैं, उनमें से एक लाख रूपये मांग लिये जाएं। रानी भी इससे सहमत हो गईं। उनके पूर्व मन्त्री ने पहले ही कह दिया था कि कमिश्नर इस कार्य के लिए रूपये नहीं देगा, किन्तु रानी ने दृढ़ता के साथ कहा–"वह रूपया हमारा है। हमारी सन्तान के कार्य के लिये रखा गया है। इस पावन एवं धार्मिक संस्कार से बढ़कर और क्या कार्य हो सकता है ? हम अपने भोग–विलास या अन्य किसी कार्य के लिये इसे नहीं माँग रहे हैं, जो वे इसे न दें।" [9]

अन्त में कमिश्नर के लिए उक्त आशय का एक पत्र स्वयं रानी ने बोलकर लिखाया। इस पत्र का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर यहां दिया जा रहा है–

महोदय,

आपको विदित होगा कि हमारे राजकुमार चि0 दामोदर गंगाधर राव का सातवां वर्ष लग गया है। अतः हम चाहते हैं कि धार्मिक एवं कुल–परम्परा तथा वंश की मर्यादा के अनुसार उनका यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया जाए, जिससे उनकी शिक्षा–दीक्षा भी यथा–समय प्रारम्भ की जा सके तथा वह अपने धार्मिक एवं पारिवारिक कृत्यों, यज्ञ आदि में भी पूरी तरह भाग ले सके। इस संस्कार के व्यय का अनुमान एक लाख रूपया लगाया गया है, क्योकि संस्कार उनके उच्च राजवंश की प्रतिष्ठा तथा मर्यादा के अनुकूल होना नितान्त आवश्यक है। इसी में उनका सर्वप्रकारेण कल्याण है।

अतः राजकुमार के नाम पर अंग्रेजी कोष में जो छः लाख रूपये रखे गये हैं, उनमें से एक लाख रूपये शीघ्र हमारे पास भिजवाने की कृपा करे, ताकि इस

पवित्र संस्कार के लिये अभी से अवश्यक प्रबन्ध किये जा सके।

आशा है, इस परम आवश्यक कार्य में आप किसी प्रकार का अनावश्यक विलम्ब नहीं करेगे।

लक्ष्मीबाई

महारानी, झाँसी

कुछ दिनों की प्रतीक्षा के बाद कमिश्नर का उत्तर आया, जिसमें उसने रूपये देने में अपनी असमर्थता व्यक्त की थी। इस पत्र का भावार्थ इस प्रकार था—

" आपके पति स्व0 गंगाधर राव की समस्त व्यक्तिगत सम्पत्ति पर केवल उनके दत्तक पुत्र दामोदर गंगाधर राव का ही अधिकार है। उनकी अल्पावस्था को देखते हुये धन–राशि उनके वयस्क होने तक अंग्रेजी कोष में सुरक्षित रखी गई है। अतः जब तक वह वयस्क नहीं हो जाते, इसमें से उन्हें या उनके क़िसी सम्बन्धी को एक पैसा भी नहीं दिया जा सकता।

" अंग्रेजी कोष में उनकी छः लाख रूपयों की धरोहर है। जब वह वयस्क हो जायेंगे, तो इसे ब्याज सहित लौटा दिया जाएगा। अतः अभी जैसा आप चाहती हैं, ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की जा सकती।"[10]

इस उत्तर से अन्य सभी लोगो को बड़ी निराशा हुई, किन्तु महारानी ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने कमिश्नर को पुनः पत्र लिखा—

महोदय,

आपका पत्र प्राप्त हुआ। यह जानकर अपरिमित सन्तोष हुआ कि दामोदर राव के जो रूपये अंग्रेजी सरकार के पास धरोहर हैं, वे उनके वयस्क होने पर ब्याज सहित वापिस मिल जायेगें। फिर भी हम आपका यह निर्णय उचित नहीं

समझते कि राजकुमार दामोदर राव के वयस्क होने तक उनके किसी कल्याण—कारक कार्य के लिए उन्हें या उनके किसी संरक्षक को एक पैसा भी नहीं दिया जा सकता। हां, यह सत्य है कि उन्हें या उनके किसी सम्बन्धी या संरक्षक को किसी ऐसे कार्य के लिये धन न दिया जाए, जो दामोदर राव के हित में न हो अथवा जिसमें उस धन के अपव्यय की आशंका हो। आपको विदित होगा कि हिन्दुओ में विशेषकर ब्राह्मणो और क्षत्रियों में यज्ञोपवीत संस्कार एक महत्वपूर्ण, पवित्र तथा अनिवार्य संस्कार माना जाता है। इसके बिना किसी बालक की न तो शिक्षा आरम्भ हो सकती है और न ही वह अपने पितरों के इस लोक तथा परलोक के कल्याण के लिए यज्ञ—श्राद्ध आदि करने का अधिकारी होता है।

इस विशेष स्थिति में आपका यही कर्तव्य है कि दामोदर राव के पितरो के भावी कल्याण को दृष्टि में रखकर आप उनके इस संस्कार के लिए हमें अंग्रेजी सरकार से उचित मात्रा में धन दिलाएं, ताकि उनका यह संस्कार उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप सुचारू रूप से सम्पन्न हो सके। हमारे विचार से यह धनराशि एक लाख रूपयों से कम न हो। यदि किसी कारण आपकी सरकार को यह धनराशि हमें देना स्वीकार न हो, तो कम—से—कम दामोदर राव की धरोहर में से, तो यह हमें अवश्य और शीघ्र मिल जानी चाहिये, ताकि हम अपने इस परम आवश्यक कर्तव्य को शीघ्र पूर्ण कर सके।

यदि आपने हमारे इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में किसी प्रकार की असावधानी या अनुचित विलम्ब किया तो हमें अधिकार होगा कि हम स्व0 महाराज द्वारा नियुक्त की गई दामोदर राव की संरक्षिका के रूप में इस पवित्र संस्कार हेतु कहीं से भी और किसी भी प्रकार यह धनराशि प्राप्त करे। इस अवस्था में इसके किसी भी परिणाम का पूर्ण उत्तरादायित्व आपका और आपकी सरकार का होगा।''[11]

हमें विश्वास है, हमारे संकेत मात्र पर हमारी प्रजा अपने स्व0 महाराज के राजकुमार के इस संस्कार के लिए एक लाख क्या सहर्ष कई लाख रूपये एकत्रित कर देगी किन्तु हम ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहते हैं जिससे आपसे और अंग्रेज सरकार से हमारे सम्बन्ध और अधिक कटु हो।

हमें पूर्ण विश्वास है, आप पूर्ण विवेक और दूरदर्शिता का परिचय देकर हमारी उचित प्रार्थना को अवश्य स्वीकार करेंगे तथा हमें इस बात के लिए बाध्य नहीं करेगे कि हम अपनी इच्छा के प्रतिकूल अपने स्व. पति की प्रिय प्रजा के सामने कहे कि हमें इस शुभ कार्य के लिए धन की आवश्यकता है और अंग्रेजी सरकार उसे पूरा करने के लिए सहमत नहीं हैं।

लक्ष्मीबाई

महारानी, झाँसी

इस पत्र के उत्तर में कमिश्नर ने लिखा–

"यदि आपको राजकुमार दामोदर राव के यज्ञोपवीत संस्कार के लिए एक लाख रूपयो की आवश्यकता है, तो आप झाँसी के चार सम्भ्रांत व्यक्तियो की जमानत पर सरकार से ऋण ले सकती है, किन्तु दामोदर राव की धरोहर से धन नहीं दिया जा सकता।"[12]

यह बात जानकर रानी बहुत मर्माहत हो गई। आजन्म भाग्यवाद में विश्वास करने वाली ने उसी दिन से भाग्य के साथ बाजी लगा दी। मानो कहीं कुछ घटने जा रहा हो। क्यों जैसे आकाश वातास में एक अस्थिरता है। दिन जैसे संख्या में गिने जाने योग्य प्रहारों की समष्टि मात्र नहीं है। दिन मानो प्राणवंत सत्ता है। वह जैसे बात करते हैं।

दिन थमते नहीं हैं, वे मानो आगे बढ़े जा रहे हैं। आसेतु हिमाचल

भारतवर्ष में सर्वत्र विदेशी शासकों की ध्वजा दृढ़ विश्वास से जमी हुई है। उसकी लाख–लाख प्रजा असहाय अत्याचार से पिसते हुए एक विराट विद्रोह की अग्नि को तिल–तिल कर प्रज्जवलित करते जा रहे हैं। राज्य और प्रजा में चूड़ांत मुकाबला होगा। आसन्नवर्ती वह भयंकर समय गरजता हुआ बढ़ता आ रहा है। आगामी समय की वही पदध्वनि बढ़ते–बढ़ते एक दिन झाँसी के किले के लौह कपाटो पर आघात करेगी। उसी दिन समझ में आ जायेगा कि रानी निरामिषभोजी, धर्मकर्म में लीन, अंग्रेजी राज्य की दया से कृतज्ञता–विगलित ह्रदय, जीर्ण होते सामंततंत्र की एक अयोग्य प्रतिनिधि मात्र नहीं हैं, उसका एक अन्य परिचय भी है।

उसी दिन की प्रतीक्षा में कर्ममय–दिन और निद्राहीन रात्रि काटने लगी रानी। कौन जाने क्या सोचा करती थी, क्या विचार किया करती थी। कैसे अस्थिर आवेग में रातो–पर राते उसकी बीत जाती थी। कौन–सी न बुझने वाली आग जल रही थी उसके मन में ?

बस यही पता चलता कि उसकी आंखो में नीद नहीं है। इसी तरह आ गया 1857 का वर्ष। सारे भारत में जागरण की तैयारी। भारत के बहुत से लोगों के हितो·पर आघात किया था अंग्रेजों ने। अनेक विक्षुब्ध चित्तो के ईधन के लिये वह एक मानो एक लाक्षागृह है। [13]

1839 का वर्ष। स्थान अफगानिस्तान का है। काबुल के सिपाही बैरको में रात में जागते हुए आग के आसपास बैठे आलाप–आलोचना कर रहे हैं। कड़ाके की दुरंत ठंड है। भेड़ों के चमड़ो को कसकर लपेटने से भी सर्दी तो बच नहीं पा रही है। हिन्दू–मुसलमान सभी सिपाही क्षुब्ध है। देश से इतनी दूर व्यर्थ में ही वे लोग क्यों लड़ने आये हैं ? क्यों यह युद्ध ? मुसलमान सिपाही कह रहे हैं–कुरान में वर्जित है, फिर भी हम लोगों को अपने ही धर्म वालो के विरूद्ध लड़ना पड़ रहा है।

हम लोग क्यों लड़ेगे ?

तम्बू से यही खबर चली गई अफसरो के पास। सवेरे अफसर ने सारा मामला जानना चाहा। निर्भीकतापूर्वक 27वीं देशी पद्धति सेना के सूबेदार ने अपना विरोध जता दिया। आफिसर ने हुक्म दिया—फाँसी पर लटका दो। सूबेदार को फाँसी हो गई। वह आदमी फिर नहीं लौटा। सिर्फ एक सरकारी लिफाफा एक चपरासी उसके गाँव में दे गया। उस उदाहरण को देखकर सिपाहियो ने अपने मुँह बंद कर लिये। उनके घरों में माँ, स्त्री और बाल—बच्चे हैं किन्तु यह कहानी वे अपने देश में ले गये। अपने बच्चो, नाती—नातिनो को सुनाकर कहने लगे। [14]

सिन्धु देश जाते समय 64वीं देशी पद्धति सेना के सिपाही विद्रोह करते हैं कि वे लोग देश से इतनी दूर बार—बार नहीं जायेंगे। बेकार में ही नहीं लड़ेगे। बर्खास्त कर दिये गये चालीस लोग। लाहौर के राज मार्ग पर पच्चीस लोगों को फाँसी पर लटका दिया—अगर कोई विद्रोह करना चाहे तो उसका परिणाम देख ले।

रानी को इस अपमान पर जितना क्षोभ हुआ, उसकी मात्रा का माप उस मानसिक बल से लग सकता है, जिसकी सहायता से रानी ने उस क्षोभ को दबाया। अपने ही रूपयो के लिए 'ऐसे चार भले आदमियो की जमानत, जिनसे मेरा मन भरे।' [15] झाँसी में चार क्या बावन बड़े—बड़े आदमी थे। रानी की जमानत देने के लिये सब तैयार हो गए। कुछ ने तो खुदाबख्श और दीवान रघुनाथसिंह से यहाँ तक कहा—अरजी देने की क्या अटक पड़ी थी ? इतना रूपया तो हमी लोग नजर कर सकते हैं। उसके प्रति श्रद्धावश होकर झाँसी के कई धनी सेठो ने बार—बार रूपया देना चाहा। उन लोगो ने बताया, दामोदर के उपनयन कार्य में कुछ सहायता करके वे लोग आनंदित होगे। इस धन को इसलिये ऋण के रूप में न लिया जाए।

जिस राज्य का नमक उन लोगों ने खाया है, यह उसके प्रति उनकी कृतज्ञता का निवेदन हैं। रानी सहमत नहीं हुई। उसका रूपया है, उसके होते हुए वह दूसरे का रूपया क्यो ग्रहण करेगी ? फिर भी उन लोगों की सहायता को वह ठुकरायेगी नहीं। वे लोग अगर इस रूपए के जमानतगीर हो जाते हैं तो वह इतने से ही संतुष्ट हो जाएगी। उसने सरकार को बताया कि 'अगर किसी दिन भविष्य में दामोदर राव इस एक लाख रूपए के सम्बन्ध में प्रश्न उठाएं, तो निम्न हस्ताक्षरकर्ता पाँच लोग जमानतगीर में से हरेक झाँसी की मुद्रा के बराबर बीस–बीस हजार सिक्का के हिसाब से दे देगे।'

इस पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए मोरोपन्त, जयपुरवाला, लक्ष्मीचन्द्र और भी दो अन्य लोगों ने।

इन लोगों के जमानतगीर हो जाने पर रूपया उधार दे दिया सरकार ने।

नियुक्त समय पर समारोह हुआ। दूर–दूर के लोग इकट्ठे हुए। झाँसी की जनता की ही बहुत बड़ी संख्या थी नवाब अलीबहादुर भी शरीक हुए। शुभ मुहूर्त में दामोदर राव का जनेऊ हो गया। लोगों ने खुशी–खुशी नजर भेंट की। दावत–पंगत हुई। गायन–वादन और दुर्गा का नृत्य। इसके बाद चुने हुए लोगों की बैठक। रानी लक्ष्मीबाई सफेद साड़ी पहने एक जरा ऊँचे आसन पर बैठी। आसपास उनकी खास सहेलियां। जरा फासले पर नानासाहब और उनके भाई, तात्या टोपे, जवाहर सिंह, रघुनाथ सिंह, खुदाबख्श इत्यादि। रानी ने कहा जिस सफलता के साथ आप लोगों के सहयोग से यह छोटा सा यज्ञ हुआ उसी सफलता के साथ उस बड़े यज्ञ की पूर्ति होनीं चाहिये। नाना बोले अच्छे कारीगर और बढ़िया सामान का प्रबंध हो गया है। यज्ञ की सामग्री ढ़ोनेवाले पशुओं और अश्वमेघ के घोड़ो का भी इंतजाम कर लिया गया है। तात्या ने कहा में जरा सीधी भाषा में बात करना चाहता हूँ। रानी ने कहा कर सकते

हो, सब अपने ही अपने हैं। बाहर स्त्रियो का कठोर पहरा है। काम की बात करके अधिवेशन को समाप्त कर दिया जाएगा।[16]

तात्या बोला उत्तरी और पूर्वी हिन्दुस्तान में अथक काम हो रहा है। अंग्रेजों ने जिन कारतूसो को आरम्भ में जारी किया था, प्रतिवाद को देखकर लगभग बन्द कर दिया है। परन्तु उनके कारण जो घृणा उत्पन्न हुई थी, वह बिलकुल कम नहीं हुई है। अब अंग्रेज हिन्दू सिपाहियो को तिलक–टीका लगाए हुए परेड में नहीं आने देते, इस कारण हिन्दू सिपाहियों में घोर खिन्नता फैल गयी है। खुदाबख्श ने बतलाया यहाँ की फौज के मुसलमान सिपाहियों में भी बहुत जोश है। उनके दीन को बरबाद करने का जो काम चर्बी वाले कारतूसो ने जारी किया था, वह ऐसा नहीं है कि कतई तौर पर बन्द हो गया हो। रघुनाथ सिंह बोला हम लोग बुन्देलखण्ड से आरम्भ करने को तैयार हैं। रानी ने कहा अभी नहीं ओरछा, अजयगढ़ और छत्रपुर के राजा बालक हैं। इन राज्यो के प्रबंध पर अंग्रेजों की छाप है। इसके सिवाय क्रान्ति का लग्गा लगवाते ही डाकू और बटमार बढ़ जायेगे। हमारी जनता ही इन उपद्रवों से पीड़ित होगी। जब तक हमारे पास मजबूत सेना नहीं हो जाती, तब तक हम लोगों को प्रारम्भ नहीं करना चाहिये। अंग्रेजों को परास्त करने के साथ–साथ इन जनपीड़को का भी तो दमन करना पड़ेगा, अन्यथा जनता का क्षोभ अंग्रेजों के सिर से टलकर हम लोगों के सिर आएगा। हिन्दुस्तानी सैनिकों को अपनाने का काम जारी रखना चाहिये। जब मन भर जाए, तब हाँ कही जाएगी। रानी की सम्मति से संगठन के सभी लोग सहमत हुए। गरमी आ गयी। सरोवरों में कमल खिल उठे। फसल भी कटकर घरों में आने लगी। स्वाधीनता युद्ध के दो चिन्ह प्रकट हुए–एक कमल, दूसरा–रोटी। कमल के असंख्य फूल भारतवर्ष भर की छावनियो में फैल गये। कमल फूलो का राजा है। सरस्वती की महानता, लक्ष्मी की विशालता उसके पराग और केसर में कही

अदृष्ये निहित है। वह हिन्दुस्तान की प्रकृति का, संस्कृति का मृदुल, मंजुल, मांगलिक और पावन प्रतीक है। उसका रंग हलका लाल है। वह बिलकुल रक्त नहीं है। हिन्दुस्तान में होने वाली क्रान्ति के गर्भ में मंजुलता और पावनता गड़ी हुई थी। इसीलिये सन् 1857 की क्रान्ति का यह प्रतिबिम्ब चुना गया। क्रान्ति करेगे–मानवीयता की रक्षा के लिए; क्रान्ति होगी–मानवीयता लिये हुए।

कमल के साथ रोटी भी चलती थी। एक गाँव से दूसरे गाँव एक रोटी भेजी जाती थी। दूसरे गाँव में फिर ताजा रोटी बनी और तीसरे गाँव भेज दी गई। हिन्दुस्तान की वह क्रान्ति हिन्दुस्तानियो की रोटी की रक्षा के लिए हुई थी। रोटी उस रक्षा के प्रयत्न का प्रतीक थी। जिसने सोचा, उसने कल्पना का कमाल कर दिया ! यह उपज हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की थी। [17]

कमल और रोटी का दौरा समाप्त नहीं हुआ था कि छः मई को मेरठ में विस्फोट हो गया। बैरकपुर में इससे पहले ही एक उपद्रव हो चुका था। मेरठ और दिल्ली की सम्मिलित हिन्दुस्तानी फौज ने दिल्ली के लालकिले पर अधिकार कर लिया। बादशाह ने क्रान्ति का नेतृत्व स्वीकार किया और उसने सबसे पहला जो काम किया वह था गौ–वध कतई बन्द कर देना। मई के महीने में लगभग सारे उत्तर हिन्द में क्रान्ति की आग भड़क उठी किसी दिन कहीं और किसी दिन कहीं। और धीरे – धीरे क्रान्ति की यह लौ झाँसी में महारानी लक्ष्मीबाई के हाथों में आ गई।

(2) सामाजिक एकीकरण :

कप्तान गार्डन डिप्टी कमिश्नर 'बहादुर' का बन्दोबस्त बहादुरी के साथ चला। जागीरें जब्त हुईं, जमींदारियां कायम हुईं। मदिरों की सेवा–पूजा के लिए जो जायदादे लगी थी, वे खत्म हुई। पुजारियों को, पूजको को यह बहुत अखरा। अरजी–पुर्जियां दीं। बंगलो पर माथे रगड़े–एक न चली। गार्डन की दृढ़ता ने

चोर–डाकुओं से लेकर पुजारियों तक के होश ठिकाने लगा दिये। हर बात में अरजी और अरजीनवीस का दौर–दौरा बढ़ गया। कानून की प्रतिष्ठा के लिए वकीलों को आदर मिला। पहले कोई परीक्षा इस पेशे के लिये जारी नहीं की गई थी। वकालत की सनद डिप्टी कमिश्नर अता किया करता था–ठीक उसी तरह जैसे जमींदारी या नौकरियाँ 'अता' होती थीं। होशियार लोगों ने झटपट अंग्रेजी कनून, अदब, ढंग सीखा और आगे चलकर बिना उनके अदालत का पत्ता भी न हिला। इस वर्ग ने उस युग में सब प्रकार की निष्ठाओं के ऊपर कानून की निष्ठा को बिठाने में जाने अनजाने सहायता की। केवल यह एक ऐसा अंग्रेजी संस्कार है, जिसके प्रति हिन्दुस्तानियों की आत्मगत भावनाओं में श्रद्धा होनी चाहिये थी परन्तु जिस प्रेरणा और जिस वातावरण में होकर और जिन उपकरणो के साथ न्याय का यह साधन आया था, वे सब हिन्दुस्तानियो को कतई अच्छे नहीं लगे, और इसलिए भी कानून अखरा।

परोपकार की वृत्ति से प्रेरित होकर अंग्रेजों ने कानून की प्राण–प्रतिष्ठा हिन्दुस्तान के न्याय–मन्दिर में की हो, सो बात नहीं थी। देश में पूर्ण शान्ति हो, अंग्रेजों का अधिकार सदा–सर्वदा इस देश में बना रहे और अंग्रेजी व्यापार, व्यवसाय निर्वाध चलते रहें, बस इसी वृत्ति से प्रेरित होकर कानून बनाए और चलाए गए। गवर्नर जनरल से लेकर पटवारी और चौकीदार तक कायदा–कानून में बंधकर अपना–अपना काम करते चले जायें, अनुशासन में शिथिलता न आने पाए। तभी तो अंग्रेजी राज्य निर्विध्न चल सकता था। उन लोगों ने हिन्दू नरेशो और मुसलमान बादशाहो के उत्थान पतन के इतिहास पढ़े–गुने थे, इसलिये वे अपने शासन को उन सब गड्ढो से बचाना चाहते थे, जिनमें नरेशों और बादशाहों के सूबेदार और अन्य कर्मचारी मौका पाते ही उसको ढकेल दिया करते थे। [18]

समय–समय पर गार्डन शहर के बड़े आदमियो को मुलाकात के

आकर्षण देता रहा। चिरौरी करना तो वे जानते ही थे, इसको भी करते थे, परन्तु जब वे इसके सामने झुकते थे, उनकी रीढ़ में दर्द हो उठता था और माथे पर बल पड़ जाते थे। घर आकर लाभ–हानि को आँकने के साथ वे साहब की हेकड़ी पर जलते थे और अपनी चिरौरी पर हँसते थे।

रानी को भी समाचार दे आते थे। वे चुपचाप सुन लेती थी और उनके बाल–बच्चों के समाचार विस्तृत ब्यौरे के साथ पूछ लेती थी और कोई बात न कहने का उन्होंने अपने मन पर बंधेज कर रखा था।

ब्रिटिश सरकार के शासन की गतिविधि में अफसरों का जिले भर में दौरा करने प्रत्येक दफ्तर के काम को बारीकी के साथ देखने–भालने थानों, तहसीलों और जेलखानों का निरीक्षण करने का महत्वपूर्ण स्थान था। ग्राम–पंचायतों का स्थान अंग्रेजी अदालते दौरे के साधन द्वारा आसानी के साथ ले सकती थीं। इसके सिवाय दौरे का जीवन शिकार देता था, नवीन–नवीन प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन कराता था और सम्पूर्ण देहात के सम्पर्क में इन लोगों को ले जाता था। शासन की जड़े मजबूत बनती थीं।[19]

स्कीन, गार्डन, डनलप इत्यादि को झाँसी में मई की खबरे मिल गईं और रानी को उनसे पहले ही। रानी ने एक विशेष समय तक के लिए, लगभग सब आने जाने वालो का महल आना बन्द कर दिया। जो थोड़े लोग आते–जाते थे, उनमें एक मोतीबाई थी। उसी के द्वारा रानी सब महत्वपूर्ण समाचार लेती और देती थी। मोतीबाई, खुदाबख्श और रघुनाथसिंह के सम्पर्क में थी। वह इन लोगों को सब बाते भुगता देती थी। रानी की दृढ़ सावधानी के कारण, झाँसी में असमय विस्फोट नहीं हो पाया। चौथी जून को कानपुर में और उसी दिन झाँसी में क्रान्ति के लक्षण प्रकट हुए। एक हवलदार कुछ सैनिको को लेकर कम्पनी निर्मित छोटे से किले में, जो पुराने

किले से एक मील शहर बाहर है और जिसे अंग्रेज लोग उसकी बनावट के कारण 'स्टार फोर्ट' (तारा–गढ) कहते थे, घुस पड़ा और लड़ाई का सब सामान और रूपया–पैसा उठवाकर ले आया। डनलप कुछ सेना लेकर मुकाबले के लिये आया। स्टार फोर्ट में कोई भी सामान न पाकर वह लौट गया। कमिश्नर को सूचना मिली। उसकी सलाह पर छावनी के सब अंग्रेज अपने बाल–बच्चे लेकर किले में जाने को तैयार हुए।

अब इन लोगों को रानी की, रानी के शौर्य की, उनकी योग्यता की, उनकी सामाजिक एकरूपता और उनकी तेजस्विता की याद आयी। गार्डन कई अंग्रेजों को लेकर रानी के महल पर पहुँचा। बोला अभी हमको भरोसा है कि फौज में जो थोड़ी सी गड़बड़ हुई है, उसको दवा लेंगे, परन्तु यदि कोई बड़ी विपदा आए तो आप हमारी सहायता करियेगा। रानी ने उत्तर दिलवाया इस समय हमारे पास न काफी शस्त्र हैं और न लड़ने वाले आदमी। देश में उपद्रव फैल रहा है। यदि आप सहमत हो तो मैं अपनी और जनता की रक्षा के लिये एक अच्छी सेना भरती कर लू। गार्डन सहमत होकर चला गया।

दूसरे दिन छावनी में स्कीन गार्डन और डनलप की बैठक हुई। उन लोगों को अब भी विश्वास था कि हिन्दुस्तानी का व्यक्तिगत रूप से अपमान करना किसी भी नुकसान का कारण नहीं बनता। वे समझते थे कि सारी फौज में कुछ व्यक्ति नाराज हो सकते हैं, सब नहीं। इसी भरोसे डनलप एक और अंग्रेज को साथ लेकर पलटन में पहुँचा। सिपाहियो ने, जिनमें रिसालदार काले खां सबसे आगे था, तुरन्त डनलप को गोली से मार दिया। अंग्रेजों में भगदड़ मच गयी। [20]

गार्डन अकेला रानी के पास दौड़ा गया। मुंदर के द्वारा बातचीत हुई। गार्डन बोला हम लोग पुरूष हैं। हमको अपनी चिंता नहीं। हमारी स्त्रियो और बच्चो

को अपने महल में आश्रय दे दीजिये। मुंदर ने रानी को आगा पीछा सुझाया, बोली सरकार इस आफत से दूर रहिये। फौज के लोग, हमारे महल पर टूट पड़ेगे। रानी ने धीरे परन्तु दृढ स्वर में मुंदर से कहा हमारी लड़ाई अंग्रेज पुरूषो से है, उनके बाल बच्चों से नहीं। यदि में सिपाहियों पर नियंत्रण न कर पाई तो उनका नेतृत्व क्या करूँगी।

इस बीच में सिपाही छावनी को तहस नहस करने में उलझे थे। फारिग होकर वे किले पर धावा करने के लिए बढ़े। गार्डन इत्यादि ने सब फाटक बंद कर लिये, लेकिन सिपाही बहुत थे। उनके पास तोपखाना था और किले में तोप न थी–युद्ध सामग्री भी थोड़ी, खाने के लिये करीब–करीब कुछ नहीं।

मोतीबाई ने कहा सरकार अब समय आ गया है। रानी बोली नियुक्त तारीख पर आरम्भ न होने के कारण कार्यक्रम का रूप बदल गया है। तो भी, अपनी सेना तुरन्त तैयार करने का प्रयत्न इसी समय किया जाना चाहिये। रघुनाथसिंह को समाचार दो कि कटीली से दीवान जवाहरसिंह को बुला ले और जितनी विश्वसनीय सेना इकट्ठी हो सके, आठ मील पर, रकसा के निकट जमा करे। घुड़सवार अधिक हो। जब तक मेरी आज्ञा न मिले, झाँसी की ओर न आए। मोतीबाई ने दीवान रघुनाथसिंह को आज्ञा सुना दी। वह खुदाबख्श को लेकर चला गया। [21]

इसके बाद दूसरे दिन स्कीन ने नागोद और ग्वालियर से सेना माँगने के लिए पत्र लिखे, उसके दुर्भाग्य से सेना नहीं आयी। इसी दिन विद्रोहियो ने अपने पूरे वेग से किले पर धावा बोला। दोनों ओर से भंयकर गोलाबारी हुई, किन्तु इस दिन भी विद्रोहियों को सफलता नहीं मिली। विद्रोही किसी भी मूल्य पर किले पर अधिकार करना चाहता थे, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल रही थी। जिस समय झाँसी के उप सर्वेयर लेफ्टिनेंट पाविस किले में गया, वह अपने कुछ परम विश्वासपात्र भारतीय

सैंनिको को साथ ले गया था। अपने देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील विद्रोहियों को सफलता न मिलती देख उन सैंनिको को विद्रोही सैंनिको से सहानुभूति हो गयी, अतः वे बाहर खड़े घेरा डाले विद्रोहियों को किले में आने का गुप्त मार्ग बताने का प्रयत्न करने लगे। उनके इस कार्य से किले के अन्दर स्थित अंग्रेज परिचित हो गये। उन्हे अन्दर लाने के लिए उन्होंने पाविस से भला–बुरा कहा। पाविस ने उन सैंनिको को ऐसा न करने को कहा, इस पर वे खुले रूप में विद्रोह पर उतर आए, उन्होंने पाविस की हत्या कर दी।

इस बीच बाहर से विद्रोही किले में प्रवेश की प्राणपर्ण से चेष्टा कर रहे थे। उनका दबाब निरन्तर बढ़ता जा रहा था। अन्दर से भी गोलाबारी हो रही थी। गार्डन किले की खिड़कियो से बाहर को गोली चलाता जा रहा था। उसे सभी विद्रोही जानते थे। तभी एक विद्रोही ने उस पर तीर चलाया, निशाना अचूक था, तीर सीधे गार्डन को लगा और उसकी मृत्यु हो गयी। किले में हाहाकार मच गया। अंग्रेज भयभीत हो गये। उनके दुर्भाग्य से उनकी युद्ध सामग्री भी समाप्त हो गयी। इन विद्रोहियों का नेतृत्व काले खाँ और अहमद हुसैन कर रहे थे। उनकी सूझ–बूझ से किले का बहुत बड़ा भाग अधिकार में आ गया था।

अंग्रेज प्राण–रक्षा के लिए सन्धि करने का विचार करने लगे। 8 जून को विद्रोहियो के नेता किले के द्वार तक पहुँच गये। उन्होंने हकीम सुले मुहम्मद नामक नगर के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति को स्कीन के पास भेजा। स्कीन ने उनसे प्रार्थना की कि उन्हें सुरक्षित सागर जाने दिया जाए। हकीम सुले मुहम्मद ने कुरान की शपथ लेकर कहा कि वे हथियार रख दे, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाया जाएगा। अतः अंग्रेजों ने वैसा ही किया और किले से बाहर निकल आए। बाहर आते ही उन्हें बन्दी बना लिया गया और फिर शहर में घुमाते हुए जोगन बाग की ओर ले जाया

गया, तभी मार्ग में एक घुड़सवार ने उन्हें रोक लिया जो काले खाँ का सन्देश लाया था कि बन्दी बनाए गये अंग्रेजों की हत्या कर दी जाये। इस सन्देश के प्राप्त होते ही झाँसी जेल के दरोगा बक्शीश अली ने सर्वप्रथम तलवार से स्कीन का सिर धड़ से अलग कर दिया। यह देखते ही अन्य विद्रोही भी बन्दी अंग्रेजों पर टूट पड़े देखते–ही–देखते सभी को मार डाला। [22]

इस हत्याकाण्ड में कुल कितने अंग्रेज मारे गये, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हैं। कहीं यही संख्या 60 हैं, तो कहीं 67 और कहीं 76 बताई जाती है, तो कुछ लोगों ने इस काण्ड में मृतको की कुल संख्या 114 बताई हैं।

सिपाहियों के दिल्ली चले जाने पर रानी ने रकसा से दीवान जवाहरसिंह इत्यादि को तुरन्त ससैन्य बुलवाया रात में दीवान जवाहरसिंह ससैन्य आ गया। रानी ने आदेश भेजा कि नगर और किले का प्रबंध करो और कल दिन में मिलो। दूसरे दिन महल में बहुत से लोग उपस्थित हुए। सेना और शासन से सम्बन्ध रखने वाले सरदार कर्मचारी, जागीरदार, जनता के साहूकार, मुखिया और पंच। रानी परदे के पीछे बैठी कहा, कल कठिनाई के साथ मैंने नगर को लुटने से बचाया। विद्रोही तो यहाँ से चले गए, परन्तु अव्यवस्था छोड़ गए है। डकैती और लूटमार बढ़ने का बहुत भय है। मैं चाहती हूँ जनता त्रस्त न होने पाए। इसीलिए मैंने झाँसी राज्य के पुराने जागीरदारों और सरदारों को कुछ सेना लेकर बुलवाया हैं, जिससे अव्यवस्था न रहने पाए। आप लोगों को और जनता के मुखिया–पंचो को सम्मति के लिए बुलवाया हैं। बताइए अब क्या करना चाहिए ? [23]

गार्डन के सरिश्तेदार ने सलाह दी बलवे की सूचना जबलपुर के कमिश्नर को देकर अंग्रेजों की ओर से रानी साहब शासन सँभालें। काछियों के मुखिया ने कहा हमै नई चाउनें काऊ और कौ राज झाँसी में। करे राज तौ हमाई

बाईसाहब, न करे तौ हमाई बाईसाहब। तेलियों के पंच ने मत प्रकट किया हमें तो अपनौं पुरानौं राज लौटाउनै, चाय थी इतै थी उतै है जाय। प्रमुख साहूकार बोला बाट जोहते–जोहते आँखे पथरा गई। आज कितनी मानताओ के बाद यह दिन देखने को मिला। हम लोग तो अपना राज्य चाहते है। चमारो के मुखिया ने कहा राज बाईसाब कौ और फिर बाईसाब कौ और हम सब बाईसाब के। मोरोपन्त ने जनमत का समर्थन किया। एक लक्ष्मणराव पाण्डे नामक चतुर काँइया भी उसमें था। वृद्ध नाना भोपटकर ने, जो अब भी काफी स्वस्थ था, कहा हम लोग सरिश्तेदार साहब की सलाहें पर भी विचार करेंगे। इस समय इतना तो अवश्य तय कर लेना चाहिए कि राज्य का सर्वागीण शासन बाईसाहब के हाथ में रहे और सब लोग अपने को उनकी प्रजा मानकर दृढ़तापूर्वक अपने जीवन का निर्वाह करे। उपस्थित जनता ने हर्ष और उत्साह के साथ इस मत को स्वीकार किया।

रानी बोली आप लोग जो भार मुझे दे रहे हैं उसको मैं अपना गौरव मानती हूँ और परमात्मा की कृपा से उसको निभाऊँगी। लोगों ने जय–जयकार की।

झाँसी नगर का वर्णन कर गए हैं, समसामयिक पर्यटक ब्राह्मण विष्णुभट्ट गोड्से बरसोइकर। उन्होंने कहा है: झाँसी नगर उत्तरी हिन्दुस्तान में अत्यन्त समृद्धिशाली है। झाँसी का किला अत्यन्त प्रसिद्ध है। शहर के पश्चिमी दिशा में एक जलाशय है। राजप्रासाद चौमंजिला ऊँचा हैं। उसमें आठ चौकियाँ हैं। उसके पश्चिम में सिपाहियों को परेड करने के लिए एक विस्तृत मैदान है। उसमें अनेक पेड़ है। महल अत्यन्त मजबूत और सुन्दर हैं। यह महल इतना बड़ा हैं कि उसे पूरा देखने में एक महीना लग जाएगा। महल के हर कमरे में गलीचा बिछा हुआ हैं (झाँसी उन दिनों गलीचा बनाने के लिए विख्यात थी।)। दरबार भवन में जो लाल गलीचा बिछा हुआ है, उसमें पैर तक धस जाते हैं। रमणीय उद्यान में एक फव्वारा है। महल के

उत्तर की तरफ मीठे पानी का एक कुआँ है। उसी तरह एक विस्तृत उधान में फूलो के वृक्ष, अंगूर की लताएँ, आम, अमरूद, नीबू आदि अनेक प्रकार के फलों के पेड़ लगे हुए हैं। शंकर किला आरामदायक और क्रीड़ा के उपकरणों से सुसज्जित है। किला और नगर अत्यंत ऊँची प्राचीर से घिरा हुआ हैं। इस दीवार के बीच–बीच में बुर्ज और दरवाजे हैं। पाँच दरवाजे तो इतने बड़े हैं कि उनके नीचे से हाथी तक जा सकता है। किले की पूर्वी दिशा की दीवार से लगे हुए मैदान से शहर प्रारम्भ होता है। इस मैदान से शहर में जाने की सड़क चौड़ी और सुंदर है। शहर के बीच में पाँच कुँओ से युक्त एक सुन्दर बाग भी है।

शहर में सभी जगह उद्यान, सरोवर और कुएँ है। कोष्ठीपुरा और हलवाईपुरा में शहर के संभ्रांत लोगों का वास है। वहाँ पर बड़े–बड़े महल और हवेलियाँ है। शहर के दक्षिणी दरवाजे पर एक विशाल सरोवर है। उसके समीप झाँसी राजवंश के गृहदेवता कुल स्वामिनी महालक्ष्मी देवी का मन्दिर हैं। मन्दिर के लिए नंदाद्वीप, पूजा, महानैवेद्य, चौघड़ा (नौबत) गायक एवं नर्तकियों का बन्दोबस्त था। आषाढ़ महीने से लेकर चैत्र मास तक मन्दिर में ऐसा उत्सव होता था जिसे देखकर विस्मय जाग जाता था। शहर में अनेक विष्णु, गणपति और शिव के मन्दिर थे। उनकी नित्य सेवा–पूजा के लिए राज्य की ओर से वृति निश्चित थी।

शहर की रीति–नीति बहुत सुन्दर थी। नागरिक लोग श्रीमंत, उद्योगी एवं कर्मनिपुण थे। झाँसी की तरह के रेशमी कपड़े, गलीचा एवं पीतल के बर्तनो की कला अन्य किसी शहर में नहीं मिलती थी। शहर में प्रायः छह सौ घर ब्राह्मणों के है। प्रभात में प्रातः स्नान करने के बाद धुले वस्त्र धारण कर सुगंधित इत्र लगाकर काम शुरू करने का इस शहर का रिवाज है। शाम को मोतिया, जूही और चमेली की माला हाथ में लेकर इत्र खरीदकर सजने–सँवरने का रिवाज है।

झाँसी में स्त्रियों की अधिक प्रमुखता हैं। स्त्रियों को इस प्रकार से स्वच्छंद विहार करते हुए अन्यत्र नहीं देखा गया है। संध्या को सुन्दर साड़ी पहनकर, केशो में माला गूँधकर, हाथ में चाँदी अथवा ताँबे की दक्षिणा लेकर देवदर्शन के लिए स्त्रियाँ निकलती है।

विष्णुभट्ट ने मोरोपन्त ताम्बे से भेंट की थीं। मोरोपन्त ताम्बे के अनुरोध पर लालू भाऊ टेकरे से उसने भेंट की। 'ब्रह्मवर्ता कड़ील कोणी विद्दान ब्राह्मण आले आंहेत' यह बात कहकर लालूभाऊ ने उसका यथायोग्य भाव से आदर किया–'आदर–सत्कार चाँगला केला, आपन स्वस्थ आसवें असे आश्वासन केला'[24]

विष्णुभट्ट ने कहा हैं, शत्रु विनाश और राज्य सुरति करने के उद्देश्य से रानी ने विविध प्रकार के अनुष्ठान, जप एवं दान, गणपति मन्दिर में नित्य नवचंड़ी अनुष्ठान जप एवं दान, गणपति मन्दिर में नित्य सहस्रवार परिक्रमा अनुष्ठित होती थी। उसके पश्चात उसने सहस्र पक्ष, कुंड, मंडप सह गृहयज्ञ का अनुष्ठान किया। राजप्रासाद के निकट एक विशाल मैदान में शामियाना लगाकर कुंड, वेदी तैयार कराई गई। काशी एवं बिठूर से अनेक ब्राह्मण बुलवाए गए। रानी ने स्वयं स्वच्छ, शुद्व वस्त्र पहनकर दामोदर के साथ आसन ग्रहण कर लिया। उसके कुलगुरू लालूभाऊ टेकरे ने सारी व्यवस्था उत्तम रीति से की थी। मोरोपन्त ताम्बे कन्या के निकट ही बैठे थे। सारे संकल्प रानी के नाम से किए गए थे। यथासमय अनुष्ठान शुरू हुआ। किन्तु जब नान्दी श्राद्ध प्रारम्भ हुआ तब रानी के बदले दामोदर राव ही मंत्र बोलने लगा। विष्णुभट्ट ने विचार किया, यज्ञ के सारे संकल्प जब रानी के नाम से है, तब यह बालक श्राद्ध क्यों कर रहा है ? एक याज्ञिक, विद्वान, शास्त्री, पुरोहित होते हुए भी उन्होंने आपत्ति क्यों नहीं की हैं ? उसने उच्च स्वर से कहा–"अरे ! थोड़ी देर के लिए अनुष्ठान बंद कर दीजिए। मेरी कुछ शंका हैं। स्त्रियाँ वेदाधिकारी

नहीं हैं इसीलिए पुष्य, आवाहान, वाचन आदि कर्म उपाध्याय–प्रतिनिधि के द्वारा होते रहते हैं। यहाँ पर बालक ने क्यों नान्दी श्राद्व किया है ? संकल्प जब बाई साहिबा के नाम पर हैं ?"

उसकी शंका पर सभी लोग प्रश्नाकुल हो गए। उन्होंने स्वीकार कर लिया कि अनुष्ठान में भूल हो रही थी। विनायक भट्‌ट याज्ञिक ने वह बात नहीं मानी। दोनों पंडितो में तर्क–विर्तक होने लगा। मयूख, हेमाद्रि इत्यादि शास्त्र ग्रंथो को उलटा–पलटा जाने लगा। अन्त में निर्णय हुआ कि विष्णुभट्‌ट ही इस यज्ञ का निर्देशन करेगें। उसने यह व्यवस्था दी कि बालक दामोदर कहेंगे कि 'गृहयज्ञ विद्यायिन्या मम मातु:' (गृहयज्ञ कराने वाली मेरी माता हैं।) विष्णुभट्‌टजी ने गुरुकृपा से जरा भी भूल न करके इस यज्ञ का पूरा निर्वाह कर चौथे दिन पूर्णाहुति दी। तीन दिन तक ब्राह्मण भोजन एवं चौथे दिन मुक्तद्वार हुआ। ब्राह्मण लोगों को दक्षिणा और बख्शीश मिली। बारह रूपए के वस्त्र एवं नगद बीस रूपया। सर्वसाधारण को भोजन और नवीन वस्त्रो के द्वारा संतुष्ट किया गया।

इस अनुष्ठान के अन्त में रानी ने विष्णुभट्‌ट के अभिभावक से कहा–तुम लोगों का लड़का विद्वान हैं। उसे राज्याश्रय प्रदान कीजिए। मैं उसे काम दूँगी। कुछ दिन बाद शतचंडी यज्ञ होता हैं। किले में घटस्थापना करके धूप और पुष्पों द्वारा यह पूजा समाप्त होने के बाद रानी ने विष्णुभट्‌ट को बुलाकर उसे राजकीय निवास–स्थान एवं तीस रूपया महीना देना निश्चित कर उत्तम वस्त्र एवं जरीदार शाल उपहार में दिया। महालक्ष्मी मन्दिर में नित्य एक सहस्र लोगों को भोजन कराकर रानी चार आना प्रतिदिन दक्षिणा दिया करती थी। प्रत्येक दिन मोतीचूर के लड्‌डू एवं विविध प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन वहाँ खाने को दिए जाते थे।

रानी से मिलने आने वाले लोग विभिन्न उपहार लाया करते थे।

उपहार के साथ जो सूखी गरी के टुकड़े, सिपारी आदि रहा करती थी रानी उन्ही को उठाकर उनके प्रति सम्मान प्रकट करती थी। बाद में दामोदर को बुलाकर प्रेम से दिखाकर कहा करती थी–बोलो इनमें से क्या लोगे ? दामोदर की जो इच्छा होती थी वही उठा लेता था। रानी कभी एक–दो चीजे लेकर बाकी सब आश्रितों, कृपापात्रो और दास–दासियो में बाँट दिया करती थी।

रानी खाने–पीने में अत्यन्त अनाड़बरपूर्ण थी। उसकी विमाता ने कहा–''मक्का उनको अत्यंत प्रिय थी।'' भुट्टा भूनकर खाना उसे बहुत अच्छा लगता था फल उसे बहुत प्रिय थे।

भोजन के बाद वह दामोदर को लेकर थोड़ा विश्राम किया करती थी। दामोदर के नहाने–खाने की दिनचर्या सब बँधी हुई थी। जब दामोदर आपत्ति किया करता था तब रानी उससे कहा करती थी, 'बड़े हो जाने पर भी स्वतंत्रता नहीं मिलती है– देखो न ! मैं किस तरह नियम का पालन करती हूँ।' विश्राम के समय दामोदर किसी–किसी दिन केशो पर उँगली फिराया करता था। उसके बदले में रानी को पुराणो की कथा सुनानी पड़ती थी। [25]

देशस्थ ब्राह्मण लक्ष्मण राव रानी के दीवान थे। विष्णुभट्ट ने उन्हें 'अक्षरशत्रु' कहा है। किन्तु राजकाज में वे बहुत अनुभवी और दक्ष थे। आठ कारकुन लिखा–पढ़ी का काम किया करते थे। दरबार का कोई भी काम रानी को बिना बताए नहीं होता था। दरबारियों में से किसी दिन, किसी के न आने पर दूसरे दिन रानी उसके विषय में पूछताछ किया करती थी। उनकी स्मरण शाक्ति अत्यंत तीक्ष्ण थी। [26]

मोरोपन्त ताम्बे एवं उनकी स्त्री चिमाबाई रानी के हितैषी स्वजन और सहचर थे। मोरोपन्त के इसी बीच दो लड़कियाँ हो गई थी। 1856 ई. के 12 मार्च

तदनुसार चैत्र शुक्ल षष्ठी को उनके एकमात्र पुत्र चिन्तामणि का जन्म हुआ। भाई होने पर रानी ने नगर में उत्सव किया था, एवं इस उपलक्ष्य में मिष्ठान वितरण किया गया था। इस बच्चे को वह कभी–कभी राजमहल में लाकर रखती थी। उसके लिए दूध की व्यवस्था और एक धाय नियुक्त की गई थी, एवं इसके समर्थ और स्वतंत्र हो जाने के बाद एक रक्षकदल नियुक्त करके उस बच्चे की देखरेख की व्यवस्था भी की गई थी।

1857 ई. के जून मास में जब वर्षा में नदियों को पार करना कठिन हो जाता हैं, वरूआ सागर से बुरा समाचार आया। वहाँ पर व्यापक रूप से अराजकता शुरू हो गई हैं। डाकू, लुटेरे लूटपाट में लग गए हैं। पहले तो रानी ने कुछ फौज भेजी। उसका परिणाम कुछ नहीं हुआ। तब रानी स्वयं घोड़े पर सवार होकर वहाँ फौज लेकर गई। अनायास ही उन दुष्ट अपराधियों को गिरफ्तार कर लिया गया। जिन लोगों ने हत्या की थी, उनमें से दो लोगों को फाँसी दे दी गई। कई लोगों ने जीविका के अभाव में डाकुओं को सहयोग किया था। उन लोगों को लाकर उसने सेना मे भर्ती कर लिया और इस प्रकार उनकी जीविका की व्यवस्था की। वरूआ सागर एवं अन्य कुछ स्थानो पर थोड़ी–थोड़ी सेना रखकर ग्राम वासियों को आत्मरक्षा के लिए शस्त्र चलाना सिखाने की उसकी इच्छा थी। किन्तु बार–बार ओरछा तथा दतिया के आक्रमणो से ग्रामीण क्षेत्रों की जीवनयात्रा विश्रृंखलित हो गई थी इसलिए रानी को अपनी इच्छा कार्यरूप में परिणत करने का समय नहीं मिला। डाकुओ को सेना में भर्ती करने का अभियोग उस पर एक दिन उसके हितचिंतको ने लगाया था। किन्तु परवर्ती समय में जब जरूरत पड़ी थी तो इन्ही डाकुओ ने अंग्रेजों के हाथ से झाँसी की रक्षा करते हुए अपने प्राणो का विसर्जन कर दिया था। जिसमें सागर सिंह का नाम प्रमुख हैं।

झाँसी राजमहल के विख्यात पुस्तकालय की शोभा बढ़ाने की ओर रानी की दृष्टि थी। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से साहित्य, दर्शन, काव्य पढ़ने का समय उसे नहीं मिल पाता था, फिर भी नेवलकर वंश के गौरव के प्रतीक इस ग्रंथागार के रख–रखाव के प्रति उसकी तीक्ष्ण दृष्टि थी। उन दिनों की प्रजा के अनुसार बहुमूल्य रेशमी और जरी के वस्त्रों में हस्तलिखित पोथियो को बाँधकर रखा जाता था। श्रीमद्भगवत् गीता की तो सब मिलाकर 20 भिन्न आकार की हस्तलिखित प्रतियाँ थी। उनमें से एक को रानी सदा अपने प्रयोग में लाती थी।

रात में सोने के पहले किसी–किसी दिन वह गीता पाठ किया करती थी। एकदम अँधेरें कमरे में सोने की वह अनाभ्यस्त थी। बालक दामोदर उसी के साथ सोता था। कमरे में सारी रात एक चाँदी का दीपक जलता रहता था।

परोला में नेवलकर लोगो का पुरोहित वंश टेकरे लोगो का था। टेकरे परिवार धनी के रूप में विख्यात था। रूपया उधार देना उनका व्यवसाय था। झाँसी में टेकरे परिवार की स्त्रियाँ जैसे मूल्यवान आभूषण पहना करती थी उन्हें देखकर झाँसी का जनसामान्य आश्चर्य में पड़ जाता था।

रानी की अश्व–परीक्षा के सम्बन्ध में विविध कहानियाँ कही जाती है। महाराष्ट्रीय घुड़सवारी में अत्यंत कुशल होते हैं। ऊँचें–नीचे पर्वतों से भरे महाराष्ट्र में चलने–फिरने में घुड़सवार के अलावा और कोई उपाय नहीं था। महाराष्ट्रीय रमणियाँ भी अन्तयंत दक्ष घुड़सवार हुआ करती थी। एक सौ वर्ष पहले भारत वर्ष में सर्वत्र शीघ्र आने–जाने के लिए घोड़े का ही व्यवहार किया जाता था। और ऊँट, हाथी आदि दुर्गम एवं कष्टसाध्य यात्राओं के लिए काम में लाए जाते थे। आज भी राजस्थान, मध्यभारत, बुन्देलखण्ड़ आदि स्थानो पर ऊँट की पीठ पर कतार बाँधे चलते हुए ग्रामवासी नजर में आ जाते हैं।

स्वभावतः प्रत्येक भारतीय राज्य में अच्छे घोड़े रखने एवं उनके संग्रह का प्रचलन था। घुड़सवारी तो एक सामान्य घटना मानी जाती थी और अत्यंत निपुण घुड़सवार हुए बिना कोई ख्याति भी नहीं पा पाता था।

उत्तरी हिन्दुस्तान में घोड़ो के विशेषज्ञो के रूप में तीन अश्वारोहियों की ही ख्याति थी—नाना धूडूपन्त, बाबासाहब आप्टे ग्वालियरकर और झाँसी की रानी।

बाबासाहब आप्टे की अश्व—कुशलता के सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ सुनी जाती है। एक बार एक अंग्रेज के साथ उन्होंने बाजी लगाई। कहा जाता हैं, अंग्रेज अश्वचालन में अत्यंत कुशल था। उसने बाबासाहब आप्टे से कहा—"सुनता हूँ, आप एक सौ प्रकार की कलाएँ जानते हैं, मैं एक सौ एक जानता हूँ।" [27]

दोनों पक्षों में यह बात तय हुई कि वे दोनों ही एक—एक कला दिखाएँगे। एक विशाल कुएँ के मुख पर काठ का तख्ता डाल दिया गया। उस कुएँ में किसी कारण गिर जाने पर मृत्यु निश्चित थी। साहब ने कहा, वह उसी कुएँ से घोड़े पर चढ़कर पार हो जाएगा। सभी लोग जब साँस रोके उसे देखते हैं, उसी समय बाबासाहब आप्टे घोड़ा लेकर दूसरी तरफ से आ गए और दोनों अश्वारोही उसी तख्ते के बीच में आकर खड़े हो गए। एक परम संकट का क्षण। प्रतीक्षा होने लगी कि घोड़े के गिर जाने की संभावना है और पीछे हटना भी असम्भव है और सामने का मार्ग भी अवरूद्ध है। आसन्न विपत्ति की संभावना से सभी विचलित हो जाते हैं। बाबासाहब आप्टे ने कहा—"मैं तुम्हारी सिर्फ एक कला देखना चाहता हूँ कि तुम इस स्थिति से अपने घोड़े को निरापद रूप से कुआँ पार कर ले जा सकोगे कि नहीं।" साहब ने कहा—"मैं उस तरह की कोई कला नहीं जानता हूँ।" बाबासाहब के इशारे पर उनका घोड़ा पीछे के पैरो पर खड़ा होकर घूम गया और कुँआ पार कर नीचे उतर

गया। साहब भी निरापद रूप से कुआँ पार कर गया। बाबासाहब बोले, "अब तुम अपनी बाकी एक सौ कलाएँ दिखा सकते हो।" साहब का उत्साह ठंडा पड़ जाने का यथेष्ट कारण घट चुका था किन्तु वह गुणों का समादर करना जानता था। इसीलिए उसने मुक्त हृदय से बाबासाहब को एक श्रेष्ठ घुड़सवार के रूप में स्वीकार कर लिया।

रानी के सम्बन्ध में जो कहानियाँ सुनी जाती हैं उनमें निम्न कहानी सर्वाधिक प्रचलित है।

उनका पुराना अश्व–विक्रेता एक दिन एक अत्यंत सुन्दर, सुगठित तेज घोड़ी को लेकर आता है। अत्यंत दुख के साथ बताता है कि इस मूल्यवान घोड़ी को वह कही भी नहीं बेच पा रहा हैं। कौन जाने क्यों यह घोड़ी, पीठ पर बैठते ही तड़फड़ाकर सवार को तुरन्त फेंक देती हैं। रानी ने एक बार चढ़कर देखने की इच्छा प्रकट की। पीठ पर चढ़कर थोड़ा घूमने के बाद आकर उसने कहा, किस कीमत में वह इस घोड़ी को बेचने को राजी हैं। खरीदने के बाद उसने कहा– "घोड़ी के दाहिनी ओर पेट के पास किसी तरह का दर्द हैं, इस कारण पैरो से धक्का लगते ही वह पीड़ा से छटपटा उठती है।" उनके आदेश से अश्व चिकित्सक आया। चीरा लगाने के बाद दाहिने तरफ के पेट से एक कील निकाली गई। संभवतः पल्लेचा से एक कील वहाँ बिंध गई थी। यही घोड़ी बाद में उनको अत्यंत प्रिय हो गई थी। रानी ने उसका नाम रखा था 'सारंगी' घोड़ी।

रानी के स्वतंत्र राज्यशासन के समय झाँसी के किले में मात्र दो बन्दी थे। एक सदाशिव नारायण थें। उनकी परिचर्या और आराम की सुन्दर व्यवस्था की गई थी। दूसरा व्यक्ति था मालहरि। यह व्यक्ति गंगाधर राव की नाट्यशाला की नर्तकियो की देखरेख करने वाला था। उसके जिम्मे थी नाट्यशाला की बहुमूल्य

पोशाके, आभूषण आदि। 1854 ई. में झाँसी के ब्रिटिश अधिकार में जाने के समय मालहरि ने बहुमूल्य आभूषणो को लेकर भागने की चेष्टा की थी। 1857 ई. के अन्त में रानी ने उसे बन्दी बना लिया था। यह मालहरि ब्रिटिश सेनाओं के आने के लिए अत्यंत उत्सुक था। रानी के प्रति उसके विरोधी मनोभाव को किले के सभी लोग जानते थे। एकमात्र इसी व्यक्ति के सम्बन्ध में बाद में रानी को अत्यन्त कठोर देखा गया था। अन्यथा उसके चरित्र में अनावश्यक कठोरता जरा भी नहीं थी। [28]

इन्हीं दिनों ग्वालियर की कोकणस्थ नाटक मंडली लेकर सदोबा नाट्याधिकारी झाँसी आया। झाँसी में उनके ठहरने का स्थान निश्चित कर दिया गया। किले से प्रतिदिन सीधा–सामान जाने लगा। शहर में पंद्रह दिन तक बाणासुर, रासक्रीड़ा आदि नाटको का मंचन किया गया। अतः पुरावासिनियो ने देखा कि रानी भी बैठी हुई हैं और नाटक हो रहा है 'हरिश्चन्द्र'। श्मशान में मृत कलश फोड़ने के दृश्य का मंचन होने का समय पुराणपंथियों ने उसका निषेध किया। उन्होंने कहा–यह दृश्य घर में अभिनीत करने का कोई काम नहीं हैं। सदोबा ने कातर नेत्रों से रानी की ओर देखा। रानी बोली नहीं, उसे अपने अनुसार अभिनय करने दीजिए। अभिनय हुआ। जब श्मशान पर हरिश्चन्द्र ने मृत्घट फोड़ा, तब पुराणपंथियो ने, हाय अपशकुन आहे'–अर्थात 'हाय अमंगल हो गया' कहते हुए सभा का त्याग कर दिया।

पंद्रह दिन तक नाटक कर सदोबा ने झाँसी छोड़ दी। जाने से पहले इस नाट्क दल को आभूषण, धोती–चादरपगड़ी और चार हजार रूपये दिए गए। यह नाट्क अभिनीत होने के बहुत दिन बाद तक भी वे रूढ़िवादी लोग कहा करते थे, उस अशुभ दृश्य के अभिनय की अनुमति देकर ही रानी झाँसी के ऊपर दुर्भाग्य बुलाकर लाई।

किन्तु यह बात सत्य नहीं हैं। इसके बहुत पहले से युद्ध के लिए

तैयार केनिंग की जरूरी इत्तला पर चीन, फारस, अफ्रीका के ब्रिटिश इलाको से ब्रिटिश सैनिक जहाजों में भरकर भारत के रास्ते पर रवाना हो जाते हैं। आधी पृथ्वी पार कर एक पाल वाला जहाज सितंबर 1857 ई. में बम्बई के बन्दरगाह पर आ लगता है। जहाज की डेक पर खड़े होकर एक प्रौढ़ व्यक्ति तीक्ष्ण दृष्टि से देखता है कि भारत का तटस्थल निकट से निकटतर आता जा रहा हैं। मालवा और मध्यभारत में शान्ति–स्थापना के लिए वह आया है। उसी का नाम ह्यूरोज है।

मध्यभारत का सुन्दर ग्वालियर शहर। युवक सिंधिया जयाजी राव अंग्रेजों के परम मित्र है। प्रतिमास लाख–लाख रूपया खर्च करके शिकार–यात्रा करते है अंग्रेज अफसर। पार्टी दी जाती हैं, नाच–गान होता हैं, बाजी लगाई जाती हैं पच्चीस हजार रूपयो की। 1853 का वर्ष। ग्वालियर कंटिंजेंटी के सिपाहियों को आठ मास का वेतन नहीं मिला है। जयाजी राव आए। फौज लेकर गोली चलाई। मर गए सोलह लोग। उन लोगों के गाँव की खेती–बारी, घर–द्वार सब जब्त कर लिए गए। कन्टूनमेंट के मैदान में चाँदी से मढ़ी गोल्फस्टिक से अब वे गोल्फ खेलेंगे। वे थक गए हैं इसीलिए उन्हें मनोरंजन की जरूरत है। अयोध्या के गाँवो से होकर फौज जा रही है। बत्तखें, मुर्गियाँ उन्हें जुगाड़ करके देनी होंगी, दूध भी सब उन्ही को चाहिए। तीव्र अतिनाद से रोता हुआ सहसा कौन चुप हो गया ? कोई नादान बालक रास्ता नहीं खोज सका–उसके ऊपर से होकर घोड़ा निकल गया । [29]

गाँव–गाँव में मिशनरी लोग घूमते हुए कह रहे हैं, तुम लोगों का धर्म झूठा हैं, शिक्षा बेकार है, समाज बेकार है, सबकुछ बेकार हैं। कोई कुछ कह नहीं रहा है, ग्रामवासी लोग जब सुनतें हैं, उन लोगों की आँखो में बिजली–सी चमकती जाती है।

चैत की फसल उठाते समय किसानो को जबर्दस्ती पकड़कर सडकें

तैयार कराई जा रही हैं। मिलिट्री की बैरकें बनेगी। फसल कुचलकर नष्ट हो गई। उसका मुंआवजा कौन देगा ?

माँ को बच्चा समझा रहा हैं कि किसान के जीवन में सिर्फ भूखों मरना ओर गरीबी के आलावा क्या हैं ? दिन में भूखे, रात में बुखार, पेट में रोटी नहीं, और महाजन की बही में सात पुश्तों का कर्ज। इसलिए अब फौज में भर्ती होऊँगा माँ, सिपाही बनूँगा। नगद रूपया मिलेगा। वर्दी मिलेगी, छुट्टी मिलेगी–माँ, तुम आज्ञा दे दो।

शहर मेरठ! वर्ष 1856! बैरक के सामने स्वच्छंदता और अनुशासनहीनता के कारण चाबुक खाते–खाते वह किशोर–सिपाही मर गया। उसकी कोई क्षति–पूर्ति नहीं की गई।

कानपुर के बाजार में घोड़ागाड़ी के सामने एक तीन वर्ष का लड़का पढ़ गया था, उसके नीचे वह पिस गया। माँ के हाथो में चाबुक पड़ने लगा।

बैरकों के किनारे बैठकर अपने ही बीच शराब पीने के अपराध में तीन लोग पकड़कर लाए गए। सिर नीचे ओर पैर ऊपर करने उन्हें टाँग दिया गया। संध्या के बाद देखा गया कि नाक–मुँह से खून बहने के कारण एक व्यक्ति मर जाता हैं।

अंग्रेज स्वामी की तरफ अगर कोई भारतीय साहस और स्वाभिमान पूर्वक देखता रहता है तो उसे भी कैदखाने का दंड मिल सकता है। बूढ़े बाबा के ऊपर से घोड़ा निकाल देने के कारण किसी लड़के ने अफसर का कुर्ता दोनों हाथो से पकड़ लिया था। उसे फाँसी दे दी जाती है।

किन्तु एक अंग्रेज ने भारतीय कुली को नीलगिरि में लाठियों से मार–मारकर फेंक दिया, खूब चाबुक मारे। उस पर विचार करने के लिए उसे ले जाया जाएगा सुदूर शहर की अदालत में। उतनी दूर गाँव का व्यक्ति कैसे जाएगा ? [30]

लाखो छोटी–छोटी घटनाएँ है। और भी बहुत–सी बाते हैं, और भी बहुत–से दुख हैं, और भी अनेक प्रश्न हैं। हजार–हजार संथालो के रक्त से छोटानागपुर और राजमहल की मिट्टी लाल हैं–कारण वे लोग साहसी है। बंदूक बनाम धनुष में बाजी लगाई गई थी। उनके खून से सनी हुई मिट्टी में कौन–सी फसल फलेगी ?

कोल–भील और आदिवासी घुमंतू और भोपला बार–बार विद्रोह करते हैं। अनुभव और अभिज्ञता खरीद रही है कई करोड़ संतानो की जननी, अत्याचारो से उत्पीड़ित भारतभूमि अपनी संतान के खून के द्वारा। माँ होकर भी जो संतान को बचा न सके वह कैसी माँ है ? इसलिए आर्त्तनाद करो। चारों ओर से लोगों का आह्यन करो।

दिल्ली के लाल किले पर बार–बार इश्तिहार चिपकाए जा रहे है–धर्म के लिए, देश के लिए तैयार हो जाओं, हिन्दुस्तान के लोगों।

फाड़कर फेंक दिए गए इश्तिहार। कलकत्ता, मेरठ, कानपुर, झाँसी में फिर से इश्तिहार लगा दिए गए। बार–बार चिपकाए जा रहे हैं इश्तिहार।

फौजी बैरकों से होकर गाँव–गाँव घूम रही हैं हाथ से बनी रोटियाँ। कभी–कभी उनके साथ लाल कमल की पंखुड़ियाँ भी।

साधु, संन्यासी, फकीर और दरवेश गाँव–गाँव घूमकर संगठित कर रहें हैं ग्रामवासियों को। कह रहे हैं– सत्तरह सौ सत्तावन (पानीपत का अन्तिम युद्ध) के बाद अठारह सौ सत्तावन आ गया है। अब तो अंग्रेज राज खत्म होने चला है।

ऐसे ही आ गया अठारह सौ सत्तावन का वर्ष। दो वर्ष व्यापी महाप्रलय। अंग्रेज इतिहासकार जिसे मात्र सिपाही विद्रोह कह गए हैं। अगर यह यही भर है तो फिर वे लोग पूरे कागज–पत्र, दलीलदस्तावेज आदि इस देश में क्यो नहीं

रखकर छोड़ गए है ? चार सौ वर्ष पहले का इतिहास मिलता है और इसी घटना के समस्त साक्ष्य और प्रमाण क्यों नहीं मिलते हैं ? भारतीयो के मन में अनेक प्रश्न जागते है। इसीलिए उसको हम लोग कहेंगे अंग्रेजों के खिलाफ पहला सक्रिय सचेत जागरण। कहेंगे भारतवर्ष का पहला स्वाधीनता–संग्राम। भारतीय स्मृति में पुष्यशाली वर्ष है सत्तावन। [31]

बुन्देलखण्ड में 1857 के विद्रोह के कारणों को मुख्यतः दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है– सामान्य कारण और विशिष्ट कारण। सामान्य कारण के अन्तर्गत वे कारण रखे जा सकतें हैं, जो न केवल बुन्देलखण्ड में अपितु बुन्देलखण्ड के बाहर के क्षेत्रों के लिये भी उत्तरदायी थें। विशिष्ट कारण के अन्तर्गत केवल वे कारण रखे जा सकते हैं जो बुन्देलखण्ड के लिये प्रत्यक्षतः उत्तरदायी थे।

लार्ड डलहौजी ने अनेक राज्यो को 'डॉक्ट्रिन आफ लैप्स' के नाम से प्रसिद्ध एक सिद्धान्त का अनुसरण कर ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। इसका अर्थ है कि स्वाभाविक उत्तराधिकारियों के न रहने पर "अवलंबित" राज्यो–ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाये गये अथवा अधीनता मानने वाले राज्यो की सर्वोच्च्य सत्ता सर्वोच्च्य शक्ति में समाप्त हो जाती है। [32] हिन्दुओं में गोद लेने की बहुत पुरानी प्रथा थी। परन्तु, यह सिद्धान्त सर्वोच्च्य सत्ता की स्वीकृत के बिना उन राज्यों के उत्तराधिकारियो के गोद लेने के अधिकार को नहीं मानता था। यह सिद्धान्त लन्दन स्थित डायरेक्टर्स के आदेशो के तहत सन् 1834 ई. में फाइलों में आ चुका था। इस सिद्धान्त का 'श्री गणेश' करने वाला डलहौजी न था। उसने तो केवल उसका कठोरतापूर्वक अनुप्रयोग किया था। लार्ड डलहौजी ने "डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स" के तहत 1848 ई. में सतारा, 1849 ई. में जैतपुर और संभलपुर, 1850 ई. में बघाट, 1852 ई. में उदयपुर, 1853 ई. में नागपुर तथा 1854 ई. में झाँसी का विलय कर लिया। [33] इससे इन राज्यो के

स्थानीय सरदारो एवं उनके आश्रितो के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और वे ब्रिटिश राज के विरोधी हो गये।

जन असंतोष का सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण कारण अंग्रेजों द्वारा देश का आर्थिक शोषण तथा देश के परम्परागत आर्थिक ढ़ाँचे का विनाश था। इसके फलस्वरूप किसानो, दस्तकारों, एवं शिल्पियों तथा साथ ही साथ बड़ी संख्या में परम्परागत जमींदारो तथा मुखिया लोगों को निर्धनता की स्थिति में पहुँचा दिया। अंग्रेजों की भू—राजस्व प्रणाली ने किसानो के मन में ब्रिटिश राज के प्रति घृणा भर दी थी। लगान की दिन प्रति दिन बढ़ती माँग के कारण जमीन का मालिकाना अधिकार अनेक किसानों के हाथ से निकालकर व्यापारियों तथा सूदखोरो के हाथो में चला गया और वे कर्ज के भारी बोझ तले दबकर रह गये। ये नये जमींदार उन परम्पराओं से अपरिचित थे जो पुराने जमींदारो को किसानो को जोड़कर रखती थी और इसलिये उन्होंने लगान को अत्यधिक बढ़ाकर किसानो को तबाह कर दिया। समय—समय पर पड़ने वाले अकालों ने किसानो के असन्तोष को और अधिक बढ़ा दिया। [34]

1857 के विद्रोह का एक मुख्य कारण यह भी था कि अंग्रेजों की भारतीयों को ईसाई बनाने की बड़ी भारी इच्छा थी। सन 1813 ई. के चार्टर के तहत ईसाई धर्म प्रचारको को भारत में धर्म प्रचार के लिये आने की सुविधा प्रदान की गई। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अध्यक्ष मैगल्स ने सन 1857 में पार्लियामेंट के अन्दर कहा था— ''परमात्मा ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंगलिस्तान को इसलिए सौपा है ताकि हिन्दुस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसामसीह का विजयी झण्डा फहराने लगे। हममें से प्रत्येक को अपनी पूरी शक्ति इस कार्य में लगा देनी चाहिये ताकि सारे भारत को ईसाई बना लेने के महान कार्य में देश भर के अन्दर कही पर किसी कारण जरा भी ढ़ील न आने पाये।''

सर सैय्यद अहमद खाँ ने लिखा हैं– "सभी व्यक्ति, चाहे बुद्धिमान थे, अथवा निरक्षर, सम्माननीय व्यक्ति थे अथवा नहीं, यह विश्वास करते थे कि सरकार सच्चे रूप में लोगों के रीति–रिवाज तथा धर्म में हस्तक्षेप करने को इच्छुक थी।[35] चाहे वे हिन्दू हो अथवा मुस्लिम, सरकार सबको ईसाई बनाना चाहती थी और उनकी यूरोपीय आदतों तथा रहन–सहन के तरीको को अपनाने के लिये विवश कर रही थी।"

ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों को मिटाने के लिये सामाजिक प्रथाओं में भी हस्तक्षेप किया। सन् 1795 ई. के बंगाल नियम 21 और 1802 ई के नियम 6 के द्वारा शिशु वध के दोनों रूपो (प्रथम–कार्यसिद्धि के लिये शिशु वध, द्वितीय –विवाह आदि की समस्या से बचने के लियें शिशु वध) पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा शिशु वध को हत्या घोषित किया गया।

हिन्दू समाज में प्रचलित सती प्रथा भी एक अमानवीय प्रथा थी। लार्ड विलियम वैंटिंग काल में सन् 1839 ई. के नियम XVII के द्वारा इस प्रथा को अवैध एवं दण्डनीय घोषित कर दिया गया। सन् 1856 के विधवा पुनर्विवाह अधिनियम के द्वारा हिन्दू विधवाओं के लिये विवाह का विधान किया गया।

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयो की सामाजिक प्रथाओ मे हस्तक्षेप के कारण रूढ़िवादी हिन्दू बहुत अधिक असंतुष्ट हुये।[36]

अंग्रेजों ने भारत में पाश्चात्य शिक्ष पर बल दिया। जबकि भारतीय शिक्षा एवं भाषाओ की उपेक्षा की। लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी की शिक्षा का समर्थन किया तथा भारतीय साहित्य की हँसी उड़ाई। सन् 1835 ई. में कौंसिल ने निर्णय लिया कि अब से उपलब्ध सार्वजनिक कोष के रूपये अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च होने चाहिये। लार्ड हार्डिन्ज के काल में अंग्रेजी शिक्षा का पक्ष एक नियम के कारण और भी आगे बढ़ा।

इस नियम में कहा गया था कि सभी सार्वजनिक नौकरियाँ एक खुली हुई प्रतियोगात्मक परीक्षा से भरी जायेगी। जिसमें अंग्रेजी के ज्ञान को वरीयता दी जायेगी। व्यवहारतः भारतीयो के लिये उपलब्ध उच्चतर नियुक्तियो में जाने के लिये अंग्रेजी शिक्षा एकमात्र अनुमति पत्र बना दी गयी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार–प्रसार हेतु उठाये गयें इन कदमो का परम्परावादी एवं रूढ़िवादी भारतीयो ने भारतीय साहित्य और संस्कृति को नष्ट करने का षडयंत्र समझा और वे ब्रिटिश राज के विरोधी हो गये।

सर्वसाधारण वर्ग रेल, तार आदि नवीन अविष्कारों को घृणा की नजर से देखता था। लोग रेलगाड़ियो को जातीय भ्रष्टता की दृष्टि से तथा तार प्रणाली को 'हाथ की सफाई' के रूप मे देखते थे। तत्कालीन संदेहास्पद परिस्थितियों में भारतीयो ने इन नवीन अविष्कारों को धर्म एवं समाज में परिवर्तन करने वाले उपकरणों के रूप में देखा। अतः नवीन अविष्कार भी जन असंतोष को बढ़ाने वाले सिद्ध हुये। [37]

डॉ. आर. सी. मजूमदार सैनिक कारण को 1857 के विद्रोह के लिये सर्वप्रमुख कारण मानते हैं। मजूमदार के अनुसार ''बहुत सी बातों ने देश के विभिन्न भागो में असंतोष का धुआ पैदा कर दिया। फिर भी सिपाहियों की सेना पूर्ववत कम्पनी के प्रति स्वामिभक्त बनी रहती तो इस धुयें को निगल जाने वाली ज्वाला के रूप में फूट पड़ना सम्भव न होता।'' इस ने भी लिखा हैं कि सिपाहियों की सेना के नियंत्रण में परिस्थिति का गूढ़ विषय संनिहित था। [38]

अनेक कारणों से कम्पनी के प्रति सिपाहियों का रूख मित्रतापूर्ण न रह गया था। दूरदराज के क्षेत्रों में लड़ने के लिये सिपाहियो ने अतिरिक्त भत्तों की माँग की थी, जिसे सरकार ने ठुकरा दिया था। बंगाल की सेना में भर्ती किये गये अधिकांश रंगरूट अवध और उत्तर पश्चिम प्रान्तो की ऊँची जातियों से थे। वे अपने जाति सम्बन्धी विशेषाधिकारो के प्रति अत्यंत संवेदनशील होते थे।

फलतः वे आसानी से अनुशासन के वशीभूत नहीं होते थे। साथ ही वे सरकार की पश्चिमोभिमुखी एवं ईसाई बनाने की नीति के भी प्रबल विरोधी थे। असंतोष की भावना उस समय और भी बढ़ गई, जब लार्ड केनिंग के समय में 'जनरल सर्विस एनलिस्टमेंट ऐक्ट' पारित हुआ। इसके अनुसार बंगाल सेना के सभी रंगरूटों को आदेश मिला कि वे भारत के भीतर और बाहर दोनों जगहों में सेवा करने के लिये तैयार रहें। पुनः इंग्लैंड उस समय भारत के बाहर कई युद्धों में फँसा हुआ था, जैसे– क्रीमिया का युद्ध, फारस का युद्ध और चीनी युद्ध। इससे सिपाहियों के मन में यह विश्वास पैदा हो चला कि इंग्लैंड संकटपूर्ण परिस्थिति में था तथा भारत में ब्रिटिश सेना के अल्पसंख्यक होने से उसके भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा सिपाहियों पर ही निर्भर थी। चर्बी लगे कारतूसो की घटना ने विद्रोह की सुप्त भावना को प्रकट कर दिया।

19वी. सदी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में 'एनफील्ड राइफल' नामक एक विशेष तरह की बंदूक का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। इसके लिये कारतूसो में चर्बी लगायी जाती थीं। यह वस्तुतः कुविचारित कर्म था। नाना साहब, अवध के नवाब के पक्षावलंबियो, झाँसी की रानी और कुछ अन्यो द्वारा पहले से ही सेना में परिश्रमपूर्वक असंतोष फैलाया जा रहा था। अब इसने चिंगारी लगा दी, जिसने असंतोष के तप्त भस्म को प्रज्वलित कर दिया। सिपाहियों की सेना में इस विश्वास के कुछ आधार थे कि उक्त चर्बी में गाय या सुअर की चर्बी मिली है। यह बात हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये आपत्तिजनक थी। एटचिसन लिखता हैं कि– "जिस तरह चिंगारी सूखी लकड़ी पर गिरती है, उसी तरह कारतूसो की सच न लगने वाली कहानी इस जलने वाली सामग्री पर गिर पड़ी।" तथा सतलज से नर्मदा तक समस्त देश जलने लगा।[39]

देशव्यापी सामान्य असंतोष की पृष्ठभूमि में बुन्देलखण्ड में 1857 के

कारणों को मुख्यतः तीन वृहद विभागों में विभाजित किया जा सकता हैं–

1. बुन्देलखण्ड के शासको में असंतोष
2. बुन्देलखण्ड की जनता में असंतोष
3. बुन्देलखण्ड के सिपाहियो में असंतोष

बुन्देलखण्ड में शासको के असन्तोष के निम्न कारण थे–

लार्ड डलहौजी का विचार था कि कम्पनी सरकार के प्रदेशो एवं प्रान्तो के बीच में पड़ने वाले इलाको को मिलाने का मौका चूकना नहीं चाहिये। इससे खजाना बढ़ता हैं और शासन भी सुदृढ़ होता हैं। 'डॉक्ट्रिन आफ लैप्स' को लागू करने के लिये उसने भारतीय राज्यो को तीन श्रेणियो में विभाजित किया–

1. वे राज्य जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों द्वारा स्थापित किये गये थे।
2. वे राज्य जो अंग्रेजों के अधीन राज्य थे।
3. वे राज्य जो स्वतंत्र राज्य थे।

लार्ड डलहौजी ने स्पष्ट किया कि प्रथम श्रेणी के राज्यो को गोद लेने का अधिकार नहीं दिया जायेगा। द्वितीय श्रेणी के राज्यो के लिये यह आवश्यक था कि बच्चा गोद लेने से पहले अंग्रेजों से स्वीकृति ले जिसे अंग्रेज अस्वीकार भी कर सकते थे। तृतीय श्रेणी के नरेश किसी भी बच्चे को गोद लेने के लिये स्वतंत्र थे। उल्लेखनीय हैं कि सन्धि राज्यो को द्वितीय श्रेणी में रखा गया था। [40]

परन्तु बुन्देलखण्ड में कुछ ऐसे राज्य भी थे जिन्हे, उपरोक्त तीनो श्रेणियो में से किसी में भी रखना सुनिश्चित नहीं किया गया था। अतः बुन्देलखण्ड में "डॉक्ट्रिन आफ लैप्स" को लागू करने में गम्भीर समस्यायें थी।

डॉक्ट्रिन आफ लैप्स के आधार पर बुन्देलखण्ड के कुछ राज्यो– 1840 में जालौन, 1849 में जैतपुर और 1853 में झाँसी का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय

किया गया। झाँसी के विलय की घटना न केवल झाँसी में 1857 के विद्रोह के लिये अपितु, पड़ोसी क्षेत्रो में भी विद्रोह के लिये काफी हद तक उत्तरदायी थी।

दामोदर राव को झाँसी राज्य का उत्तराधिकारी न मानकर तथा झाँसी का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लार्ड डलहौजी ने न केवल रानी लक्ष्मीबाई को वरन झाँसी की प्रजा की भावनाओ को भी गहरी चोट पहुँचाई थी। डलहौजी के इस कृत्य को किसी भी आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता है। इतना ही नहीं अंग्रेजों ने आगे भी अनेक प्रकार से रानी लक्ष्मीबाई को अपमानित भी किया।

महाराज गंगाधर राव के निधन के समय 6 लाख रूपया खजाने में था। इसको अंग्रेजी हुकूमत ने अपनी निगरानी में ले लिया था, वह भी यह कहकर कि यह नाबालिग दामोदर राव का है और वे उसी को बाद में सौपेगे। उल्लेखनीय हैं इन छः लाख रूपयों को ब्रिटिश सरकार ने महाराज की निजी सम्पत्ति स्वीकार किया था।

अंग्रेजों ने रानी लक्ष्मीबाई से अपने पति के कर्जो को अपनी स्वीकृत पेंशन से चुकाने के लिये भी कहा था। रानी लक्ष्मीबाई और झाँसी के अनेक लोगों के मना करने पर भी झाँसी में गो–वध को ब्रिटिश प्रशासन ने प्रारम्भ कर जारी रखा। झाँसी में स्थित महालक्ष्मी मन्दिर के प्रबन्ध हेतु गाँवो–कोछा भाँवर और गोरामछिया–के राजस्व को भी छीन लिया गया। रानी ने स्वर्गीय महाराज की तेरहवी और श्राद्ध की दक्षिणा हेतु जो जमीनें क्रिया–कर्म कराने वाले पण्डितो, महा ब्राह्मणो को दी थी, वह भी उनसे छीन ली गई। रानी लक्ष्मीबाई को कुछ धार्मिक प्रथाओं को सम्पन्न करने से भी रोका गया। उस समय हिन्दू विधवायें, अपने बाल मुड़वाती थी। अतः रानी लक्ष्मीबाई अपने बाल मुड़वाने के लिये बनारस जाना चाहती थी। परन्तु उनको अनुमति प्रदान नहीं की गई।[41] पुनः जब रानी ने दामोदर राव के यज्ञोपवीत संस्कार

के लिये उसके लिये जमा 6 लाख रूपये में से एक लाख रूपये निकालने के लिये सरकार से आवेदन किया। इस पर सरकार ने चार लोगों की जमानत माँगी कि यदि व्यस्क होने पर दामोदर राव ने इन रूपयो की माँग की तो उसे देना पड़ेगे। संक्षेप में, रानी के प्रति ब्रिटिश सरकार का व्यवहार सर्वथा अनुचित था तथा उनके कष्टो की प्रार्थनाओं एवं आवेदनों को लापरवाही एवं उपेक्षा के साथ ठुकरा दिया गया। झाँसी राज्य की प्राप्ति हेतु रानी द्वारा की गई प्रत्येक अपील को अंग्रेजों ने समुचित विचार किये बिना ही खारिज कर दिया।

मर्दन सिंह के पिता राजा मोर पहलाद एक अयोग्य शासक थे। अतः सिन्धिया ने उन पर आक्रमण कर चन्देरी राज्य पर अधिकार कर लिया। एक सन्धि के तहत चन्देरी राज्य के दो–तिहाई भाग पर सिन्धिया का प्रत्यक्ष शासन स्थापित हो गया जबकि एक तिहाई भाग पर, जिसमें बानपुर भी था, अधीन राजा के रूप में मोर पहलाद का राज्य रहा। मोर पहलाद का राज्य बानपुर का राज्य कहलाया। सन् 1843 ई. में मोर पहलाद की मृत्यु के पश्चात मर्दन सिंह बानपुर के राजा बने। सन् 1844 ई. में सिन्धिया ने चंदेरी राज्य अंग्रेजों को सौप दिया, फलतः सिद्धान्त. रूप में बानपुर भी अंग्रेजों के आधिपत्य में आ गया। प्रारम्भ में चंदेरी राज्य को प्राप्त करने के लिये मर्दन सिंह ने अंग्रेजों का साथ दिया। परन्तु, उन्हें अंग्रेजों से अपेक्षित पुरस्कार न मिला। अतः वे अंग्रेजों के विरोधी हो गये। रानी झाँसी के साथ होने वाले अंग्रेजी दुर्व्यवहार से उन्होंने रानी का साथ देने का निश्चय किया। [42]

शाहगढ़ क्षेत्र गढ़कोटा राज्य का एक भाग था। इसका शेष भाग सागर स्थित पेशवा के प्रतिनिधि सिन्धिया के पास था। पेशवा बाजीराव द्वितीय के साथ 1817 की सन्धि के अनु. XIII के अनुसार सागर राज्य अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। शाहगढ़ के राजा ने 1818 में गढ़कोटा पर कुछ समय के लिये अधिकार

कर लिया। परन्तु, जब उसे वहाँ से खदेड़ दिया गया तो वह पुनः शाहगढ़ आ गया। विद्रोह के समय शाहगढ़ के राजा बख्त बली ने पूर्वजो के राज्य के रूप में गढ़कोटा पर पुनः अपना दावा किया। उसे ब्रिटिश सत्ता के समाप्त होने पर गढ़कोटा के राज्य के प्राप्त होने की आशा थी।

बाँदा के नवाब अली बहादुर II अली बहादुर I के पौत्र एवं नवाब जुल्फिकार अली के पुत्र थे। नवाब जुल्फिकार अली के बड़े भाई बाँदा के नवाब शमशेर बहादुर ने अंग्रेजों से एक सन्धि की थी जिसे गवर्नर जनरल की कौंसिल ने 2 फरवरी 1804 को अपनी मंजूरी दी थी। इसके अनुसार नवाब को अनेक विशेषाधिकार दिये गये थे। प्रथम नवाब तथा उनके प्रमुख पदाधिकारियों को सिविल न्यायालय के क्षेत्र से बाहर रखा गया था। द्वितीय, सेना रखने की भी अनुमति दी गयी थी। तृतीय नवाब के लिये 15 बन्दूकों की सलामी, जो जुल्फिकार अली के समय में घटकर 12 रह गई, निर्धारित की गई थी। परन्तु, जब जुल्फिकार अली के बाद अली बहादुर द्वितीय सन् 1849 में नवाब बना तो उसे इन सभी विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया गया। इतना ही नहीं उससे वह सम्पूर्ण निवास और भूमि भी छोड़ने के लिये कहा गया जो नवाब बाँदा के कन्टोनमेंट के नाम से जानी जाती थी। नवाब की भावनाओं को उस समय और अधिक ठेस लगी जब उसके पुत्र के जन्मोत्सव पर ब्रिटिश अधिकारी परम्परागत रूप से शमिल नहीं हुआ। इन सब बातो से नवाब अली बहादुर के मन में अंग्रेजों के विरूद्ध असन्तोष होना स्वाभाविक था। [43]

सन् 1840 में अंग्रेजों ने जालौन का ब्रिटिश राज्य में विलय कर ताजबाई की आकांक्षाओं का गला घोट दिया। नाना गोविन्द राव की पौत्री होने के कारण जालौन रियासत पर उसका दावा बहुत मजबूत था। परन्तु, अंग्रेजों ने उसे अस्वीकार कर दिया था। अतः ताजबाई के मन में ब्रिटिश सत्ता के प्रति असन्तोष

स्वाभाविक था।

जैतपुर के राजा पारीछत को विद्रोह करने के कारण ब्रिटिश सरकार ने उन्हें सन् 1842 में गद्दी से हटा दिया था तथा उनके स्थान पर दीवान खेत सिंह को गद्दी पर बैठा दिया था। परन्तु, दीवान खेत सिंह की मृत्यु निःसंतान हुई। अतः सन् 1849 में उनके राज्य का विलय ब्रिटिश साम्राज्य में कर दिया गया। पारीछत की विधवा स्वयं को जैतपुर राज्य का दावेदार मानती थी। हमीरपुर में विद्रोह की घोषणा होने पर, उन्होंने जैतपुर में पुनः अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी।

बुन्देलखण्ड में जनसाधारण में असन्तोष के निम्न कारण थे।

अंग्रेजों के प्रशासन के अन्तर्गत जो भी क्षेत्र आ जाता था, उस क्षेत्र से वे अधिक से अधिक लगान वसूल करने का प्रयास करते थे। इसलिये वे सर्वप्रथम तो लगान की दर ऊँची रखते थे फिर इसे क्रमशः और अधिक बढ़ाते थे। इससे कृषको और जमींदारों पर सरकार के ऋण का बोझ बढ़ने लगा तथा भूमि भी उनके हाथों से निकलने लगी। अतः दोषपूर्ण भू–राजस्व प्रणाली के कारण किसानो और परम्परागत जमीदारो में गहरा असन्तोष उत्पन्न हुआ। [44]

जे. डी. एरस्काइन बुन्देलखण्ड जिले के प्रथम कलेक्टर थे। उन्होंने सन् 1805–06 में प्रथम भूमि बन्दोबस्त किया। उन्होंने दूसरा बन्दोबस्त तीन वर्ष (1806–07 से 1808–09) के लिये किया। उसने बुन्देलखण्ड जिले के लिये 13,23,723 रूपये वार्षिक लगान के रूप में निर्धारित किये। एरस्काइन के स्थानापन्न जान वौचोप ने अगले त्रिवर्षीय बन्दोबस्त में लगान के कुल निर्धारण में 13 प्रतिशत की वृद्धि की। अगले तीन वर्षो में पुनः इसी बन्दोबस्त को जारी रखा गया।

सन् 1816 ई. का वर्ष बुन्देलखण्ड के लिये स्मरणीय है, जबकि स्कॉट बेरिंग ने अधिकांश के लिये बर्वादी की कगार तक पहुँचाने वाली सरकारी माँग

(लगान) निर्धारित कर दी। इससे हमीरपुर के लगान में सवा तीन लाख रूपये की वृद्धि हुई। बहुत कम वसूली के कारण कालपी के तहसीदार को बर्खास्त कर दिया गया तथा जलालपुर के तहसीलदार को कलैक्टर के शिविर से बेइज्जती के साथ निकाला गया। लगान की दर बहुत अधिक हो जाने के कारण, लोग लगान चुकाने में असमर्थ हो गये थे। अतः उन पर बकाया धनराशि बढ़ने लगी। इस पर, स्कॉट बेरिंग ने बकायादारों की भूमि को नीलाम करने का आदेश दिया। इससे तीव्र गति से भूमि हस्तान्तरण सरकार के पक्ष में हुआ। प्रतिवर्ष लगान संग्रह की परेशनियाँ बढ़ती गई। भूमि की नीलामी की राशि अधिक होने के कारण सरकार को खरीददार नहीं मिल रहे थे। आयुक्तो के बोर्ड ने भी अनुभव किया कि लगान का निर्धारण बहुत अधिक था। कमिश्नर एनिस्ले ने स्वीकार किया था कि बेरिंग का भूमि बन्दोबस्त बाँदा जिले की बर्बादी का प्रमुख कारण बना। सन् 1819 ई. में बुन्देलखण्ड जिला दो जिलो–बाँदा और हमीरपुर में विभाजित हो गया तथा इनका भूमि बन्दोबस्त भी पृथक–पृथक होने लगा। [45]

बाँदा में पाँचवे नियमित भूमि बन्दोबस्त का प्रारम्भ कैम्पबेल ने तथा समापन रीड ने किया। कैम्पबेल ने सम्पूर्ण लगान में 87,138 रूपयें की कमी कर दी। उसने पंचवर्षीय भूमि बन्दोबस्त किया।

यह बाँदा के वित्तीय इतिहास में एक निर्णायक बिन्दु हैं, जबकि लगान की अत्यधिक दर को सरकार द्वारा पहचाना गया तथा इसे कम करने की अनुमति दी गई। सन् 1825 ई. छठवाँ भूमि बन्दोबस्त विल्किन्सन और फेने ने किया जिसके अन्तर्गत लगान में 30 प्रतिशत की वृद्धि की गई। इसके फलस्वरूप 116 ग्राम बेचने का प्रस्ताव सरकार द्वारा रखा गया। लक्ष्य से बहुत कम वसूली होने के कारण सन् 1834 ई. में बाँदा के कलेक्टर बेग्बी ने बेरिंग द्वारा निर्धारित लगान में 24 प्रतिशत

की कटौती कर लगान का पुर्ननिर्धारण किया। सन् 1842 ई. के भूमि बन्दोबस्त के लिये लगान की पूर्व दर को उचित ठहराया गया, परन्तु इसके साथ ही राइट और बर्ड ने वार्षिक लगान में 29,000 रूपये की वृद्धि कर दी। इसके अलावा, जनता पर कुछ अतिरिक्त बोझ सड़क कोष, चौकीदार आदि के लिये डाल दिये। इस प्रकार पूर्व निर्धारित लगान में एक लाख रूपये की वृद्धि हुई। सन् 1843–44 की दो खराब फसलों के कारण लगान की वसूली अधिक न हो सकी। अतः बकायादारों की भूमि को कम कीमत पर ही बेच दिया गया। [46]

बाँदा के कलैक्टर एच. रोज ने इलाहाबाद के कमिश्नर को सूचित किया था कि लगान का निर्धारण बहुत अधिक हैं। नीलामी में भूमि को खरीदने वाले दुर्लभ हैं। विगत वर्षो में एक लाख रूपये की कर वृद्धि जिले की क्षमता से अधिक है। सन् 1847 और 1848 में, रोज न लगान में कमी कर दी। फिर भी, बकायादारों एवं भूमि हस्तानतरण की संख्या में वृद्धि होती रही। 1851–52 में लक्ष्य की तुलना में लगभग 10 प्रतिशत कम वसूली हुई। 1855 और 1856 में, कलैक्टर एफ. ओ. मैंने ने लगान में कमी करने के लिये सिफारिश की क्योंकि लगान की निर्धारित धनराशि की तुलना में वसूली बहुत कम हो गयी थी। सन् 1857 ई. में लेफ्टीनेंट गवर्नर ने लगान की उदार दर पर अपनी अनुशंसा दे दी थी, परन्तु इस समय तक लोग विद्रोह के स्तर तक पहुँच गये थे।

सन् 1819 ई. में हमीरपुर के कलैक्टर फोर्ड ने कमिश्नर को सूचित किया कि बेरिंग द्वारा निर्धारित लगान हमीरपुर जिले के लिये बहुत अधिक हैं। लगभग 100 रियासतो का हस्तान्तरण हो चुका हैं। उसने यह भी लिखा कि भू–स्वामियो की समृद्धि भी समाप्त प्राय हो गई हैं। सन् 1822 से 1824 के मध्य ऋणो में वृद्धि हुई। सन् 1826 की परिस्थितियो ने कलैक्टर वैल्पी को लगान को कम करने

के लिये बाध्य किया। परन्तु, उसने इसे पूर्वी परगनो तक ही सीमित रखा। सन् 1829–30 में भंयकर सूखा पड़ा। कमिश्नर एनिस्ले ने स्वयं भ्रमण के दौरान देखा कि अधिकांश गाँव बंजर भूमि में परिवर्तित हो गये। उसे ऐसा कोई भू–स्वामी नहीं मिला जो खराब भूमि को सुधारने को तैयार हो। अतः उसने 'सदर बोर्ड ऑफ रेवेन्यू' को सुझाव दिया कि पूर्व ऋणो की कोई माँग न की जाये। सन् 1830–31 से 1834–35 के मध्य लगान में कुछ कमी की गई, परन्तु इसका वितरण न्यायपूर्ण नहीं था। एनिस्ले ने कुछ गाँवो के लगान में काफी कमी की। परन्तु उन गाँवो के लोगों में बहुत असन्तोष था जिन्हें यह सुविधा नहीं मिली थी, जबकि ये गाँव भी लगान की अत्यधिक दर के कारण पीड़ित थे। [47]

एनिस्ले के भूमि बन्दोबस्त के बाद पिडकाँक ने भूमि बन्दोबस्त किया। उसने पुनः लगान में वृद्धि कर दी। जिले की भुखमरी और भूमि की कीमत में भारी गिरावट, इसके निर्विवाद प्रमाण थे कि पिडकाँक ने लगान का निर्धारण बहुत अधिक कर दिया था। इसने साहूकारो और निवेशको को भी पूरी तरह बर्बाद कर दिया। सन् 1842 ई. के भूमि बन्दोबस्त में लगान की कुछ कमी की गई, परन्तु प्रति व्यक्ति के लिये लगान की दर अब भी बहुत अधिक थी। तीस वर्ष के लिये इसी बन्दोबस्त की पुष्टि कर दी गई जो 1857 के विद्रोह की पूर्व घोषणा सिद्ध हुई। [48]

सन् 1840 ई. में जालौन के विलय के पश्चात, लेफ्टीनेंट डूलन ने यहाँ प्रथम भूमि बन्दोबस्त किया। उसने जालौन के लिये 4,13,839 रूपये का लगान निर्धारित किया। इसके बाद के प्रत्येक बन्दोबस्त में लगान की माँग में क्रमशः बृद्धि होती गयी। सन् 1857 के विद्रोह के पूर्व अन्तिम बन्दोबस्त सन् 1851 ई. में मेजर एरस्काइन ने किया था। उसने लगान की माँग को 6,60,886 रूपये तक बड़ा दिया जो प्रथम भूमि बन्दोबस्त से 57 प्रतिशत अधिक थी। जालौन के ब्रिटिश भूमि बन्दोबस्तो

के प्रभाव को वहाँ के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट बालमैन की सूचना (1855 ई.) से समझा जा सकता हैं। उसने सुपरिन्टेन्डेन्ट को लिखा कि "बहुसंख्यक गाँवो में भू–सम्पत्ति की न तो कोई कीमत रह गयी है और न ही उनसे कोई लाभ। जमींदारो की स्थिति दयनीय हो गई हैं तथा अधिकांश ऋणो में डूब गये है। पशुओं के अतिरिक्त उनके पास प्रायः अन्य कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रह गई है। लगान को वसूल करने में अत्यधिक परेशानी हो रही हैं तथा सम्पूर्ण जिले का 1/6 भाग कृषि–विहीन हो गया है।" [49]

झाँसी के विलय के पश्चात, यहाँ प्रथम भूमि बन्दोबस्त कैप्टन गॉर्डेन ने किया जो 1 जुलाई 1856 से लागू हुआ। इसके पूर्व की तुलना में लगान की माँग में कुछ कमी की गई। ऐसा ब्रिटिश सरकार के हितो को ध्यान में रखते हुये किया गया था जिससे झाँसी के लोग झाँसी के विलय को सहर्ष स्वीकार कर ले। ध्यातव्य हैं कि डलहौजी ने झाँसी के विलय की राजा का निर्गत करते हुये राजा रघुनाथ राव और गंगाधर राव के शासनकाल में प्रजा के कष्टों का भी उल्लेख किया था। अतः अंग्रेज प्रथम भूमि बन्दोबस्त के माध्यम से प्रजा के तुष्टीकरण की अल्पकालिक नीति अपना रहे थे। पुनः बुन्देलखण्ड के विभिन्न क्षेत्रो के भूमि बन्दोबस्तों पर भी ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि पहली बार के भूमि बन्दोबस्त में लगान की माँग सामान्य रखी जाती थी जो बाद के बन्दोबस्तो में क्रमशः बढ़ती जाती थी। झाँसी में किया गया प्रथम बन्दोबस्त केवल द्विवर्षीय था।

इस प्रकार, बुन्देलखण्ड के विभिन्न क्षेत्रों में अंग्रेजों द्वारा लागू किये भूमि–बन्दोबस्तो के सामान्य अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अंग्रेजों की भू–राजस्व नीति अत्यन्त दोषपूर्ण एवं शोषण पर आधारित थी। दिन प्रतिदिन लगान की बढ़ती मांग ने जमींदारों और किसानो को बर्बाद कर दिया। लगान न चुका पाने के कारण पहले वे ऋणो में डूब गये और जब वे अपने ऋणों का भुगतान न कर सके तो

सरकार ने उनकी जमीने नीलाम करना प्रारम्भ कर दिया जिसे ठेकेदारों और महाजनो (बनियों) ने खरीदा। ठेकेदारों और महाजनो ने अत्यन्त कठोरता से किसानो से लगान की वसूली की।[50] वास्तव में किसानो और जमींदारो के कष्टो को सुनने वाला कोई न था। सरकार के कानून और प्रशासन ने भी ठेकेदारो और महाजनो का एक तरफा पक्ष लिया। अतः बुन्देलखण्ड के ब्रिटिश क्षेत्रों के किसान और जमींदार अपनी बर्बादी का कारण ब्रिटिश भू–राजस्व प्रणाली को ही मानते थे। किसानों और जमींदारों का ब्रिटिश राज के प्रति यह असन्तोष ही बुन्देलखण्ड में 1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण बना।

1857 के विप्लव के बाद हमीरपुर के कलैक्टर जी. फ्रीलिंग ने लिखा था कि– "जिले में विद्रोह की प्रमुख विशेषता थी– कि बैकरो, बनियो और मारवाड़ियों आदि– जिन्होने जिले में नीलामी की भूमियाँ खरीदा थी को जिले से बाहर निकाल दिया जाना।" बाँदा के कलैक्टर एफ. ओ. मैने ने भी इसी तथ्य के अनुरूप ही बाँदा जिले की रिपोर्ट भेजी थी। अनेक स्थानों पर किसानों एवं परम्परागत जमींदारो ने विद्रोह को ठेकेदारो एवं महाजनो से बदला लेने का सुअवसर माना। झाँसी, जालौन और हमीरपुर में कलैक्टरों के रिकार्ड रूम के दस्तावेजों को नष्ट करना इसका प्रमाण हैं। इस प्रकार, दोषपूर्ण लगान व्यवस्था बुन्देलखण्ड में 1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण बनी।[51]

बुन्देलखण्ड में ब्रिटिश आधिपत्य के समय कोंच, कालपी और मऊरानीपुर व्यापार और वाणिज्य के प्रमुख केन्द्र थे। इसमें भी कोंच सर्वप्रथम था, कोंच में 52 बैंके भी थी। संचार के अच्छे साधन न होने के बावजूद भी समथर, दतिया और ग्वालियर से बड़े पैमाने पर नमक, चीनी, गुण और घी एवं खाद्यान्न ले जाये जाते थे। उत्तर भारत में कालपी की मण्डी सबसे बड़ी थी। यहाँ की मुख्य वस्तुये कपास और अल

थी जो कि उत्तरी पश्चिमी राज्यो में नदी के मार्ग के द्वारा भेजी जाती थी। मऊरानीपुर झाँसी जिले का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था जहाँ से अल डाई, कपास और विनिर्मित वस्तुये निर्यात की जाती थी।

बुन्देलखण्ड में ब्रिटिश राज के उत्थान के साथ ही दो प्रमुख वस्तुओं कॉटन और अल के व्यापार में भारी गिरावट आयी। बुन्देलखण्ड में कपास न केवल बड़े पैमाने पर होती थी बल्कि गुणवत्ता की दृष्टि से मुलायम भी थी तथा इसका रंग दोआब क्षेत्र की कपास की तुलना में अधिक सफेद होता था। एक समय था, जबकि सरकार प्रतिवर्ष लगभग 40 लाख रूपये की कपास कालपी बाजार से खरीदती थी तथा निजी एजेन्सियाँ 18 लाख की। परन्तु 1850 के बाद कालपी के बाजार के कपास की खरीद का कुल मूल्य मात्र 7 लाख रूपये रह गया। यह ह्यास केवल सरकार की अत्याचारी लगान व्यवस्था का परिणाम था। ब्रिटिश राज के समय में ऐसी ही भारी गिरावट अल के व्यापार में भी आयी। इन उत्पादो के व्यापार में तीव्र ह्यास होने के कारण लोगो की आर्थिक समृद्धि में भी तीव्र ह्रास हुआ। [52]

उत्तर पश्चिम राज्यों के लेफ्टीनेंट गवर्नर की 9 मई 1855 की विज्ञप्ति के आधार पर सागर डिवीजन के कमिश्नर के अधीक्षण में आने वाले क्षेत्रों में नमक कर लगा दिया गया। आयातित नमक पर एक से दो रूपयें प्रति मन की दर से कर लगाया गया था। अब उत्तर क्षेत्रों में नमक के निर्माण पर रोक लगा दी गयी। झाँसी, सागर और होशंगाबाद में 'सीमा शुल्क ग्रहो' की स्थापना की गई। जी. राइट को झाँसी और सागर क्षेत्रों का कस्टम कलैक्टर नियुक्त किया गया। कस्टम अधिकारी प्रत्येक दिशा में घूमते रहते थे। जिससे कि नमक का निर्माण करने वालों को पकड़ सके। बुन्देलखण्ड की जनता विभिन्न कारणो से अंग्रेजों से नाराज थी। नमक कर के आरोपण ने जनता के आक्रोश को बहुत भड़काया क्योंकि अब उसके

लिये नमक जैसी अंतिम आवश्यक वस्तु भी खरीदना काफी कठिन हो गया था।

लोग ब्रिटिश न्याय प्रणाली से भी असन्तुष्ट थे। यह जटिल एवं महँगी थी। इसके अतिरिक्त यह पक्षपात पूर्ण भी थी। एक अंग्रेज अधिकारी जी. एफ. हार्वे के कथन से भी इसकी पुष्टि होती हैं। हार्वे के शब्दो में– "यदि निर्णय शीघ्रता और न्यायोचित ढंग से दिये जाये, कानून के वास्तविक तथ्यो के आधार पर अपीलों को स्वीकार किया जाये.. तब, मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इससे ब्रिटिश हितो को हानि पहुँचेगी।" [53]

ब्रिटिश सरकार ने स्टाम्प पेपर की भी शुरूआत की तथा यह नियम बना दिया कि किसी भी न्यायालय में स्टाम्प पेपर पर लिखे बिना किसी भी बाद या शिकायत को स्वीकार नहीं किया जायेगा। इस प्रकार स्टाम्प पेपर को खरीदने की सामर्थ्य न रखने वालो के लिये न्याय के दरवाजे ब्रिटिश सरकार ने बन्द कर दिये। सर सैय्यद अहमद खाँ ने उचित ही लिखा हैं कि "स्टाम्प पेपरों की शुरूआत तथा, धीरे–धीरे इनके मूल्यों में वृद्धि करना भारत जैसे देश जहाँ लोग भुखमरी के कारण इस बोझ को उठाने की स्थिति में नहीं थे। वह अनुचित था।" [54]

इस प्रकार अंग्रेजों की न्याय व्यवस्था एवं स्टाम्प व्यवस्था ने भी लोगों को असंतुष्ट किया।

जालौन और झाँसी के विलय, कर्वी के विनायक राव की पेंशन के स्थगन और बाँदा के नवाब अली बहादुर II के विशेषाधिकारो के समापन के फलस्वरूप बड़ी संख्या में इन शासको के सैनिक, कर्मचारी और उनके आश्रित बेरोजगार हो गये। ये सभी अपने शासको की भाँति अंग्रेजी राज से असन्तुष्ट थे तथा अपनी बर्बादी का कारण ब्रिटिश राज को ही मानते थे। अतः विद्रोह के समय उन्होंने अपने पूर्व शासको का ही साथ दिया। इसमें से कुछ की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी। [55]

मिशनरियों की गतिविधियों, शिशु–वध, सती–प्रथा, विधवा–पुनर्विवाह, गोद–प्रथा आदि से सम्बन्धित सामाजिक विधानो में हस्तक्षेप, पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार, रेलवेज और तारो के प्रारम्भ से लोग सचेत हो गये तथा उन्होंने इन सबको धर्म–परिवर्तन के षडयंत्र के रूप में देखा। सन् 1815 से 1823 ई. के मध्य, बुन्देलखण्ड में सरकारी आँकड़ो के अनुसार 66 स्त्रियाँ सती हुई थी। परन्तु सन् 1847 ई. में सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में शासको द्वारा राजाज्ञा निर्गत कर सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। उक्त कार्यवाहियों से बुन्देलखण्ड के लोगो में ईसाई धर्म और मिशनरियों के विरूद्ध तीव्र असन्तोष उत्पन्न हुआ जिसकी प्रतिक्रिया 1857 के विद्रोह के समय स्पष्टतः दिखाई दी। हमीरपुर में ईसाई धर्मोपदेशक जेरमियों को परिवार सहित मौत के घाट उतार दिया गया था। बाँदा में चर्च की इमारत को क्षतिग्रस्त कर दिया गया था।

देश के अन्य भागों की भाँति, बुन्देलखण्ड में भी 'चपातियों' के घूमने से लोगो में उत्तेजना बढ़ गई थी। सरकारी रिकार्ड से इसकी पुष्टि होती हैं कि अधिकांश गाँवो में चपातियाँ घुमायी गयी। ऐसा विश्वास किया जाता हैं कि इसकी शुरूआत बुन्देलखण्ड से हुई थी। इससे ग्रामीण जनता विद्रोह में भाग लेने के लिये उत्प्रेरित हुई।

इस अफवाह से कि बाजार में बिकने वाले आटे में गाय और सुअर की हड्डियाँ बारीक पीसकर मिला दी गई हैं ने बुन्देलखण्ड में लोगो को बहुत उत्तेजित किया। इसकी पुष्टि झाँसी, बाँदा और ग्वालियर के सरकारी सूत्रो से होती है। इस प्रकार, अन्धविश्वास और अफवाहो ने भी बुन्देलखण्ड में स्थिति को विस्फोटक बनाया। [56]

देश के अन्य भागों की भाँति बुन्देलखण्ड में भी सिपाहियों में अंग्रेजों के विरूद्ध असन्तोष की भावना थी। अंग्रेजों द्वारा पारित नये–नये कानूनो एवं उनके द्वारा जारी सेवा की कठोर शर्तो के कारण सिपाहियो की भावनायें आहत हुई थी।

इसके अलावा मई 1857 में झाँसी में पलटनों के पास यह रिपोर्ट भी प्रसारित हुई कि नये कारतूसों में गाय और सुअर की चर्बी लगी है। इसी प्रकार की अफवाह ग्वालियर के सिन्धिया की सेनाओं में भी पहुँची थी। अतः 1857 के विद्रोह के समय झाँसी और नौगाँव की 12वीं नेटिव इन्फैंट्री, उरई की 53वीं नेटिव इन्फैंट्री, बाँदा की 56वीं नेटिव इन्फैंट्री, ग्वालियर की पहली, दूसरी और चौथी इन्फैंट्री रेजीमेन्ट्स, झाँसी और नौगाँव की 14वीं इररेगुलर कैवेलरी, ग्वालियर की पहली कैवेलरी रेजीमेन्ट, नौगाँव की चौथी कम्पनी, 9वीं बटालियन आर्टीलरी और 18वीं बुलौक बैटरी और ग्वालियर की दूसरी और चौथी कम्पनी आर्टीलरी भड़क उठी थी। सिपाहियों में असन्तोष बुन्देलखण्ड में विद्रोह का एक प्रमुख कारण बना। [57]

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि झाँसी का विलय, बानपुर और शाहपुर के राजाओं के कष्ट, बाँदा के नवाब अली बहादुर के विशेषाधिकार की समाप्ति, जैतपुर की पूर्व रानी एवं जालौन की ताजबाई के साथ अन्याय तथा अंग्रेजों की अत्याचारी भू–राजस्व नीति, व्यापार और वाणिज्य का पतन, नमक पर कर का आरोपण, दोष पूर्ण न्यायप्रणाली एवं स्टाम्प पेपरो की व्यवस्था, विलीनीकृत राज्यो के पूर्व कर्मचारियो का असन्तोष, धर्म परिवर्तन का भय, अन्धविश्वास और अफवाहे तथा सिपाहियों में असन्तोष बुन्देलखण्ड में 1857 के विद्रोह के प्रमुख प्रत्यक्ष कारण थे।

अंग्रेजों की अनैतिक एवं अत्याचारी नीतियों के कारण जब झाँसी में अंग्रेज विरोधी भावनायें तेजी से पनप रही थीं और अपनी पीड़ित रानी के सम्मान की रक्षा के लिये कुछ कर गुजरने की बाते सुनाई देने लगी थी, तभी देश के पूर्वी क्षितिज पर विप्लव के बादल घिरने लगे। गाय और सुअर की चर्बी लगे कारतूसो की बात तो केवल बहाना बन गई। अंग्रेजों का आर्थिक शोषण और समाज एवं धर्म पर आक्रमणो के साथ ही उनका भारतीय सैनिकों के प्रति अशिष्ट असमान व्यवहार और

उनकी बेकारी आदि सबने मिलकर एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी थी। चर्बी लगे कारतूस की बात चिंगारी बन गई और मंगल पाण्डे की शहादत वह तूफान जिसने पूर्व में उठे विप्लवो के बादलों को देश के अनेक स्थानो पर छितरा दिया। मेरठ, दिल्ली, बरेली, कानपुर, इलाहाबाद से गुजरते ये विप्लवी बादल झाँसी में घटा टोप छा गये। उनकी गर्ज में रानी और झाँसी निवासियो की समबेत रणहुंकार समा गई। [58]

झाँसी में विप्लवी कार्यवाहियाँ शुरू हो गई। रानी लक्ष्मीबाई के विश्वस्त अनुचरो झुरू कुँवर, लक्ष्मणराव और खुदाबख्श आदि ने झाँसी छावनी के हिन्दुस्तानी सिपाहियो से सम्पर्क स्थापित कर उन्हें अपने अंग्रेज अधिकारियों के विरूद्ध उत्तेजित कर दिया। बैरकपुर, मेरठ, दिल्ली, कानपुर, इलाहाबाद की घटनाओं से वे पहले ही भड़क उठे थे। झाँसी में इस समय लेफ्ट विंग 12वीं रेजीमेन्ट नेटिव इन्फैन्ट्री और राइट विंग 14वीं इररेग्युलर केवेलरी तथा एक आर्टीलरी तैनात थी। 'के' ने लिखा है कि इन्फैन्ट्री में छः यूरोपियन अफसर और 522 देशी सैनिक थे। केवेलरी (घुड़सवार सेना) में पाँच विलायती और 332 देशी सैनिक थे और आर्टीलरी (तोपखाने) में मात्र 27 देशी सिपाही तैनात थें। इस प्रकार, मार्टिन के अनुसार झाँसी की कम्पनी सेना में 11 यूरोपियन और 881 देशी सिपाही तैनात थे। [59]

(3) रानी लक्ष्मीबाई द्वारा स्त्री सेना का निर्माण :

रानी ने बिना जाति–धर्म का विचार किए एक स्त्री–सेना का गठन किया। महल के बाग में वे स्वयं नियमित रूप से स्त्रियों को लेकर मलखम्ब, नारियल में सफेद चिन्ह लगाकर पिस्तौल चलाना, घुड़सवारी आदि का अभ्यास किया करती थी। गोलदाजों की सहायता करना, और पुरूषो की तरह युद्ध करना स्त्रियों को सिखाया जाता था। इतिहास के उत्तरवर्ती अध्याय में सिर्फ भारतवर्ष में ही नहीं, पृथ्वी

के विभिन्न देशो में स्त्रियाँ उत्तरदायित्व लेकर पुरूषो के समान युद्ध करती हैं। एक सौ वर्ष पूर्व हमारे ही देश की एक ललना ने उसी गौरव को सूचित किया था यह जानकर हम लोग उचित गर्व का अनुभव कर सकतें है।[60]

उस महत्वपूर्ण स्वधर्म पालन के दिन भी स्त्री–सेना ने बिना किसी भेदभाव के रानी की पताका के नीचे योग दिया। उत्साह एवं प्रेरणा का संचार हो गया प्रत्येक ह्वदय में। घर–घर में सैनिक तैयार हो गए।

शहर वाले महल के ठीक सामने राजकीय पुस्तकालय था। वह उन्हीं के हाथ में था। पुस्तकालय के पीछे एक ढाल था और ढाल के नीचे उनका सुन्दर बाग। यह बाग अब हार्डीगंज हो गया हैं। इस बाग में वह घुड़सवारी इत्यादि व्यायाम किया करती थी। नगर की जो स्त्रियाँ उनके पास आती थी, उनको बड़ी निष्ठा के साथ इसी बाग में कसरतें सिखाती थी। अब तो सुंदर–मुंदर और काशीबाई इतना सीख गई थीं कि दूसरो को सिखाने में रानी को इनसे बड़ी सहायता मिलने लगी। फिर भी रानी सोचती थीं कि अश्वारोहण और शस्त्र–चालन में मैं सर्वश्रेष्ठ नहीं हुई हूँ।

पुरानी लड़ाइयों के नक्शे उनके महल मे थे। वे उनका बारीकी से अध्ययन करती थी। बनावटी लड़ाइयों के नक्शे कागज पर बनाती और बिगाड़ती। अपनी स्त्री–सेना के साथ भिन्न–भिन्न प्रकार की अनेक युद्ध परिस्थितियों पर वाद–विवाद करती। उनको पहाड़ियों पर अश्वारोहण का शौक हुआ। झाँसी के आस पास पहाड़ियाँ हैं ही, उस समय जंगल और विषम स्थल भी थे। रानी तेजी के साथ स्त्री–सेना सहित इन पर अश्वारोहण करती। झाँसी के आस–पास की भूमि का उनको राई–रत्ती परिचय प्राप्त हो गया। इस भौगोलिक परिचय के क्षेत्र को वे निरंतर, अनवरत बढ़ाती रहती थी। जो स्त्री उनके पास भेंट के लिए आती, उन सबसे कहती–शरीर को इतना मजबूत बनाओ कि फौलाद हो जाए, तभी मन दृढ़तापर्वक

भगवान की ओर जाएगा। 61

उनकी कसरतों का शौक शीघ्र विख्यात हो गया। बाला गुरू बिठूर से आए और मल्लविद्या के सूक्ष्मतम दाँव–पेंच बताकर चले गए। नरसिंहराव की टौरिया के नीचे दक्षिणियों के मुहल्ले में, वे एक अखाड़ा जारी कर गए रानी कुश्ती का अभ्यास अपनी स्त्री–सेना के साथ करती थी। तीर, बंदूक, छुरी, बिछुआ रैकला इत्यादि चलाने में पहले दर्जे की श्रेष्ठता उन्होंने अमीर खाँ, वजीर खाँ के निर्देशन से प्राप्त की। रानी का बाह्म रूप प्रचंड तेजपूर्ण था, परन्तु आन्तरिक रूप बहुत कोमल और उदार था।

इस प्रकार महीनों बीत गए। एक दिन तात्या टोपे आया। जब रानी के पास पहुँचा, तब स्त्री–सेना के कुछ सैनिक उनके साथ थे। अबकी बार तात्या ने जो रानी को देखा तो बहुत सतेज पाया। कुशल वार्ता के बाद बातचीत हुई। तात्या ने भारत की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का ब्योरे के साथ कथन किया। मराठा रियासतों के राजाओं का जो हाल पहले देखा था वही अब भी है। केवल एक अंतर है। जनंता सजग है और सिपाही स्वाभिमानी हैं। महाराष्ट्र की जनता अब भी स्वराज्यमत है। दरिद्र और धनाढ्य किसान–मजदूर और जमींदार लगभग सब एक संकेत पर खड़े हो सकते हैं। और एक बार फिर, रानी ने सहसा कहा–वे पर्वतमालाएँ और मैदान वे घाटियाँ और उपत्यकाएँ हर–हर महादेव से गूंज उठेंगी, काँप उठेंगी। वह बोला 'बाईसाहब' मेरे ह्रदय में इनके (स्त्री–सेना) ह्रदय में और सब जनता के ह्रदय में, जो बात गड़ी हुई हैं, वही आपके मुँह से निकल पड़ी। वह बोली तात्या अभी कुछ विलम्ब और है। तब तक महत्वपूर्ण स्थानों के भूगोल का बारीकी से अध्ययन कर लो। कहाँ किस प्रकार सेनाओं को ले जाना पड़ेगा, कहाँ आसानी के साथ युद्ध किया जा सकता हैं और अभीष्ट स्थान पर किस प्रकार शत्रु को एकत्र करके लड़ाई के लिए

विवश किया जा सकता है– इन विषयो पर काफी समय और परिश्रम खर्च करने की आवश्यकता है। इसके सिवाय अच्छे घोड़ों के इकट्ठा करने की योजना पर विचार करते रहने की भी अत्यन्त आवश्यकता हैं। तोपें, बंदूके, बारूद, गोला, गोली इत्याादि युद्ध–सामग्री के बनाने वाले कारीगरो को भी हाथ में लो। अंग्रेजी कारखानो में अपने आदमी नौकर रखवाओं, वे लगन के साथ सब क्रियाएँ सीखे। अपनी पुरानी बारगी–युद्ध परिपाटी (गुरिला युद्धकर्म) को तो गाँठ ही में बाँध लो। हमारा देश उस परिपाटी को छोड़कर अंग्रेजों से लड़ा, इसलिए भी हारा। [62]

मैंने नानासाहब और रावसाहब के प्रोत्साहन एवं आज्ञा से इन सब बातों का ध्यान रखा है और आपकी भी आज्ञा मिली। पूरा ध्यान दूँगा। मैं इतने महीनो पैदल अधिक फिरा हूँ, इसलिए मुझको देश का भूगोल बहुत अच्छी तरह याद हो गया हैं। किसी–न–किसी तरह बहुत से आदमी, सामान और जानवर लेकर कहीं–का–कहीं पहुँचा सकता हूँ। पंजाब में जो लड़ाइयाँ अंग्रेजों से सिक्ख लड़े हैं, उनका भी मैंने अध्ययन किया। व्यर्थ ही सिक्खों ने इतनी वीरता खर्च की। इतनी युद्ध–सामग्री, ऐसी अच्छी सीखी–सिखाई फौज यदि अच्छे नायक के हाथ में होती तो अंग्रेज सिक्खों को कभी न हरा पाते। परन्तु कदाचित् उनकी हार देशद्रोहियों के कारण हुयी है। [63]

मैं सिक्खो की लड़ाइयों के नक्शों का अध्ययन करना चाहती हूँ। तात्या ने कागज पर बनाकर समझाया। रानी और स्त्री–सेना ने भी समझा। तात्या ने अनुरोध किया हमको अपने एक विश्वसनीय जासूसी विभाग की बड़ी आवश्यकता है। मैंने आज स्थापना कर दी है। मेरी स्त्री–सेना की ये तीन सैनिकायें काम सीख रही हैं और कर रही हैं। मैं और स्त्रियों को भी तैयार कर रही हूँ, परन्तु काम सावधानी का है, इसलिए धीरे–धीरे कर रही हूँ। वह बोला झाँसी में एक विलक्षण

बात देखी। जो यहाँ निवास करता है, वह तो आपका भक्त है ही, किन्तु यहाँ का निवासी जो बाहर चला गया है, वह भी झाँसी के लिए अपना तन–मन बलिदान करने के लिए प्रस्तुत है।

इस समय बाईसाहब, नानासाहब, रावसाहब इत्यादि बहुत लोग काम में जुटे हुए हैं। दिल्ली और मेरठ आदि प्रदेशो में अनेक मुसलमान भी प्राणो की होड़ लगाकर कार्य कर रहे हैं। मुझको ऐसा लगता है कि शीघ्र ही कुछ भी हो सकता है, परन्तु मैं सोचती हूँ कि अधकचरी तैयारी में कुछ न किया जाना चाहिए। बहुत दिन हुए, मद्रांस की ओर सिपाहियों ने अचानक उपद्रव कर डाला था, वह व्यर्थ गया। फल यह हुआ कि मद्रासी अब सेना में कम भरती किए जाते हैं और अंग्रेजों ने अपनी सावधानी को कसकर बढ़ा लिया है। कैसी भी सावधानी, कुटिलता और बुद्धि से अंग्रेज लोग काम ले, हमारी विशाल, असंख्य जनता उनका राज्य नहीं चाहती। इसलिए राजाओं और नवाबो का साथ न पाते हुए भी हमको अपने उत्साह में कमी प्रतीत नहीं होती। मैं जानती हूँ। बाईसाहब अब मैं चलूँगा, जैसे ही कोई महत्व की बात सामने आई, मैं आऊँगा। वह चला गया।

दूसरे दिन रानी के पास आठ बजे लगभग तात्या, रघुनाथ सिंह और जवाहर सिंह आए। बोले श्रीमंत सरकार मुझे किसी का भी डर नहीं है। उस दिन कि लिए तरस रहा हूँ, जब झाँसी और अपने स्वामी के लिए अपना शरीर त्याग दूँ। आप लोगों का बल–भरोसा है। एक दिन आएगा जब आप लोगों के जौहर का उपयोग होगा। तांत्या ने कुछ बताया होगा ? बताया है सरकार। थोड़े में समझ लिया। हम लोगों को ज्यादा सुनने–समझने की दरकार ही नहीं है। अपनी माता के दर्शन करने थे, इसलिए चले आए। हम लोगों को सरकार के हाथो अपनी तलवार पर गंगाजल छिड़कवाना है। और अपनी माता का आशीर्वाद प्राप्त करना है। आप लोगों को मैं

अच्छी तरह से जानती हूँ आप लोग सहज ही प्राणो की होड़ लगा सकते है। परन्तु चाहती हूँ कि प्राणो को सहज न खोया जाए। अवसर आने पर ही तलवार म्यान से निकले। छोटी–छोटी बातो पर न खिंच जाए।

हम लोगों को लाट की आज्ञा पर बहुत क्षोभ हुआ और तुरन्त ही जवाब देना चाहते थे। अंग्रेजों के अन्याय बढ़ते जाएँ तो अच्छा ही है। फिर भगवान हमारी जल्दी सुनेगे। असल में अभी इन छोटी बातों पर खींच–कसर निकालना अच्छा नही है। बोली तुम्हारे हाथो स्वराज्य के आदर्श का पालन हो। सुखी रहो, और अपने पीछे ऐसा नाम छोड़ जाओ कि आने वाली अनंत पीढ़ियाँ तुम्हारे स्मरण से अपने को शुद्ध करती रहें। माता, यह आशीर्वाद और वह पवित्र गंगाजल सदा हमारे साथ रहेगा। यह कहकर वे स्त्री–सेना के शिविर की ओर चल दिए। [64]

स्त्री–सेना का सबसे महत्वपूर्ण अंग जासूसी विभाग था। जिसका कार्य मोतीबाई, जूही इत्यादि के हाथ में था। स्त्री–सेना के ये जासूस समय–समय पर सभी जानकारी महारानी लक्ष्मीबाई को देती रहती थी। एक दिन मोतीबाई झाँसी के कुछ गद्दारो और अंग्रेजों के भक्तों की खबर रानी के पास लेकर जाती है। रानी कथावार्ता का सुनना समाप्त कर चुकी थी। मोतीबाई ने आकर प्रणाम किया। जब सब लोग चले गये, रानी ने उससे पूछा क्या है, मोती ? मोती ने अनुनय के साथ कहा सरकार को मीरा का एक पद सुना दूँ तब एक निवेदन करूँगी। मोती ने तँबूरे पर मीरा का एक पद सुनाया। फिर तँबूरा जहाँ–का–तहाँ रखकर बोली सरकार के विरूद्ध एक जासूस और पैदा हो गया है। उसका नाम नवाब अली बहादुर है। मुझको सन्देह तो नवाब साहब पर पहले से ही था। क्या बात हुई ? मोतीबाई ने ओर से छोर तक सब सुनाया। मोतीबाई की विस्तृत जानकारी एवं कार्य प्रणाली से रानी पूर्णतः सन्तुष्ट थीं फिर भी उसने मोतीबाई से कहा कि यह समय जागरूक रहने का है जरा

सी भी चूक हमारा कार्य बिगाड़ सकती है। [65]

इस ओर रानी की स्त्री–सेना काम कर रही थीं दूसरी ओर रानी हिन्दुस्तान के सभी प्रमुख नेताओं से सम्पर्क बनायें हुए थी और धीरे–धीरे अपने लक्ष्य की ओर मजबूती के साथ योजनाबद्ध तरीके से कदम बढ़ा रही थी। [66]

कुछ दिन बाद झाँसी में हल्दी–कुमकुम के उत्सव पर रानी ने नए समारोह का प्रवर्तन किया। राजप्रासाद में एक विशाल हौद में हल्दी–कुमकुम रखी गई। नगर की सभी महिलाएँ निमन्त्रित की गई। रानी की पार्श्वचारिणियों में काशीबाई, सुंदर, मुंदर, हीरा कोरिन, झलकारी कोरिन, बख्शिनजू,गंगा, जूही, दुर्गा एवं मोतीबाई नाटक में काम करनेवालियों एवं गंगूबाई इनके नाम मिलते हैं। रानी के बुलाने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, मराठी एवं अन्य जातियों की समस्त स्त्रियां आयी। जाति–धर्म का बिना विचार किये रानी ने उन्हें स्वयं से संतुष्ट किया। [67] ऊँच एवं नीच वर्ग के भेद को वे कभी नहीं मानती थीं। बड़े घरों की स्त्रियाँ दोपहर को नवीन वस्त्र एवं आभूषणों से सजकर आ गई। बड़े घरों की स्त्रियाँ तंजाम, पालकी में बैठकर अपने साथ भालेवाले चोबदारों को लेकर आई। कोई–कोई पैदल आई और कोई–कोई डोलों पर। राजमहल के विशाल आँगन में यहाँ–वहाँ बड़े–बड़े जरी के छाते और उनके पास फूलों की मालाएँ, गुच्छे बेचने के लिए बैठी हुई थीं मालिनें। रानी स्वयं सफेद साड़ी पहनकर उनके बीच घूम–घूमकर सबको हल्दी–कुमकुम का टीका, केशों में सुगन्धित फूलों की माला, चंदन, मिठाई, चाँदी के रूपया की दक्षिणा के साथ उपहार, गुलाब–जल, इत्र और पान–सुपारी देकर निहाल करने लगीं। उनके गायकों ने मीठे सुर में गीत गाना शुरू कर दिया– 'आजु नवरंग श्याम संग ब्रिज ललना रे'। रानी को कई लोगों ने कई उपहार दिए– बुन्देलखण्डी पीतल–ताँबे के बर्तन, कोरियों द्वारा बनाए गये पटचित्र, काठ की चीजें, खिलौने, मिट्टी की फूलदानी, धूपदानी,

रेशम के वस्त्र सब इकट्‌ठे किये गये। रानी ने हँसते हुए भेंट में मिले उन सब उपहारों को अंतःपुरवासियों में बांट दिया। बड़े–बड़े जरी के छातों पर धूप पड़कर चमक रही हैं। पलाश के फूलों की कोपलें स्त्रियों के जूड़ों में सूखती जा रही हैं। इसी तरह रात के नौ बजे तक उत्सव चला।

अंत में रानी ने स्त्रियों से भीख–सी माँगी, तुममें से कोई बहिन के बराबर हो, कोई काकी हो, कोई माई हो, कोई फूफी। फूल सदा नहीं खिलते। उनमें सुगन्ध भी सदा नहीं रहती। उनकी स्मृति ही मन में बसती है। नृत्य–गान की भी स्मृति ही सुखदायक होती है। परन्तु इन सब स्मृतियों का पोषक यह शरीर और उसके भीतर आत्मा है। उनको पुष्ट करो और प्रबल बनाओ। क्या मुझे ऐसा करने का वचन दोगी ? [68]

उन स्त्रियों ने उस बात को समझा हो या न समझा हो, परन्तु उन्होंने हाँ–हाँ की। उन लोगों को डर लगा कि वहीं और तत्काल, कहीं मलखंब और कुश्ती न शुरू क़र देनी पड़े। इत्र–पान के उपरान्त वे चली गई। लेकिन एक बात स्पष्ट थी– जब वे चली गयी तब वे किसी एक अद्रष्ट, अवर्ण्य तेज से ओत–प्रोत थीं।

इसके उपरान्त फिर झाँसी नगर की स्त्रियाँ संध्या थालों में दीपक सजा–सजाकर और गले में बेला, मोतिया, जूही इत्यादि की फूल मालाएँ डाल–डालकर मंदिरों में जाने लगीं। स्त्रियों को ऐसा भास होने लगा जैसे उनका कोई सतत संरक्षण कर रहा हो, जैसे कोई संरक्षक सदा साथ ही रहता हो, जैसे वे अत्याचार का मुकाबला करने की शक्ति का अपने रक्त में संचार पा रही हों। [69]

झाँसी राजवंश की कुलस्वामिनी अथवा गृहदेवता महालक्ष्मी का मन्दिर लक्ष्मीताल के पास था। राजमहल से उसकी दूरी लगभग एक मील दूर थी। झाँसी शहर के रास्ते ऊँचे–नीचे हैं, कहीं चढ़ाई है कहीं उतराई है। आज भी वही पक्के

रास्ते और उनकी दोनों ओर सौ वर्षो से अधिक समय से बुन्देलखण्डी ढंग से छाये हुये घर उसी तरह से बने हुए हैं। सिर्फ लक्ष्मी दरवाजे के विशाल काठ के खिड़की किवाड़ों में दरारें पड़ गयी हैं। और दरवाजे के पास नौबतखाने में मकड़ी का जाला लग गया है। उसी रास्ते से होकर रानी प्रतिदिन संध्या को महालक्ष्मी के आरती–दर्शनों के लिए जाया करती थी। झाँसी के राजमहल का जो भाग आज भी सिर ऊँचा किये खड़ा हुआ है, वह उसके महलों में से एक महल मात्र है। एक दूसरा महल पश्चिमी दिशा में था। बीच में शहर की तरफ मुख किए हुए था खासमहल! उसी तरफ था प्रधान दरवाजा। उसी दरवाजे से सारंगी घोड़ी पर सवार होकर एक महाराष्ट्रीय रमणी के वेश में रानी प्रतिदिन मंदिर की सड़क पर निकला करती थी,साथ में चलता था पुत्र दामोदर एक दूसरे घोड़े पर चढ़कर।

सड़क के दोनों ओर खड़े होकर लोग उसे देखा करते थे। जो घर आज जीर्ण–शीर्ण उपेक्षित हैं, उनके झरोखों को खोलकर निहारा करती थी पुरवासिनियाँ। सभी की मंगलकामी दृष्टि से उसका पथ अभिनंदित होता था। भिस्ती लोग रास्ते में जल छिड़क जाते हैं। फूलों की मालाएँ और गुच्छे लेकर बुन्देलखण्डी स्त्रियाँ बेचने के लिए निकल पड़ती हैं। महाराष्ट्रीय रमणियों को सजने के लिए रोज फूल चाहिये। उधर मुरलीधर मंदिर में संध्या–आरती का घंटा बज रहा है। चबूतरे से गीत–भजनों का स्वर उठ रहा है। सड़कों पर पहरा देते हुए घूम रहे है सिपाही लोग। कभी आवाज होती है – दूर हटो, दूर हटो ! घोड़ों की राश को थामे हुए टप–टप करते हुए जा रहे हैं घुड़सवार। लक्ष्मीताल के विस्तृत वक्षस्थल पर उस समय संध्या की शांत छाया पड़ने लगती है। आज के उस जीर्ण शिवालय में उस दिन प्रदीप और फूलों का अर्ध्य दे जाता है पुरोहित। कुमारी लड़कियाँ जल चढ़ा गयी हैं शिव के शीष पर। आज जिस स्थान पर धोबी लोग कपड़े धोते हैं और भट्टी चढ़ाकर अग्नि

जलाते हैं, उन दिनों वहाँ पर गरीब, कंगाल, भिखारी, दुखी लोगों की पंक्तियाँ लग जाती थीं। महालक्ष्मी मंदिर से उन्हें प्रतिदिन की तरह आरती के बाद प्रसाद मिलेगा। आज का जीर्ण– शीर्ण लक्ष्मी मंदिर उस दिन गौरव के साथ सिर ऊँचा किए हुए खड़ा था। मंदिर में प्रवेश करने के लिए बने सेतु के दोनों ओर खिले रहते थे कमल। मंदिर के बाग में फूल खिलकर जगमगाने लगते थे। मंदिर में महालक्ष्मी देवी की प्रतिमा बड़े समारोह के साथ देदीप्यमान रहा करती थी। वह स्वर्णाभूषणों से सजी रहती, चाँदी के दियट पर दीपक जलता रहता। एक तरफ विशाल पीतल के प्रदीप में जलता अखंड नन्दादीप। बालक दामोदर की अक्षय आयु की कामना करती हुई रानी मौन प्रार्थना–निवेदन किया करती थी देवता के चरणों में। जब वापस आती थी तो तब तक दीप जलने लगते। मशाल हाथ में लेकर रक्षक लोग साथ–साथ दौड़ते आते थे। लक्ष्मी दरवाजे के नौबतखाने में उस समय में शहनाई पर यमन कल्याण राग रहा करता था। [70]

किसी–किसी दिन विशेष उत्सव के समय राजा गंगाधर के शौक की वस्तु उत्तर भारत में विख्यात स्वर्ण मेना अथवा तंजाम निकला करती थी। पालकी चाँदी की थी, बीच–बीच में सोने की चित्रकारी थी। भीतर लाल मखमल के ऊपर सोने का काम की गई गद्दी और पर्दे थे। रानी जिस दिन पालकी पर जाती थी उस दिन पालकी ढ़ोती थीं उसके साथ रहने वाली स्त्रियाँ। राजकोष से उन्हें दिया जाता था जरीदार रेशम, जरी के कपड़े और उनके पैरों में रहते थे नागरे। एक हाथ में वे चाँदी के चमर डुलाती थीं और दूसरे हाथ से ले जाती थीं पालकी। आगे–आगे रणवाध बजाते हुए चलता था बाजेवालों का समूह। पीछे–पीछे चलते थे 200 अफगान पदातिक सिपाही और 100 घुड़सवार।

जूही का छावनी में आना–जाना बढ़ गया। उसके नृत्य–गान की

कला में और भी मोहकता आ गयी। परन्तु किसी सिपाही या अफसर में उसने अपने आपको बाल बराबर भी नहीं खोया। वे समझते थे कि जूही ह्रद्रयहीन है। जूही को हर पलटन में तीन–तीन उपयुक्त अफसर ढूँढ़ने में बहुत दिन नहीं लगे। उन अफसरों को यह मालूम हो गया कि हम लोगों को किसी दिन एक महान कार्य करना है। परन्तु उनको ठीक–ठीक यह मालूम नहीं हुआ था कि कब ? जूही स्वयं नहीं जानती थी। कुछ और लोग, पलटनों के लिए इसी कर्तव्य पर नियुक्त थे, उनको भी मालूम न था, परन्तु वे जानते थे कि जूही का काम उस योजना का एक अंग है, जिसका एक भाग उन लोगों का भी काम था। पर वे एक–दूसरे से मिलते न थे। निषेध था। [71]

एक दिन जूही के नृत्य–गान का आनन्द लेने के लिए कप्तान डनलप भी आ गया। एक क्षण के लिए जूही सकपकाई। परन्तु उसने अपने पर नियन्त्रण शीघ्र कर लिया और वह बहुत मजे से नृत्य–गान करती रही।

असल में डनलप को उसके जासूस ने खबर दी कि छावनी में नर्तकियाँ आती हैं और अफसरों से दीन धर्म सम्बन्धी कुछ बातें भी किया करती हैं। इसलिए वह सहसा वहाँ आ गया था।

नृत्य–गान से उसका मन शीघ्र ऊब गया, क्योंकि अधिकांश अंग्रेजों की तरह उसकी भी भारतीय कलाओं के प्रति उपेक्षा थी। परन्तु जूही सुन्दर थी। उसको सहज ही विश्वास न था कि ऐसा सौन्दर्य अपने परिधान में किसी छल–कपट को छिपाये होगा। तो भी उसने उससे अनेक सवाल किए। जूही ने मुँह उदास बना लिया और वह चली गई। पर डनलप के ओट होते ही उसके होंठों पर, गालों पर मुस्कराहट की छटा छा गयी। उसको याद आ गया– एक दिन आएगा जब फूलों की महक और देश की मुक्ति का सम्मिलन होगा। डनलप बोला तुम लोग टकेवाली

औरतों के मोह में अपना पैसा और समय नष्ट करते हो । इन औरतों का झूठा जादू ही तुमको ईसाई होने से रोक रहा है। इन शैतानों को छोड़कर सच्चे धर्म का ईमान लाओं तो मुक्ति भी मिलेगी और पैसा अलग।

पैसा और मुक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध सिपाही लोग बहुत दिनों से सुन रहे थे। पहले तो इस सम्बन्ध की बात पर उनको हँसी आया करती थी, अब वे खीजने लगे, जलने लगे। परन्तु सिपाहियों ने चुपचाप सुन लिया। डनलप के जाते ही सारा सिपाही समाज व्यंग्य और क्षोभ में प्रमत्त हो गया। सुरीली जूही के अपमान का उनको रंज था, अपने धर्म की अवहेलना पर उनको क्रोध था। और अंग्रेज के मुँह से रानी का नाम तक लेने पर उनको क्षोभ था। कहता है, धर्म–ईमान छोड़ दो। जरा ठहरो, समय आ रहा है। फिलहाल मनाही है, थोडी सी कसर रह गयी है, 'बाईसाहब' इलाज सोच रही है।

सन् 1857 के विद्रोह की ज्वाला तीव्रता के साथ झाँसी में फैल गई। अंग्रेजों को अपने प्राणों को बचाने के लिए किले में जाना पड़ा। अंग्रेजों के पास खाने के लिए एक दाना भी न रहा। [72] किले वाला महल दुबारा–तिबारा छाना कि कहीं कुछ रखा हो। वहाँ कुछ भी न मिला। शाम के बाद लड़ाई कुछ ढीली हुई। अंग्रेजों ने किसी प्रकार रानी के पास अपनी भूख का समाचार भेजा। रानी ने दो मन रोटियाँ तत्काल बनवाई। काशीबाई से कहा तू इन रोटियों को किसी प्रकार अंग्रेजों के पास पहुँचा दे। तुझको सारे गुप्त मार्ग मालूम हैं, सुन्दर और मुन्दर के साथ ले जा और कोई न जाये। जहाँ मशाल की अटक पड़े, जला लेना। स्त्री सेना के सभी सैनिक रानी की दया को जानती थीं, परन्तु उसकी सीमा को नहीं देखा था। काशी ने विनम्र एवं शान्त स्वर में कहा–सरकार, यदि हम लोग इस परिस्थिति में पड़े होते तो क्या अंग्रेज लोग हमकों दाना–पानी देते ? रानी ने उत्तर दिया कि अंग्रजों जैसे बनकर

हम अपने और उनके बीच के अन्तर को क्यों मिटायें ? और फिर इन लोगों को भूखे मारकर आगेवाले अनुष्ठान को कलुषित करना है। काशी का हृदय आभासमय हो गया। परन्तु उसने फिर भी सवाल किया कि कब तक आप इनको इस प्रकार खिलायेगी ? जब तक मेरी निज की सेना तैयार नहीं हो जाती, रानी ने कहा—जब तक सेना तैयार हो जायेगी मैं उन लोगों के हथियार रखवा लूँगी और कहीं सुरक्षित स्थान में कैद कर दूँगी।

उन तीनों सहेलियों ने रोटियों के गट्ठर पीठ पर लादे और गुप्त मार्ग से होकर किले में ले गयी। गार्डन इत्यादि ने इन लोगों को प्रणाम किया। इनमें एक व्यक्ति मार्टिन नाम का था। मार्टिन ने सुरंग का रास्ता देख लिया। दूसरे दिन फिर ये तीनों किले में दो मन रोटियाँ दे आयी। मार्टिन चुपचाप पीछे—पीछे आया और गुप्त मार्ग से बाहर निकलकर आगरा चला गया । स्त्री—सेना के किसी सैनिक या किसी को भी मालूम नहीं पड़ा। [73]

चैत की अमावस हो गयी। नवरात्र का आरम्भ हुआ। किले में गौर की स्थापना हुई। रानी ने धूमधाम के साथ सिंदूरोत्सव मनाया। गौर के सामने चाँदी के बरतनों की तड़क—भड़क और मन्दिर के बाहर सबके लिए भीगे चने एवं बताशों का प्रसाद। नगर की स्त्रियाँ सजधज के साथ उत्सव में शरीक हुई। फूलों की सुन्दरता और सुगंधि से महादेवजी का मंदिर भर गया। स्त्रियाँ थोडी देर के लिए आने वाली विपत्ति को भूल गयी। वे अपने किले में थीं, अपनी हँसती—मुस्कराती रानी के पास। उनकी तोपें, उनके गोलंदाज, उनके सिपाही आस—पास और अपनी रक्षा का पुख्ता हौसला अपने मन में। फिर किस बात की चिन्ता थी ? महादेवजी के मंदिर के समीप पलाश का एक वृक्ष था। उसमें इन दिनों प्रतिवर्ष बड़े—बड़े लाल फूल लगते थे और तीक्ष्ण ग्रीष्म ऋतु में उसके हरे चिकने बड़े पत्ते छाया करते थे। जंगल का अवशेष

और स्मारक, महादेव का मंदिर का अकेला पडोसी वृक्ष काटने से बचा लिया गया था। नवरात्रि में वह पलाश लाल फूलों से गस गया था। स्त्रियाँ फूलों की एक–एक माला उसकी भी डालों में पहना दे रहीं थीं मानों सौन्दर्य की सुगन्धि प्रदान की गयी हो। लाल फूलों की बेला, चमेली, गेंदा और जूही की रंग–बिरंगी मालाएँ ऐसी लगती थीं, जैसे प्रभात के समय उषा की किरणों ने गुलाल बिखेर दी हो। इस वृक्ष के नीचे कुआँ था और कुएँ के ऊपर एक बारहदरी। इस बारहदरी की रक्षा के लिए एक ऊँचा परकोटा था। इसके पूर्व में बहुत ऊँचाई पर किले की पश्चिमी बुर्ज और उसके पीछे जरा दूर महल।

पूजन के पश्चात् स्त्रियाँ पलाश के वृक्ष के पास से सीढ़ियों द्वारा बारहदरी में इकट्ठी हो–हो जा रही थीं। रानी वहीं थीं। वहीं सिंदूरोत्सव हो रहा था–रानी विधवा थीं, इसलिए वह स्वयं सिन्दूर नहीं दे रही थीं, परन्तु वहाँ भाऊ बख्शी की पत्नी थीं और भी अनेक सधवाएँ थीं, जो आपस में सिन्दूर दे रही थीं और किसी–किसी बहाने एक–दूसरे के पति का नाम लिवाने का हँस–हँसकर प्रयत्न कर रही थीं। विनोद की समाप्ति पर सब स्त्रियाँ महादेव के मंदिर के पास उतर आयीं। वे उतरती जाती थीं और पलाश के पेड़ को हिलाती जाती थीं। उसके लाल फूल मालाओं सहित झूम–झूम जाते थे। महादेव का मंदिर छोटा–सा है और आस–पास का आँगन भी सँकरा ही है, परन्तु उसमें बहुत स्त्रियाँ इकट्ठी थीं।

चहल–पहल को बंद करके रानी ने स्त्रियों से कहा, दो–चार दिन के भीतर ही अपनी झाँसी पर गोरों का प्रहार होने वाला है। तुममें से अनेक युद्ध विद्या सीख गयी हो। जो जिस कार्य को कर सके, वह उस कार्य को हाथ में ले। लड़ने वालों के पास गोला, बारूद, खाना, पानी इत्यादि ठीक समय पर पहुँचता रहना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर हथियार भी उठाना पड़ेगा। तुममें से कोई मेरी बहिन

के बराबर हो, कोई माता के समान। अपने बाप की, अपन ससुर की, अपने पति की, अपने भाई की लाज तुम्हारे हाथ हैं। ऐसे काम करना जिनसे पुरखों को कीर्ति मिलें। मैंनें नगर का प्रबन्ध कर दिया है। तुम्हारी आवश्यकता मुझको किले में है। मेरे साथ रहना। बीच–बीच में छुट्टी मिल जाया करेगी तब घर हो आया करोगी। सब स्त्रियों के कण्ठ से ध्वनित हुआ–'हर हर महादेव'। [74]

उन कोमल, किन्तु दृढ़ कण्ठों का वह निनाद किले की कठोर दीवारों से जा टकराया। उसकी झाँई महादेव के मंदिर में लौट पड़ी और हुआ 'हर हर महादेव'। अनंत दिशाओं में, अनंत काल में वह अनंत, अमर नाद समा गया। महल के पास सिपाहियों के कोठे थे। उनमें नवागंतुक पठान भी थे। इस हल्ले को सुनकर हथियार लेकर बाहर निकल आए। बुन्देलखण्डी सिपाहियों ने उस हल्ले का सविस्तार अर्थ उनको समझाया। उनका अगुआ गुल मोहम्मद बोला–बाई जहाँ की औरत लड़ने को ऐसा तैयार है, वहाँ का मरद तो आसमान को चक्कर खिला देगा। और अम लोग ....अम लोग ....खुदा कसम ....इस मुलक के लिए सब मर मिटेगा। वकत आने दो, बाई वकत आने दो!

जनरल ह्यूरोज ससैन्य 20 मार्च को सवेरे झाँसी के पूर्व–दक्षिण कामासिन देवी की टौरिया के पीछे, नगर से लगभग तीन मील के फासले पर आ गया। थोड़ी देर में तंबू तन गये। इन तंबूओं को रानी ने किले के महल की छत से दूरबीन द्वारा देखा। झाँसी भर में सनसनी फैल गयी, परन्तु वह सनसनी भय की न थी, उत्साह की थी। किले के गोलंदाजों ने भी दूरबीन लगायी। तोपों पर पलीते डालने के लिए हाथ सुरसुरा उठे, परन्तु उस समय की तोपों के लिए अच्छा निशाना मारने के प्रसंग में तीन मील का फासला बहुत था। स्त्री गोलंदाजों ने भी दूरबीन पकड़ी। मोतीबाई ने उमंग के साथ रानी से कहा सवारों का हमला कर दिया जाये

तो तंबू–कनातें तितर–बितर हो जायें। रानी बोली समझ से काम लो। इन तंबुओं के बीच–बीच में अगल–बगल और आगे–पीछे तोपें लगी होंगी। एक सवार भी लौटकर वापस न आ सकेगा। लड़ाई किले और परकोटे के भीतर से लड़नी पड़ेगी। घिर जाएँगें परन्तु एक दिन तात्या टोपे राव साहब की सेना लेकर आ जायेगें तब ह्यूरोज की सेना पर दुहरी मार पड़ेगी।

रावसाहब के पास संदेशा किससे भिजवायें ? रानी ने कुछ क्षण सोचकर कहा। मोतीबाई ने कहा जो नाम मन में उठते हैं वे सब किसी–न–किसी काम पर लिख लिए गए हैं। मैं सोचती हूँ, जूही को सवार के साथ भेज दिया जाये। वह सुकुमार है, कोमल है–रानी ने कहा। मोतीबाई ने सतृष्ण नेत्रों से रानी की ओर देखा। बोली सरकार, संसार की जितनी मंजुलता है, वह हमारे मालिक में निहित है। उनसे बढ़कर कोई नहीं। इतनी मृदुल होते हुए भी वह फौलाद से भी बढ़कर कठोर हैं। तब उनकी चाकरानी क्या संवाद–वाहक का भी काम न कर सकेंगी? और फिर वह दृढ़ काफी है। इस कार्य में उसका मन लगेगा। उसी को भेजने की अनुमति दी जाये। उसको तुरन्त शहर छोड़ देना चाहिए। अंग्रेज लोग शीघ्र घेरा डालेंगे। सब फाटक बंद होने वाले ही हैं। फिर कोई भी आ–जा न सकेगा। रानी ने कहा मैं जूही को भेजने की अनुमति देती हूँ। उसके साथ काशी को भेजना चाहती हूँ। तुमको उसके साथ कर देती; परन्तु तुम्हारी यहाँ अधिक आवश्यकता पड़ेगी। रानी ने काशीबाई और जूही को उसी समय कालपी के लिए रवाना कर दिया। उन दोनों के घोड़े अच्छे थे। जरूरी सामान साथ था। दोनों सशस्त्र युवा के वेश में गई। काशीबाई और जूही के चले जाने पर नगर के सब फाटक बंद कर दिये गये। [75]

झाँसी की अनेक स्त्रियों ने उसी दिन रानी के पास सैनिक वेश में निवास बनाया। ये ही स्त्रियाँ जो घर पर बात–बात पर चबड़–चबड़ किया करती थीं,

जरा—सा कारण पाने पर परस्पर लड़ बैठती थीं, संध्या के समय वस्त्राभूषणों और फूलों से सुसज्जित होकर, थालों में दिये रख—रखकर मंदिरों में पूजन के लिए जाती थीं, वे ही स्त्रियाँ सैनिक वेश में, तलवार बाँधे और बन्दूक कन्धे पर साधे, चुपचाप अपना—अपना कर्तव्य पालन करने में निरत हो गईं! उनका श्रृंगार और वाक्—युद्ध सब तलवार की म्यान में समा गया।

स्त्रियों ने तोपें हाथ में लीं और भीषण गोलाबारी शुरू कर दी। कामासिन की टौरिया पर से ह्यूरोज ने दूरबीन से देखा। बगल में उसका फौजी डॉक्टर लो था और पास ही मातहत जनरल स्टुअर्ट। उसने कहा स्त्रियाँ तोप चला रही हैं! स्त्रियाँ गोला—बारूद ढो रही हैं। कुछ खाना—पीना बाँट रही हैं। टूटी हुई दीवारों और कंगूरों की मरम्मत में मद्द दे रही हैं। इतनी तरकीब से, इतनी तेजी से हिन्दुस्तानियों को काम करते आज देखा। अचरज होता है। लो ने दूरबीन हाथ में ली। देखते ही बोला जनरल पेड़ों की छाया में कुछ स्त्री—सैनिक काम कर रहे हैं। हमारा एक गोला उनके बीच में पड़ा। धूल फिंकी, फिर भी वे सब वहीं—के—वहीं। ह्यूरोज और स्टुअर्ट ने भी निरीक्षण किया। स्टुअर्ट बोला ये सब नेपोलियन हो गये है। तब लो ने कहा निश्चित ही झाँसी हमारा वाटरलू होगा।

रानी ने किले पर से देखा कि ओरछा का फाटक का तोपखाना बहुत मंद गति से काम कर रहा हैं। उन्होंने रामचन्द्र देशमुख को तुरन्त भेजा; परन्तु देशमुख को वहां तक पहुँचने के लिए समय चाहिए था। मोतीबाई खुदाबख्श के पास पहुँच गयी। ओरछा फाटक की टेक के पीछे लाल झण्डा और ऊँचा हुआ। खूब हिला और फिर छिप गया। दूल्हाजू ने केवल बारूद भरकर तोप चलाई—उसमें से गोले निकलते ही कैसे? सुंदर उससे पश्चिम की ओर जरा हटकर ऊँची बुर्ज पर से तोप चला रही थी। उसके साथी गोलदांज मारे जा चुके थे। केवल उसकी तोप कुछ काम

कर रही.थी। उसने दूल्हाजू का व्यापार देख लिया। सामने की टेक के पीछे से गोरी पलटने टिड्डी दल की तरह उमड़ पड़ी और 'हुर्रा' घोष करती हुई भरोसे के साथ ओरछा फाटक पर दौड़ीं। दूल्हाजू लोहे की एक छड़ हाथ में लेकर बुर्ज से नीचे तुरंत उतरा। सुन्दर को समझने में देर न लगी। उसने भी तोप छोड़ दी। केवल तलवार उसके पास थी। तलवार खींचकर अपनी बुर्ज से नीचे उतरी। वहाँ से ओरक्षा फाटक दूर था। सुन्दर के नीचे उतरने के पहले ही राव दूल्हाजू फाटक के पास पहुँच चुका था। फाटक पर मोटी साँकलों और कुंदो में मोटी झरवाले ताले पड़े हुए थे। कुंजियाँ किले में थीं परंतु दूल्हाजू के हाथ में लोहे की मोटी छड़ तो थी । उसने जरा भी विलंब नहीं किया। [76]

उछलकर ताले में छड़ डाली। तड़ाक से ताला टूट गया। दूसरे और तीसरे में डाली और सब टूट गये। दो साँकलों को भी तोड़ दिया और तीसरी साँकल तोड़ दी। फाटक केवल भिड़े रह गये। दूल्हाजू फाटकों को खोल नहीं पाया था कि नंगी तलवार लिए सुंदर आ पहुँची। देशद्रोही, नरक के कीड़े, सुन्दर ने कड़ककर कहा, तू अंग्रेजों से कुछ नहीं पावेगा। सुंदर दूल्हाजू पर पिल पड़ीं। उसकी तलवार का वार दूल्हाजू ने लोहे की छड़ पर झेला। तलवार झन्नाकर बीच से टूट गयी। तलवार का जो टुकड़ा सुंदर की मुट्ठी में बचा था उसी को तानकर दूल्हाजू पर उछली। दूल्हाजू ने छड़ को सीधा हूल दिया। वह ठप से बाएँ वक्ष पर लगा। साथ ही बाहर 'हुर्रा' घोष हुआ। चोट की परवाह न करके सुंदर ने फिर से वार किया। दूल्हाजू पीछे हटा परन्तु उसने सुंदर के पेट पर छड़ अड़ा दी। उधर गोरों ने धक्के से फाटक खोल दिया। सुंदर के मुँह से 'हर-हर महादेव' निकला था कि एक गोरे की गोली ने सौंदर्यमयी सुंदर को अमर कर दिया।

जैसे ही झलकारी को मालूम हुआ कि रानी भाँडेरी फाटक से बाहर

निकल गयी, उसने चैन की साँस ली। थोड़ी देर में झलकारी को अपने दरवाजे के सामने घोड़े की टाप का शब्द सुनाई पड़ा। झाँककर देखा बिना सवार का बढ़िया घोड़ा जीन–लगाम समेत। जीन से जान पड़ता था कि झाँसी की सेना का है। झलकारी समझ गयी कि सवार मारा गया और घोड़ा भाग खडा हुआ है। उसने किवाड़ खोले, घोड़े को पकड़ा और घर के पासवाले पेड़ पर बाँध दिया। उसने एक योजना सोची और उसको कार्यान्वित करने का निश्चय किया। जब उसने निश्चय किया तब वह सीधी तनकर खड़ी हो गयी थी। झलकारी ने अपना श्रृंगार किया, ठीक उसी तरह जैसे लक्ष्मीबाई करती थीं। प्रातः काल होते ही घोड़े पर बड़ी ऐठ के साथ अंग्रेजी छावनी की ओर चल दी। साथ में कोई हथियार न लिया, चोली में केवल एक छुरी रख ली। उसको विश्वास था कि मेरी जाँच – पड़ताल और हत्या में जब तक अंग्रेज उलझेगे तब तक रानी को इतना समय मिल जाएगा कि वह काफी दूर निकल जाएँगी।

झलकारी ह्यूरोज के समीप पहुँच गई। वह घोड़े से नहीं उतरी। रानियों की–सी शान, वैसा ही अभिमान, वही हेकड़ी। ह्यूरोज भी कुछ देर के लिय धोखे में आ गया। स्टुअर्ट बोला लैफ्टिनेंट बोकर को ससैन्य व्यर्थ ही भेजा। परन्तु छावनी में राव दूल्हाजू था। वह खबर पाकर तुरंत एक आड़ में आया उसने बारीकी के साथ देखा। उसने ह्यूरोज को बताया यह रानी नहीं झलकारी कोरिन है, रानी इस प्रकार सामने नहीं आ सकतीं। झलकारी ने दूल्हाजू को पहचान लिया। उसको क्रोध आ गया और पह अपना अभिनव नितांत भूल गई क्रुद्ध स्वर में बोली – 'अरे पापी ठाकुर हो कै तैने जौ का करौ'। दूल्हाजू जमीन में गड़ सा गया। ह्यूरोज को झलकारी की वास्तविकता समझाई गई उसने कहा तुम रानी नहीं हो, झलकारी कोरिन हों तुमको गोली मारी जायेगी। झलकारी ने निर्भय होकर कहा – 'मार दै,

मै का मरवे सों डरात हों जैसे इत्तें सिपाही मरे तै से एक मैं सई'। रोज ने झलकारी के पागलपन का कारण तलाश किया। मालूम होने पर दंग रह गया। स्टुअर्ट बोला वह पागल है। ह्यूरोज बोला नहीं स्टुअर्ट, यदि भारतीय स्त्रियों में से एक प्रतिशत भी ऐसी पागल हो जाएँ जैसी यह स्त्री है तो हमको हिन्दुस्तान में अपना सबकुछ छोड़कर चला जाना पड़ेगा। [77]

(4) सैन्य प्रशिक्षण :

रानी ने स्वयं नेतृत्व ग्रहण किया था अफगान और पठान घुड़सवारों का। उन्होंने स्त्रियों को भी युद्ध की शिक्षा देकर उन्हें युद्ध के योग्य बना लिया था। प्रत्यक्षदर्शी अंग्रेज लोगों को स्त्रियों को दीवार की मरम्मत करते, तोप के लिये जगह तैयार करते, गोला – बारुद की पूर्ति करते और तोप चलाने में सहायता करते देखकर बहुत आश्चर्य हुआ था। तीन सौ कारीगरों ने रात – दिन परिश्रम करके झाँसी नगर की पुरानी दीवार और फाटकों की मरम्मत कर डाली। फिर उन लोगों को इसके लिए सदा तैयार रखा गया कि जैसे ही शत्रु के गोलों की मार से दीवार किसी स्थान पर टूट जायेगी वैसे ही वे लोग उसकी मरम्मत कर देंगे। [78]

इन दिनों झाँसी में रानी की सेना और तोपों की संख्या ठीक–ठीक बताना कठिन था। झाँसी शहर पर अधिकार करने के बाद एक सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार ह्यूरोज को छब्बीस तोपें मिली थीं। उनमें दो विलायती, अन्य चौबीस देशी कारीगरों के द्वारा तैयार की गयी थीं। उनमें से झाँसी किले से नौ तोपें मिली थीं। उनमें से हरेक देशी कारीगरों के द्वारा तैयार की गयी थीं। एक की लम्बाई सोलह फुट, अन्य क्रमशः सात, आठ, छह, चार फुट लम्बी थीं। झाँसी में सब मिलाकर जो पैंतीस तोपें मिली थीं, उनमें बाईस तोपें झाँसी राज्य की पुरानी तोपें थीं। बाणपुर के राजा ठाकुर मर्दन सिंह की दो तोपें रखी हुई थीं। दो विलायती तोपें कंटूनमेंट से

12वीं देशी पदाति और 14वीं अस्थायी घुड़सवार सेना के विद्रोही सिपाही शहर तक खींच लाये थे ऐसा कुछ प्रत्यक्षदर्शियों का कथन है। बाकी नौ तोपें नत्थे खां द्वारा छोड़ी हुई थी।

सेना की संख्या के संबंध में अंग्रेज इतिहासकारों ने विभन्न मत व्यक्त किये हैं। ह्मूरोज 19 मार्च 1858 ई. को जनरल हिल्टलोक को लिखता है–

श्रीमान आर. हेमिल्टन ने मुझसे कहा है कि झाँसी की रक्षा सेना में 1500 सि़पाही तथा 1000 बुंदेला है।

फोरेस्ट ने लिखा है–

ग्यारह हजार अफगानों द्वारा रक्षित शहर पर मुट्ठी–भर यूरोपियन सैनिकों द्वारा आक्रमण करना।

अन्य अंग्रेज इतिहासकारों ने फोरेस्ट की ही टिप्पणी को अपने पक्ष में बताया है। झाँसी पर अधिकार करने के बाद सरकारी खुलासा और एकाधिक अंग्रेज प्रत्यक्षदर्शियों के विवरण के अनुसार भारतीय पक्ष में मृतकों की संख्या 5 हजार थीं। इस संख्या पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है यह कहना कठिन है। फिर भी अगर यह बात मान ली जाती है कि भारतीयों की तरफ के मरने वालों की संख्या अधिक होने को अंग्रेज लोग अपना तित्व करते थे एवं हताहतों की संख्या जितना संम्भव होता ठीक–ठीक ही दिया करते थे तो हिसाब करने पर देखा गया है कि झाँसी पर अधिकार करने के बाद नगर में 5 हजार लोग मारे गये थे एवं रानी के साथ भागने में समर्थ हुए थे मात्र चार सौ लोग।

झाँसी में उस समय बाणपुर के राजा की दो से तीन हजार, झाँसी राज्य की पहले की सेना तीन हजार एवं झाँसी में विद्यमान बुन्देलखण्डियों को लेकर अनुमानतः एक हजार सेना थी। सभी सैनिक सुशिक्षित नहीं थे एवं उनके अस्त्र–शस्त्र

भी ऊँची किस्म के नहीं थे। तलवार ही उन लोगों का प्रमुख हथियार थी। अफगान लोग दुद्वर्ष साहसी थे। झाँसी के प्रतिरोधी युद्ध में अफगान और पठानों का कृतित्व ही सबसे अधिक था।

झाँसी किले में शंकर किले के नाम से पश्चिमी भाग में महादेव का मंदिर है। उसी के पास किले का अत्यन्त विशाल कुआँ है। शंकर किले के उत्तर में एक बगीचा, बुर्ज अथवा किले का बाग है। किले में ही तोपखाना अथवा गोला–बारूद तैयार करवाने की व्यवस्था रानी ने कर रखी है।[79]

महारानी लक्ष्मीबाई का सैन्य–प्रशिक्षण उच्चकोटि का था। उन्होंने अपनी सेना को युद्ध के सभी तौर–तरीके सिखाये। उन्होंने बताया कि सामान्यतः सैनिक उद्देश्यों को प्रत्यक्ष उपायों से प्राप्त करने के प्रयत्न विशेष रूप से उन उपायों से जिनकी शत्रु सम्भावना कर सकता था– प्रायः असफल ही रहते है। विशेषतः शत्रु सेना को प्रत्यक्ष आक्रमण से नष्ट करने का प्रयत्न मूर्खता ही है। इसका कारण यह है कि सैन्य शक्ति केवल सैनिकों की संख्या और हथियार आदि पर ही निर्भर नहीं है अपितु इनमें सैनिकों का उत्साह बनाये रखना और साज–सज्जा, रसद और नियन्त्रण आदि बनाये रखने की व्यवस्था को स्थिर रखना भी आवश्यक है। अतः शत्रु के मनोबल को गिराना और नियन्त्रण तथा साज–सामान और रसद आदि के प्रबन्ध को नष्ट अथवा विघटित करने के पश्चात ही शत्रु सेना को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। उन ही के शब्दों में "कुश्ती की भाँति युद्ध में भी शत्रु का संतुलन बिना बिगाडे और उसको हतोत्साह किये बिना पछाड़ने के प्रयत्न में अपनी शक्ति ही क्षय होती है।" अतः एक अच्छी स्त्रातेजी का उद्देश्य सैनिक कार्यवाही के पूर्व ही शत्रु को हतोत्साहित करना और उसकी प्रबन्धात्मक प्रणाली और संतुलन को बिगाड़ देना है।[80]

साधारणतः गोरों की प्रबन्धात्मक प्रणाली और संतुलन को बिगाड़ने का प्रयत्न युद्ध के पूर्व न करके युद्ध द्वारा ही उसे बिगाड़ने का प्रयत्न किया जाता है। उसके अनुसार यह तरीका बहुत गलत है। आक्रमण से पूर्व ही यह कार्य हो जाना चाहिए।[81] क्योंकि सबसे सुन्दर स्त्रातेजी वह है जिसमें शत्रु के हतोत्साहित होने तक जब उस पर प्राणघातक प्रहार करना संम्भव और सरल हो जाता है, सैनिक कार्यवाहियों को स्थगित किया जाता है। परन्तु रानी के मतानुसार यह प्रायः असम्भव ही होता है, क्योंकि कार्यवाहियाँ प्रारम्भ करना केवल एक पक्ष के निर्णय की बात नहीं है। अतः उनके मतानुसार किसी युद्ध में सबसे अच्छी स्त्रातेजी वह है जिसमें शत्रु का मनोवैज्ञानिक असंतुलन उत्पन्न करने के बाद ही युद्ध प्रारम्भ किया जाए तथा सबसे अच्छी सामरिकी वह है जिसमें शत्रु का मनोवज्ञानिक असंतुलन हो जाने तक आक्रमण को स्थगित किया जाए क्योंकि तब ही निर्णयात्मक प्रहार किया जा सकता है। शत्रु का मनोबल नष्ट करने दूसरे शब्दों में मनोवैज्ञानिक असंतुलन उत्पन्न करने तथा भौतिक विघटन करने के कुछ उपाय निम्नलिखित होने चाहिए–

1. शत्रु की रसद के स्रोतो के विरूद्ध स्ट्रैटजिक गतिविधियाँ करके तथा चालें चलकर उनकों खतरे में डाल देना। हमारी इस चाल के फलस्वरूप शत्रु को अपनी योजना तथा पहले से तैयार किये गये मोर्चे को छोड़कर जल्दी से बिना पूरी तैयारी के इस नये खतरे का सामना करने के लिए नया मोर्चा अपनाना पड़ेगा। इस प्रकार वह दोनों भौतिक और मनोवैज्ञानिक रूप से विघटित और असंतुलित हो जाता है।
2. शत्रु को चकित करना।
3. शत्रु को ललचाने वाली चाल चलना जैसे स्ट्रैटजिक आक्रमण द्वारा किसी महत्वपूर्ण स्थान पर अधिकार करके सामरिकीय प्रतिरक्षात्मक स्थिति अपनाना

अथवा स्ट्रैटजिक रीति से पीछे हटकर, शत्रु को अपने संचरण मार्ग बढ़ाने को बांध्य करना और फिर शत्रु पर किसी ऐसे स्थान पर आक्रमण करना जो अपने लिए लाभदायक हो।

4. वैकल्पिक लक्ष्यों को खतरें में डालना जिससे शत्रु हमारे विरूद्ध अपनी शक्ति को संकेन्द्रित न कर सके। तात्पर्य यह है कि शत्रु द्वारा अधिकृत एक से अधिक स्थानों को खतरे में डालना।

5. शत्रु के संचरण मार्गो को खतरे में डालने का भरपूर प्रयत्न कीजिए।

वास्तव में सत्य तो यह है कि परिस्थितियों के अनुसार हमको अपनी वीरता दिखानी पड़ेगी। क्योंकि एक ही प्रकार की नीति सभी परिस्थितियों में ठीक नहीं होगी और हमकों नुकसान भी उठाना पड़ेगा। [82]

रानी ने अपनी घुड़सवार सेना को अच्छी तरह प्रशिक्षित किया था। उसने सैनिकों को तलवार, बंदूक, बरछी, छुरी–कटार, तीर–तमंचा, तोपें इत्यादि चलाना सिखाया। कुछ सैनिकों को उसने दोनों हाथों से हथियार चलाना सिखाया था। स्त्रियों को कुश्ती आदि भी वही सिखाती थी। वह प्रतिदिन सुबह सैनिकों को मलखंभ, मुगदर भाँजना, तलवार चलाना आदि का अभ्यास कराया करती थी। उसकी विमाता चिमाबाई ने कहा है– ''बाई साहिबा एक नारियल में सफेद चिन्ह लगाकर पिस्तौल से सैनिकों को निशाना लगाना सिखाती थीं। बातचीत के प्रसंग में हँसकर कहा करती थीं, यह अस्त्र मेरी सेना के लिए नहीं है, तलवार से ही मेरी सेना को सुविधा होती है। घोड़े पर वैठकर चक्राकार मंडल में घोडों को घुमाना, खाई अथवा दीवार को पार कर जाना, घोडे की खाली पीठ से चिपककर बैठने आदि का प्रशिक्षण दिया करती थीं।

REFERENCES

1. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृष्ठ 72
2. महाश्वेता देवी : जली थी अग्निशिखा, पृष्ठ 63
3. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृष्ठ 8
4. वृंदावन लाल वर्मा : झाँसी की रानी, पृष्ठ 27
5. वही पृष्ठ 41
6. वही पृष्ठ 53
7. P.E. Roberts : History of British India Under the Company an the Crown, P. 350
8. मजुमदार, रायचौधरी, दत्त : भारत का वृहत इतिहास भाग–3, पृष्ठ 137
9. विपिन चन्द्र : आधुनिक भारत, पृष्ठ 92
10. आर. सी. अग्रवाल : स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, पृष्ठ 44
11. R.C. Majumdar : Cultural History of the Indian people Vol. IX British Paramountcy and Indian Renaissance, P.629-630
12. मजुमदार, राय चौधरी, दत्त : भारत का वृहत इतिहास–3, पृष्ठ190
13. Regulation's of the Bengal Code, P.1145
14. Lee Warner : Life of the Marquis of Dalhousie, Vol.II, P.364
15. मजुमदार, राय चौधरी, दत्त : भारत का वृहत इतिहास–3, पृष्ठ187
16. वही, पृष्ठ 189
17. Lee Warner : Life of the Marquis of Dalhousie, Vol.II, P.363
18. मजुमदार, राय चौधरी, दत्त : भारत का वृहत इतिहास–3, पृष्ठ 142
19. Innes : Sepoy Revolt, P.75

20. मजुमदार, राय चौधरी, दत्त : भारत का वृहत इतिहास–3, पृष्ठ 143

21. वही, पृष्ठ 144

22. सी. एटचिसन : ट्रीटीज, इंगेजमेन्टस एण्ड सनद्स

23. एल. पी. शर्मा : आधुनिक भारत (तेरहवां संस्करण), पृष्ठ 270

24. वही, पृष्ठ 271

25. Freedom Struggle in Uttar Pradesh : Vol.I Edited by S.A.A. Rizvi, P.42

26. Jhansi Divison Pre-Mutiny Records, Vol.47, Deptt.III, File No. 319

27. Ibid Vol.46, Deptt.3, File No.298

28. Ibid Vol.88, Deptt.XXVIII, File No.7

29. Ibid Vol.84, Deptt.XIX, File No.175

30. Ibid Vol.22, Deptt.III, File No.199

31. ए. एल. नागर : आँखों देखा गदर (विष्णु गोडसे कृतः 'माझा प्रवास' का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 79

32. डी. बी. पारसनीस : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृष्ठ 81–82

33. N.E. Jhansi Divison, P.3

34. Bundelkhand Agency Records, File No.3 of 1857

35. For. Sec. Cons. 18 Dec. 1857 No.235 (I) and (VI)

36. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.20

37. Agra Narratives, Foreign Department, 1844-1852, Vol.15, P.781-783

38. Foreign Department, Persian Letters, Received No.256, Dated 15 April, 1856

39. For. Pol. Cons. 13 August, 1848, No.140

40. N.E. Hamirpur District, P.8

41. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.53
42. S.B.R. (N.W.P.), Progs-28 January, 1845, Cons. No.-21
43. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand
44. S.B.R. (N.W.P.), Progs-28 January, 1845, Cons. No.-2
45. For. Pol. Cons. 13 August, 1858, No.140
46. N.E., Hamirpur District, P.8
47. Ibid, P.10
48. S.B.R. (N.W.P.), Progs-28 January, 1845, Cons. No.-21
49. S.B.R. (N.W.P.), Progs-11 February, 1831, Cons. No.-20
50. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.53
51. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.54
52. S.B.R. (N.W.P.), Progs-9 June, 1848, Cons. No.7
53. H.G. Kuni : Fifty Seven, P.86
54. S.B.R. (N.W.P.), Progs-28 January, 1845, Cons. No.-21
55. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.55
56. S.B.R. (N.W.P.), Progs-11 February, 1831, Cons. No.-20
57. S.B.R. (N.W.P.), Progs-28 January, 1845, Cons. No.-21
58. Ibid
59. B.R. (Jalaun District). File No.15 Part-I
60. Ibid
61. Report on the Settlement of Jhansi (1871), P.11
62. N.E. Hamirpur District, Part II, P. 8-9

63. N.E. Banda District, Part II, P. 3

64. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.58

65. S.B.R. (N.W.P.), Progs-28 January, 1845, Cons. No.-2

66. Agra Government Gazette, Vol. XVI, No.-XX, P.435-437

67. N.E. Agra Divison, P.42

68. Syed Ahmad Khan : Asbab-e-Sarakashi-e-Hindustan, P.25

69. H. Chattopadhyaya : The Sepoy Mutiny, 1857. P.47

70. Aitchison : III, P.229

71. N.E. Hamirpur District, Para II, P. 9

72. N.E. Banda District, Para II, P. 9

73. Bundelkhand Agency Records, File No. 2 of 1857; Ball : I, P.39

74. N.E. Agra Divison, P. 4

75. Kay's and Malleson's History of the Indian Mutiry, 1857-58, Vol.I, P.281

76. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P.63

77. N.E. Jhansi Divison, P.2

78. For. Pol. Cons., 8 October, 1858, No.82

79. Bundelkhand Agency Records, File No.2 of 1857

80. बी. डी. गुप्ता एवं सुधा गुप्ता : 1857 के विप्लव की अमर दीपशिखा रानी लक्ष्मीबाई एवं सम्बन्धित लेख, पृष्ठ 40

81. J.W. Kays : A History of the Sepoy war in India, Vol-III, P.362

82. R.M. Martin : The History of the Indian Empire, Vol-II, P.-304

सातवाँ अध्याय

रानी लक्ष्मीबाई की अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध नीति

झाँसी की रानी ने पूरे बुन्देलखण्ड में अपने गुप्तचर दल को फैला रखा था। ब्रिटिश फौज के आगे बढ़ने एवं हर युद्ध के फलाफल के संबंध में वह पूरी खबर रखती थी। बाणपुर के राजा अन्य जगहों पर पराजित होने के बाद भी नरुत, मदनपुर, और धाम्नी की पहाड़ियों में अपनी उपस्थिति से ब्रिटिश फौज को आगे बढ़ने से रोकेंगे। उनके साथ रहेंगे शाहगढ़ के राजा। कालपी में सैनिक छावनी स्थापित कर ली है तात्या टोपे ने। वहाँ पर नानासाहब के प्रतिनिधि के रूप में नेतृत्व करते हैं रावसाहब।

जरूरत पड़ने पर वहाँ से मद्द मिल सकती है, रानी की ऐसी धारणा थी। वे झाँसी को एक लम्बे युद्ध के लिए सब प्रकार से तैयार करने लगीं। शत्रु सेना के आगे बढ़ने के संबंध में सूचना देने के लिए रानी ने एक अत्यन्त पुरानी महाराष्ट्रीय प्रथा को पुनः चलाया। पहाड़ और जंगल से गाँव के लोग अंग्रेजों के आने को लक्ष्य करते ही सूखी लकड़ियों और पत्तों में आग लगा देंगे। उस आग को देखते ही चार–पाँच मील दूर की चौकी पर आग जलाकर संकेत करेगा पहरेदार। उसके संकेत का अनुसरण करते हुए अग्नि जल उठेगी और भी दूर चौकी पर। और उस आग को देखकर किले के पहरेदार सतर्क हो जाएँगे। दुश्मन की फौज की गति से भी तेज गति से चलनेवाला यह संकेत है।

पहले रानी की हितैषी मंत्रि–मंडली ने युद्ध न करके संधि का प्रस्ताव भेजने के लिए कहा था। स्वाभिमानिनी रानी ने विख्यात महाराष्ट्रीय कवि मोरोपन्त की कविता में उनको उत्तर दिया। रानी ने कहा–

मरण रूचे बीराला, न रूचे क्षणमात्र अपयशे मरणे।

(क्षणमात्र के अपयश भरे जीवन से वीरों को मरण अच्छा लगता हैं।)

आज के संकट के दिनों में रानी ने सहायता के लिए हाथ बढाया बुंदेला, ठाकुर आदि उच्चवर्ग से लेकर काछी, कोरी, तेली आदि बुन्देलखण्ड के जनसामान्य की तरफ। बिना किसी संकोच के अफगानी, पठान आदि सैनिकों से भी सहायता चाही। देश के इस चरम संकट के क्षणों में स्त्रियों को आह्वान किया। उन्हें अवगत करा किया कि उनकी भी सहायता कम जरूरी नहीं है।

झाँसी की जनता ने समझ लिया कि उनकी यह दुर्लभ–क्षण स्थायी स्वाधीनता, जिसकी पुरोधा हमारी बाई साहिबा हैं, इसे किसी भी तरह नष्ट नहीं होने देंगे। जिस रमणी के भाल से सोहाग चिन्ह छिन गया है, जिसके गले से मंगलसूत्र टूटकर गिर पड़ा है, जिसका अनाथ पुत्र अपने न्यायोचित आसन से वंचित हो गया है, वह किसी व्यक्तिगत सफलता के उद्देश्य से आज युद्ध में उतर तो नहीं रही है ? नियति का विधान भी तो वह मान नहीं रही हैं। आत्मविश्वास से सक्रिय भूमिका ग्रहण करके प्रत्यक्ष युद्ध में वह अवतरित हो रही है। उन लोगों ने यह जान लिया कि उन लोगों कें ऊपर भी रानी की आस्था असीम है। इसीलिए उसकी शक्ति से वे लोग अनुप्राणित हो गए। झाँसी के लड़ाका लोगों के संबंध में इतिहास विदों की उक्ति स्मरणीय है–

यह बात निश्चित है कि रानी ने अपने ऊँचे आदर्श का कुछ संचार अपने सहयोगी योद्धाओं में कर दिया था। स्त्रियों और वच्चों को देखा जा रहा था कि वे अपने कर्तव्य में रत सैनिकों के पास खाने–पीने की चीजे ले जा रहे थे और आक्रमणकारियों के गोलों से ध्वस्त दीवारों की मरम्मत में सहायता कर रहे थे। लग रहा था. कि इन भिन्न जातियों के संघर्ष में जो लोग फँसे हुए हैं स्थिति मानो आश्चर्यजनक रूप से उनके ही अनुकूल है।

– जी. बी. मेलसन

अपनी जनसाधारण प्रजा के ऊपर उसने एक विराट विश्वास अर्जित कर लिया था। विश्वास और चरित्र की दृढ़ता के साथ प्रेरणादायी शौर्य का एक अभूतपूर्व समन्वय उसके व्यक्तित्व में सिद्ध हो चुका था। उसी के फलस्वरूप कई मास बाद ह्यूरोज के अधीन सेनाओं का वह ऐसा प्रतिरोध करने में समर्थ हुई थी जो अपेक्षाकृत किसी कम शक्तिशाली सेनापति के विरोध में अगर नियोजित होता तो सफल हो सकता था।

—के एवं मेलसन

युद्ध का अंतिम क्षेत्र था अवध, मध्यभारत और बुन्देलखण्ड । लखनऊ और झाँसी के बीच युद्ध ही थे, ब्रिटिशों और भारतीयों के बीच अंतिम संग्राम।

— इनेंस

एक बात कही जा सकती है कि रानी के नेतृत्व में झाँसी में ब्रिटिश—विरोधी जागरण ने एक सच्चे स्वातंत्र्य समर का रूप ग्रहण कर लिया था।

युद्ध की तैयारी के प्रारम्भ में झाँसी शहर के आसपास के किसानों को आवश्यक धन देकर फसल काट ली गयी। उसके पश्चात् उन सब खेतों में आग लगा दी गयी। पेड़ो को काटकर फेंक दिया गया, कुओं और तालाबों का पानी विषाक्त कर दिया गया। शत्रु सेना को भूख लगने पर भोजन नहीं मिलेगा, घोड़ों और अन्य मालवाही पशुओं को घास नहीं मिलेगी, प्यास लगने पर पानी नहीं मिलेगा, यही था रानी का उद्देश्य।

उधर अंग्रेज पूरी शक्ति से तैयारियाँ कर रहे थे। युद्ध की योजना बनाने के बाद कमाण्डर—इन—चीफ ने पूरी सेना को दो भागों में विभक्त कर दिया। इनमें एक भाग ह्यूरोज के अधीन कर रखा गया तथा दूसरा हिल्टलॉक के अधीन। बम्बई, मद्रास तथा हैदराबाद(निजाम) की सेनाएँ ह्यूरोज के नियन्त्रण में थीं। ह्यूरोज

ने 17 दिसम्बर, 1857 को इस सेना का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया और उसके दो भाग, बम्बई नेटिव इन्फैंट्री, हैदराबाद कंटिन्जेण्ट की एक पैदल पलटन, भोपाल का तोपखाना तथा मद्रास सैपर्स की एक कम्पनी रखी। इनमें प्रथम भाग मऊ में तथा दूसरा सीहोर के लिए चल पड़ा। मार्ग में उसे भोपाल की बेगम के भेजे हुए आठ सौ सैनिक भी मिल गये। उन्हें भी साथ लेकर ह्यूरोज सागर की ओर चला गया।

सागर जाते हुए ह्यूरोज ने सागर से लगभग 39 किमी. पहले रहटगढ़ के किले पर आक्रमण कर दिया। उस समय उस किले को विद्रोही मुसलमानों ने अपने अधिकार में ले लिया था। उन्होंने वहां अच्छी सुरक्षा–व्यवस्था भी की हुई थी, किन्तु उनकी संख्या बहुत कम थी। फिर भी उन्होंने चार दिनों तक जमकर अंग्रेजों का सामना किया। अन्त में उन्हें किला छोड़कर भागना पड़ा। अपने इस अभियान में ह्यूरोज की यह पहली विजय थी।

रहटगढ़–विजय के बाद ह्यूरोज सेना सहित वहाँ से लगभग 24 किमी. दूर बारोदिया गाँव पहुँचा। वहाँ बानपुर के राजा ने कुछ विद्रोहियों को शरण दे रखी थी। ह्यूरोज की सेना को वहाँ भी विजय मिली, किन्तु वहाँ उनकी सेना का कप्तान नेविली भी मारा गया।

रहटगढ़ और बारोदिया में विजयी होने के बाद वह आगे बढ़ा और 3 फरवरी, 1858 को उसने सागर पर चढ़ाई कर दी। वहाँ से भी विद्रोहियों को भगा दिया गया और वहाँ के किले में फँसे अंग्रेजों को मुक्त कर लिया गया। सागर पर अधिकार करने के बाद ह्यूरोज वहाँ से प्रायः 40 किमी. दूर गढ़कोटा नामक किले पर पहुँचा। इस किले पर बंगाल की 51वीं तथा 52वीं पल्टन के विद्रोहियों का अधिकार हो गया था। ह्यूरोज ने किले पर आक्रमण कर अनायास ही उसे अधिकार में कर लिया।

इस प्रकार उसने नर्मदा नदी के उत्तर में एक बहुत बड़े भू–भाग पर शीघ्र ही अधिकार कर लिया। अब उसने बुन्देलखण्ड की ओर बढ़ने का विचार किया। अंग्रेज बुन्देलखण्ड में विद्रोहियों का मुख्य गढ़ झाँसी को मानते थे, इसलिए कमाण्डर–इन–चीफ सर कॉलिन कांप्टेल ने पहले ही कह दिया था कि जब तक झाँसी पर अधिकार नहीं कर लिया जायेगा, तब तक उत्तरी भारत में सम्पूर्ण रूप से विद्रोहियों का दमन नहीं होगा। झाँसी पहुँचना कोई सरल कार्य नहीं था, क्योंकि सागर से कानपुर तक सभी स्थानों पर विद्रोही अधिकार कर चुके थे। वहाँ पहुँचने का मार्ग भी दुर्गम था और विद्रोहियों ने सुरक्षा के प्रबन्ध भी अच्छे किये थे। ह्यूरोज को युद्ध के मोर्चो का अच्छा अनुभव था। अतः उसने अपनी सेना को छोटे–छोटे अनेक भागों में विभक्त कर अलग–अलग घाटों से होते हुए जाने की आज्ञा दे दी। वह स्वयं थोडी–सी सेना साथ लेकर दमनपुर घाट की ओर चल पड़ा। इस घाट पर उसे विद्रोहियों का सामना करना पड़ा। वहाँ उसका घोड़ा मारा गया और स्वयं घायल हो गया। इस प्रकार इस युद्ध में अनेक बुन्देले सरदारों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े।

वहाँ से विद्रोहियों को पराजित करती हुयी अंग्रेजी सेना सराय के किले के पास पहुँची। उसने वहीं शाहगढ़ के राजा के बाग में अपना शिविर डाला। दसरे दिन मुरोवर गाँव पर चढ़ाई कर वहां अधिकार कर विद्रोहियों को तहस–नहस कर डाला गया। बुंदेलखण्ड के राजनीतिक अभिकर्ता ने शाहगढ़ के अंग्रेजी राज्य में विलय की घोषणा कर दी। अंग्रेजी सेना ने सराय के किले पर तोपें लगा दी। शाहगढ़ का राजा पहले ही भाग गया था, किन्तु उसके अनेक सरदार पकड़ लिये गये और उन्हे फाँसी दे दी गई। उनमें एक ज्योतिषी भी पकड़ा गया था, जिसने राजा को मुहूर्त बताया था कि इस मुहूर्त में विद्रोह करने से अवश्य विजय प्राप्त होगी। अंग्रेजी

सेना के साथ चल रहे डॉ0 लो ने इस प्रकार ज्योतिषियों के मुहूर्त पर कार्य करने वाले अन्धविश्वासों की बड़ी खिल्ली उड़ाई है।

रोबर्ट हेमिल्टन आगे–पीछे ह्यूरोज के ही साथ चल रहा था। गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि के रूप में राजनैतिक कार्यकलापों को परिचालित करना ही उसका उद्वेश्य था। हिल्टलोक की सेना के साथ था हेमिल्टन का सहयोगी मेजर एलिस। यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि मेजर एलिस ने ही एक बार 1854 ई. में झाँसी के विलीनीकरण के समय झाँसी की रानी का पक्ष लेकर डलहौजी से पत्र व्यवहार किया था। दोनों सेनाओं के साथ हेमिल्टन और मेजर एलिस का दूसरा एक महत्वपूर्ण कारण राजनैतिक भी था।

1862 ई. में अवकाश ग्रहण करने के बाद रोबर्ट हेमिल्टन ने भारतीय राज्य के सचिव की अनुमति लेकर 1858 ई. में मध्यभारत अभियान के सम्बन्ध में कई गुप्त जानकारियाँ प्रकाशित की हैं। वह बताता है कि मेरठ विद्रोह के दिनों में वह छुट्टी पर विलायत में था। केनिंग का जरूरी तार पाकर वह पुनः भारत आता है। सारे मध्यभारत अभियान की योजना उसके और उसके सर कोलिन कैम्पवेल के बीच हुए परामर्श के द्वारा निश्चित की जाती है। अभियान की गति में परिवर्तन करना अथवा उसे यथावत रखना, ये सब उसी की जिम्मेदारी पर छोड़ दिये जाते हैं। सर ह्यूरोज तथा जनरल हिल्टलोक ने तो उसके आदेश का पालन मात्र किया है। मेजर एलिस और वह पत्रों द्वारा सदा सम्बन्ध बनाए रखते थे। लम्बे बारह वर्ष तक मध्यभारत में वास करने के कारण हेमिल्टन और एलिस वहाँ के हर गाँव की अवस्थिति तक जानते थे। इसी कारण से उनके लिए भीतर से अभियान की गति पर नियन्त्रण रखना सहज संभव हुआ था। यद्वपि वहीं लोग इस अभियान के प्रधान नियंत्रणकर्ता थे, वह 1858 ई. में उजागर करना संभव नहीं हो सका।

मध्यभारत अभियान में उसके उपस्थित रहने का सर्वप्रमुख कारण यह रहा है कि एक–मात्र उसी के पास गवर्नर जनरल का आदेश–पत्र था एवं इसी बल पर नानासाहब, रावसाहब, तात्या टोपे, बाँदा के नवाब, बाणपुर के राजा, शाहगढ़ के राजा एवं झाँसी की रानी– इन सब नेताओं के बारे में घटनास्थल पर विचार करने और उचित दंड़ देने और जरूरत पड़ने पर मृत्युदंड़ देने का अधिकार भी उसे था।

यही सब राजनीतिक जिम्मेदारियाँ लेकर रोबर्ट हेमिल्टन अभियान के साथ था। उसने शाहगढ़ के राजा का सारा राज्य ब्रिटिश द्वारा अधिकृत कर लिया गया है इस प्रकार की घोषणा कर दी। 7 मार्च 1858 ई. को भड़ावरा और सरइया के किले पर यूनियन जैक फहरा दिया गया। ह्यूरोज 9 मार्च को बाणपुर पहुँचा। बाणपुर के राजा के विशाल प्रासाद में आग लगा दी गयी। राजप्रासाद जलकर राख हो गया। 14 मार्च को ह्यूरोज दूसरी ब्रिगेड लेकर तालबेहट पहुँचा। तालबेहट के विशाल तालाब के ऊपर उस समय जलचर पक्षी परम निश्चिंतता के साथ उड़ते फिर रहे थे, सर्वत्र प्रभात की सुन्दर प्रशांति विराजमान थी।

तालबेहट पार कर कुछ दूर आकर बेत्रबती नदी के उथले जल को पार कर ह्यूरोज ने सेना सहित अपने तंबू फैला दिए। चंदेरी के रास्ते से पहली ब्रिग्रेड के आ जाने पर वह दोनों फौजों को मिलाकर झाँसी पर आक्रमण करना चाहता था।

गढ़ाकोटा में परास्त होने के बाद बोधन दौआ चले गए थे चंदेरी। सराई, भड़ावरा, नरौली आदि घाटियों को त्यागकर अन्य भारतीय सैनिक भी चंदेरी में इकट्ठे हुए थे। बाणपुर और शाहगढ़ के राजाओं को छोड़कर बुन्देलखण्ड के अन्यान्य भारतीय नेता लोग सभी चंदेरी में इकटठे हो गये थे।

चंदेरी, राजपूतों के गौरवपूर्ण समय से ही भास्कर्य, स्थापत्य आदि से सुशोभित एक नगरी थी। सम्राट बाबर ने चंदेरी पर आक्रमण किया था एवं राजपूत

लोगों ने जीवन की बाजी लगाकर युद्ध किया था।

भारतीयों ने जीवन–मरण की बाजी लगाकर चंदेरी की रक्षा करने की प्रतिज्ञा की थी।

6 मार्च को ब्रिगेडियर स्टुअर्ट चंदेरी किले की तरफ बढ़ने लगा। रास्ते में पहाड़ी रास्ते के दोनों तरफ से लगातार गोलों की वर्षा से भारतीय सेना ने उसे तितर–बितर कर दिया। पहाड़ पर अवस्थित चंदेरी दुर्ग के प्रत्येक बुर्ज और मोर्चे पर से तोपें धीरे–धीरे गोलों की बर्षा करने लगीं।

ब्रिगेडियर स्टुअर्ट हाथी के द्वारा खींचकर पहाड़ी पर तोप लाया। उसके बाद किले पर आक्रमण किया। सात दिन लम्बे युद्ध के बाद भी चंदेरी पर अधिकारं करना जब संभव नहीं हुआ, तब 16 मार्च की रात मेजर कीटिंग एक गुप्तचर की सहायता से चंदेरी किले के प्रमुख बुर्ज तक गया। दुर्ग में प्रवेश करने की सभी युक्तियों का पता लगाकर लौट आया। सत्रह मार्च को बड़े तड़के उन लोगों ने चंदेरी दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। इतने दिनों एक ही स्थान में अवरूद्ध रहने से भारतीय फौजों की गोला–बारूद खत्म हो गयी थी। किन्तु भारतीय सेना भागने में सफल हो गयी। शेष जो लोग बचे थे उन्होंने युद्ध करते–करते मृत्यु का वरण किया।

अवशिष्ट विद्रोहियों में से प्रत्येक को रॉयल काउंटी डाउन के सैनिकों ने गोली अथवा बेनेट के द्वारा बींध दिया। उस दिन संत पेट्रिक का दिन था। आइरिस लोगों ने संत पेट्रिक की कसम खाकर प्रतिज्ञा की थी कि वे लोग कानपुर और झाँसी में मारी गयी महिलाओं और बच्चों की मौत का बदला लेंगे।

मार्च मास की बीस तारीख को ह्यूरोज ने झाँसी से आठ मील दूर पहुँचकर अपने तंबू गाड़ दिये। ब्रिगेडियर स्टुअर्ट को घुड़सवार और गोलंदाज सेना

के साथ झाँसी शहर के आसपास घेरा डालने के लिए भेजा। जब पदातिक सेना भी पीछे–पीछे रवाना हाने लगी तभी केनिंग का एक जरूरी तार रोबर्ट हेमिल्टन के पास आया।

इसी बीच तात्या टोपे चरखारी जीत लेता है। पन्ना एवं रीवा की हालत भी चिन्ताजनक है। चरखारी का राजा अंग्रेज भक्त था। उसकी सहायता करने की जरूरत केनिंग ने उस समय महसूस की किन्तु उसके लिए उस समय चरखारी फौज भेजना असंभव था। अगत्या उसने हिल्टलोक को निर्देश भेजे कि ह्यूरोज के साथ वह संबंध सूत्र स्थापित करे जिससे वे दोनों लोग तुरन्त अपने वर्तमान मोर्चे को छोड़कर चरखारी सहायता करने के लिए चले जाएँ। अपने इस पत्र की एक प्रति उसने ह्यूरोज को भी भेजी।

ह्यूरोज ने गवर्नर के सेक्रेटरी को सूचित किया कि वह आदेशानुसार हिल्टलोक के साथ संबंध बनाए रहेगा। फिर भी, क्योंकि चरखारी पहुँचने में काफी समय लगेगा और उससे चरखारी के राजा को भी कोई सहायता न पहुँचायी जा सकेगी और चारों तरफ से भारतीय सैनिक उठकर तैयार हो जायेगें, इसी कारण वह सबसे पहले झाँसी जीतकर मध्यभारत में भारतीयों का सबसे शक्तिशाली मोर्चा ध्वंस कर डालना चाहता है।

ह्यूरोज और हिल्टलोक ने परस्पर पत्राचार सम्बन्ध स्थापित कर लिया। रोबर्ट हेमिल्टन ने उस समय झाँसी जीतने के पक्ष में तमाम युक्तियाँ देकर गवर्नर जनरल को सारी घटनाएँ समझाने की चेष्टा की। उसने लिखा–

..........गवर्नर जनरल को ह्यूरोज की दूसरी ब्रिगेड की यथार्थ स्थिति को समझाने के लिए मुझे उनसे निम्नलिखित बातें कहना जरूरी है।

हम लोगों की दूसरी ब्रिगेड आज झाँसी के दसवें मील के बीच में है।

ब्रिगेडियर स्टुअर्ट के अधीन सारे घुड़सवारों ने झाँसी शहर के आसपास कैसे घेरा डाला जाए इसका सर्वेक्षण कर लिया है। हमारे मुख्य इंजीनियर मेजर बोयलों किले के परकोटे के कमजोर स्थान कौन–कौन से हैं, कहाँ पर आक्रमण करना उचित है, हमारा मोर्चा कहाँ होगा, वही सब देखने गये हैं। झाँसी के भारतीय सैनिक हम लोगों के आगे बढ़ते जाने की सब सूचनाएँ रखते हैं। इस समय अगर हम लोग निष्क्रिय होकर हट जाते हैं, इससे वे लोग और उत्साहित हो जायेगें एवं उनकी युद्ध करने की उत्प्रेरणा और बढ़ जायेगी।,

पहली ब्रिगेड चंदेरी जीतने के बाद अभी भी यहाँ आयी नहीं हैं, आपके आदेशानुसार चरखारी जाने के लिए तैयार रहने पर भी ह्यूरोज को उसकी प्रतीक्षा तो करनी ही होगी।

ह्यूरोज अगर इसी समय चरखारी जाये, तो उसे झाँसी किले पर लगी तोपों की मार के भीतर से (क्योंकि इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है) होकर बरूआ सागर रोड रखकर जाना होगा। ऐसा करने से यह होगा कि पहली ब्रिगेड के साथ उसका कोई संबंध ही नहीं रहेगा एवं पहली और दूसरी ब्रिगेड के बीच में रहेगा झाँसी का किला, जिसमें 1,500 बलूची और 1,000 बुंदेला सैनिक हैं।

इसके अलावा रानी ने हम लोगों के आगे बढ़ते जाने की खबर सुनकर ओरछा और मऊ से अपनी फौज बुलाकर इकट्ठी कर ली है। संभवतः वह तात्या टोपे की सहायता भी चाहेगी। तात्या तब बाध्य होकर चरखारी छोडकर झाँसी की तरफ आयेगा एवं तब हम लोग एकदम झाँसी के पास ही तात्या से युद्ध करने में अधिक सक्षम होंगे।

इन्हीं सब कारणों से गवर्नर जनरल यह निश्चय ही समझ सकेंगे कि वर्तमान में झाँसी छोडकर जाना कितनी राजनीतिक अदूरदर्शिता का काम होगा।

झाँसी के पतन का सारे भारतीय विद्रोहियों के ऊपर भारी प्रभाव पड़ेगा एवं बुन्देलखण्ड से विद्रोहियों का समूल उच्छेद करना सहज होगा।

हस्ताक्षर – डब्ल्यू. आर. हेमिल्टन

यह पत्र पाकर केनिंग ने हेमिल्टन के बल को समझ लिया। उसने हेमिल्टन की राय से सहमति व्यक्त कर दी। 21 मार्च 1858 को ह्यूरोज बड़े सबेरे सात बजे झाँसी के सामने पहुँचा।

कम ऊँचे पहाड़ के ऊपर दुर्निवार प्रतिरोध की तरह झाँसी किले के दक्षिणी बुर्ज से अंग्रेजों का स्वागत करते हुए रानी की लाल पताका प्रभात की मंद वायु में फहराने लगी।

(1) मोर्चेबन्दी :

झाँसी परकोटे से घिरी हुई थी। उसमें प्रवेश करने के लिए विभिन्न फाटक थे। उनमें से ओरछा, दतिया, सैंयर, भाँडेर, लक्ष्मी, खंडेराव, उन्नाव, सागर आदि आठ फाटक प्रधान थे। प्रत्येक फाटक के ऊपर बुर्ज और दोनों तरफ प्रशस्त्र प्राचीर पर बंदूकधारी सैनिकों के खड़े होकर युद्ध करने योग्य पर्याप्त जगह थी। पुराने कंटूनमेंट से किले में आने के रास्ते के तीन फाटकों में सागर, ओरछा और सैंयर गेट को विशेष रूप से सुरक्षित कर लिया गया। किंतु अंग्रेजों ने फूटे दरवाजे को ध्वस्त कर झाँसी में प्रवेश किया था। आज कंटूनमेंट रोड रखकर सीधे रास्ते में किले की तरफ आने पर झोकन बाग छोड़ते ही पहला जो प्रशस्त्र मार्ग हैं, वहीं पर उन दिनों फूटा दरवाजा था। [1]

प्रौढ़ गुलाम गौस खाँ था अनुभवी गोलंदाज। उसका सहकारी था प्रियदर्शी खुदाबख्श। गुलाम गौस खाँ ने अपनी निजी देखरेख में झाँसी–किले के विभन्न बुर्जो पर लगायी थीं भवानीशंकर, गरनाला, कड़क बिजली, नालदार, अर्जुन,

समुद्र–संहार आदि तोपें। किले के दक्षिणी बुर्ज का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। क्योंकि आक्रमण की संभावना दक्षिण दिशा से ही अधिक थी। दक्षिण में कंटूनमेंट के आने का रास्ता है। दक्षिणी बुर्ज से अनुमानतः सात सौ गज दूर नीचे एक टीला है जिसे टिकरी कहते हैं। वहाँ से किले पर आक्रमण करने के लिए शत्रुपक्ष के जमा होने की संभावना सर्वाधिक है। इसके अलावा, दक्षिण में अनेक महादेव के मंदिर भी हैं। दक्षिणी दिशा के बुर्ज से प्रासाद और नगर में प्रवेश करने के पथ की रक्षा की जाती है। इसीलिए सारे विषय की विवेचना कर गुलाम गौस खाँ, व्यक्तिगत रूप से घनगरज तोप लेकर दक्षिणी बुर्ज पर रहा। पूर्व और उत्तरी दिशा के केन्द्र में अवस्थित बुर्ज पर लालाभाऊ बख्शी कड़क बिजली लेकर तैनात हुए। पश्चिमी दिशा के बुर्ज पर भवानीशंकर तोप लेकर दीवान रघुनाथ सिंह तैनात हुए। [2]

जवाहर सिंह, दिलीप सिंह, ये लोग अश्वारोही सेना का नेतृत्व करने में नियुक्त हुए। मोरोपन्त ताम्बे ने एक अश्वारोही दल का नेतृत्व ग्रहण किया। और रामचन्द्र राव देशमुख उर्फ बाला राव देशमुख, लक्ष्मण राव बाँदे आदि लोग रानी के साथ ही रहे। [3]

ओरछा, सैंयर और सागर के फाटकों का भार क्रमशः दीवान दूल्हाजू, खुदाबख्श खाँ और पीर अली पर रहा। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि पीर अली, गंगाधर राव के मझले भाई रघुनाथ राव के अवैध पुत्र अली बहादुर के सहकारी थे। झाँसी की रानी के साथ इन्हीं अली बहादुर का कोई योगा–योग नहीं था। कुँवर सागर सिंह खंडेराव फाटक पर, पूरन कोरी उन्नाव फाटक पर नियुक्त किये गये। दीवान ज़वाहर सिंह के हाथ में संपूर्ण नगर और नगर के फाटकों की रक्षा का भार सौंपा गया। किले में हर बुर्ज पर सब मिलाकर इक्यावन बड़ी–बड़ी तोपें साजी–सँभाली गयी। किले में पठान, चुने हुए बुन्देलखण्डी सैनिक और रानी की स्त्री सेना की

नियुक्ति कर दी गयी। सब सैनिक लगभग चार हजार होंगे। झाँसी का किला देखकर ह्यूरोज की समझ में आ गया कि इस बार वह सचमुच प्रतिरोध के सामने खड़ा हुआ है। सवेरे के सात बजे हैं। सामने झाँसी का दुर्जय किला है। दक्षिणी बुर्ज का एक लाल झण्डा फहरा रहा है। उसके आस–पास ही काली, हरी, नीली रंग की कई पताकाएँ उड़ रही हैं। दूरबीन से देखा कि शहर के सारे फाटक बन्द है। हर बुर्ज पर तोपें तैनात हैं। दीवार में जगह–जगह पर बंदूक चलाने के लिए चौकोर झरोखों की पक्तियों की पक्तियाँ बनी हुई हैं। किले के दक्षिणी दिशा की बुर्ज अत्यन्त भयंकर है। उसके पीछे निराट पत्थरों की एक चुनाई है। ब्रिगेडियर स्टुअर्ट आ जायेगा। आज से लगातार घेराबन्दी और प्रतिरोध अभियान शुरू हो जायेगा उसके साथ ही दाहिने और बाएँ तोपों को लगाने का इन्तजाम चलने लगेगा। रसद की कोई चिन्ता ही नहीं कर रहा हूँ। ओरछा की रानी और ग्वालियर के सिंधिया को खबर भिजवा रहा हूँ। वे लोग रसद भिजवा देंगे। आइरिश लोग तो आज्ञा मिलने पर इसी समय आक्रमण करने को उतावले हैं। [4]

आज मैं कुछ नहीं करूँगा। सिर्फ चौकसी रखूँगा। दूरबीन से दिखाई दे रहा है कि किले की प्राचीर पर लोगों की चला–फिरी हो रही है। सूचना है कि लाल झण्डा रानी का है। अन्य झण्डे मुस्लिम फकीरों के और हिन्दू सन्यासियों के हैं। उस समय बैचेनी हो रही है। शत्रु अगर बलशाली और लड़ाई के योग्य न हो तो युद्ध करने का कोई मजा नहीं आता है। लेकिन इस बार निश्चित ही समान शक्तिशालियों के बीच लड़ाई होगी।

ह्यूरोज ने देखा कि एक अनुन्नत पहाड़ के ऊपर खड़ा हुआ है झाँसी का किला। सुदृढ़ ग्रेनाइट के पत्थरों से उसे तैयार किया गया है। अत्यन्त उच्च शिखरों पर सन्निवेशित तोपें चारों तरफ नजर रखें हुए हैं। पूरे किले में जगह–जगह गोलंदाजों के खड़े

होकर तोप छोड़ने की जगहें हैं एवं दो तीन बन्दूकें चलाने के चौकोर झरोखें भी हैं। [5]

दक्षिण के थोड़े भाग और पश्चिमी हिस्से को छोड़कर किले की अन्य सभी दिशाओं में शहर हैं। किले की पश्चिमी दिशा में खड़ा पहाड़ है, दक्षिणी दिशा के बीचों–बीच एक विशाल बुर्ज है। इस बुर्ज से नगर की प्राचीर शुरू होती है एवं उसका अंत होता है किले के दक्षिणी अंश के एकदम अंत में जाकर एक विशाल सुदृढ़ कठोर पत्थरों के चुनाईदार चबूतरे पर। इसी चबूतरे के सामने है एक गोल बुर्ज। इसका विस्तार और चौड़ाई इतनी अधिक है कि वहाँ पर पाँच तोपें भी लगाई जाएँ तो चल सकता हैं। [6] इसी बुर्ज को घेरकर पत्थरों की एक गहरी खाई है। इस बुर्ज की अवस्थिति सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के कारण यहाँ सर्वदा कई लोगों की चौकसी रहती है।

झाँसी के उत्तर और पूर्वी सीमा से होकर जो पर्वतमाला गई है, उसी के भीतर से चला गया है झाँसी–ओरछा एवं झाँसी–कालपी रोड़। उत्तर की तरफ से होकर चला गया है झाँसी–दतिया और झाँसी–ग्वालियर रोड।

किले के पूर्व की तरफ नगर की प्राचीर शेष होती है लक्ष्मी तालाब जाने के रास्ते में लक्ष्मी दरवाजे पर जाकर। वहाँ से प्राचीर पूर्व से उत्तर, उत्तर से पश्चिम की ओर घूमकर नगर को घेरे हुए है। किले के दक्षिण से पूर्व की तरफ फैली हुई नगर की दीवार में चार महत्वपूर्ण दरवाजे है– ओरछा, सागर, लक्ष्मी और सैंयर। [7]

पहली ब्रिगेड के साथ ब्रिगेडियर स्टुअर्ट के न आने तक ह्यूरोज ने झाँसी पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। 20 मार्च को ह्यूरोज जब झाँसी से आठ मील दूरी पर था, तभी उसने ब्रिगेडियर स्टुअर्ट को शहर घेरने के लिए भेजा था।

रानी की सहायता के लिए उस दिन बुन्देलखण्डी गाँववासी झाँसी की तरफ आगे बढ़ रहे थे। ब्रिगेडियर स्टुअर्ट के सैनिकों के साथ इन्हीं ग्रामवासियों

की लड़ाई हुई किले के पश्चिम में अढ़ाई मील दूर, वर्तमान स्टेशन से नए कंटूनमेंट जाने के रास्ते पर किसी जगह। ब्रिगेडियर स्टुअर्ट निकल रहा था सात सौ घुड़सवारों को लेकर। इस असमान युद्ध में एक सौ बुंदेलखंडी मारे गये। स्टुअर्ट ने उन लोगों को घुड़सवारों से घिरवा लिया (भारतीयों के पास घोड़ा और बन्दूकों में से कुछ नहीं था।) और गोलियों से भून डाला। मृत देहें उसी जगह पड़ी रहीं। [8]

रानी ब्रिटिश फौज की संख्या, शक्ति और योजना के सम्बन्ध में सारी सूचनाएँ रखती थी। इस समय तात्या टोपे को खबर देना उसे युक्तियुक्त लगा। तात्या टोपे को उसने जानकारी दी थी, उस सम्बन्ध में तात्या टोपे ने 10–04–1859 को अपने अंतिम बयानों में कहा है–

जब मैंने चरखारी जीत ली, बाणपुर के राजा ठाकुर मर्दन सिंह, शाहगढ़ के राजा बखतबली, दीवान देशपत, दौलत सिंह, कुचउवा खारवाला एवं अन्यान्य बहुत से– लोगों ने चरखारी के युद्ध में मुझे सहयोग दिया। उसी समय मुझे झाँसी की रानी की चिट्ठी से पता चला कि वह अंग्रेजों के साथ युद्ध में उतर गयी है जिससे मैं उसे सहयोग दूँ। [9]

मैने यह जानकारी रावसाहब को कालपी खबर भेजकर दी। रावसाहब जसपुर आये। मुझे रानी की सहायतार्थ जाने के लिए अनुमति दी। झाँसी के रास्ते पर जब मैं बरूआ सागर आया, राजा मानसिंह मुझसे आकर मिल गए। झाँसी से एक मील दूर बेतवा की गोद में मेरा अंग्रेजों से युद्ध हुआ। उस समय मेरे साथ 22,000 सेना और 22 तोपें थीं। मैं युद्ध में हार गया। एक टुकड़ी सेना और 4–5 तोपें लेकर मैं कालपी चला गया। रानी 4 अप्रैल की रात झाँसी छोड़कर 5 अप्रैल की रात 2 बजे के समय कालपी पहुँची। उसके पास अपनी कोई सेना नहीं थी, इसलिए उसने रावसाहब से सेना देने का अनुरोध किया। रावसाहब की अनुमति के अनुसार मैंने

रानी के नेतृत्व में कोंच में युद्ध किया। [10]

रावसाहब की अनुमति लेकर आने में तात्या टोपे को जो कई दिनों की देरी हुई इसी बीच ह्यूरोज ने अपना काम शुरू कर दिया।

यथासाध्य व्यवस्था पूरी करके रानी प्रतीक्षा करने लगी। सारी शक्ति संगठित कर किला और नगर के महत्वपूर्ण स्थानों को शक्तिशाली बना लिया गया। बाहर कोई भी फौज नहीं लगायी गयी। अंतिम क्षणों में रानी के साथ कुछ मुसलमान फकीरों एवं सन्यासियों ने भी सहयोग किया था। उन लोगों की काली और हरी पताकाएँ पास–पास लगायी गयी। [11] रानी के उत्साह से सारे नगरवासी उत्साहित हो गये। सारे लोग तैयार हो गये। इसी बीच सर कोलिन कैम्पवेल और लॉर्ड केनिंग दोनों के ही मन में एक आशंका प्रबल हो उठी।

दक्षिण के उसी बुर्ज पर दखल न कर पाने पर शहर में प्रवेश अथवा महल पर कब्जा करना दोनों में से कुछ भी संभव न होगा यह उसने समझ लिया। शहर पर कब्जा कर पाने पर ही किले पर अधिकार किया जा सकेगा। अन्यथा किले पर कब्जा नहीं किया जा सकेगा। शहर पर दखल करने और किले पर आक्रमण करने के लिए, दक्षिणी दिशा के इस बुर्ज पर कब्जा करने के महत्व को समझकर उसने लक्ष्मीसागर तालाब के दक्षिण में ओरछा दरवाजे के सामने एक कम ऊँचे टीले पर अपना तोपखाना स्थापित किया। [12] झोकन बाग के निकट गुप्त रीति से उसने एक दूसरा तोपखाना स्थापित किया। 25 मार्च को पहली ब्रिगेड लेकर स्टुअर्ट के आने से पहले इन दो तोपखानों को पूरी तरह से स्थापित करना संभव नहीं हो सका।

23 मार्च को ह्यूरोज ने दक्षिणी बुर्ज पर गोला बरसाना शुरू कर दिया। शहर के बाहर एक भी भारतीय व्यक्ति नहीं था। सारी शक्ति भीतर ही थी। रोबर्ट हेमिल्टन ने एक अनुमान से यह पता लगा लिया कि झाँसी में दस हजार

बुन्देला और अफगान सैनिक, पन्द्रह सौ भारतीय सैनिक, चार सौ घुड़सवार और तीस से लेकर चालीस तक तोपें हैं।

किले के हर बुर्ज से सागर, लक्ष्मी और ओरछा दरवाजे के तोपखाने से तोपों के जवाब में तोपों का उत्तर आने लगा। भारतीय गोलंदाजों के अद्भुत कौशल को देखकर अंग्रेज लोग विस्मित हो गये। प्रमुख गोलंदाज गुलाम गौस खाँ के लिए शुरू में ही तोपों की मार का फासला ठीक करना ठीक संभव नहीं हुआ किन्तु बाद में एक बार ठीक कर लेने पर वह तोपों से इस तरह गोले बरसाने लगा कि हर गोला जाकर अंग्रेजों के तोपखाने पर पड़ने लगा। घनगरज तोप के गोलों से अंग्रेज सैनिक बहुत परेशान हो गये। क्योंकि घनगरज की विशेषता थी कि गोला दागते ही अन्य तोपों की तरह उससे धुँआ नहीं निकला करता था। तीव्र सीत्कार करता हुआ गोला आकर गिरने लगा दक्षिण दिशा में निर्मित विभिन्न तोपखानों के ऊपर। महादेव मंदिर में एक तोपखाने का निर्माण ह्यूरोज ने किया था। वह 23 मार्च को बार–बार बेकार साबित होने लगा। गरनाला तोप को अंग्रेजों ने नाम दिया था 'हिलसिलिंग डिक'। [13]

23 मार्च दोपहर में झाँसी की तोपें सामरिक दृष्टि से चुप हो गयी। किन्तु 24 मार्च को वे फिर गरज उठीं। गुलाम गौस खाँ ने स्वयं ही सभी तोपों की जाँच–पड़ताल की थी। उसके सुयोग्य सहयोगी लाला भाऊ बख्शी और दीवान रघुनाथ सिंह, दोनों किले में ही मौजूद थे। सैंयर गेट से 23 मार्च की रात सागर गेट चले गये खुदाबख्श खाँ। पीर अली, राव दूल्हाजू, खुदाबख्श सभी अत्यंत चतुर गोलंदाज थे। गोलंदाजों की मदद कर रहीं थीं स्त्रियां परम दुःख का विषय है कि सुन्दर, मुन्दर, काशी, जूही, मोतीबाई, बख्शिनजू, झलकारी, दुर्गा इन कुछ को छोड़कर और किसी स्त्री के नाम का पता नहीं चल सका। अंग्रेज लोग विस्मय के

साथ देखने लगे कि भारतीय स्त्रियाँ हर तोप के पास पठानी वेश धारण कर बड़ी तेजी से आ–जा रही थी और तोपों के गोलों की पूर्ति बरकरार रख रही हैं और जरूरत पड़ने पर गोली भी चला रहीं हैं। [14]

किले के बगीचा बुर्ज पर लगे थे सन्यासी और फकीर। देश के इस दुर्दिन में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही पास–पास खड़े होकर युद्ध करने की आवश्यकता समझ ली थी। एक सौ से अधिक वर्ष पूर्व झाँसी किले के बगीचा बुर्ज पर मुसलमान फकीर और हिन्दू सन्यासियों की पताकाएँ पास–पास लगी हुई थीं। सर्वत्र एक सुदृढ़ जवाबी प्रतिरोध देखकर ह्यूरोज ने लिखा था–

सर्वत्र सभी साधनों से सम्पन्न जनसामान्य, जो सुदृढ़ प्रतिज्ञा करके प्रतिरोधी संग्राम में अवतीर्ण हुआ है, यह समझ में आ रहा था। राजनीतिक दृष्टि से यह कहा गया कि सभी विद्रोही दल मिलकर जानते थे कि मध्यभारत के सबसे अधिक समृद्धिशाली हिन्दू नगरी और श्रेष्ठ दुर्ग झाँसी के पतन के साथ–ही–साथ मध्यभारत में भारतीय विद्रोह का भी पतन हो जायेगा। [15]

(2) सम्भार तंत्र :

युद्ध का निर्णय लेने के बाद महारानी लक्ष्मीबाई युद्ध की तैयारियों में संलग्न हो गयी। उन्होंने किले की रक्षा का प्रबन्ध कर लिया। यह किला झाँसी के पश्चिम में एक छोटी–सी पहाड़ी पर स्थित है। उन्होंने किले में व्यूह–रचना कर ली। सभी सरदारों को उनके निश्चित स्थान पर नियुक्त कर दिया। दुर्ग की प्राचीर 16 से 20 फीट तक चौड़ी थी, उसकी भी अच्छी तरह से मरम्मत कर दी गयी। प्रत्येक बुर्ज पर तोपें समायोजित कर दी गयी। सबसे बड़े बुर्ज की लम्बाई तथा चौड़ाई 20–20 फीट है और उसकी ऊँचाई लगभग 62 गज है। उसमें झाँसी राज्य की प्रसिद्ध तोपें लगवा दी गयीं। किले के चारों ओर की खाई पानी से भर दी गयी। उसमें विषबुझे

भाले गड़वा दिए गए। किले में युद्ध की तथा भोजन आदि की सामग्रियों की समुचित व्यवस्था कर ली गयी। महारानी के पास सोने–चाँदी के जो भी आभूषण थे, उन्हें गलाकर सिक्कों में ढाल लिया गया, जिससे धन की कमी से काम न रूके। लोहा, पीतल आदि जितना उपलब्ध हो सका, उसकी भी गोला–बन्दूक आदि युद्ध सामग्री बना ली गयी। इस कार्य में झाँसी की स्त्रियों ने भी भाग लिया। [16]

रानी ने किले में अन्न, एवं अन्य खाद्यान्न सामग्री, चूना, ईट, पत्थर, बारूद, अस्त्र–शस्त्र, कारीगर इत्यादि को पर्याप्त मात्रा में एकत्रित कर लिया जिससे कि उसकी सेना का और युद्ध का कोई भी अंग निर्बल न रहने पाए। झाँसी के किले में एक, राजमहल में सात एवं शहर के विभिन्न स्थानों पर बारह बड़े–बड़े कुएँ थे। सुतराम पीने योग्य एवं काम में आने वाले पानी के संबंध में रानी को नहीं सोचना पड़ा। फिर युद्ध में घोड़ों की भूमिका घुड़सवारों की तरह ही महत्वपूर्ण होती है। इसीलिए राजप्रासाद की अश्वशाला की देखभाल का भार अस्सी अफगान अफगान लोगों के ऊपर डाल दिया गया। [17]

महारानी की जीवनी के एक अन्य लेखक श्री शान्ति–नारायण ने अपनी पुस्तक 'महारानी झाँसी' में लिखा है कि महारानी ने किसी भी भावी विपत्ति का सामना करने के लिए इस काल में एक आयुध कारखाना भी खोला था, उन्हीं के शब्दों में–

"प्रदेश की आर्थिक उन्नति के लिए उन्होंने स्थान–स्थान पर सब प्रकार के कारखाने खुलवाकर, उनमें भाँति–भाँति का माल भी तैयार कराना प्रारम्भ कर दिया और अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए गोला–बारूद आदि सामग्री की तैयारी की ओर भी पूरा–पूरा ध्यान दिया। जिससे कोई कठिन समय आ पड़ने पर इन पदार्थो के लिए उन्हें औरों की कृपा पर निर्भर न रहना पड़े।"

ह्यूरोज के मध्यभारत में सैनिक अभियान चलाने के समय सारे बुन्देलखण्ड में विभिन्न सैन्य दलों के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरोधी सैनिक और जनता हर छावनी में आक्रमण और प्रतिशोध करने की अपेक्षा से संगठित होने लगे थे। [18]

सर कोलिन कैम्पवेल 14 अगस्त 1857 ई. को विलायत से कलकत्ता आ गया। 17 अगस्त को ही उसने भारतवर्ष की सारी सेनाओं के मुख्य सेना–अध्यक्ष अथवा कमांडर–इन–चीफ का पदभार ग्रहण कर लिया। अक्टूबर के अन्त तक दस सप्ताह उसने सारे ब्रिटिश भारत की स्थिति का सूक्ष्मता से पर्यवेक्षण किया। केनिंग के परामर्श से विभिन्न सेनाओं के गठन की योजना स्थिर हो गयी उस समय पूरा अवध विद्रोही हो चुका था। रूहेलखण्ड, दोआब, मध्यभारत आदि सभी जगह ब्रिटिश शासन ढ़ीला पड़ चुकता हैं। दिल्ली का एक विशाल सामरिक गोदाम अथवा मैगजीन भारतीयों के कब्जे में चली जाती है। फतेहगढ़ में तोपें तैयार करने का कारखाना सिपाही नष्ट कर देते हैं। पंजाब के साथ सारे योगसूत्र विछिन्न हो जाते हैं। लखनऊ और आगरा में देशवासियों का विक्षोभ घुमड़ने लगता है। कानपुर मे हेवलॉक की दशा अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। कैम्पवेल ने इसके अलावा भी लक्ष्य किया कि बंगाल आर्मी के एक लाख सिपाही एवं सारे अवध और उत्तरी–पश्चिमी प्रदेश के समस्त नागरिक विभिन्न व्यक्तियों के नेतृत्व में ब्रिटिशों के विरूद्ध विद्रोह कर रहे हैं। ब्रिटिश की सहायता के लिए सेनायें भेजने के सारे योगसूत्र, रास्ते और नदी के घाट आदि बंद कर दिये गये हैं।

केनिंग के साथ परामर्श करने के बाद ग्रांड ट्रंक रोड से लगातार सेनाओं को भेजने की व्यवस्था की गयी। केनिंग एवं कैम्पवेल दोनों ही सबसे अधिक शंकित बुन्देलखण्ड और मध्यभारत के संबंध में थे। उनकी उसी शंका के फ़लस्वरूप मालवा और मध्यभारत पर आक्रमण करने के लिए सेना गठित हुई। [19]

आक्रमण की समग्र योजना के अनुकूल बंगाल, बम्बई एवं मद्रास इन तीन प्रेसीडेंसी की सारी सेनाएँ पर्याप्त न होने के कारण विलायत से सैन्य अधिकारी और फौज लाने की व्यवस्था की गयी। बंबई दस्ते के साथ राजपूताना फील्ड फोर्स और मद्रास फोर्स अथवा सागर और नर्मदा फील्ड फोर्स लेकर सेंट्रल इंडिया फील्ड फोर्स गठित की गयी। निश्चय हुआ कि तराई, रूहेलखण्ड और अवध में कोलिन कैम्पवेल जब युद्ध का अभियान चलाएगा उस समय जिससे ग्वालियर कंटिंजेंटी एवं मध्यभारत के अन्य विद्रोही उसके अभियान को तितर–बितर न कर सकें इसलिए यह सेना मध्यभारत के भीतर से होकर त्रिमुखी युद्ध का अभियान चलायेगी।

ये तीनों सेनाय़ें विभिन्न दिशाओं से आकर झाँसी के सामने मिलेंगी एवं झाँसी पर विजय प्राप्त करेंगी। सेंट्रल इंडिया फील्ड फोर्स की मुख्य छावनी होगी मऊ। झाँसी पर अधिकार करने के बाद यह सेना कालपी जाएगी। वहां पर तात्या टोपे के नेतृत्व में एक विशाल सेना ने एक अत्यन्त शक्तिशाली युद्ध केन्द्र का गठन कर लिया है। कालपी में स्वयं कोलिन कैम्पवेल सहयोग करेगा। 'मद्रास दस्ता' अथवा 'नर्मदा फील्ड फोर्स' जबलपुर से रवाना होकर इलाहाबाद और मिर्जापुर के बीच मध्यवर्ती विच्छिन्न सूत्रों को पुनः जोड़कर बुन्देलखण्ड से होते हुए बाँदा जायेगी।[20]

कैम्पवेल के नेतृत्व में तीन सैन्य अधिकारियों को यह दायित्व निर्वाह करने के लिए नियुक्त किया गया। वे हैं मेजर जनरल ह्यूरोज, हिल्टलोक और रोबर्टसन। ह्यूरोज सेंट्रल इंडिया फील्ड फोर्स का नेतृत्व करेगा। हिल्टलोक मद्रासी दस्ते एवं रोबर्टसन राजपूताना फील्ड फोर्स का भार ग्रहण करेगा।

इस सेंट्रल इंडिया फील्ड फोर्स की भारी जिम्मेदारी लेने के लिए पहले केनिंग ने जनरल जोन डेकवेक को चुना था। अफगानिस्तान और बलोचिस्तान

के सीमांत युद्धों में जोन डेकवेक ने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी थी। ब्रिटेन का मंत्रिमंडल जोन डेकवेक को फारस से आने नहीं देना चाहता था। इसी कारण से ह्यूरोज को चुना गया।

ह्यूरोज ने 1820 ई. में सैनिक जीवन में प्रवेश किया था। 1857 ई. में उसके सैनिक जीवन के सैंतीस वर्ष बीत चुके थे। आयरलैण्ड, सीरिया, क्रीमिया एवं सिवास्तोपोल के विभिन्न युद्धों में उसने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी थी। उच्चतम सैनिक सम्मान उसे दिया जा चुका था। अनुभवी, प्रवीण एवं विचरण सैनिक था ह्यूरोज।

मध्यभारत और बुन्देलखण्ड की सारी स्थिति पर विचार कर ह्यूरोज ने एक सूचीबद्ध योजना बनायी।

1857 ई. के 17 दिसम्बर को उसने सेंट्रल इण्डिया फील्ड फोर्स– मध्यभारत थल सेना की दो ब्रिगेड सेना का नेतृत्व ग्रहण किया। पहली ब्रिगड (जिसका नया नामं हुआ मालवा थल सेना) बनी रही मऊ में। दूसरी ब्रिगेड सीहोर में रही। बंबई सेना के ब्रिगेडियर सी. एस. स्टुअर्ट के नेतृत्व में पहली ब्रिगेड रही। उसमें थे–

1. एक दस्ता (स्क्वाड्रेन) (14वाँ तेज घुड़सवारों का)
2. एक दस्ता (तृतीय बंबई तेज घुड़सवार सेना)
3. दो रेजीमेंट (हैदराबाद आकस्मिक घुड़सवार सेना)
4. दो कम्पनी (86वीं रेजीमेंट और 25वीं बंबई एन. पदाति सेना)
5. एक रेजीमेंट (हैदराबाद आकस्मिक पदाति सेना)
6. तीन हलकी जमीन से मार करने वाली तोपें (1. शाही तोप, 2. बंबई तोप, 3. हैदराबाद तोप)
7. कुछ सफरमैना

14वीं घुड़सवार सेना के ब्रिगेडियर स्टुअर्ट के अधीन दूसरी ब्रिगेड सीहोर में रही। इसमें थे–

1. 14वीं घुड़सवार सेना और तृतीय बंबई घुड़सवार सेना का बचा हुआ भाग।
2. बंबई यूरोपीय तोड़ेदार बंदूके, 24वीं बंबई देशी पदाति सेना।
3. एक रेजीमेंट (हैदराबाद आकस्मिक पदाति सेना)
4. एक तोप (घोड़ों द्वारा खींची जाने वाली तोप)
5. एक हल्की जमीनी तोप
6. एक तोप (भोपाल में बनी तोप)
7. एक कंपनी (मद्रासी सेना)
8. बंबई सफरमैना और 'सीज ट्रेन' का एक डिपार्टमेंट।

2 जनवरी 1858 ई. को मऊ में खबर पहुँची कि सागर किले की हालत शोचनीय है। कुछ ब्रिटिश गोलन्दाज और चालीस ब्रिटिश कर्मचारी, एक सौ बहत्तर अंग्रेज नर–नारियों और बच्चों को लेकर संकट में पड़े हुए हैं। कंटूनमेंट में बंगाल आर्मी के एक हजार सिपाही एवं एक सौ अश्वारोही हैं। यद्वपि उन लोगों ने अंग्रेजों के प्रति कोई विरूद्ध मनोभाव नहीं दिखाया है, फिर भी धीरे–धीरे बढ़ रहे क्रान्ति के तूफान के सम्मुख वे लोग कितने दिन विश्वसनीय बने रहेंगे कौन जाने। [21]

मद्रास दस्ते के सेनापति ब्रिगेडियर हिल्टलोक के ऊपर जबलपुर से सागर जाने की जिम्मेदारी डाली गयी। ह्यूरोज ने समझ लिया कि हिल्टलोक के लिए दो मास के पहले सागर पहुँचना संभव न होगा। इसलिए वही जायेगा सागर।

10 जनवरी को पहली ब्रिगेड मऊ छोड़कर रवाना हो गयी। ग्रांड ट्रंक रोड (बंबई से ग्वालियर) के समानांतर मार्ग से होकर यह ब्रिगेड देवास, सारंगपुर, बिजौरा, निपालपुर, बरसार, राधोगढ़, गुना, सदौरा, चंदेरी, तालबेहट होकर झाँसी पर

आक्रमण करने के लिए दूसरी ब्रिगेड के साथ मिल जायेगी।

15 जनवरी को सबेरे ह्यूरोज ने दूसरी ब्रिगेड लेकर सीहोर छोड़ दी। यूनियन जैक फहराता हुआ, रणवाध बजाता हुआ ह्यूरोज भोपाल पहुँच गया। भोपाल की बेगम साहिबा ने मित्रोचित आदर–सम्मान के साथ अंग्रेजी फौज के मार्ग की थकान दूर की। राजमहल में राज–अतिथि के सम्मान में ह्यूरोज और ब्रिगेडियर स्टुअर्ट को आप्यायित किया गया। सैनिकों के लिए खाने–पीने का व्यापक इंतजाम किया गया। भोपाल की बेगम ने अपनी मित्रता को दीर्घ–स्थायी करने के लिए और भविष्य को ध्यान में रखकर सात सौ सैनिक पैदल सेना एवं एक सौ घुडसवार सैनिक और अस्त्र–शस्त्र दिये। रास्ते में एक दिन पीछे जो 'सीज ट्रेन' (सफरमैना) ह्यूरोज के पीछे–पीछे आ रही थी उसके लिए भी रसद और अन्यान्य वस्तुएँ दीं। [22]

झाँसी की रानी के साथ बाणपुर के राजा के संबंध–सूत्र की बात अंग्रेज पहले से ही जानते थे। राहतगढ़ में बाणपुर के राजा का लिखित पत्र इसी कारण महत्वपूर्ण हो गया था। झाँसी की रानी एवं अन्यान्य भारतीय नेताओं के द्वारा गठित गुप्तचर वाहिनी की सफलता की बात का उल्लेख अंग्रेजों ने बार–बार किया था। झाँसी की रानी और बाणपुर के राजा का गुप्तचर दल अंग्रेजों के आगे बढ़ने की योजना जान गया था। इसलिए राहतगढ़ एवं अन्य जगहों के नेताओं ने एकजुट होकर इस प्रतिरोध का संगठन किया था या नहीं इस सम्बन्ध में लिखित रूप से कोई प्रमाण नहीं है। यद्वपि प्रत्येक भारतीय छावनी से ह्यूरोज ने भारतीयों के विद्रोह से सम्बद्ध प्रचुर मात्रा में कागज–पत्र इकटठे किये थे, फिर भी वे आज भी भारतीय गवेषकों के लिए दुष्प्राप्य हैं। राहतगढ़ के पतन के साथ–ही–साथ अवशिष्ट भारतीय सेना और सामान्य लोगों का बारोदिया जाना, बारोदिया जाने के बाद मदनपुर आदि हर स्थान पर सूचनाओं के आदान–प्रदान में, एक दुर्ग अथवा सैनिक छावनी के पतन

के बाद ही अन्य स्थानों पर प्रतिरोध संगठन आदि में भारतीयों ने यथेष्ठ कृतित्व का प्रदर्शन किया था। अंग्रेजों के आगे बढ़ने और उनकी सैन्य–शक्ति को जो वे लोग बहुत पहले से ही जान गये थे। इसका पता भी उनकी युद्ध–पद्धति से चला। इन घटनाओं से लगता है, पूरे बुंदेलखंड में एक सुविचारित युद्ध की योजना थी एवं उस योजना के केन्द्र में थी झाँसी। झाँसी के मार्ग पर ब्रिटिश सेना जिससे बिना बाधा के आगे न बढ़ सके, इसके लिए भारतीय पूर्णतः कटिबद्ध थे। [23]

राहतगढ़ किले की सैन्य तैयारी लम्बे समय के युद्ध के लिए उपयोगी थी। तीन हजार लोगों के खाने योग्य एक वर्ष के लिए रसद थी, तोपें तैयार करने के लिए एक विशाल भट्टी थी। प्रचुर संख्या में घोड़े, गाय–बैल, ऊँट और इनके अलावा थी ब्रिटिश–विरोधी युद्ध से संबद्ध प्रचुर चिट्ठियाँ। एक खड़िया मिट्टी से बना अंग्रेज महिला का कटा सिर, और लाल कपड़े पर अंकित ऊपर उठे हाथों में तैयार तीन पताकाएँ मिली थीं। विद्रोह में सहयोग करने के ये सब चिन्ह थे। [24]

बारोदिया में ब्रिटिश सेना का प्रतिरोध झाँसी की रानी और बाणपुर के राजा के संयुक्त परामर्श से संगठित किया गया था। इसी बीच झाँसी की रानी बुंदेलखंड–भर में अपनी गुप्तचर सेना को फैला देती है। [25] कालपी में तात्या टोपे और रावसाहब के नेतृत्व में गठित एक शक्तिशाली भारतीय सैन्य छावनी के साथ भी उनका तारतम्य था।

झाँसी के गोपाल राव सरिस्तेदार ने इसी समय 16 जनवरी 1858 ई. को मेजर एरस्काइन को खबर दी–

"सबसे महत्वपूर्ण खबर यह हुई कि नानासाहब का एक वकील झाँसी में है। झाँसी की रानी का एक वकील कालपी में है। झाँसी की रानी ने झाँसी में नानासाहब के परिवारी वर्ग के स्वागत–सत्कार्य के लिए पूरी व्यवस्था कर रखी है।

बाणपुर के राजा एवं नानासाहब दोनों ही लोग झाँसी को अपना अंतिम शरणस्थल मानते हैं।

बाणपुर के राजा के सेनापति लाला दुलकारा सागर में अपने को अकेला एवं निःसहाय समझ रहे हैं। इसी कारण बाणपुर के राजा ने कालपी से ग्वालियर कंटिजेंटी के एक भाग को लाकर वहाँ भेजने की व्यवस्था की है। सादत अली एवं मोहम्मद अली के नेतृत्व में कुछ सेना उन्होंने इसी बीच में सागर भेज दी है। बची हुई बाणपुर की फौज तीन हजार से चार हजार बंदूकधारी सेना एवं दो तोपें झाँसी में रखी गयी हैं। उनमें मात्र तेरह सौ सैनिक पूरी तरह से सशस्त्र है।

झाँसी की रानी बाणपुर के राजा को प्रति मास पाँच सौ रूपया दे रही है। वह स्वयं धनी महाजन और दुकानदारों को लूटकर अपना खजाना बढ़ा रहा है। ये सब दुकानदार रात–दिन ब्रिटिश फौज के आने की राह देख रहे हैं। ब्रिटिश सैनिकों के आगे बढ़ते आने की खबर पर रानी पूरी तरह से अविश्वास कर रही है। कानपुर में ब्रिटिश सैनिक विजयी हो चुके हैं, यह बात जिसने बतायी है रानी ने उसे दण्ड दिया है।

जेल दरोगा बख्शीश अली (1857 ई. के जून मास में झाँसी में ब्रिटिश हत्याकाण्ड का अन्यतम नायक) ने रानी को लिखकर बताया है कि वह दिल्ली के बादशाह के साले के साथ अलीगढ़ में था और इस समय वह एक विशाल सेना लेकर झाँसी की तरफ आ रहा है। बख्शीश अली ने रानी को पाँच हजार नजराना देने के लिए खबर दी है। रानी ने तीन हजार रूपया भेज दिया है।
झाँसी में रात–दिन युद्ध की तैयारी चल रही है।" [26]

इस पत्र से पता चल जाता है कि झाँसी की रानी के आदर्श ने आसपास के अन्य सामंत राजाओं को किस प्रकार जाग्रत कर दिया था। बाणपुर के

राजा के साथ रानी का सहयोग जीवन की अंतिम अवधि तक अविच्छिन्न बना रहा था।[27]

21 मार्च, 1858 की प्रातः ही ह्मूरोज झाँसी के बिल्कुल पास पहुँच गया था। उसने ऊँची पहाड़ी पर दूरबीन लगा दी और वहाँ के किले तथा पूरे शहर का निरीक्षण किया। जिन–जिन स्थानों से किले में सहायता पहुँच सकती थी, उनकी नाकेबन्दी कर दी गयी। सभी मुख्य स्थानों पर तोपें लगा दी गयी। इसी प्रकार चन्देरी से ब्रिगेडियर स्टुअर्ट भी सेना सहित वहाँ पहुँच गया। ह्मूरोज ने नगर में स्थान–स्थान पर तथा किले की चारदीवारी के चारों ओर सैनिकों के छिपने के लिए गड़ढे खुदवा दिये तथा सेना जहाँ–जहाँ भी थी वहाँ तार लगा दिये, जिससे युद्ध के समाचार एक से दूसरे स्थान तक शीघ्र पहुँच जाये। ह्मूरोज दूरबीन से बराबर किले की गतिविधियों का निरीक्षण कर रहा था। उसने लिखा है कि– ''किले के अन्दर पुरूषों के समान स्त्रियाँ भी कार्यरत थीं। किले में मोर्चा बाँधने तथा गोला–बारूद ढोने का कार्य स्त्रियाँ कर रही थीं।

उसकी सेना के साथ गये डॉ0 लो ने भी किले की गतिविधियों की प्रशंसा करते हुए लिखा है– ''हमने पहुँचने के बाद ही देखा कि वे लोग किले के दक्षिण द्वार से कुछ ही दूर पूर्व में दीवार पर तीन तोपों का मोर्चा बड़ी तत्परता से बाँध रहे हैं। वे मधुमक्खियों की तरह कार्य में डूबे हुए थे। इस तत्परता से काम करते हुए इससे पहले हमने भारतीयों को कभी नहीं देखा था। उन्होंने यह मोर्चा अतिशीघ्र बिलकुल इंजीनियरों के समान बाँध लिया।''[28]

कहने का आशय यही है कि दोनों पक्ष अपनी–अपनी स्थिति के अनुसार तैयारी में कोई न्यूनता नहीं रहने देना चाहते थे। बस युद्ध आरम्भ होने भर की देरी थी। झाँसी के समीप सभी मैदानी स्थानों तथा छोटी–छोटी पहाड़ियों पर

अंग्रेजी सेना ने मोर्चे संभाल लिये और किले के अन्दर झाँसी की रानी की पूरी सेना पूरी तरह प्रतिबद्ध थी। 23 मार्च, 1858 की प्रातः सूर्य निकलते ही अंग्रेजी सेना के बिगुल बज उठे। इस युद्ध के आरम्भ होने का वर्णन करते हुए श्री शान्तिनारायण ने अपनी पुस्तक 'महारानी झाँसी' में लिखा है– ''23 मार्च का सूर्योदय होते ही बिगुल के कर्कश स्वर चहुँ ओर वायुमण्डल में गूजने लगे और विजय के नशे में उन्मत ह्यूरोज की विकट तथा बहु–संख्यक सेना झाँसी दुर्ग की ईट–से–ईट बजाकर, उसमें दुर्गबन्द अल्पसंख्यक किन्तु वीर साहसी तथा देशभक्त सेना का अस्तित्व संसार से मिटा डालने के लिए रणभेरी के आवेश भरे स्वरों पर कदम उठाती रणक्षेत्र में चारों ओर से आगे बढ़ने लगी। दुर्ग के समीप पहुँचते ही यह प्रबल सेना चारों ओर से दुर्ग पर दनादन गोलें बरसाने लगी और इन तोपों के पीछे पैदल और सवार सैनिक भी नियतबद्ध पक्तियों में दसों दिशाओं से दुर्ग तथा नगर की ओर बढ़ने लगे।''

आदेश मिलते ही अंग्रेजी सेना ने किले पर आक्रमण कर दिया, किन्तु किले की तोपों के प्रहार से उनके छक्के छूट गये।

(3) युद्ध कला :

महारानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों के विरूद्ध एक सोची समझी चातुर्यपूर्ण नीति से अपने सैन्यबल को युद्ध व संग्राम में उतारा। उनकी संग्रामिकता, युद्ध कला अद्वितीय थी, उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप अंग्रेजों के विरूद्ध लड़ाईयाँ लड़ी जो कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। रानी ने सैन्य संचालन जिस चातुर्यपूर्ण ढंग से किया उसकी मिसाल देखते ही बनती है। रानी में सैन्य कला के साथ–साथ प्रशासनिक एवं सैनिक कमाण्डर के गुण विद्यमान थे। [29]

फिरंगियों की सेना अच्छी तरह प्रशिक्षित तथा उनके सेनापति युद्धों के विशारद थे। महारानी यद्वपि महान वीरांगना थी, किन्तु उनके सैनिक विशेष

प्रशिक्षित नहीं थे। इस विषय में श्री पारसनीस ने लिखा है–

''अंग्रेज सेना के सेनापति अपने कर्तव्य–पालन में खूब दक्ष थे और उनके सैनिक पाश्चात्य युद्धकला में प्रवीण तथा आज्ञाकारी थे। अंग्रेजी सेना में किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं थी। यद्वपि रानी स्वयं शूर और धीरोदार थीं, तथापि उनकी सेना का प्रबन्ध उतना अच्छा नहीं था। उनकी सेना में प्रायः अनाड़ी, युद्ध–विद्या से अपरिचित और केवल लूट की सम्पत्ति प्राप्त करने की आशा से लड़ाई में शामिल होने वाले ही अधिक थे। उनके बड़े–बड़े सरदार और अधिकारी लोग भी अंग्रेजों के विरूद्ध बलवा करने वालों में से ही थे। वे लोग नियमित रीति से कुछ काम करना न जानते थे। इसीलिए युद्ध के प्रबन्ध का सब भार अकेली लाक्ष्मीबाई के साहस और शूरता पर निर्भर था। [30] यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि झाँसी की सेना में नियममुक्त प्रबन्ध और कर्तव्य–दक्षता न होने से महारानी की सारी स्वभाविक शक्ति व्यर्थ ही चली गयी। तथापि उन्होंने अपने बाहुबल और बुद्धिबल से दस–ग्यारह दिनों तक प्रबल अंग्रेजी सेना का भयंकर सामना किया और अपनी अनुपम शूरता तथा अद्‌भुत पराक्रम की पाश्चात्य युद्धकला विशारदों से प्रशंसा करायी।'' महारानी के सैन्य–संचालन और साहस की प्रशंसा में 30–31 मार्च के युद्ध का वर्णन करते हुए उस समय फिरंगी सेना में विद्यमान डॉ0 लो ने भी लिखा है–

''30–31 मार्च को भी गोलों की वर्षा और किले की प्राचीर की तोड़–फोड़ लगातार जारी रही। शत्रु भी हम पर भयंकर अग्नि वर्षा करता रहा। यद्वपि हमने उसके किले और प्राचीर के सभी मोर्चो में भारी क्षति पहुँचायी फिर भी उनके द्वारा अपनी नित्य की देख–भाल तथा भीषण युद्ध जारी रखने के अटल निश्चय में कोई कमी नहीं आयी। वे सभी वैसे ही दृढ़ और अटल बने रहे, वरन् इसके प्रतिकूल ऐसा मालूम पड़ा कि हमारी ओर से दिखाया गया और डाला हुआ हर भय

और विपत्ति मानो उनके साहस और प्रयत्नों को और भी वृद्धिशील करने वाला सिद्ध हो रहा हो।'' 31

31 मार्च तक अंग्रेजों द्वारा हर संभव प्रयत्न किये जाने पर भी महारानी ने अपनी अद्‌भुत वीरता से अंग्रेजों की एक न चलने दी, उन्हें किले के पास भटकने भी नहीं दिया। 31 मार्च का संग्राम कदाचित सर्वाधिक भयंकर था। महारानी के ही एक सैनिक ने भी इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है–

''आठवें दिन का युद्ध अत्यन्त भयंकर था। दोनों ओर के वीर अत्यन्त सावधानी से युद्ध कर रहे थे। बन्दूक, कड़ाबीन तथा तोपों की आवाज से आकाश गुंजायमान हो रहा था। नगर में हजारों मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो रहे थे। कुछ प्राणरक्षा के लिए गुप्तस्थानों पर छिपने का प्रयत्न कर रहे थे। नगर की दीवार पर जो गोलंदाज और सैनिक नियुक्त थे, उनमें से अनेक सैनिक मारे गये। अनेक स्थानों पर नयें लोगों को नियुक्त किया गया। महारानी को इस युद्ध की व्यवस्था करने में भारी परिश्रम करना पड़ा। जहाँ किसी प्रकार की कमी या अव्यवस्था होती, वह स्वयं वहाँ पहुँच जाती तथा उसकी व्यवस्था करतीं। अतः उनकी सेना के लोग उत्साहित और रोमांचित होकर युद्ध कर रहे थे। भले ही अंग्रेजों ने बड़ी वीरता से युद्ध किया, फिर भी 31 तारीख तक वे किले में प्रवेश नहीं कर सके।'' 32

''ब्रिटिश इण्डिया'' में मार्टिन लिखता है–ले0 बाकर ने अपने रिसाले के साथ महारानी का पीछा किया और झाँसी से प्रायः 21 मील दूर उन्हें घेर लिया। उन्होंने दूर से एक तम्बू लगा देखा, किन्तु जब वे वहाँ पहुँचे, तो तम्बू खाली मिला। केवल नाश्ते का कुछ बचा हुआ अंश ही वहाँ पडा दिखाई दिया, जिससे यह मालूम होता था कि रानी जलपान करती–करती वहाँ से लोप हो गयी हैं। ले0 बाकर ने फिर उनका पीछा करना आरम्भ किया और कुछ दूर पर ही अपने चार साथियों सहित

रानी को घोड़ा दौड़ाते देखा, किन्तु इस भाग–दौड़ में वह स्वयं गम्भीर रूप से घायल हो गया, अतः विवश होकर पीछा करना छोड़ वापस लौट आया।

निश्चय ही महारानी का यह कार्य उनकी विलक्षण बुद्धि का परिचायक था। उनकी प्रशंसा में श्री पारसनीस ने लिखा है–

''वास्तव में यही समय महारानी के युद्ध कौशल की परीक्षा का था। एक ओर बाकर सरीखे अनुभवी अंग्रेज वीर अपने चुने हुए सवारों को साथ लेकर वायुवेग से दौड़ते चले आ रहे थे और दूसरी ओर उनका सामना करके वहाँ से सुरक्षित भाग जाने का यत्न एक अबला ब्राह्मण अबला कर रही थी। यह बड़ा ही आश्चर्यजनक दृश्य था। यद्वपि ऐसे समय में जयलाभ की आशा करना महारानी के लिए असम्भव प्रयत्न करना जैसा ही था, तथापि उन्होंने अपने अलौकिक साहस, दृढ़ निश्चय, अद्भुत शूरता और अद्वितीय रण–कौशल से एक रणशूर अंग्रेज योद्धा के दांत खट्टे कर दिये। ज्यों ही बॉकर साहब अपने घोड़े को दौड़ाते हुए लक्ष्मीबाई को बढ़ाते हुए आगे बढ़े, त्यों ही,'' [33]

मध्यभारत के अभ्युत्थान (जन–जागरण व क्रांति) के संबंध में केनिंग जितना भयभीत था, उतना लगता है उसे और किसी स्थान के संबंध में नहीं होना पड़ा है। मध्यभारत के एक छोटे–से मराठा राज्य में स्वाधीनता की पताका फहराने के साथ–ही–साथ बुंदेलखंड में खंड–खंड अंग्रेज विरोधी मनोभाव किस तरह से एक व्यापक और संगठित स्वातंत्र्य समर में परिणत होता जा रहा था, इसे महारानी लक्ष्मीबाई ने सिद्ध कर दिखाया। मध्यभारत के सैन्य जागरण को राइस होम्स आदि विशिष्ट अंग्रेज इतिहासकारों ने मराठा जागरण के रूप में अभिहित किया है। अथच, बुंदेलखंड में जो लोग झाँसी और अन्य स्थानों पर लड़े थे, वे लोग थे बुंदेला, राजपूत, बघेल, अफगान और पठान। उन लोगों के साथ समग्र बुंदेलखंड के कृषिजीवी

सामान्य मनुष्य और जो प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में नहीं उतरे, उन लोगों ने सहायता दी थी भारतीयों को आश्रय देकर, भोजन देकर एवं अपने प्राणों को संकट में डालकर भी सारी सूचनाएँ पहुँचाकर।

समग्र मध्यभारत में उन दिनों ब्रिटिश सैनिकों के लिए रसद मिलना दुरुह था। इसी कारण ह्यूरोज को मित्र राज्य भोपाल, ओरछा एवं बंबई, सागर आदि छावनियों को छोड़कर और किसी जगह से रसद इकट्ठी करने का भरोसा नहीं था। यह भी उल्लेखनीय है कि उनके एकान्त बंधु, मित्र, सखा सिंधिया के ग्वालियर में भी जनसाधारण असहयोगी एवं विरोधी भाव से युक्त था। इसका प्रमुख कारण था तत्कालीन समस्त मध्यभारत के सामान्यजनों में ब्रिटिश–विरोधी मनोभाव। और उसी मनोभाव की चरम सीमा में अभिव्यक्ति हुई थी झाँसी के क्रांति–संग्राम में।

झाँसी के विद्रोह की आंशिक सफलता एवं मध्यभारत में विद्रोह की विफलता के कारणों में एक योगसूत्र है। प्रथमतः 1857ई. के स्वाधीनता संग्राम का नेतावर्ग सामंतवादी था। उत्तर और मध्य भारतवर्ष में सर्वत्र खंड–खंड विद्रोह के माध्यम से भारतीय जनसामान्य के ब्रिटिश–विरोध का जो प्रकाश हुआ था, उसे भली प्रकार परिचालित करके एक विशाल ऐक्यबद्ध स्वाधीनता संग्राम में पर्णित करने की कोई योजना अथवा कार्यसूची इन सामंतवादी नेताओं की थी ही नहीं।

व्यक्तिगत रूप से तात्या टोपे एक असाधारण गोरिल्ला योद्धा था। अजीमुल्ला की भूमिका के संबंध में भी बार–बार अनेक बातें कही जाती हैं। किंतु उनके कार्यकलापों में विशेष रूप से किसी पारदर्शिता का परिचय नहीं मिलता है। नानासाहब, रावसाहब, तात्या टोपे, अजीमुल्ला, मौलवी इनमें से किसी में भी वह योग्यता नहीं थी, जिसके द्वारा वे उन लाख–लाख सिपाहियों, किसानों, जनसामान्य मनुष्यों को महान आदर्श से अनुप्रमाणित करके एक सुसंगठित स्वाधीनता संग्राम का

गठन कर पाते। नानासाहब और तात्या टोपे ने पेशवाशाही की पुर्नप्रतिष्ठा की आवाज लगाकर मध्यभारत की जनता से पीछे चलने का दावा किया था। यह दावा मूल रूप से ही गलत था। क्योंकि मध्यभारत में मराठों के अधिपत्य को वहाँ की जनता स्वीकृत नहीं कर पाई। जहाँ पे मराठों का अधिपत्य एकांत रूप से बाहर से आया हुआ है, वहाँ पर पेशवावाही की पुर्नप्रतिष्ठा की आवाज तो पूरी तरह कमजोर ही रहेगी। भूमिका में (तात्या टोपे के व्यक्तिगत रूप से यथेष्ठ वीरत्व दिखाने के बाद भी) जब युद्ध होता है, तभी वह विफल हो जाता है ; क्योंकि बाणपुर के राजा तथा अन्यान्य प्रमुख नेता वर्ग में पेशवाशाही की स्थापना में उनके लिए किसी निजी हित का कोई आकर्षण नहीं था। [34]

सामंती नेता लोग ही जहाँ विद्रोह के मूल कारण की उत्पत्ति एवं उसकी संभावित परिणति के संबंध में निजी स्वार्थ के कारण अंधे हो गये थे, वहाँ पर सिपाहियों और जनता की अवस्था तो और भी शोचनीय हो गयी। उनका ब्रिटिश–विरोधी जागरण जो विलास–व्यसन के कारण आदर्शभ्रष्ट, तहस–नहस पेशवाशाही की पुर्नस्थापना में ही सीमित होकर नहीं रह सकता एवं उनकी संघर्षशील चेतना सिर्फ इतने से ही संतुष्ट नहीं रह सकती, इस बात को अन्यान्य नेतागढ़ उस समय नहीं समझ पाये।

सिर्फ एक व्यक्ति में ही वे अपने मन की चरितार्थता देख पाये थे और वह थी झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई।

उनकी इसी उपलब्धि में ब्रिटिशों का भय निहित था। और उसी भय से ही कई लाख भारतीय मुद्रा खर्च करके मध्यभारत में उनका यह विशाल अभियान था। इसीलिए यह बात कहने में कोई भूल नहीं होगी कि 1857 ई. में जैसे ही झाँसी की रानी के आदर्श से अनुप्राणित मध्यभारत में एक विशाल ब्रिटिश–विरोधी आंदोलन

के गढ़ उठने की संभावना दिखायी दी वैसे ही अंग्रेजों ने उसकी जड़ पर कुठाराघात किया और इस काम में सहायक सिद्ध हुये ग्वालियर के सिंधिया, इन्दौर के होल्कर, बड़ौदा के गायकवाड़, नेपाल के जंगबहादुर, ओरछा की रानी, भोपाल की बेगम, पन्ना के राजा, हैदराबाद के निजाम आदि भारत में ब्रिटिश सिंहासन की बत्तीस कठपुतलियाँ मात्र।

रोटी और कमल की बात आज सर्वजनविदित है। विश्वास करने का कारण है, यही रोटी और कमल था फौजी दल का गुप्त संकेत ? गुप्त संदेश। किन्तु किसका था यह संदेश ? किन लोगों की योजना को कार्यान्वित करने का संकेत ? किसका संदेश किसके पास ले जाने का संदेश ? उस समय क्या आसन्न युद्ध की कोई कल्पना थी?

इस युद्ध के नेता के रूप में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, अयोध्या के पदच्युत नवाब वाजिद अली शाह के परामर्शदाता अहमद अल्लाह, नानासाहब, अजीमुल्ला, तात्या टोपे, कुँवर सिंह, फीरोजशाह इनके नाम उल्लेखनीय है।

एक लोकप्रिय धारणा है कि झाँसी की रानी, नानासाहब सबने मिलकर एक गुप्त योजना बनायी थी। विश्वस्त इतिहासकार मेलसन साहब ने एक ऐसी बातं भी कही है कि रोटी और कमल फूल को गुप्त संकेत बनाकर झाँसी की रानी ने उत्तर भारत में विद्रोह का प्रचार किया था। क्रांति की एक तारीख भी उन्होंने निश्चित की थी।

कालपी युद्ध के बाद ह्यूरोज ने जो सरकारी रिपोर्ट दी थी, उसमें लिखा था : "युद्ध के मैदान में पराजित होकर भारतीयों के भाग जाने पर एक मूल्यवान चमड़े के बक्से में रानी के व्यक्तिगत कागज–पत्र मिलते हैं। इन पत्रों से विद्रोह का षड्यंत्र करनेवालों के संबंध में बहुत कुछ जानकारी मिलती है।"

किन्तु इन चिट्ठयों के संबंध में इसके बाद और कोई चिन्ह नहीं

मिलता है। सरकारी दफ्तर से प्रकाशित युद्ध संबंधी पत्रों में भी उसका कोई चिन्ह नहीं है। इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में हो सकता है कहीं उसका कोई पता मिल सके। ये पत्र अगर मिल जाते तो 1857 ई. के सम्बन्ध में मूल्यवान सूचनाएँ मिलना असंभव न होता।[35]

हाँ, इसका अर्थ यह है कि विद्रोह का एक प्लान था। लगता है, सिपाहियों में योजना बनी थी। पहले उनकी कई क्रांतियाँ असफल हो चुकती हैं, इस बार सामान्य लोगों के साथ अपना भाग्य मिलाकर उन्होंने एक विराट विद्रोह की योजना बनायी थी रोटी और कमल उसी का चिन्ह है। हो सकता है अपने–अपने स्थानों पर नेताओं ने सिपाहियों का नेतृत्व किया हो, किन्तु वे सचमुच में कोई नेतृत्व प्रदान नहीं कर सके थे। युद्ध के समय देखने में आया है कि सिपाही लोग जहाँ–जहाँ असफल हुए है, वहाँ–वहाँ नेताओं में ही दुर्बलता थी। दुर्बल नेतृत्व और पारस्परिक सामंजस्य और समझदारी का अभाव ही विद्रोह की असफलता के लिए उत्तरदायी है। यहाँ पर नेतृत्व वर्ग कहने से रानी को नहीं समझाना चाहिये।[36]

अंग्रेज अधिकारी कितने उदासीन थे, इस संबंध में झाँसी के आसपास के स्थानों की उस समय की दशा के संबंध में जबलपुर के कमिश्नर मेजर एरस्काइन की एक रिपोर्ट का उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। उत्तर–पश्चिम प्रदेश के गवर्नर के सेक्रेटरी अर्नहिल को उसने 5–3–1857 को लिखा है–

1. 27 फरवरी की सिलसिलेवार रिपोर्टो को देखा। उत्तर–पश्चिम प्रदेश में किसी – किसी जिले में चौकीदारों के हाथों छोटी–छोटी चपातियाँ बाटी गयी हैं।

   मैं आपकों सूचना दे रहा हूँ, मेरे डिवीजन के सागर, दमोह, जबलपुर और नरसिंहपुर जिले में भी वही संकेत देखा गया है।

2. सबसे पहले मैने इस रोटी की बात नरसिंहपुर में सुनी। सरकारी खोजबीन से

पता चला कि अन्य जिलों में भी यह खबर फैल गयी है। बहुत छानबीन करने पर भी डिप्टी कमिश्नर सिर्फ इस रोटी के प्रचार की बात जान पाये हैं। जनसामान्य का विश्वास है कि इस प्रकार से रोटी का प्रचार करने पर ओलावृष्टि बंद हो जायेगी और गाँव में कोई रोग नहीं होगा।

3. मुझे और भी जानकारी मिली है कि रंगरेज अगर न रंगे तो उन पर ईश्वर प्रसन्न होगा। सभी कह रहे हैं सिंधिया और भोपाल राज्यों से यह खबर फैली है।
4. इस खबर को छिपाने की कहीं कोई चेष्टा नहीं की जा रही है। किलेदार और चौकीदार खुल्लमखुल्ला रोटियों को दे–ले रहे हैं।
5. इस समय भी जाँच जारी हैं। सूचना मिलते ही आपको भेजूँगा।
6. कोई मंशा खराब है ऐसा नहीं लगता है। एक रोटी भेजी है।

सबसे अन्त में आती है ऐनफील्ड प्रिचेट राइफल की बात। इस राइफल का टोटा एक इंच लम्बा और शुरू में उसके एक ओर चर्बी लगी रहती थी और दाँत से काटकर इस कारतूस को भरना पड़ता था।

1857 ई. में ही यह राइफल शुरू हुई थी। इसकी मार 900 गज थी। इस कारतूस के साथ–ही–साथ विरोध की लहर उठी। जनवरी 1857 ई. को दमदम के एक बैरक में एक ब्राह्मण सिपाही से अपने ही लोटे में पीने का पानी एक शूद्र ने चाहा। आश्चर्य से ब्राह्मण सिपाही ने बताया कि नीच जाति को अपने लोटे से पानी देने पर जाति कैसे रहेगी ? शूद्र ने बताया – बहुत जल्दी ही जिन (सिपाही) लोगों को सुअर और गाय की चर्बी से तैयार कारतूसों को दाँतों से काटना पड़ेगा उन लोगों को जातं जाने का अब क्या भय रहेगा ?

इस बातचीत से बैरक में जोरदार आलोचना शुरू हो गई जनरल हिअर्स को उन लोगों ने बताया कि इन कारतूसों का वे लोग प्रयोग न कर सकेंगे।

हिअर्स ने यह खबर गवर्नर जनरल को भेज दी।

केनिंग ने यह सूचना विलायत में ईस्ट इंडिया कंपनी के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स को भेज दी और उन्हें यह जानकारी दी कि सिपाहियों के मन में तीव्र अंसतोष है। कहा गया कि जरूरत समझने पर चर्बी के बदले अन्य किसी चिकने पदार्थ का वे लोग कारतूस में प्रयोग कर सकते हैं। उन्होंने अनुरोध किया कि इस तरह के कारतूस विलायत से और न आएँ। कंपनी ने केनिंग की बात मान ली।

किन्तु उस समय घटना चक्र दुर्वार गति से घटता जाता है। एक–एक घटना घटती जाती है और रचता जाता है इतिहास।

झाँसी से कालपी एक सौ दो मील का रास्ता है। भाँडेर छोड़कर रानी कालपी पहुँची रात को दो बजे। उस दिन पाँच अप्रैल थी। बेतवा के युद्ध में पराजित होकर तात्या टोपे चरखारी घूमकर शाम को ही कालपी आया था।

रावसाहब उत्तर भारत के बागी सैनिकों को लेकर कालपी में प्रतीक्षा कर रहे थे। रानी के आने का समाचार पाकर रावसाहब ने तुरंत उसके विश्राम और आराम करने की सुंदर व्यवस्था की। इस लम्बे रास्ते से चलकर आने के कारण सबसे पहले रानी ने अपने घोड़े के आराम और विश्राम की व्यवस्था की, मुंदर और काशी के साथ वह दामोदर राव को लेकर एक तंबू में रही। उसके बचे हुए अफगान सैनिकों को अलग से तंबू दे दिया गया और रघुनाथ सिंह, गुल मोहम्मद, रामचन्द्र राव देशमुख आदि सरदार साथियों की यथायोग्य व्यवस्था कर दी गई।[37]

झाँसी को निराश्रित कर अंग्रेजों को सौप आने से रानी के मन में बूँद भर भी शांति नहीं थी। मोरोपन्त, लालाभाऊ, जवाहर सिंह आदि के भाग्य में क्या घटा इसका भी पता नहीं चल सका। चिमाबाई कैसे आत्मरक्षा करती हुई निराप्रद आश्रय में जाएगी, इसे भी नहीं जाना जा सका। झाँसी के नर–नारियों, बालक–बालिकाओं

के भाग्य में क्या हुआ है यह भी उसके लिये अनजान है। इसी कारण से विश्राम और आहार उसे पूरी तरह से अरूचिकर लगने लगा। रात भर निद्राहीन आँखों से वह यह सोचती रही कि अब उसका क्या कर्त्तव्य हैं।

उसके पास सैन्यबल नहीं है, उसके पास अर्थबल नहीं । इसलिए रावसाहब और तात्या टोपे का आश्रित उसे होना ही होगा। स्वभावतः स्वाभिमानिनी रानी लक्ष्मीबाई के लिए वह प्रसंग एकांत रूप से अपमानजनक लगने लगा। विचार और कर्त्तव्य में अधिक अंतर रखना उसे सदा अप्रिय लगता रहा है। कर्त्तव्य प्रणाली के संबंध में स्पष्ट धारणा रखकर काम करने से सफलता नहीं मिलती है, इस पर उसे विश्वास नहीं था।[38] तात्या टोपे कितनी विशाल सेना और युद्ध–सामग्री अंग्रेजों के दे आए हैं, इस पर उसने जितनी बार भी विचार किया है, उतनी बार ही उसे तात्या टोपे पर क्रोध हुआ है। फिर भी यह व्यक्तिगत मान–अपमान का समय नहीं है। तब उसका एकमात्र कर्तव्य अंग्रेजों को पराजित करके झाँसी के हजारों वीर शहीदों की मृत्यु का ऋण चुकाना है। उस विशाल और महान दायित्व के सामने अत्यंत सहज रीति से उसने व्यक्तिगत अभिमान का विसर्जन कर दिया। सक्रिय संग्राम में विश्वास, रानी सिर्फ संग्राम की बात ही सोचने लगी।

थके हुए अनुचर वर्ग और पुत्र दामोदर के पूर्ण विश्राम कर लेने के बाद प्रभात में उसने स्नान किया। सबेरे ही इनकी जरूरत पड़ेगी, यह जानकर तात्या टोपे ने तड़के ही पर्याप्त मात्रा में वस्त्र और अन्य आवश्यक सामग्री, द्रव्य संभार, रसोइया, नौकर, दासी आदि सभी की व्यवस्था कर दी। स्नान के बाद रानी ने रावसाहब से भेंट की। कालपी में नानासाहब की जो सैन्य छावनी थी उसमें रावसाहब सिर्फ पेशवा के नाम से परिचित थे। रानी ने उनके सम्मुख अपनी पदमर्यादा के अनुसार गंभीरता और सम्मान के साथ माधव राव पेशवा के द्वारा रघुनाथ हरि

नेवलकर को दी गई रत्नजड़ित तलवार दोनों हाथों में लेकर धरती पर रख दी और विषाद–गम्भीर स्वर में कहने लगी –

तुमच्या पूर्वजांनी ही तरवार, आक्षास दिली आहे।

त्याँचा पुन्य प्रतापे करुन आज पर्यंत तिचा

आक्षी योग्य उपयोग केला । आताँ

तुमचें आक्षास साह्म राहिलें नाहीं,

झाकरिताँ ही आपन परत ध्यावी!

आपके पूर्व पुरुषों ने यह तलवार मेरे पूर्व पुरुषों को दी थी। उनके पुण्य प्रताप से आज तक मैंने उसके अनुरूप मर्यादा की रक्षा की है। अब मेरे द्वारा आपकी और कोई सहायता न हो सकेगी। इसलिए अब आप अपनी इस तलवार को वापस ले लीजिए।

रानी की बातें विशेष चातुर्यपूर्ण थीं। रावसाहब से सीधे–सीधे यह बात कहने का अंतर्निहित उद्देश्य विफल नहीं हुआ। रावसाहब गहरी लज्जा के साथ चुप हो गए। लज्जा के साथ ही साथ वे मन–ही–मन यह स्वीकार करने को बाध्य हुए कि इस तरुणी स्त्री ने अकेले ही अंग्रेजों के विरुद्ध जिस तरह से युद्ध किया है, वे अपनी विशाल सेना लेकर भी उसकी तुलना में कुछ भी नहीं कर पाए है। तात्या टोपे के बेतवा–युद्ध में पराजित होने की बात उन्हें पुनः स्मरण हो आई। बेतवा के युद्ध में अगर तात्या पराजित न होते तो रानी आज उनके सामने सहायता–प्रार्थी होकर न खड़ी होती। मध्यभारत में (संगठित होकर) एक साथ मिलकर मराठा और बुदेंलो की शक्ति अंग्रेजों के अधिकार को निःसंदेह विफल कर देती, यह बात बार–बार उनके मन पर आधात करने लगी। व्यक्तित्वहीन रावसाहब मर्माहत और अभिभूत हो गए। और उसके बाद ही पेशवा ने पद–मर्यादा के योग्य दाक्षिण्य दिखाते हुए कहाँ –

तुमने अपने पूर्व पुरूषो के सम्मान की रक्षा की है। अपने असाधारण युद्व–कौशल से अंग्रेजों को बहुत दिनों तक पराभूत किया है। अगर तुम मुझे सहयोग न दोगी तो मेरा उद्‌देश्य सफल न होगा। एक समय सिंधिया, गायकवाड़, होल्कर आदि की सारी शक्ति मेरे पूर्वजो के अधीन थी। तुम अपनी तलवार अपने पास रखो। मेरी सहायता करो। [39]

राव साहव के कहने पर महारानी ने तलवार पुनः उठा ली उसे म्यान में रख लिया। यद्वपि वे इस बात को भली–भाँति जानती थी कि रणशूर और प्रतापी अंग्रेजी सेना से युद्व करने का क्या परिणाम होगा, तथापि 'हतो वा प्राप्स्यते स्वर्ग जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम' की उक्ति का स्मरण कर महारानी लक्ष्मीबाई ने प्रकट रीति से समर करने का निश्चय किया।

महारानी लक्ष्मीबाई कालपी युद्व में रणचण्ड़ी रूप में सामने आयी। उनकी इस अप्रतिम वीरता का वर्णन करते हुए वीर विनायक दामोदर सावरकर ने '1857 ई. का स्वतन्त्रता युद्व' में लिखा है –

''हाथ में खड़ग ले बिजली के वेग से महारानी आगे घुस पड़ी और अपने रक्त वेशधारी घुड़दल सहित वह अंग्रेजो की दायीं बगल पर टूट पड़ी, अब तक विजय हुयी अंग्रेजों की दायीं बगल एकदम ठण्डी पड़ गयी। रानी का हमला इतना वेगवान था कि पीछे हटने के अतिरिक्त अंग्रेजों को अन्य मार्ग न रहा। इक्कीस वर्ष की शूर युवती का मारा हुआ धड़ल्ला, उसका प्रबल वेग से उड़ने वाला घोड़ा, दांये–बांये अंगों पर प्रहार करते हुए शत्रु को खटाखट काटने वाली उनकी तलवार, देखकर किसके शरीर में चेतन्य संचारित न होगा। अंग्रेजों के घूमते हुए तोपखाने के गोलन्दाज एक के पीछे एक मारे जाने लगे।'' [40]

ये कुछ ऐसे पहलू है जो वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई की श्रेष्ठ

युद्व–कला के प्रतीक है। जिसके सामने हर तरह से परिपूर्ण अंग्रेजों को अपनी पराजय निश्चित जान पढंती थी। एक अंग्रेज ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है–''यदि पेशवा के सैनिक थोड़ा और साहस रखते तथा वह महारानी को वापस लौटने के लिये विवश न करते तो यदि 15 मिनट और मिल जाते, तो रानी के श्रेष्ठ सैन्य–संचालन के द्वारा हम सब मारे जाते। उस दिन कालपी के युद्व में केवल स्वस्थ–दुरूस्त डेढ़ सौ ऊँटों ने अंग्रेजों को बचाया।

REFERENCES

1. ओमशंकर 'असर' : महारानी लक्ष्मीबाई और उनकी झाँसी (दैनिक जागरण झाँसी 4–सितम्बर 2000 को प्रकाशित एतिहासिक लेख)
2. बुन्देलखण्ड एजेन्सी रिकार्डस – फाइल (1) 1857
3. वही
4. ओमशंकर 'असर' : महारानी लक्ष्मीबाई और उनकी झाँसी (दैनिक जागरण झाँसी 4–सितम्बर 2000 को प्रकाशित एतिहासिक लेख)
5. For. Pal. Cons. 26 June, 1857, No. 103
6. ए. आर. नागर : आँखों देखा गदर, पृ. 79–80
7. डी. बी. पारसनीस : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ. 101–102
8. ओमशंकर 'असर' : महारानी लक्ष्मीबाई और उनकी झाँसी (दैनिक जागरण झाँसी 4–सितम्बर 2000 को प्रकाशित एतिहासिक लेख)
9. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ. 69
10. बी. डी. गुप्ता एवं सुधा गुप्ता विप्लव की अमर दीपशिखा रानी लक्ष्मीबाई एवं सम्बन्धित लेख, पृ. 12
11. Kaye, J.W. : A History of the Sepay war in India, Vol. III P. 369.
12. For Sec. Cons, 31 July 1857, No. 354 (D)
13. मोती लाल भार्गव : झाँसी की रानी, पृ0 77
14. वही, पृ0 151
15. डी0 बी0 पारसनीस : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 23
16. S. N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P. 137
17. वी0डी0 सावरकर : इण्डियन वार आफ इंडिपेन्डेन्ट्स, पृ0 52

18. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 106

19. वही पृ0 107

20 वही पृ0 109

21. बी0डी0 गुप्ता एवं सुधा गुप्ता : 1857 के विप्लव की अमरदीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई एवं सम्बन्धित लेख, पृ0 16

22. वही पृ0 14

23. वही पृ0 19

24. वही पृ0 20

25. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी पृ0 107

26. Thomas Lawe : Central India during the Rebellion of 1857-58, P. 232.

27. Kaye's & Malleson's History of the Indian Mutiny 1857-58 Vol., P. 110

28. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 35

29. वही पृ0 36

30. डीं0 बी0 पारसनीस : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 107

31. भगवानदास गुप्ता और सुधा गुप्ता : 1857 के विप्लव की अमरदीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई एवं सम्बन्धित लेख, पृ0 20

32. For. Pol. Cons. 30 December, 1857 (Supp.) No. 266;
Also in; S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand, P. 138

33. डी0 बी0 पारसनीस : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 103

34. बी0डी0 गुप्ता एवं सुधा गुप्ता : 1857 के विप्लव की अमरदीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई और सम्बन्धित लेख, पृ0 17

35. वही, पृ0 19

36. वही पृ0 21

37. डी0 बी0 पारसनीस : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 110–111

38. बी0 डी0 गुप्ता एवं सुधा गुप्ता : 1857 के विप्लव की अमरदीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई और सम्बन्धित लेख, पृ0 30–31

39. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 81

40. बुन्देलखण्ड एजेन्सी रिकार्डस–फाइल (2) 1857

आठवाँ अध्याय

रानी लक्ष्मीबाई के अंग्रेजों के विरुद्ध महत्वपूर्ण युद्ध

वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई ने युद्ध हेतु मोर्चाबन्दी की, अपने सम्भारण तंत्र को इतना मजबूत किया कि ह्यूरोज की सेना कई दिनों (ग्यारह दिन) तक झाँसी शहर में प्रवेश नहीं कर सकी। महारानी लक्ष्मीबाई ने झाँसी, कोंच, कालपी, ग्वालियर मुख्य मोर्चो पर अंग्रेजों के साथ युद्ध–कला का महत्वपूर्ण प्रदर्शन किया। इसके अतिरिक्त झाँसी से कालपी जाने के मार्ग में भाँडेर आदि स्थानों पर भी अंग्रेजों से उनका संघर्ष हुआ था। मैं इन युद्धों का यहाँ क्रमशः वर्णन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मंगलवार 23 मार्च, सन 1858 ई. को ह्यूरोज ने अपनी सेना को झाँसी पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। युद्व आरंभ हो गया। किले की तोपों के प्रहार से उनके छक्के छूट गए। 24 मार्च को फिरंगियों ने चार मोर्चे बाँधकर व्यूहरचना की। उनकी 24 एवं 18 पौण्डस की तोपों की मार से झाँसी के कई तोप गोलन्दाज मारे गये, अतः किले के अन्दर तोपें चलाने वालो की कमी पड़ गई थी। किले की प्राचीर को भी भारी क्षति पहुँची। फिर भी फिरंगी अपने लक्ष्य में सफल न हुए, किसी घर के भेदी ने किले पर विजय पाने का उपाय अंग्रेजों को बता दिया। अंग्रेजों ने उसके बताए अनुसार शहर के पश्चिम में मोर्चा बाँधा और वहाँ से शहर पर गोले बरसाने लगे। इससे शहर में हा–हाकार मच गया। यह समाचार महारानी को मालूम हुआ, तो उन्हें असीम दुःख हुआ। उन्होंने शहर के लोगों की रक्षा के लिए अपना सारा ध्यान उधर ही केन्द्रित कर दिया। वहाँ जाकर महारानी ने निराश्रित हुए लोगों के लिए सदावर्त खुलवाये तथा उनकी सुरक्षा के प्रबन्ध किए। 25 मार्च को ह्यूरोज ने अपनी पूरी शक्ति किले के दक्षिण की ओर लगा दी। चन्देरी युद्व की विजयी प्रथम ब्रिगेड भी वही नियुक्त की गई। पूरी शक्ति लगा देने पर भी फिरंगियों को कोई सफलता नहीं मिली। [1]

26 मार्च को ह्यूरोज ने वहाँ पर और सेना भेज दी। दोनों ओर से भयंकर गोलाबारी हुई। अंग्रेजों की तोप ने किले के दक्षिणी बुर्ज पर भीषण गोलाबारी कर दी, फलतः उस बुर्ज का तोपची परलोक सिधार गया और तोप बन्द हो गयी। इससे झाँसी के लोगों के समक्ष एक और समस्या खड़ी हो गई। अंग्रेजों की तोपें लगातार गोले बरसा रही थी। जो भी व्यक्ति दक्षिणी बुर्ज पर जाने का साहस करता, प्राणों से हाथ धो बैठता। लोग वहाँ पर जाने से भी डरने लगें। इस पर महारानी की आज्ञा से पश्चिमी बुर्ज की 'कड़क–बिजली' नामक तोप को वहाँ पर मगाया गया। गुलाम गौस खाँ ने उसे उचित स्थान पर लगाया और फिर दूरबीन से फिरंगियों के मोर्चे का निरीक्षण किया। और उन पर तोप से दनादन गोले बरसाये गये। इससे फिरंगियो का मोर्चा तितर–बितर हो गया। इस पर पहली तोप पर नियंत्रण हो गया।[2]

28 मार्च की रात्रि को भी इसी प्रकार के आक्रमण से कई बार किले की तोपों को काम रोक देना पड़ा। 29 मार्च के दिन दोपहर के बाद तक किले के अन्दर से गोली नहीं चलाई गयीं, किन्तु साढ़े तीन बजे से सायंकाल तक फिर जमकर गोलाबारी हुई। उसी रात्रि फिरंगियो ने किले पर डेढ–डेढ़ मन के गोले बरसायें, जिससे वहाँ पर भारी तबाही हुई। फिर भी महारानी लेशमात्र विचलित नहीं हुई। उनंके प्रायः सभी बड़े–बड़े योद्धा मारे गये। किन्तु वह बड़े ही साहस के साथ सैनिकों का उत्साह बढ़ाती रही। 31 मार्च तक लगातार युद्ध होता रहा। दोनों ओर की सेनायें बड़ी वीरता से लड़ती रही।

31 मार्च का दिन किले के लिये बड़ा ही अशुभ रहा, किले के सरोवर से कहार पानी भर रहे थे। ह्यूरोज ने दूरबीन की सहायता से उन्हें देखा, तो उन्हीं पर तोपों की सहायता से गोले बरसा दिये। इससे कई कहार मारे गये अथवा घायल हो गये। यह देख रानी क्रोधित हो उठी, उन्होंने पश्चिमी बुर्ज पर रक्खी सभी तोपों

से अंग्रेजों पर गोले बरसाने का आदेश दे दिया। इससे कुछ देर के लिये अंग्रेजों की ओर से गोले बरसने बन्द हो गये। किले में पानी की व्यवस्था कर ली गई। फिर अंग्रेज संभल गयें। उन्होंने भी भारी गोलाबारी कर दी। दुर्भाग्य से एक गोला महारानी के शस्त्रों के भण्डार के समीप जा फटा, जिससे गोला–बारूद में आग लग गयी। इससे महाविनाश–लीला पैदा हो गयी, किन्तु महारानी फिर भी विचलित नहीं हुई।

वीर तात्या टोपे बीस हजार सेना लेकर महारानी लक्ष्मीबाई की सहायता के लिये कालपी से चल पड़े और झाँसी के पास पहुँच गये। ह्यूरोज को यह सूचना मिल गयी। उसकी सेना इस समय किले की घेराबन्दी में व्यस्त थी। वह युद्धों का संचालन करने में बड़ा ही कुशल था। अतः 31 मार्च के रात्रि में पहली ब्रिगेड के कुछ सैनिकों चुपचाप तात्या टोपे के मार्ग पर भेज दिये तथा ओरक्षा के मार्ग की ओर 24 पौण्डस की दो तोपें लगा दी। यह कार्य इतने गुप्त रूप और सावधानी के साथ किया गया कि किले के अन्दर इसकी भनक भी न लगी। इस तरह ह्यूरोज बड़ी ही युक्ति के साथ कार्य कर रहा था। उसे तात्या टोपे की वीरता के विषय में अच्छी तरह ज्ञात था। तात्या टोपे के कुशल नेतृत्व से 1857 के विद्रोह में विद्रोहियों को भारी सफलता मिली थी। [3]

कहने का अर्थ यही है कि तात्या टोपे जैसी विपत्ति का सामना करना ह्यूरोज सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य समझता था।

1 अप्रैल 1857 को तात्या टोपे की सेना का एक भाग पूरे वेग से झाँसी की ओर बढ़ चला। इधर फिरंगी सेना पूरी तरह सावधानी से तैयार थी। ज्यों ही तात्या टोपे की सेना उनके गोलों की सीमा में आई, उस पर दाहिनी ओर से कप्तान लाइटफूट की तथा कप्तान प्रेटीजान की सेना ने और बाई ओर से ह्यूरोज की तोपों ने एक साथ आक्रमण कर दिया। इस सहसा हुए दोतरफा भीषण आक्रमण से

तात्या टोपे की सेना घबड़ा गयी और इधर–उधर भागने लगी। अंग्रेजों ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए गोलाबारी जारी रक्खी। तात्या टोपे की सेना को संभलने का भी अवसर न मिला, अतः भाग खड़ी हुई।

इस प्रकार ह्यूरोज को अभी तक झाँसी के किले पर तो विजय नहीं मिली किन्तु वीर तात्या टोपे को पराजित कर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई।[4]

तात्या टोपे को पराजित करने के बाद ह्यूरोज ने पुनः अपना ध्यान झाँसी के किले पर केन्द्रित किया। 23 मार्च से 3 अप्रैल तक एड़ी–चोटी का जोर लगाने पर भी फिरंगी किले को नहीं जीत सके थे। अतः उसने किले पर तितरफा आक्रमण की योजना बनाई पश्चिमी दिशा से आक्रमण का नेतृत्व मेजर गॉल को, दक्षिण की ओर का लेफ्टिनेंट कर्नल लिडेल, ब्रिगेडियर स्टुअर्ड और कप्तान राबिन्सन को तथा बायीं ओर का नेतृत्व लेफ्टिनेंट कर्नल लोथ मेजर स्टुअर्ड को सौपा। पूरी तैयारी के साथ सभी अपनी–अपनी सेनायें लेकर अपने निर्धारित स्थानों पर जा पहुँचे। 3 अप्रैल को दोपहर बाद लगभग 3 बजे तीनों ओर से किले पर एक साथ आक्रमण कर दिया गया। इनमें से पहली सेना किसी प्रकार किले के पास पहुँच गयी। और उसने प्राचीर पर चढ़ने के लिये सीढ़िया लगा दी तथा उस पर चढ़ने का प्रयास करने लगी। दूसरी तथा तीसरी सेना बन्दूकें और तलवारें लेकर युद्ध करती हुई शहरं में जाने का प्रयास करने लगी।

किले की प्राचीर पर पहरा देने वाले झाँसी के वीरो ने जब देखा कि शत्रु सीढ़िया लगाकर ऊपर चढ़ने का उपक्रम कर रहे है, तो उन्होंने खतरे का बिगुल बजा दिया।

इससे किले के अन्दर की सेना सावधान हो गयी। इस समय किले की दशा वास्तव में गम्भीर हो गयी थी। ग्यारह दिन तक लगातार गोले बरसने से

जन–धन की अपार हानि हुई थी। किले की प्राचीर भी कई स्थानों से क्षतिग्रस्त हो गयी थी, वीर तात्या की पराजय के समाचार से वहाँ पर भी निराशा जैसी फैल गयी थी। इसका उन पर एक मनौविज्ञानिक प्रभाव भी पड़ा क्योंकि तात्या जैसे वीर को कोई सामान्य सेना नहीं हरा सकती थी, अतः वह अपनी पराजय अवश्यंभावी समझने लगे थे। महारानी लक्ष्मीबाई अपने सैनिको की इस मनोदशा से अनभिज्ञ नहीं थी। फिर भी उन्होंने साहस नहीं खोया था। खतरे का बिगुल बजते ही किले में सभी एकत्रित हो गये। सभी के चेहरों पर भय एवं निराशा का भाव स्पष्ट दिखाई दे रहा था। [5] महारानी ने एक वीरांगना के धर्म का निर्वाह करते हुए उनसे कहा –

"वीर योद्धाओं ! इस बात से आप अच्छी तरह परिचित है कि हमने यह युद्ध पेशवा अथवा किसी अन्य के सहारे प्रारम्भ नहीं किया, न ही आपने आज तक जिन युद्धो में विजयश्री प्राप्त की, वह पेशवा की सहायता से मिली। आप अपने बल और पराक्रम से विजयी हुए। हम अपने धर्म के पालन के लिए, स्वाधीनता तथा आत्म सम्मान की रक्षा के लिए इस युद्ध की अग्नि में कूदे है। जिस प्रकार आप लोगों ने अब तक धैर्य और वीरता के साथ नाम ऊँचा किया है, उसी प्रकार अब भी साहस के साथ युद्ध करे। झाँसी की रक्षा का भार आपके ऊपर है। अब समय आ गया है कि हमें अपने अन्तिम बलिदान के लिये तत्पर हो जाना चाहिए।

इसके बाद महारानी ने अपने मुख्य–मुख्य सेनापतियों को वस्त्र–आभूषण आदि पुरस्कार में दिये। महारानी के इन शब्दो से उनके सैनिकों में साहस का नया संचार हुआ। महारानी ने अपनी सेना को तीन भागों में विभक्त किया। सभी अपने–अपने स्थानों पर जाकर शत्रुओं से लोहा लेने लगे। गुलाम गौस खाँ अंग्रेजों पर तोप से गोले बरसाने लगा। [6] महारानी अपनी अंगरक्षक सेना के साथ किले के प्रत्येक मोर्चे पर जाकर युद्ध का निरीक्षण करने लगी और आवश्यक युद्ध–सामग्री

पहुँचाने लगी। शत्रु सेना किले के एक भाग पर लगातार गोले बरसा रही थी। महारानी ने तोपचियों को उधर ही गोले बरसाने का संकेत किया। शत्रु की तोपों के प्रहार से किले के प्राचीर में कई छेद हो गये थे। दोनों ओर से एक दूसरे पर भयंकर गोलाबारी शुरू हो गयी। उस समय कोई नहीं कह सकता था कि विजयश्री किसका वरण करेगी।

नगर में भी फिरंगियों ने भारी गोले बरसायें। वहाँ 'आरसी महल' नामक एक प्राचीन गणेश मन्दिर था, जिसमें भाद्रपद के महीने में गणेश चतुर्थी का मेला लगता था। इस मेले में स्त्री–पुरूष प्रत्येक जाति के लोग बिना किसी प्रकार की ऊँच–नीच की भावना के साथ भाग लेते थे। तोपों की मार से वह मन्दिर धराशायी हो गया। वहाँ चार व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी। इससे नगर में हा–हाकार मच गया। इसका समाचार पाकर महारानी क्रोधित हो उठी। उन्होंने अपने सैनिकों को आदेश दे दिया – "घनगर्जन, कड़क बिजली, महाकाली, भवानीशंकर आदि सभी तोपों को नगर के प्रमुख द्वार की ओर केन्द्रित कर शत्रु सेना को भून डालो।" [7]

आदेश का पालन होते ही सभी तोपें एक साथ गरज उठी, फलतः शत्रु को पीछे हटने के लिए बाध्य होना पड़ा। फिर अंग्रेजों ने नगर के मुख्य द्वार पर भारी धावा बोल दिया। दीवार के साथ ही वह किले के बुर्ज पर भी गोले बरसाते जा रहे थे। लेफ्टीनेंट बाक्स तथा लेफ्टीनेंट बेनस ने सचमुच भारी वीरता का परिचय दिया। भारी गोली वर्षा में भी वे प्राणों को हथेली में रखकर शहर की दीवार में सीढ़ी लगाकर चढ़ने का प्रयास करने का प्रयास करने लगे। झाँसी के वीरों के गोलों ने उनका काम तमाम कर दिया। इसके बाद लेफ्टीनेंट डिक तथा लेफ्टीनेंट मिक जी जौन अपूर्व साहस का परिचय देते हुए दीवार पर चढ़ गये तथा अपनी सेना को बुलाने लगे। झाँसी की सेना ने उनका काम भी काम तमाम कर दिया। इसके बाद

लेफ्टीनेंट बोनस तथा फॉक्स ने भी साहस किया, तो वे भी मारे गये।

उधर किले के दक्षिण ओर लेफ्टीनेंट डिक को मुँह की खानी पड़ी, वहाँ का नेतृत्व ब्राकमन ने सम्भाल लिया। ब्रिगडियर स्टुअर्ड तथा कर्नल लोथ 25वीं और 26वीं पैदल सेना से नगर के ओरछा द्वार पर अधिकार करने में सफल हो गये थे। यह देखकर नगर में बची हुई झाँसी की सेना ने अपने प्राणों का मोह त्याग दिया और शत्रु सेना को गाजर–मूली की तरह काटने लगीं, किन्तु मुट्ठी भर झाँसी के वीर अपार शत्रु सेना का कहाँ तक सामना करते। अन्ततः वहाँ पर शत्रुओं का अधिकार हो गया। इसके बाद शत्रु आगे बढ़कर राजमहल पर अधिकार करने का विचार करने लगे। इस विजय में दूल्हाजी बुन्देले ने झाँसी के साथ विश्वाघात कर अंग्रेजों की सहायता की थी। उसके इस कार्य के लिए बाद में अंग्रेजी सरकार की ओर से उसे दो गाँव की जागीर दी गई।

इस प्रकार बारहवें दिन शत्रुओं की सेना झाँसी शहर में प्रवेश करने में सफल हो गई। यह महारानी के लिए एक बहुत बड़ा आघात था। शहर में प्रवेश करने पर अंग्रजों को आधी विजय तो मिल ही गई। अब वे किले पर अधिकार करने की योजना बनाने लगे।[8] इस समय किले में अवरुद्ध रानी पराजय निश्चित है यह जानकर भी हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठी रही। संध्या के समय झाँसी नगरी के घरों को भस्म करती हुई जिव्हा लपलपाती अग्नि की लपटें ऊपर उठ रही हैं। उसे देखकर दुख, क्षोभ, मर्मान्तिक वेदना से वह एक बार ही टूट गई। उसके बाद ही सहसा उसे लगा, अंग्रेजों के हाथों पकड़े जाने पर तो उसके भाग्य में विशेष लांछन, असह्य अपमान बदा है। बालक दामोदर को वह पुराने नाम आन्नद से ही पुकारती थी। आनन्द की सुरक्षा की बात ही सबसे पहले उसे महत्वपूर्ण लगी। एक बार सोचा, किले से अंग्रेजों के साथ लड़ते–लड़ते ही प्राण दे दूँ। उसके बाद विचार करने लगी,

इतनी सहजता से हार नहीं मानूँगी। किला छोड़कर भाग जाऊँगी। कालपी में सहयोग दूँगी रावसाहब और तात्या टोपे के साथ। उसके पश्चात अंग्रेजों के साथ अंतिम युद्ध करूँगी।

अधिक अस्त्र–शस्त्र ले चलना संभव नहीं है, इसलिए बचे हुए गोला–बारूद में रानी ने आग दी। अंग्रेज छावनी में खबर फैल गई कि रानी ने आग लगाकर आत्म–हत्या कर ली है। किले में उस समय अवशिष्ट थे बारह सौ अफगानी और मकरानी मुसलमान घुड़सवार। उनके जात–भाइयों ने रानी के लिए लड़ते–लड़ते झाँसी में प्राण दे दिए हैं। वे लोग भी इसीलिए अंतिम समय तक रानी के साथ ही रहेगे रानी ने अपने सैनिकों को तीन भागों में विभाजित कर दिया। अपने अधीन चार सौ सिपाही रखे और पिता मोरोपन्त के अधीन रखे चार सौ सिपाही। और उसके खुद के पास रहे दामोदर राव, रामचन्द्र राव, देशमुख, जवाहर सिंह, रघुनाथ सिंह, गुलमोहम्मद, काशी और मुंदर। योजना यह बनी कि 4 अप्रैल की मध्यरात्रि चाँद निकलने के पहले ही वे लोग भाँडेर के रास्ते पर कालपी जाने के लिए निकल पड़ेगे।[9]

झाँसी से पलायन के बाद महारानी लक्ष्मीबाई 5 अप्रैल, 1858 की प्रातः 'भाण्डेर' नाम के गाँव जा पहुँची। वहाँ स्नान आदि करने के बाद उन्होंने नन्हें दामोदर.राव को कुछ खिलाया–पिलाया। वह कालपी जाने की तैयारी कर रही थीं। इस समय उनके पास न तो कोई अस्त्र–शस्त्र थे सिवाय एक तलवार के अतिरिक्त। तभी उन्हें सूचना मिली कि उनका पीछा करता हुआ लेफ्टीनेंट बाकर भाण्डेर के बिल्कुल पास ही पहुँच गया है। अतः महारानी ने दामोदर राव को पुनः पीठ पर बाँध लिया और चल पड़ने को उधत हुई। इधर शत्रु वीरता के साथ उनका पीछा करने लगे, किन्तु महारानी ने ऐसी स्थिति में वहाँ अधिक रुकना आत्मघाती समझा और शीघ्रता से चल पड़ी। इस प्रकार संघर्ष से जूझती हुई महारानी नदी–नालों, वनों–बीहड़ों, सुगम–दुर्गम

मार्गों को पार करती हुई लगातार 24 घंटो तक घोड़ा दौड़ाती हुई रात्रि को कालपी पहुँची। इन चौबीस घण्टों में उन्होंने लगभग पौने दो सौ किलोमीटर की यात्रा तय की थी।

महारानी लक्ष्मीबाई के कालपी पहुँचने पर पेशवा रावसाहब ने उनका उचित सम्मान किया। फिर उन्होंने और भी जानकारी दी कि बाँदा के नवाब, बाणपुर के राजा, शाहगढ़ के राजा ने यथासाध्य सेना इकट्ठी कर ली है। रानी स्वयं आ गई है यह खबर पाते ही वे शीघ्र आकर कालपी में सहयोग करेंगे। कालपी में रावसाहब ने रानी को ही सेनापति चुना। तात्या टोपे को रानी की अधीनता में युद्ध करना होगा यह बात भी बता दी। योग्यतम नेता होने पर भी आखिर वह रमणी ही है। [10] उनके कर्तव्य को सभी लोग द्विधाहीन चित्त से मानेंगे कि नहीं, इस तरह का संशय रानी के मन में आने पर भी उन्होंने उसको अधिक महत्व नहीं दिया। रानी के नेतृत्व में ग्वालियर की कंटिंजेंटी, अन्य बागी सैनिक, रिसालदार, घुड़सवार, गोलंदाज सभी नवीन उंत्साह के साथ युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गए।

इधर रानी कालपी रवाना हो गई, यह जानकर भी ह्यूरोज 25 अप्रैल से पहले झाँसी नहीं छोड़ सका। कोटा और बुंदेलखंड के अन्यान्य भारतीय सैनिक झाँसी पर पुनः आक्रमण कर सकते हैं इस आशंका से झाँसी को निरापद रखने के लिए एच. एम. की 86वीं रेजीमेंट के लेफ्टीनेंट कर्नल लोथ को झाँसी–गुना रोड पर उपर्युक्त रेजीमेंट के एक दस्ते के साथ लगा दिया गया। ब्रिगेडियर स्मिथ के राजपूताना थलसेना की एक ब्रिगेड के साथ गुना पहुँच जाने पर ह्यूरोज झाँसी की सुरक्षा के संबंध में निश्चिंत हो गया। ले0 कर्नल लोथ के नेतृत्व में 71वीं रेजीमेंट और तीसरी बंबई हलकी घुड़सवार सेना झाँसी में बाट जोह रहे ब्रिगेडियर स्टुअर्ट के अधीन दूसरी ब्रिग्रेड के बचे हुए सैनिकों के साथ कोंच आकर सहयोग करेगी,

यह निर्देश देकर ह्यूरोज 25 अप्रैल को कालपी के रास्ते पर 'पूँछ' पहुँच गया।

मेजर गॉल और रोबर्ट हेमिल्टन को अप्रैल के तीसरे सप्ताह में झाँसी–कालपी रोड पर नजर रखने के लिए भेज दिया गया था। ह्यूरोज के पूँछ पहुँच जाने पर उन लोगों ने खबर दी कि झाँसी की रानी और तात्या टोपे के नेतृत्व में पाँच सौ बलूची, अफगान और कोटा की अश्वारोही सेना, तोपें और बंदूकधारी पदातिक सेना कोंच में राह देख रही है। ह्यूरोज को कालपी की तरफ आगे नहीं बढ़ने देंगे यही रानी का उद्देश्य है। इसी बीच रानी के व्यक्तिगत नेतृत्व में पाँच सौ बलूची और गुलमोहम्मद के नेतृत्व में एक हजार से अधिक पैदल सैनिकों ने कोंच के पश्चिम में खेतों में ब्रिगेडियर स्टुअर्ट के दूसरी तरफ से आकर उन पर घेरा डालने का उपक्रम करने पर रानी प्रशंसनीय कौशल के साथ अपनी सारी सेना को बचाकर ले जाती हुई निकल गई। [11]

इसी बीच तात्या टोपे कोंच शहर से निकल कर किसी को भी यहाँ कि रानी को भी बिना बताए चरखारी के रास्ते चला गया। उसके इस रहस्यमय आचरण के फलस्वरूप सहसा उसके अधीन सैनिकों में भगदड़ मच गई। रानी की त्वरित बुद्धि और अपूर्व रण–कौशल के कारण कोंच में बचे हुए भारतीय सैनिक और भी तितर–बितर होने से बच गए विश्रृंखल होकर भारतीय सैनिकों को कोंच से निकलकर तितर–बितर होकर खेतों पर से भागते देखकर उसने (रानी ने) जानना चाहा कि तात्याँ कहाँ हैं और कोंच नगर में जो नौ तोपें और प्रचुर मात्रा में गोला–बारूद थी उसकी क्या हालत हुई है ! पता चला कि तात्या टोपे इस चरम क्षण (नाजुक वक्त) में चरखारी चले गयें हैं । नौ में से सभी तोपें अंग्रेजों के हाथ लगी हैं। साथ ही साथ यह पता चला कि कैप्टन मेक मोहन, मेजर ओर, ब्रिगेडियर स्टुअर्ट, कैप्टन फील्ड, कैप्टन ब्लिद के नेतृत्व में चार हजार पैदल और घुड़सवार गोलंदाज

चार तोपें लिए उसका पीछा करते हुए आ रहे हैं। ऐसी दशा में अधिक सोच–विचार का अवसर अथवा समय नहीं है। इसी क्षण निर्णय लेना होगा। गुलमुहम्मद और रघुनाथ सिंह के साथ उसने स्वयं जाकर नेतृत्व विहीन अस्त–व्यस्त तात्या के सैनिकों को यथासंभव एक सूत्र में संगठित कर अपने सैनिकों के साथ एक लंबी कतार में पीछे हटने वाली एक सेना के रूप में गठित कर उरई के रास्ते से होकर कालपी के लिये चल पड़ी। क्षणभर में भारतीय सेना को इतना व्यवस्थित देखकर अंग्रेज सेनापति भी विस्मित हो गये और भी विस्मित होकर उन्होंने देखा कि उनका पीछा करने के बाद जरा भी विभ्रांत न होकर अत्यंत सुश्रृंखलित, अत्यंत कौशल से सारी सेना कालपी के रास्ते पर चली जा रही थी। अंग्रेजों ने जब आक्रमण किया तब देखा कि रानी की लंबी सेना के पीछे के पैदल और घुड़सवार सैनिक दृढ़ता के साथ लड़ रहे हैं और इसी अवसर का लाभ उठाकर शेष सेना अपनी सुरक्षा के लिये पीछे हटती जा रही है। [12]

कैप्टन मैकमोहन ने रानी का पीछा किया किन्तु घायल होकर लौट आया। ब्रिटिशों की विशाल सेना पीछा करते–करते अत्यधिक गर्मी के कारण अंत में थककर लौट आती है। उस दिन की लड़ाई में मारी गयी थी रानी की पार्श्व योद्धा गंगा। रानी की रिट्रीट लाइन की पीछे की तरफ थी वह। कैप्टन मैकमोहन से संघर्ष करते हुए वह मारी गई। मृत्यु से भी उसके शरीर का तेज मलिन नहीं हुआ था। उसे देखकर अंग्रेजों ने हुज्जत की थी कि क्या यही वह झाँसी की रानी है ?

तात्या के व्यवहार एवं उसे इस तरह से विपत्ति के मुख में फेक आने से रानी के मर्म को बहुत आघात लगा था। कालपी पहुँच कर भारतीय सेना के सभी सिपाही तात्या टोपे को दोष देने लगे। तात्या टोपे के अव्यवस्थित–चित्त को देखकर रानी अत्यधिक ममहित हो गई। इसीलिये वह बार–बार राव साहब को सामरिक

व्यूह–रचना और सुनियोजित सैन्य व्यवस्था की आवश्यकता समझाने लगी। कोंच की पराजय से उस समय वे पूरी तरह परेशान थे।

रानी समझती थी, जहाँ पर बहुत से लोगों को लेकर चलने में काम होता है, वहां सब का विश्वास–अर्जन करने के बाद उनके साथ सफलता और विफलता दोनों को समान रूप से बांटकर चलना पड़ता है। युद्ध सिर्फ तलवार के साथ तलवार का ही नहीं, आदर्श के साथ आदर्श का भी होता है।

कालपी में 7 मई से लेकर 20 मई तक रानी ने अक्लांत भाव से परिश्रम करते हुये सैनिकों को परेड कराई। अंग्रेजी युद्ध शास्त्र में पारंगत सिपाही, सूबेदार और जमादारों पर सैनिकों को ड्रिल और परेड कराने का भार दिया। यथास्थान तोपों को तैनात किया।[13]

कालपी में युद्ध की व्यवस्था पूरी हो जाने के बाद रावसाहब ने अपना विचार पुनः बदल डाला। उन्होंने जानकारी दी कि पूर्व व्यवस्था के अनुसार अब रानी को सेनापति बनाए रखने की कोई जरूरत नहीं है। वे स्वयं ही सारी सेना के अध्यक्ष रहेंगे। बाँदा के नवाब अपने दो हजार घुड़सवार लेकर दक्षिणी दिशा में लगाए गए अयोघ्या और रुहेलखंड के बागी सिपाही और 50वीं और 52वीं बंगाल देशी पदाति सेना के बागी सिपाहियों को शहर और किले की सुरक्षा के लिए लगाया गया। बाणपुर के राजा ठाकुर मर्दनसिंह और शाहगढ़ के राजा बखतबली अपनी सेना के बचे हुए बुंदेला और ठाकुरों की फौज के साथ पश्चिमी दिशा में लगाए गए। रानी को सिर्फ पाँचवीं अस्थायी घुड़सवार सेना के लाल कुर्ता धारी अढ़ाई सौ घुड़सवार देकर कालपी के उत्तरी दिशा के अंचल की रक्षा करने का दायित्व दिया। रावसाहब ने अपने अधीन रखी ग्वालियर कंटिंजेंट की पूरी फौज।

इस घटना से भली–भाँति समझा जा सकता है कि भारतीय नेताओं

में मतभिन्नता ही संपूर्ण स्वाधीनता संग्राम की विफलता का कारण हैं । नेताओं के परस्पर मनमुटाव को देखकर सैनिकों ने भी उन पर विश्वास खो दिया था।

कालपी युद्ध के प्रथम चरण में ही कालपी को अपार जन–हानि हुई। सेना के अग्रभाग की इस पराजय का समाचार शेष सेना ने सुना, तो उसका साहस जाता रहा। यहाँ तक कि पेशवा राव साहब और बाँदा के नबाव भी युद्ध–भूमि से भागने लगे। महारानी लक्ष्मीबाई को अपने इतने बड़े सहयोगियों से इस व्यवहार की आशा नहीं थी। उन्हें यह देखकर भारी दुःख हुआ। फिर भी उन्होंने विवेकपूर्वक उन लोगों को उनका कर्तव्यबोध कराया और उनका साहस बढ़ाया, अतः उनमें साहस का संचार हुआ और उनके रणभूमि छोड़ने को उधत पग रुक गये। उन सबका साहस–वर्धन कर वह स्वयं घोड़े पर बैठकर रणचण्डी के समान अपने अश्वारोही सैनिक–गणों को साथ लेकर रण भूमि में आगे बढ़ गयीं। अंग्रेज सेना के दाहिनी ओर जाकर उन्होंने अत्यन्त तीव्रता से उस पर धावा बोल दिया। उनका यह धावा इतनी तीव्रता और साहस से हुआ कि अंग्रेजों को संभलने का भी अवसर न मिला। अतः उसे पीछे हटना पड़ा महारानी ने यह आक्रमण तीव्रता के साथ ही अत्यन्त व्यवस्थित शैली से भी किया था। उनके इस युद्ध–कौशल से अंग्रेजों की तोपें कुण्ठित हो गयीं। [14]

महारानी साहस की मूर्ति सिद्ध हो रही थीं। वह आगे ही आगे बढ़ती चली गयीं। एक बार तो वह तोपों से केवल 20 फीट की दूरी पर पहुँच गयीं। उनका यह रूप देखकर कालपी के सैनिकों की मानो तन्द्रा भंग हुई। उन्हें स्वयं पर लज्जा होने लगी। महारानी के इस वीरांगना रूप को देखकर उनका पौरुष जाग पड़ा। अतः वे भी शत्रु सेना पर टूट पड़े। दोनो ओर से भीषण समर छिड़ गया। महारानी विद्युत वेग के समान शत्रु दल का संहार कर रही थी। उन्होंने अपने घोड़े की लगाम दाँतों में दबा ली थीं और दोनों हाथों में शत्रु शोणित प्यासी तलवारें चमक रहीं थीं। जिनसे

फिरंगियों का सर्वनाश हो रहा था। उनके इस रूप में अंग्रेजों को अपने काल के दर्शन होने लगे। उनके तोपची रण भूमि छोड़कर पलायन करने लगे। घोड़ों की पीठों पर रखा हुआ तोपखाना पृथ्वी में जा गिरा। [15]

अपने तोपचियों को भागते देख ब्रिगडियर स्टुअंट तोपखाने के पास गया। उसने उन्हें अनेक प्रकार से उत्साहित किया। तब तोपची पुनः कार्य करने लगे। इस युद्ध से ऐसा लगने लगा था कि अंग्रेज निश्चय ही हार जाएँगे। श्री पारसनीस ने लिखा है–

"उनके इस प्रचण्ड आक्रमण से अंग्रेजों की फौज एकदम पीछे हट गयी। बड़े–बड़े अंग्रेज शूरवीर कट–कटकर धराशायी होने लगे। इस बार महारानी ने इतनी बुद्धिमानी और सुव्यवस्थित रीति से युद्ध किया कि उनके शौर्य के कारण 'लाइट–फील्ड' तोपों के गोले कुछ देर के लिए बिलकुल बन्द हो गये। इतना ही नहीं, महारानी उन तोपों से 20 फीट के अन्दर तक मारती–काटती चली गयीं। महारानी की इस विलक्षण वीरता को देखकर कालपी की दूसरी सेनाओं का भी साहस बढ़ा और उन्होंने फिर बड़े वेग से अंग्रेजी सेना पर चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से घमासान युद्ध मचा। जिस समय महारानी लक्ष्मीबाई अपने चपल घोड़े को बढ़ाती हुई और अपनी शमशीर के हाथ बड़ी चालाकी से चलाती हुई अंग्रेजी तोपखानों पर चढ़ीं, उस समय उनकी वह वीरश्री,वह आवेश, वह मर्दूमी और बहादुरी देखकर पेशवा के दूसरे सेनानायक भी फड़क उठे और वे भी अंग्रेजी सेना पर इस प्रकार टूट–पड़े–जैसे जौ के खेत पर टिड्डी दल टूट पड़ता है। उस समय जो घनघोर युद्ध हुआ, उससे जान पड़ता था कि बलवाइयों की जीत होने में विलम्ब नहीं है। महारानी दाँतों से घोड़े की लगाम पकड़े दोनों हाथों से सड़ासड़ तलवार चला रही थीं।"

ह्यूरोज को जब यह सूचना मिली कि महारानी कालपी की सेनाओं के साथ युद्ध–भूमि में अंग्रेजों की काल सिद्ध हो रही हैं और उनके कारण अंग्रेजों की तोपें बन्द हो गयी हैं, तो वह स्वयं भी रणभूमि में जाने को तैयार हो गया। [16] उसने अपनी ऊँटों की सेना साथ ली और तुरन्त युद्धभूमि में उतर गया। उसके आते ही अंग्रेजों की स्थिति सुधर गयी। उसके साथ आये ऊँट–सवार कालपी के सैनिकों पर गोलियाँ चलाने लगे। इससे कालपी की सेना दुर्बल पड़ गयी और तितर–बितर होने लगी। कालपीवालों की जीती हुई बाजी ह्यूरोज के आते ही हार में बदलने लगी। महारानी को यह देखकर कि कालपी के सैनिकों के पाँव उखड़ने वाले हैं, भारी दुख हुआ। फ़िर भी उन्होंने उनका उत्साह बढ़ाने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। गुरिल्ला युद्ध करके महारानी और आगे बढ़कर अंग्रेजों के भागने का मार्ग रोक देना चाहती थीं, जिससे उनका सर्वसंहार किया जा सके, पेशवा के सैनिकों में अब और साहस नहीं रह गया था; उन्होंने आगे बढ़ना अस्वीकार कर दिया, अतः विवश होकर महारानी को वापस लौटना पड़ा। यदि ऐसा किया जाता, तो बहुत सम्भव था कि वहाँ खड़ी शत्रु सेना का सर्वनाश हो जाता।

पेशवा के सैनिकों के व्यवहार से महारानी को बड़ी हताशा हुई फलतः उन्हें वापस लौटना पड़ा और वह पेशवा रावसाहब की छावनी में चली आयीं। उनके युद्ध भूमि से लौटते ही कालपी की सेना के पैर उखड़ गये। शत्रुओं ने उनका संहार करना आरम्भ कर दिया, जहाँ जो मिला, मार डाला गया। हजारों सैनिक अपने प्राणों की रक्षा के लिए यमुना के तटवर्ती बीहड़ों में चले गये।

युद्ध–भूमि से विद्रोही वीरों की पराजय के बाद अंग्रेजों के लिए कालपी के किले पर अधिकार करना शेष रह गया था। इसके लिए ह्यूरोज ने कार्य योजना बनाई। योजनानुसार उसने ब्रिगेडियर स्टुअर्ट को यमुना के तट की ओर से

भेजा, जहाँ पराजित विद्रोहियों ने शरण ले रखी थी और स्वयं सीधे कालपी को चल पड़ा ।[17]

कालपी के किले में इस समय पेशवा का अधिकार था। वहाँ प्रचुर मात्रा में युद्ध सामग्री एकत्रित हो गयी थी। वहाँ पेशवा की विशाल सेना भी थी, जिसमें उपर्यक्त युद्ध से भागे हुए सैनिक भी मिल गये थे। 24 मई, 1858 को अंग्रेजों की सेना ने कालपी में प्रवेश किया। प्रवेश करते ही अंग्रेजी तोपखाने वाली सेना के कर्नल मैक्सवेल ने पेशवा राव साहब के सैनिकों पर तोपों से आक्रमण कर दिया। पेशवा की सेना ने प्रत्युत्तर में तोपों का प्रयोग किया, किन्तु अंग्रेजों के सामने उनकी एक न चली। अंग्रेजों ने सर्वप्रथम उनकी सेना के चार हाथी अपने अधिकार में ले लिए और फिर नगर के सामने मैदान में अपना शिविर लगा दिया। इसके बाद उनकी सेना शहर में प्रवेश कर गयी। यह देखते ही कालपी की सेना युद्ध–भूमि से भागने लगी। कर्नल गॉल ने हैदराबाद कंटिंजेंट सेना को साथ लेकर उसका पीछा किया। कालपी की सेना भागने में सफल हो गयी, किन्तु उनके कई हाथी, घोड़े, ऊँट तथा युद्ध–सामग्री अंग्रेजों के हाथ लग गयी। 24 मई को इंग्लैड की महारानी का जन्मदिवस भी था, अतः इस दुहरी प्रसन्नता के अवसर पर अंग्रेजों ने अपने शिविर वाले मैदान में तोपें चलाकर अपना मनोरंजन किया।[18]

अंग्रेजों को कालपी में विजयश्री तो मिली थी; साथ ही किले में अपार युद्ध–सामग्री भी प्राप्त हुई। अंग्रेजों के शहर में प्रवेश करते ही राव साहब, महारानी लक्ष्मीबाई ,बाँदा के नवाब आदि सभी प्रमुख सेनापति वहाँ से पलायन कर गये थे। अतः अंग्रेजों ने कालपी शहर तथा उसके किले पर अधिकार कर लिया।

कालपी में राव साहब की सेना के पास आयुधों का जो भण्डार था, यदि उनकी सेना में अनुशासन होता, अथवा यो कहना चाहिए कि उनके सेनापतियों

में योग्यता का समावेश होता, तो उनकी पराजय असम्भव थी। इन्हीं गुणों के अभाव में उन्हें पराजित होकर कालपी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। अब इस बहस में पड़ने से कोई लाभ नहीं, क्योकि इतिहास का निर्माण सम्भावनाओं पर आधारित नहीं होता है; वह तो यथातथ्य का लेखा–जोखा होता है। कालपी की पराजय से भी वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई हतोत्साहित नहीं हुई उन्होंने अंतिम सांस तक स्वाधीनता हेतु संघर्ष की ज्वाला प्रज्वलित रखी।

कालपी युद्ध की शोचनीय पराजय के बाद भारतीय नेतागण अपनी बची हुयी फौज को लिए रास्तों–मैदानों में दिन–रात भटकते हुए अस्त– व्यस्त हालत में ग्वालियर से छियालीस मील दक्षिण–पश्चिम में अवस्थित गोपालपुर पहुँचे। कालपी पतन का समाचार पाकर चरखारी से व्याकुल होकर तात्या टोपे गोपालपुर में उन लोगों से मिला। अत्यंत गोपनीय स्थान में वे लोग मंत्रणा करने बैठे कि अब क्या करना चाहिए। उस समय उनकी अवस्था सचमुच में शोचनीय थी। एक के बाद एक युद्धों में वे पराजित हो चुके है झाँसी और कालपी पतन के साथ ही उसकी छावनियाँ और किले ध्वस्त हो गए थे। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण–सभी तरफ से अंग्रेजी फौज उन पर घेरा डालने के लिए आगे बढती आ रही थी। इस गहन निराशा के अंधकार में एक दुःसाहसपूर्ण योजना ने पुनः उन्हें एक रास्ता दिखा दिया। रानी बोली,''ग्वालियर पर आक्रमण करके सिंधिया की समस्त सेना, गोला–बारूद, घुडसवार, किला, महल पर हम लोग अधिकार करेंगे। इसके अलावा हम लोगों के लिए अब और कोई उपाय नहीं हैं।''

वस्तुतः ऐसे समय में एक नयी दिशा दिखाकर महारानी ने अपनी व्युत्पन्नमति का अच्छा परिचय दिया, इसमें कोई सन्देश नहीं हैं कि उनके इस प्रस्ताव को सभी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके बाद ग्वालियर पर आक्रमण

करना निश्चित हो गया। [19]

इसी प्रसंग में यहाँ ग्वालियर रियासत की तत्कालीन स्थिति तथा 1857 के विद्रोह में उसकी भूमिका का परिचय देना आवश्यक है। सन् 1844में ग्वालियर के साथ युद्ध में विजय के परिणामस्वरूप वहाँ भी अंग्रेजों के पाँव जम गये थे। इस युद्ध के बाद हुई सन्धि के अनुसार ग्वालियर दरबार में अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था तथा वहाँ के किले पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया था। सन् 1853 में जीवाजीराव सिन्धिया को रियासत के सभी अधिकार दे दिये गये, किन्तु उन्हें अंग्रेजी सरकार के रेजीडेंट के परार्मश से ही समस्त कार्य करना पडता था। इस समय 1858 में जीवाजीराव केवल 23 वर्ष के युवक थे। उनके सभी कार्य दिनकर राव राजवाडे करते थे। सन् 1857 में जब दिल्ली आदि में स्वतन्त्रता–संग्राम का खुला श्रीगणेश. हुआ और इसका समाचार ग्वालियर पहुँचा, तो ग्वालियर स्थित अंग्रेजों की कंटिंजेंट सेना तथा सिन्धिया की अपनी दस हजार सेना थी। उस समय सिन्धिया ने अपनी सेना को लेफ्टीनेंट गर्वनर की सहायता के लिए आगरा भेज दिया तथा मराठा सेना की एक टुकडी इटावा भेज दी। किन्तु 14 जून 1857 को ग्वालियर स्थित कंटिंजेंट सेना ने छावनी में विद्रोह कर दिया। छावनी में आग लगा दी गयी। सिन्धिया ने अंग्रेज सैनिकों को बचाने का बहुत प्रयत्न किया फिर भी कई अंग्रेज सैनिक तथा अधिकारी मार डाले गये। इससे घबराकर कप्तान मैकफर्सन सिन्धिया के पास आया और उसने प्रस्ताव रखा कि अंग्रेजों के स्त्री–बच्चों को सेना के साथ आगरा भेज देना चाहिए। अतः ऐसा ही किया गया। सेना के विद्रोह से जीवाजीराव सिन्धिया भी चिन्तित हो गये। उन्होंने मैकफर्सन को भी आगरा चले जाने की आज्ञा दे दी।

चम्बल से आगे हिंगोना गाँव में विद्रोही सैनिक रूके हुए थे। उनका नेता जहाँगीर खाँ ग्वालियर रियासत का सेवक रह चुका था। वह चाहता था कि जो

अंग्रेज ग्वालियर से आगरा जा रहे हैं, उन्हें चम्बल के बीहड़ों में ले जाकर मार डाला जाए। सिन्धिया ने अंग्रेजों की सुरक्षा के लिए पहले ही पर्याप्त सुरक्षा–प्रबन्ध कर दिये थे, अतः अंग्रेजों का यह दल सुरक्षित आगरा पहुँच गया। इसके बाद भी कई अंग्रेज सुरक्षित आगरा भेजे गए। विद्रोही सैनिकों ने जीवाजीराव सिन्धिया से बार–बार अनुरोध किया कि वह अंग्रेजों का पक्ष न लें और उनकी सहायता न करें। सिन्धिया अंग्रेजों के पक्के भक्त थें अतः उन्होंने विद्रोहियों को किसी प्रकार का सहयोग नहीं दिया। उधर आगरा में अंग्रेजों की स्थिति भी अधिक सुदृढ नहीं थी। ऐसी स्थिति में यदि वहाँ विद्रोही अपना धावा बोल देते, तो अंग्रेजों का संहार हो जाना निश्चित था। इसी स्थिति पर विचार कर मेजर मैकर्फसन ने सिन्धिया से वहाँ सेना भेजने का अनुरोध किया तथा प्रार्थना की कि वह विद्रोहियों को ग्वालियर से आगरा न पहुँचने दे। सिन्धिया ने ग्वालियर के विद्रोहियों को समझा–बुझाकर शान्त किया और आगरा में अंग्रेज सुरक्षित बने रहे। [20]

सिन्धिया सरकार के कहने पर कुछ दिन तो ग्वालियर की कंटिंजेंट सेना के विद्रोही चुप रहे, किन्तु फिर वे सिन्धिया को अपने साथ मिलाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने सिन्धिया से कहा भी कि या तो वह आगरा पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ें या उन्हें आर्थिक सहायता दें। इस समय सिंधिया की स्थिति चिन्तीय हो गयी थी ; दीवान दिनकर राव तथा दो अन्य सरदारों के अतिरिक्त सभी लोग विद्रोहियों के समर्थक बन गये थे और सभी सिंधिया को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न कंर रहे थे। ऐसे समय में दीवान दिनकर राव ने बड़ी चतुरता से काम लिया। उसने विद्रोहियों को कभी अपने विरूद्ध नहीं होने दिया तथा उन्हें बातों में लगाए रखा। यही नहीं, उसने विद्रोहियों को यह बात भी प्रकट नहीं होने दी कि सिंधिया दरबार के अधिकतर सरदार भी सिंधिया के विरोधी बन गये हैं। ऐसे समय में इस

प्रकार की गोपनीयता बनाये रखना नितान्त आवश्यक था। यदि दरबार की स्थिति से विद्रोही सैनिक अवगत हो जाते, तो सम्भवतः वे सिन्धिया सरकार के विरूद्ध भी विद्रोह कर देते। पेशवा नाना साहब के कानपुर में विजयी होने से सिंधिया के दरबारी भी स्वाधीन हो जाना चाहते थे। वे सभी लोग अंग्रेजों के विरूद्ध परामर्श करते रहते थे।

ऐसी स्थिति में सिंधिया के विरूद्ध विद्रोह न होने का सारा श्रेय दीवान दिनकर राव के पक्ष में जाता है, क्योंकि वही राज्य का वास्तविक कर्ता–धर्ता था। जीवाजीराव सिन्धिया तो उसके हाथों की एक कठपुतली मात्र थे। यदि ग्वालियर में भी उस समय विद्रोह की ध्वजा फहरा दी जाती, तो कदाचित् अंग्रेजों के पाँव भारत से ही उखड़ जाते, अनेक अंग्रेज इतिहासकारों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। 'मेमोरियल ऑफ सर्विस इन इण्डिया' का लेखक लिखता है– ''ग्वालियर को वास्तव में एक प्रकार से भारत की कुंजी समझना चाहिये अथवा यह कहना चाहिये कि यह भारत की ऐसी कड़ी थी, जिसका कोई भी भाग टूट जाता तो भारत में हमारा विनाश हुए बिना न रहता। ग्वालियर–नरेश यदि हमसे विश्वासघात करते या विद्रोहियों के वश में हो जाते तो वह विद्रोह केवल स्थानीय या सैनिक विद्रोह न रहकर, सर्वत्र होनेवाला एक राष्ट्रीय विद्रोह हो जाता। उस समय हमें गंगा नदी के सरलता से पार हो जाने वाले क्षेत्रों में नहीं लड़ना पड़ता; अपितु उत्तरी भारत के दुर्गम प्रदेशों में युद्ध–कला में पारंगत जातियों से युद्ध करना पड़ता। यदि उस समय सिंधिया हमारे विरूद्ध विद्रोह का झण्डा खडा कर देते; और यदि वह अपनी पूर्ण शक्ति से युद्ध करते हुए हार भी जाते, तो इस विद्रोह का रूप इतना भयंकर हो जाता, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।'' [21]

दीवान दिनकर राव के प्रयत्नों से किसी प्रकार विद्रोह टला हुआ था;

फिर भी अन्दर–ही–अन्दर तनाव चल रहा था। तभी एक बार राजमहल के पास ऐसी तनातनी की स्थिति उत्पन्न हो गयी कि सिन्धिया और अंग्रेज सरकार के कान खड़े हो गये। समूचे उत्तरी भारत में 1857 के विद्रोह की ज्वाला भड़क रही थी। मऊ और इन्दौर के विद्रोही सैनिक अपना प्रचार करने के लिए ग्वालियर पहुँचे। उन्होंने ग्वालियर की सेनाओं को भी विद्रोह के लिए प्रेरित किया। पेशवा नाना साहब के आदमी भी उन्हें अपने पक्ष में करने का प्रयत्न कर रहे थे। इस सबका परिणाम यह हुआ कि ग्वालियर की सेना के विद्रोही सैनिकों ने सिन्धिया से सीधे बात करना उचित समझा। उनके चुने हुए 300 प्रतिनिधि 7 सितम्बर 1857 को सिन्धिया के महल में पहुँचे. तथा यह प्रस्ताव रखा– ''हम आगरा पर आक्रमण कर गोरों का सफाया करना चाहते हैं। इस कार्य में आप भी हमारी सहायता करें।'' [22]

भला सिन्धिया को यह कहाँ स्वीकार होता। उन्होंने इसके लिए अपनी स्पष्ट असहमति व्यक्त करते हुए कहा– ''तुम्हारा यह व्यवहार हमारे आदर्शों के विरूद्ध है। वर्षा–ऋतु समाप्त होने तक यदि तुमने कुछ भी गड़बड़ी की तो हमारी ओर से तुम्हें किसी भी प्रकार की सहायता नहीं मिलेगी; साथ ही तुम्हारा वेतन रोक दिया जायेगा।'' [23]

सिन्धिया की अंग्रेज–भक्ति विद्रोहियों के सामने भी नग्न रूप में आ गयी; उन्हें ज्ञात हो गया कि सिन्धिया का अब तक कोई स्पष्ट उत्तर न देने का क्या कारण था। विद्रोहियों के प्रतिनिधि उन्हें खुली चेतावनी देकर लौट आये। फिर क्या था, वहाँ स्थित कंटिंजेंट सेना ने सिन्धिया के महल तथा शहर पर तोपों से धावा बोलने का निर्णय ले लिया। सिन्धिया के लिए भी स्थिति संकटापन्न हो गयी। समाचार मिलते ही उन्होंने मराठों की एक नयी सेना बनाने का निश्चय किया और 5,000 मराठे भर्ती किये गये। सिन्धिया ने स्वयं अपनी सेना का नेतृत्व किया और बड़ी

कुशलता से शहर की रक्षा करने में सफल हुए। विद्रोहियों ने भी संघर्ष न करने का निर्णय लिया और पीछे हट गए। इसका सबसे बड़ा लाभ अंग्रेजों को हुआ। वह सर्वनाश होने से बच गये। जीवाजीराव के असहयोग से खिन्न होकर ग्वालियर की विद्रोही कंटिंजेंटी सेना तात्या टोपे के साथ कानपुर चली गयी।

इस समय भले ही यह विपत्ति प्रत्यक्ष रूप से टल गयी, परन्तु आग अन्दर–ही–अन्दर सुलगती रही, सिन्धिया भी इस घटना से भयभीत हो गये थे। चारों ओर विद्रोहों के बल पकड़ने से ग्वालियर में भी अंग्रेजों के प्रति घृणा की भावना ने जन्म ले लिया था। इस घटना के बाद कुछ मास बीते, तभी झाँसी और कालपी में अंग्रेजों की विजय के समाचारों से ग्वालियर के प्रायः सभी सरदार अंग्रेजों के और भी विरूद्ध हो गये। तभी एक बार वीर श्रेष्ठ तात्या टोपे भी ग्वालियर पहुँचे। वह भी सिन्धिया की सेना को विद्रोह की दीक्षा देने आये थे। उन्होंने सेना से देश की स्वाधीनता के इस पावन क्रान्ति यज्ञ में भाग लेने के लिए कहा। सभी ने तात्या टोपे को सहायता देने का वचन दिया। [24]

कहने का आशय यही है कि उस समय ग्वालियर एक बारूद का ढेर बन चुका था, जिसे किसी कुशल व्यक्ति द्वारा एक चिन्गारी दिखाने भर की देरी थी। अंग्रेजों को भी भय हो गया था कि यदि ग्वालियर में विद्रोह हो गया, तो इसका परिणाम उनके लिए अकल्पनीय रूप में भयंकर हो सकता है। ग्वालियर के अंग्रेज रेजीडेण्ट ने ग्वालियर में कुछ गोरों की सेना रखना उचित समझा और लॉर्ड केनिंग को इस विषय में पत्र लिखा। इस समस्त घटना–चक्र से अंग्रेज कितने भयभीत हो गये थे, इसका अनुमान इससे सरलता से लगाया जा सकता है कि गवर्नर जनरल ने इंग्लैण्ड को तार भेज दिया कि यदि सिंधिया विद्रोह में सम्मिलित होंगे तो मुझे कल ही अपना बोरिया–बिस्तर बाँधना पड़ेगा।

लार्ड केनिंग के कहने पर गवर्नर जनरल ने ग्वालियर में गोरों की सेना भेजने के आदेश दे दिये। यह सेना ग्वालियर पहुँच पाती, इससे पहले वहाँ सूचना मिली कि गोपालपुर से प्रस्थान कर राव साहब, लक्ष्मीबाई आदि की सेना ग्वालियर की सीमा पर पहुँच चुकी है। वहाँ की जनता तथा दरबार के सरदार पहले ही विद्रोही वीरों के समर्थक बन चुके थे, अतः राव साहब की सेना को वहाँ आने में किसी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। यह सत्य है कि वह ग्वालियर के दुर्ग पर अधिकार करने आ रहे थे। किन्तु उन्होंने अपना यह मन्तव्य खुले रूप में प्रकट नहीं किया। उनके आगमन से जहाँ उनके समर्थक अत्यन्त प्रसन्न हुए, वही सिन्धिया, उनके दीवान दिनकर राव तथा अन्य सभासद रघुनाथ राव राजवाडे आदि चिन्तित हो उठे। राजवाडे बाहरी रूप से राव साहब के आगमन से प्रसन्न दिखायी दे रहा था, किन्तु उसकी भक्ति अंग्रेजों के ही साथ थी। राव साहब ने जीवाजीराव और राजमाता जायजीबाई को पत्र भी लिखा– ''हम आपके पास स्नेह भाव से आ रहे हैं। आप हमारे पूर्व सम्बन्धों पर विचार करते हुए इस संकट के समय में हमारी सहायता करें, तभी हम दक्षिण की ओर जा सकेंगे।''

स्पष्ट है कि वह सिन्धिया को अपने पक्ष में करना चाहते थे। राव साहब पेशवाओं के वंशज थे और सिन्धिया वंश को ग्वालियर का राज्य पेशवाओं से ही मिला था।[25] कहीं सिन्धया भी पेशवा के कहने पर न आ जायें, यही विचार कर दिनकर राव ने उक्त पत्र उनके पास पहुँचने ही नहीं दिया और इस सबकी सूचना रेजीडेण्ट को लिख भेजी। उधर जब राव साहब को सिन्धिया की ओर से कोई उत्तर न मिला, तो उन्होंने अधिक प्रतीक्षा करना उचित नहीं समझा और 28 मई, 1858 के दिन आमन गाँव के पास जा पहुँचे। उन्हें पूरा विश्वास था कि पेशवाओं के साथ अपने पूर्व सम्बंन्धों के कारण जीवाजीराव उनकी अवश्य सहायता करेंगे, किन्तु हुआ इसके

सर्वथा विपरीत ही; वहाँ ग्वालियर की चार सौ पैदल और डेढ़ सौ घुड़सवार सेना खड़ी थी, जिसने उनका मार्ग रोक लिया। इससे पेशवा राव साहब क्रोधित हो गये। उन्होंने उस सेना के सूबेदार से कड़कती आवाज में कहा–

''तुम हमें रोकने वाले कौन होते हो । सिन्धिया तथा दिनकर राव अपने को क्या समझते हैं। वे हैं क्या, जो हमें रोक लेंगे। हम राव पन्त प्रधान पेशवा हैं तथा स्वराज और स्वधर्म के लिए युद्ध कर रहे हैं। सिन्धिया के पूर्वजों ने हमारी नौकरी की है और हमने उन्हें राज्य दिया है। उसे समस्त सेना हमसे ही मिली है। सेना के अधिकारियों के हमारे पास पत्र आये हैं। तात्या टोपे पहले ही ग्वालियर जाकर सबसे मिले हैं और उन्होंने वहां के समस्त वृतान्त जान लिये हैं। अब सारी तैयारियाँ हो चुकी हैं, अतः हम सेना लेकर आ रहे हैं। क्या तुम हमसे युद्ध करना चाहते हो?''

पेशवा रावा साहब के ओजपूर्ण शब्दों को सुनकर उस सूबेदार को कुछ कहने का साहस न हुआ। और उनकी विशाल सेना को देखकर उसने संघर्ष के परिणाम का अनुमान लगा लिया; अतः वह एक ओर हट गया और राव साहब सेना सहित आंगे बढ़ गये। 30 मई को पेशवा की सेना बड़ागाँव पहुँच गयी।

पेशवा ने अपनी पूरी तैयारी के साथ मुरार छावनी में पड़ाव ड़ाल दिया और इसकी सूचना सिन्धिया के पास अपना शुभचिन्तक समझकर भेज दी कि वे हमारी सहायता के लिए तैयार रहें। लेकिन वहाँ काफी शूरवीर सहायता देने के पक्ष में होते हुए भी साहस नहीं कर पाये। उन्हीं के बीच में कुछ गद्दार जैसे दिनकर राव तथा दो सरदार अपनी कूटनीति तथा चतुरता से अचानक पेशवा जी की सेना पर टूट पड़े। परिणामस्वरूप रानी लक्ष्मीबाई की वीरता के सामने वे टिक न सके। युद्ध–स्थल से उन्हें भागना पड़ा। पुनः महारानी लक्ष्मीबाई ने उनकी सारी तोपें तथा

लड़ाई की सारी सामग्री को अपने कब्जे में ले लिया।

अब पेशवा पक्ष के लिए मैदान साफ हो चुका था, अतः वे विजय के उल्लास में शहर में घुस पड़े। इसके लिए उन्हें किसी प्रकार का संघर्ष नहीं करना पड़ा। उनके समर्थकों को अपार प्रसन्नता हुयी। ग्वालियर की विद्रोह समर्थक सेनाओं ने पेशवा का अधिपत्य सहर्ष स्वीकार कर लिया और उन्हें तोप–ध्वनि से सलामी दी। राव साहब ने सिन्धिया के राजमहल को अपना निवास स्थान बनाया, उस पर उनकी ध्वजा फहरा दी गयी। महारानी लक्ष्मीबाई ने नौलखा बाग के पास वाले महल को अपना आवास बनाया इसी प्रकार अन्य सेनापति भी विभिन्न महलों में रहने लगे। शहर को अपने अधिकार में लेते ही वीर तात्या टोपे ने कुछ सैनिक किले पर अधिकार करने के लिए भेजे, जिनका किले में स्थित लोगों ने खुले ह्रदय से स्वागत किया और किला उन्हें सौंप दिया। किले में युद्ध–सामग्री का विशाल भण्डार था। इस सब पर अधिकार हो जाने से विजेताओं को भारी प्रसन्नता हुई। [26]

जीवाजीराव सिन्धिया ने अपने चार सरदारों को,जो स्वाधीनता के लिए विद्रोह के समर्थक थे, बन्दी बना लिया था। पेशवा ने उन्हें मुक्त कर दिया। ग्वालियर की शासन–सत्ता इस समय इन विद्रोही वीरों के हाथ में आ गयी। पेशवा राव साहब उनके नेता थे। अतः उन्होंने (पेशवा) सत्ता का वास्तविक स्वामी बनने के लिए सिंहासनारोहण का समारोह करना अवश्यक समझा। प्राचीन परम्परा के अनुसार जब तक किसी का राज्याभिषेक न हो वह वैध राजा नहीं माना जाता था। छत्रपति महाराज शिवाजी के हाथ में पूरी शासन–सत्ता होने पर भी जब तक उन्होंने अपना राज्याभिषेक नहीं कराया, लोग उन्हें बीजापुर के शासन का एक विद्रोही सेवक ही मानते थे। उनके द्वारा राज्याभिषेक से पूर्व दिए गए दान–पत्र आदि भी अवैध माने जाते थे। सम्भवतः इसीलिए रावसाहब ने अपना सिंहसनारोहण संस्कार आवश्यक

समझा हो। इसके लिए उन्होंने पहले ग्वालियर रियासत के सभी सम्भ्रान्त लोगों, जागीरदारों आादि से परामर्श किया। उनकी सहमति मिल जाने पर पेशवा ने स्वयं अपने सिंहासनारूढ होने का दिन निश्चित किया। इसमें आने के लिए अपने सभी मित्रों को निमन्त्रण दिया।

3 जून, 1858 को फूलबाग में एक दरबार का आयोजन किया गया, जिसमें सभी दरबारी, सेनापति आदि अपने राजसी बस्त्र पहनकर सम्मिलित हुए। राव साहब ने अपना परम्परागत पेशवाई परिधान धारण किया। फिर वह पूरे धार्मिक विधान से सिंहासनारूढ़ हुऐ।

इसके बाद सभी जागीरदारों, तात्या टोपे आदि को बहुमूल्य उपहार दियें। तात्या टोपे को सेनापति घोषित कर एक रत्न जड़ी हुई कृपाण भेंट की गयी। रामराव गोविन्द को उन्होंने अपना प्रधान अमात्य (मंत्री) बनाया, उसे बहुमूल्य वस्त्र दिये गये। इस दरबार में उन्होंने शिवाजी महाराज के अनुसार ही अष्ट प्रधानों की नियुक्ति की। सैनिकों को पुरूस्कार में बीस लाख रूपये वितरित किये गये।

अनायास प्राप्त इस सफलता से राव साहब, तात्या टोपे आदि अपने कर्तव्य से विमुख जैसे हो गए। उन्हें यह भी ध्यान न रहा कि इस प्रकार राज्य से वंचित होने के बाद सिंधिया शान्ति से नहीं बैठ जायेंगे। सिंहासनारोहण में राज्य के जिन पुराने सेवकों को कुछ नहीं मिला था, वे भी स्वयं को अपमानित अनुभव कर रहे थे, किन्तु सत्ता के मद में चूर्ण, रंगरेलियों में डूबे पेशवा और उनके सहयोगियों को इसकी परवाह कहाँ थी। उनके इस व्यवहार से महारानी लक्ष्मीबाई को अत्यन्त दुख हुआ। अतः वह पेशवा के पास गयीं और बोली–

"विजय के मद में इस प्रकार डूब जाना आपको शोभा नहीं देता। यद्यपि सिंधिया का कोष और उसकी सेना पर आपका अधिकार हो गया है, फिर भी

यदि इसका समुचित उपयोग न किया गया, तो आपकी समस्त आशाओं पर पानी फिर जायेगा। अंग्रेज बड़े चतुर और उद्यमी हैं। वे कब हम पर आक्रमण कर दें, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि आप इसी प्रकार असावधान रहे, तो हमारा सर्वनाश होने में विलम्ब नहीं लगेगा, अतः आप ऐश्वर्य भोग छोड़कर सेना पर ध्यान दें। सैनिकों का वेतन बढ़ाकर उन्हें प्रोत्साहित करें। यह समय नष्ट करने के लिए नहीं है, बड़ी कठिनाईयों के बाद कार्य–साधना के अनुकूल अवसर मिला है। अतः आप पूरी सावधानी से युद्ध की तैयारी करने में जुट जाइए।''

महारानी के इन सारगर्भित शब्दों को पेशवा ने इस कान से सुना और उस कान से निकाल दिया। कदाचित् उन्हें यह विश्वास हो चला था कि अंग्रेज उनका कुछ अहित नहीं कर सकते। सत्ता का मद सचमुच बड़ा विचित्र होता है। वह व्यक्ति के विवेक को आवृत कर देता है। इससे पार पाना कठिन है।

महारानी का उपर्युक्त कथन कितना सत्य था, इसे समय ने शीघ्र कर दिखाया। 6 जून को ह्यूरोज ग्वालियर के लिए प्रस्थान कर चुका था। 11 जून को मार्ग में इन्दुरकी गाँव में स्टुअर्ट भी सेना सहित उसे मिल गया। फिर दोनों पहूज नदी पार कर दुर्गम पहाड़ी मार्ग को पार करते हुए 16 जून को ग्वालियर के पास बहादुरपुर गाँव पहुँच गये, जहाँ से हारकर जयाजी राव को आगरा भागना पड़ा था। वहाँ पहुँचकर ह्यूरोज भावी युद्ध के लिए भूमि का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने लगा। इस स्थान के सामने ही मुरार की छावनी पर इस समय पेशवा की सेना का अधिकार हो गया था। उन्होंने छावनी के आगे, दाहिने तथा बाएँ क्रमशः अश्वारोही सेना, तोपखाना और पैदल सेना रखकर व्यूह की रचना की थी। यह देखकर ह्यूरोज ने भी अपनी व्यूह की रचना बना ली।

मुरार की छावनी में इस समय सिन्धिया की ही विद्रोही सेना थी, जो

पेशवा के अधिकार में हो गयी थी। सिन्धिया की सभी सेनायें तथा युद्ध–सामग्री पर भी इस समय पेशवा का ही अधिकार था। ग्वालियर कंटिंजेंट सेना, रूहेलखण्ड के विद्रोही पठान आदि सब सेनायें ग्वालियर में इधर–उधर अव्यवस्थित पड़ी हुयी थीं। इधर अंग्रेजों की सेना मुरार छावनी के पास आ गयी थी, ह्यूरोज गतिविधियों का निरीक्षण कर रहा था, किन्तु पेशवा को इस समय कुछ भी ज्ञात न था। पेशवा और उनके सहयोगी अपने–आप में ही निमग्न थे। उनकी इस असावधानी का वर्णन करते हुए पारसनीस ने लिखा है–

"रावसाहब पेशवा के पूर्वजों ने महाराष्ट्र राज्य की पताका भारत में अधिकांश अपने वीर योद्धाओं के और तलवार के जोर से फहरायी थी ; पर राव साहब को उस समय इस बात का बिल्कुल भी ध्यान नहीं था। वे समझते थे कि इस बार ब्राह्मण भोजन के बल पर ही स्वराज्य स्थापित हो सकेगा। जब अंग्रेजी सेना ने अच्छी तरह से अपना सब प्रबन्ध कर लिया, तब कहीं पेशवा को इस बात की खबर लगी।"

अंग्रेजों के पहुँचने की सूचना मिलते ही पेशवा राव साहब ने अपने सेनापति तात्या टोपे को सेना तैयार करने का आदेश दिया।[27] तात्या टोपे भी इस समय नये पद के मद में डूबे हुए थे। उन्होंने समझ लिया था कि अब वास्तव में पेशवा पद की पुनः प्रतिष्ठा हो चुकी है, अतः पेशवा काल के अतीत के समान ही सब उनकी सहायता के लिए दौड़े चले आएँगे, किन्तु उनका यह भ्रम शीघ्र ही टूट गया। उनकी सहायता के लिए कोई भी नहीं आया। अतः वह तुरन्त सेना के प्रस्थान की तैयारी करने लगे। सेना मुरार छावनी की ओर चल पड़ी। अंग्रेज पहले ही सब तैयारी कर चुके थे। प्रतिपक्षी सेना के आते ही उन्होंने बिना अवसर दिये धावा बोल दिया और उन पर तोपों से गोले बरसाने लगे। अंग्रेज पहले ही अपनी मोर्चाबन्दी कर चुके थे। तात्या टोपे के सैनिकों को यह अवसर नहीं मिला, फिर भी उनके सैनिकों ने कुछ देर

वीरतापूर्वक युद्ध किया, उनके कई वीरों ने रणकौशल दिखाया। इस पर अंग्रेजों की ओर से ऐबट हैदराबाद कंटिंजेंट सेना लेकर आगे बढ़ा और तात्या टोपे के सैनिकों पर टूट पड़ा। तात्या टोपे के सैनिकों ने हाईलैण्डर्स पलटन के अनेक गोरें सैनिकों को मार डाला। अंग्रेजी सेना का एक अधिकारी लेफ्टीनेन्ट नींव भी घायल हो गया। प्रतिपक्षियों को अपने पर भारी पड़ता देखकर बम्बई की पच्चीसवीं नेटिव इन्फैंट्री का लेफ्टीनेन्ट रोज आगे बढ़ा। उसने युद्ध–भूमि में अच्छा पराक्रम दिखाया। अन्ततः पेशवा पक्ष पराजित हो गया और मुरार छावनी पर केवल दो घण्टों के संघर्ष के बाद अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया।

इस युद्ध में महारानी लक्ष्मीबाई का कोई उल्लेख नहीं मिला। सम्भवतः उन्होंने इस युद्ध में भाग नहीं लिया था। पेशवा राव साहब की योग्यता का इससे एक और प्रमाण मिल जाता है। वस्तुतः इन सब तथ्यों को देखकर ऐसा लगता है कि उनमें कोई योग्यता नहीं थी। उन्हें विद्रोहियों का सेनापतित्व मिलने के पीछे उनकी एक ही योग्यता थी कि वह 1857 के स्वतंत्रता समर के अप्रितम महारथी पेशवा नाना साहब के भाई थे। [28]

इस युद्ध में पेशवा की सेना में कई विश्वासघाती और कायर लोग भी थे। पेशवा की इस सेना में अधिकतर सैनिक जीवाजीराव की सेना के थे। कहा जाता है, अंग्रेजों ने ऐसे धर्म–भीरू सैनिकों को अपने पक्ष में करने के लिए एक चाल चली। उन्होंने जीवाजीराव सिन्धिया को आगरा से बुला लिया था और प्रचार कर दिया कि हम (अंग्रेज) सिन्धिया की ओर से युद्ध कर रहे हैं और सिन्धिया के शत्रुओं को ग्वालियर से मार भगाना चाहते है। उनकी ये युक्ति काम कर गयी। अनेक धर्म–भीरू सैनिकों ने अपने स्वामी के विरूद्ध लड़ना पाप समझा और युद्ध से अलग हो गये। फलस्वरूप पेशवा के शेष सैनिकों को अंग्रेजों ने शीघ्र ही पराजित कर दिया।

इस पराजय से राव साहब घबरा गये थे, जबकि बाँदा के नवाब और तात्या टोपे ने अधीरता नहीं दिखायी। तात्या टोपे तुरन्त सेना का प्रबन्ध करने में व्यस्त हो गए। उन्होंने स्थान–स्थान पर तोपों से व्यूह रचना कर, सेनाओं को उचित स्थानों पर नियुक्त कर दिया।

1858 ई. के जून मास में भारतीय एवं अंग्रेज दोनों ही पक्ष ग्वालियर की तरफ दृष्टि गड़ाकर ताक रहे थे। क्योंकि दोनों ही पक्ष जानते थे कि तात्या टोपे और झाँसी की रानी अगर ह्यूरोज को ग्वालियर में पराजित कर सके तो युद्ध की गति एक बार ही बदल जाएगी। और ग्वालियर के भारतीयों के अधिकार में लंबे समय तक रहने पर भारत में ब्रिटिश राज्य की हालत भी संगीन हो जाएगी।

किन्तु ग्वालियर के रंगमंच पर उस दिन आशा–निराशा के झूले में झूलती हुई अवस्था के नेपथ्य में भारतीय नेताओं की हालत बहुत ही शोचनीय थी।

वे समझ गये कि इस संकट के समय पारस्परिक सामंजस्य के अभाव में उन लोगों में कैसा दुर्लध्य व्यवधान हो गया है। उन लोगों ने यह भी समझ लिया कि सिर्फ बाहुबल और भावना का सहारा लेकर ही युद्ध में सफलता नहीं पायी जा सकती है, इसके साथ राजनीति का ज्ञान भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है। किन्तु तब तक की स्थिति उनकी पकड़ से बाहर चली गयी थी।

13 जून को बड़े तड़के सारी सेना को एकत्र करने जा रहे तात्या टोपे अत्यन्त विचलित हो गये। सैनिक लोग उस समय तात्या टोपे पर क्रोध में आग–बबूला हो जाते हैं। एक शाही (सिन्धिया शाही–सिन्धिया के अधिपत्य) को खत्म करके दूसरी शाही (पेशवा शाही) को स्थापित करने के लिए क्या वे लोग प्राणों की परवाह न करके तात्या के नेतृत्व में संगठित हुए थे ? उन्होंने ग्वालियर जीत लिया और उनके नेता बनकर तात्या ब्राह्मण भोजन कराकर पुण्य अर्जन में व्यस्त हो गये !

13 जून के मध्यांह में रावसाहब, तात्या टोपे एंव बाँदा के नवाब रानी के पास गये। कालपी, कोंच, गुलौली और बहादुरपुर के युद्ध में रानी सदैव यह बात दुहराती आयी थी और इस बात पर वे ध्यान देते तो उनकी यह अवस्था न होती, यह सत्य है। ग्वालियर में झाँसी की रानी के साथ अगर सभी तरह से असहयोग न किया गया होता तो सारे चित्र का रंग ही बदल जाता। किन्तु तब तक समय ही न रहा था। [29]

स्वाभिमानी रानी गम्भीर मुख से पुत्र को गोद में लिए हुए अपने अनुचर वर्ग से घिरी बैठी हुयी थी। उसे देखकर नेता लोग शंकित हो गये। रानी से सम्मानपूर्वक बात करते हुए तात्या ने कहा– अंग्रेजी सेना बिल्कुल पास है। इस समय हम लोगों को संगठित होने की जरूरत है। आपसे सहायता की प्रार्थना कर रहे हैं। रानी ने दीर्घ श्वास छोड़ते हुए मराठी भाषा में कहा–

''आज पर्यत एवड़ा अटोकाट विभु रचून जे जिवापाड़ श्रम केले ते फलद्रूप होन्याची आशा आताँ रांहिली नाहीं।''

–जिस समय युद्ध की तैयारी करनी चाहिये थी उस समय आप लोग विजयोत्सव मनाने में मग्न थे। मैं तो एक मामूली स्त्री हूँ। आप लोगों को क्या परामर्श दूँगी। फिर भी भविष्य में जिस कठोर परिणाम की अपेक्षा की है, उसे सोचकर शंकित हो रही हूँ। आत्मधिक्कार से सिर नीचा कर रह गये सारे नेतागण।

तात्या टोपे ने रानी के चरणों में अपनी पगड़ी उतारकर रख दी।

इस थोड़े समय की तैयारी में जय की आशा करना दुराशामात्र है। फिर भी रानी उद्दीपन और उत्साह से भर उठी। उत्साह और संकल्प से उसका मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा। तात्या टोपे ने कोटे–की–सराय का सारा भार रानी पर डाल दिया। सारी घुड़सवार सेना का दायित्व भी रानी ने स्वयं ले लिया। बाई साहिबा के नेतृत्व स्वीकार कर लेने के समाचार से सेनाओं में पुनः नई आशा का संचार हो

गया।

झाँसी में जो लोग उनके साथ आये थे उन लोगों में उस समय भी रघुनाथ सिंह, गुल मोहम्मद, गणपत राव मराठा, रामचन्द्र राव देशमुख, मुंदर, काशी कुनवीन, जूही नाटक वाली, नन्हें खाँ आदि लोग थे। उन लोगों को रानी ने इकट्ठा किया। उन लोगों से बार–बार अनुरोध किया कि सामान्य विपत्ति की आशा होते ही वे लोग बालक दामोदर को लेकर सुरक्षित स्थान में चले जाएँ। उसने और भी कहा– ''मेरे बचे हुए आभूषण और धन देकर भी तुम लोग दामोदर की रक्षा करना। दामोदर अभी बच्चा है। फिर भी मैंने चूँकि अंग्रेजों से दुश्मनी मोल ली है इसलिए वे लोग इस अबोध बच्चे पर अत्याचार कर सकते हैं। इसी कारण तुम लोग उसे सदा सुरक्षित स्थान में ही रखने का प्रयास करना।'' [30]

दामोदर से बोली– ''आनन्द, इस दुख और दुर्दशा के दिन में भी तुम मेरी एकमात्र खुशी हो। अगर जरूरत पड़े तो क्या तुम मेरे बिना भी कुछ दिनों बाला राव, काशी, रघुनाथ अन्य लोगों के साथ भी रह सकोगे ? समझ लो तुम सुरक्षित स्थान में हो यह जानकर मैं भी निश्चिंतता से रह सकूँगी।''

अभिभूत दामोदर ने आश्चर्य से सिर हिलाया। गोदनामे के समय यद्वपि उसका नाम मृत शिशु के नाम पर रखा गया था, फिर भी रानी उसे आनन्द कहकर ही बुलाती थी। संभवतः मृत पुत्र के नाम से उसे बुलाने में उसे पीड़ा होती थी। सदा ही वहा कहा करती थी, मेरा आनन्द आनन्दस्वरूप है। रानी ने अपने अनुचरों से बार–बार कहा, युद्ध के मैदान के निकट उन लोगों को रहने की कोई जरूरत नहीं है। जरूरत पड़ने पर तुम लोग बचकर भाग जाने में कोई संकोच न करना। किंतु उसके साथियों में यह प्रश्न उठा कि रानी की रक्षा कौन करेगा ? उस नीरव प्रश्न के उत्तर में उसने मुंदर की ओर लक्ष्य करके कहा–मेरी शमशीर

लाकर दो।

नीला रंग रानी को सदा प्रिय था। आज उसने नीले रंग का चंदेरी साफा बाँधा। नीला अंगरखा और चूड़ीदार पाजामा पहना। गले में मोती की कंठी पहनकर हाथ में रत्नजड़ित तलवार लेकर विधुल्लताप्रभ गौरी की तरह राजरत्न घोड़े पर चढ़कर कंपू मैदान में सेना की कवायद निरीक्षण करने चली गयी। कालपी में गुलौली की लड़ाई के बाद सारंगी घोड़े की मृत्यु हो गयी थी। बड़ा गोडवले शार्गिद ने उसे राजरत्न घोड़ा दिया था। राजरत्न श्वेत वर्ण का अत्यन्त शुभ लक्षणों से युक्त घोड़ा था।

निश्चय हुआ कि तात्या टोपे का एक मोर्चा कंपू मे रहेगा। वही स्थान आजकल सरस्वती इंटरमीडिएट कॉलेज के पीछे है। तात्या की एक और सेना उत्तर में रहेगी। रावसाहब रहेंगे पश्चिम में और बाँदा के नवाब रहेंगे ग्वालियर नगर और किले का उत्तरदायित्व लेकर।

विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि रानी को कोटे की सराय जैसे गुरूत्वपूर्ण स्थान पर प्रायः दस हजार की सेना का दायित्व दिया गया था। उस सेना में ग्वालियर कंटिंजेंटी की सफेद और लाल कुर्तीवाली सेना भी थी। पाँचवी अस्थायी सेना और धुसर रंग का पाजामा और लाल कुर्तीवाली फौज ने भी रानी के नेतृत्व में युद्ध किया था। [31]

कंपू में रानी और बाँदा के नवाब सेना को परेड कराने लगे। कोंच और गुलौली में जिस प्रकार से हार स्वीकार करनी पड़ी थी यहाँ जिससे उसकी पुनरावुत्ति न हो। नेतागणों ने इस संदर्भ में आपस में बार–बार विचार–विमर्श कर दृढ़ संकल्प ले लिया।

छोटी–बड़ी मिलाकर अट्ठावन तोपें कोटे–की–सराय, किला, कंपू,

फूलबाग और मुरार के विभिन्न स्थानों पर तैनात करने का बंदोबस्त किया गया।

16 जून की रात लश्कर शहर मशालों के प्रकाश में दिन की तरह चमक रहा था। और उस उज्जवल प्रकाश में अविराम रूप से लोगों का लश्कर में आना–जाना चल रहा था।

कोटे–की–सराय और लश्कर के बीच का अंचल पर्वतों से भरा तथा खाई–खंदकों से पूर्ण है। कोटे–की–सराय नाम एक मुसाफिरखाने से आया है। यहाँ पर एक मामूली–सी गढ़ी, नदी और नाला थे। यही इलाका विषैले सर्पो के कारण भी खतरनाक था।

16 जून को सारी रात रानी और अन्य नेताओं में परामर्श के बाद कोटे–की–सराय से डेढ़ हजार गज दूर, आजकल जहाँ दुर्गा का मन्दिर है, उसके आस–पास कई तोपें लगा दी गयी। दोनों तरफ समतल जमीन पर दो सैनिक टुकड़ियों को तैनात का दिया गया। कंपू मैदान में खुद तात्या टोपे के निर्देश पर एक मोर्चा बनाया गया। कोटे–की–सराय से लश्कर के बीच की पहाड़ी घाटियों और खंदकों में पैदल, घुड़सवार और बन्दूकधारी सेना लेकर मुंदर को तैनात कर दिया गया। रघुनाथ सिंह एवं रानी ने एक साथ फूलबाग और कोटा के बीच में स्थित सेना का दायित्व ले लिया और कोटा में गुलमोहम्मद को नियुक्त किया गया। आजकल कटिया के नाम से प्रसिद्ध स्थान पर दूसरी एक टुकड़ी को लेकर बाँदा के नवाब शत्रु सेना की प्रतीक्षा करने लगे।

13 जून से लेकर 17 जून तक रानी ने प्रतिदिन रात–दिन मिलाकर छह घण्टे विश्राम किया या नहीं इसमें संदेह है। उसमें जरा भी थकान नहीं थी। किन्तु उसका घोड़ा राजरत्न थककर इतना चूर हो गया था कि उस घोड़े को लेकर युद्ध नहीं किया जा सकता था। इसलिए 17 जून को सबेरे रानी ने सिंधिया की

अश्वशाला से एक नया घोड़ा छाँट लिया। उसके बाद हाथ में शमशीर और कमर में खंजर बाँधकर रानी ने ग्वालियर कंटिंजेंटी के फौजियों की तरह सफेद पाजामा और लाल कुर्ता पहन लिया। सामरिक उच्च अधिकारी के पद के अनुसार गले में अपने पुराने कंठ को पहन लिया। झाँसी के नेवलकर वंश की तरफ से आशीर्वाद के रूप में वह मोतियों की कंठा उसे पन्द्रह वर्ष पहले मिला था। पैरों में उसने नागरा जूते, सिर पर बाँधा उसने चंदेरी का सफेद मुरैठा। बड़े तड़के अँधेरा रहते ही वह सैनिकों की ओर. चल दी। इधर–उधर व्यस्त सैनिक लोग उसे देखकर संभ्रमपूर्वक कहने लगे– बाई साहिबा आ रही हैं।[32]

17 जून, 1858 को ब्रिगेडियर स्मिथ के बिगुल बजाते ही युद्ध का आरम्भ हो गया । अंग्रेज आगे बढ़े। इस पर महारानी ने अपनी तोपों को कार्य करने का आदेश दे दिया । युद्ध के आरम्भ में ही ऐसा लगने लगा कि अंग्रेजों के पाँव उखड़ जायेंगे; महारानी के मुसलमान सैनिक अंग्रेजों पर हावी पड़ने लगे और अंग्रेजों की सेना महारानी की तोपों के लक्ष्य के अन्दर आ गयी थी। यह देख ब्रिगेडियर स्मिथ ने अपनी पूरी शक्ति महारानी की सेना के अग्रभाग में लगा दी। इससे उसके लिए पर्याप्त स्थान मिल गया और उसने अपनी सेनाओं को आगे बढ़ने का आदेश दिया। अंग्रेजी घुड़सवार सैनिक महारानी की व्यूह–रचना को तोड़ने के लिए आगे बढ़े। इस पर महारानी की सेना के अगले भाग से उनका भीषण संग्राम आरम्भ हो गया। दोनों पक्षों के वीर प्राणों को हथेली पर रखकर युद्ध करने लगे। युद्ध–क्षेत्र में तलवारों के टकराने, हताहतों की चीत्कारों, घोड़ों की टापों और हिनहिनाने से एक विचित्र दृश्य उत्पन्न हो गया। अनेक अंग्रेजी सैनिकों को अपने प्राणों से हाथ धोते देख कर्नल पेली ने 95वीं पल्टन तथा 10वीं इन्फैंट्री को आगे बढ़कर प्रतिपक्षी सेना के बगल पर धावा बोलने का आदेश दे दिया। 95वीं पल्टन के सैनिक पहले ही बहुत थक गये थे। जब

उन पर महारानी की सेना चारों ओर से आक्रमण करने लगी, तो उन्हें पीछे हटना पड़ा।

उधर कर्नल रेक्स और ब्रिगेडियर स्मिथ महारानी की सेना के बीच से आगे बढ़ने का प्रयत्न करने लगे। अंग्रेजों की सेना महारानी की सेना से कई गुना अधिक थी। महारानी की सेना पर भारी दबाब पड़ने लगा। जब महारानी ने यह सब देखा तो वह हाथ में तलवार चमकाती बिजली जैसी चपलता से अपनी सेना के आगे आ गयीं और उनका उत्साह बढ़ाने लगीं। महारानी के इस व्यवहार को देख उनके सैनिकों में एक नवीन उत्साह का संचार हो गया, उन्होंने प्राणों का मोह त्याग दिया और शत्रुओं पर टूट पड़े। अंग्रेजी सेना का एक अन्य भाग कोटे–की–सराय से लश्कर जाने वाले मार्ग से आक्रमण करने के लिए बढ़ने लगा। यह देख महारानी ने अपनी सेना को उसका सामना करने की आज्ञा दे दी। आज्ञा मिलते ही सैनिक उनके साथ उधर ही बढ़ चले। वहाँ भी घोर संग्राम छिड़ गया। सारे दिन भर यह युद्ध चलता रहा। महारानी के अद्‌भुत शौर्य और रण–कौशल से अंग्रेजों को वापस लौटना पड़ा।

यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि सिंधिया के सैनिक, जो इस समय महारानी के साथ थे उन्होंने युद्ध में कोई वीरता नहीं दिखायी। बाहरी रूप से तो उनका उत्साह देखते ही बनता था, किन्तु रणभूमि में उनकी व्यवस्था निम्नस्तरीय रहती थी। [33]

अंग्रेजों को युद्ध बन्द कर लौटना पड़ा था, अतः दूसरे दिन 18 जून, 1858 को वह निर्णायक युद्ध करने की भावना से रणभूमि में उतरे। आज वह प्रतिपक्ष की सेना पर कई ओर से हमला करना चाहते थे। इस कार्य के लिए उनके साथ हुर्जास पल्टन के घुड़सवार सैनिक थे। युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व दोनों पक्षों ने अपनी–अपनी पैदल सेनाओं को बीहड़ में छिपा दिया। आज अंग्रेज अपने विरोधियों

को बचाव का कोई अवसर न देने की ठानकर आये थे। इस कार्य के लिए कर्नल हिक्स और कप्तान हेनेज को रणभूमि में उतारा गया। सैनिकों को युद्ध का पूर्वाभ्यास तथा आवश्यक निर्देश देकर अंग्रेजी सेना के ये अधिकारी आगे बढ़ चले। [34]

अंग्रेज उन्हें पराजित करने के लिए एड़ी–चोटी तक की शक्ति लगा रहे थे, किन्तु महारानी भी महारानी ही थी; दोनों ओर का संघर्ष अपने पूरे वेग पर था, परन्तु कोई भी अपने प्रतिपक्षी को पराजित करने में समर्थ नहीं हो रहा था। दूसरी ओर मुरार की ओर से ह्यूरोज ने धावा बोला। वहाँ उसका सामना पेशवा की सेना से हुआ । पेशवा के सैनिक शूर सिद्ध नहीं हुए; शत्रु ने उनके दो मोर्चे थोड़ी ही देर में अपने अधिकार में ले लिए। इसका समाचार मिलते ही पेशवा राव साहब भयभीत हो गये किन्तु महारानी ने अंग्रेजों को आगे बढ़ने नहीं दिया। इस समय उनके कई सैनिक हताहत हो गये थे, तोपें आग उगल रहीं थीं, फिर भी महारानी को इसकी कोई चिन्ता न थी। उन्होंने अपने तोपखाने की भी आशा छोड़ दी। उनके पास इस समय केवल अपनी तलवार की शक्ति थी और वह उसी शक्ति से शत्रुओं को यमलोक पहुँचा रही थीं। [35]

महारानी के प्रचण्ड पराक्रम में कोई न्यूनता न आती देख दूसरी ओर से ब्रिगेडियर स्मिथ ने महारानी की पैदल सेना तथा तोपों को अपना लक्ष्य बनाया, इसमें अंग्रेजों को सफलता मिली; उन्होंने महारानी की दो तोपों तथा कुछ अन्य युद्ध–सामग्री पर अधिकार कर लिया। यह देख अंग्रेजों के प्रति आक्रोश से महारानी का उत्साह द्विगुणित हो उठा। उनके सामने केवल एक ही लक्ष्य रह गया था– शत्रु का संहार करो, इसके लिए अपने प्राणों का किन्चित मोह न करो। [36]

महारानी अपना अपूर्व शौर्य दिखा रही थीं, उनके तोपखाने पर शत्रु का अधिकार हो गया था, तभी ह्यूरोज ऊँटों की सेना लेकर आ गया। इससे

महारानी की सेना तितर–बितर हो गयी; उनका व्यूह बिखर गया। अंग्रेजों की सेना चारों ओर से बढ़ती चली आ रही थी; फिर भी महारानी के वीर अपने शौर्य का प्रदर्शन कर रहे थे।[37]

उधर पेशवा राव साहब का सैन्य–संचालन पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। अंग्रेजों की तोपें उन पर बरसने लगीं।

पेशवा स्वयं घबराये हुये थे, अतः उनकी सेना में साहस न रहा और वह भाग खडी हुई। राव साहब के इस निकम्मेपन के विषय में श्री पारसनीस ने लिख हैं–

"उनकी सेना का प्रबन्ध किसी काम का न था, वे युद्ध–विद्या जानते ही न थे। अंग्रेजों की भारी मार के सम्मुख वे न टिक सकते थे, फिर ऐसी फौज के बल पर कोई अपनी वीरता कैसे दिखा सकता है ? अंग्रेज लोग युद्ध–कला में विशेष निपुण थे उनकी बुद्धि, पॉलसी और कर्तव्यनिष्ठ होने के कारण सदैव उन्हीं की जीत होती थी। पराक्रम से जो यश नहीं मिलता था, उसे वे युक्ति से प्राप्त करते थे।"[38]

चारों ओर से अंग्रेजों से घिरी हुई महारानी लक्ष्मीबाई युद्ध करती रहीं। दूसरे दिन 19 जून 1858 को भी यह युद्ध चलता रहा। महारानी पुरूष परिधान में घोड़े पर सवार होकर युद्ध कर रहीं थी। उनका शरीर धूल धूसरित हो गया था। इसी कारण उन्हें घेरे हुए ब्रिगेडियर स्मिथ, कप्तान हेनेज तथा उनके हुर्जास पल्टन के सैनिक पहचान नहीं पा रहे थे। महारानी के पास उनकी दो सेविकाएँ भी उसी वेशभूषा में सदा उनके साथ रहती थीं। सम्भवतः इसीलिए महारानी को पहचान नहीं पाये। शत्रु–सेना किसी प्रकार उन्हें पराजित कर ग्वालियर के राजमहल पर अधिकार करने पर तुली हुई थी।[39]

19 जून के दिन इस प्रकार शत्रुओं से लड़ती हुयी महारानी लक्ष्मीबाई अन्त में उनकी सेनाओं से पूरी तरह घिर गयीं। इस समय उनके पास अपनी दो–तीन

सेविकाएँ, दो परम विश्वासपात्र सेवक तथा कुछ घुड़सवार सैनिक ही रह गये थे। ऐसे में संघर्ष का एक ही अर्थ था ; मृत्यु या अंग्रेजों का बन्दी होना और उसका परिणाम भी मृत्यु ही था ; फाँसी पर लटकना। महारानी की ओर की अन्य सेना तितर–बितर हो गयी थी या फिर अन्य स्थानों पर युद्ध कर रही थी। ऐसी स्थिति में महारानी इस घेरे से किसी तरह छूटकर अपनी अन्य सेना के साथ चली जाना चाहती थीं। हुर्जास पल्टन के सैनिक उनका यह आशय समझ गये, अतः वे उनके हर प्रयत्न को विफल कर रहे थे। महारानी के लिए उस घेरे से निकलना अत्यन्त कठिन हो गया। अतः वह प्राणों का मोह छोड़कर पुनः युद्ध करने लगीं। अंग्रेज सैनिकों की बन्दूकें रूकने का नाम नहीं ले रही थीं। महारानी की तलवार ने भी विश्राम न लेने का संकल्प ले लिया था। वह अनेक शत्रुओं के रक्त से स्नान कर प्रतिफल नवीन स्फूर्ति प्राप्त कर रही थी। तभी उन्हें एक पल का अवसर मिला ; उन्होंने अपने घोड़े को एड़ लगायी और संकेत पाते ही घोड़ा बिजली के समान तीव्र वेग से निकल भागा। महारानी अंग्रेजों का घेरा तोड़कर वहाँ से निकल गयीं। उन्हें भागता देख स्मिथ ने हुर्जास पल्टन के कुछ सैनिकों को उनका पीछा करने का आदेश दे दिया।[40]

यह युद्ध महारानी लक्ष्मीबाई के जीवन का अन्तिम युद्ध सिद्ध हुआ, इसी युद्ध में उनकी गर्जना अन्तिम गर्जना थी तथा उनकी तलवार अन्तिम बार शत्रुओं का रक्तपान कर तृप्त हुई थी।

REFERENCES

1. For. Sec. Cons. 31 July, 1857 No. 354 (D)

2. For. Sec. Cons. 31 July, 1857 No. 355

3. शान्ति नारायण : महारानी झाँसी, पृ0 22

4. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 130–131

5. वही, पृ0 132

6. Forrests : Selections, IV, Introduction, P. 82-86

7. Ibid, P. 87

8. S.N.Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand P. 107

9. Ibid, P. 108

10. Ibid 110

11. Forrests : Selections, IV, Introduction, P. 101

12. Ibid, P. 24

13. Thomas Lowe : Central India during the rebellion of 1857-58, P. 228

14. For. Pol. Cons. 10 September, 1858, No.25

15. ए. आर. नागर : आँखों देखा गदर, पृ0 83–84 (विष्णु गोडसे कृत 'माँझा प्रवास' का हिन्दी अनुवाद)

16. Thomas Lowe : Central India during the rebellion of 1857-58, P. 232-33

17. Kaye's & Malleson's History of the Indian Mutiny, 1857-58, Vol.V, P.110

18. ए. आर. नागर : आँखों देखा गदर, पृ0 86 (विष्णु गोडसे कृत 'माँझा प्रवास' का हिन्दी अनुवाद)

19. वही पृ0 85

20. Forrest : Selections, IV, P. 40-41

21. Ibid, P. 42

22. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 40–41

23. महाश्वेता देवी : जली थी अग्निशिखा, पृ0 79

24. वही पृ0 80

25. वही पृ0 81

26. वही पृ0 82

27. वही पृ0 83

28. वही पृ0 84

29. वहीं पृ0 85

30. वही पृ0 86

31. वही पृ0 102

32. वही पृ0 104–105

33. वही पृ0 125

34. वही पृ0 126

35. वही पृ0 128

36. डी0 बी0 पारसनीस : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 76

37. वही पृ0 77

38. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 152

39. वही पृ0 162

40. वहीं पृ0 163

नवाँ अध्याय

वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई का राष्ट्रीय बलिदान

वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई के घेरे से निकल भागने पर अंग्रेजों की हुर्जास पल्टन के गोरें बन्दूकें चलाते हुए उनके पीछे भागे। महारानी बन्दूक की गोलियों से किसी प्रकार बचती–बचाती बढ़ी चली जा रही थीं, किन्तु दुर्भाग्य से उन्हें एक गोली जा लगी। इससे वह ढ़ीली पड़ गयीं। फलस्वरूप घोड़ा तीव्रता से नहीं दौड़ा सकीं। पीछा कर रहे सैनिकों से उनका फिर युद्ध आरम्भ हो गया। अंग्रेज सैनिक संख्या में बहुत अधिक थे, फिर भी महारानी उन्हें मारती–काटती, आगे बढ़ती चली जा रही थीं।

मुन्दर और काशी दो सेविकाएँ तथा दो सेवक रामचन्द्र राव देशमुख और रघुनाथ सिंह महारानी के सच्चे स्वामीभक्त और परम विश्वास पात्र थे। महारानी के अंग्रेजों के घेरे से निकलने पर ये भी साथ आ गये और घोड़े पर बैठे हुए महारानी के पीछे–पीछे चल रहे थे। महारानी का दत्तक पुत्र सात–आठ वर्षीय दामोदर राव भी रामचन्द्र राव के साथ घोड़े पर बैठा हुआ था। महारानी ने अपने इन सेवकों से पहले ही कह दिया था कि यदि मैं मारी जाऊँ, तो मेरे मृत शरीर की ऐसी व्यवस्था करना कि फिरंगी उसे स्पर्श न कर सकें। यदि तुमने मेरी यह इच्छा पूरी कर दी, तो तभी अपने–आपको सच्चे सच्चे स्वामीभक्त समझना। इन सभी विश्वासपात्र सेवकों के साथ आगे बढ़ती हुयी महारानी हुर्जास पल्टन के सैनिकों से युद्ध करती जा रही थीं और वे शत्रु भी पीछे से प्रहार करते जा रहे थे। इसी क्रम में महारानी तलवार चलाती हुयी घोड़े को आगे बढ़ाकर जा रही थीं। सहसा उनके कानों में अपनी सेविका मुन्दर की करूणा भरी चीत्कार पड़ी– "बाई साहब ! मर गयी ! मर गयी !"

महारानी ने पीछे मुड़कर देखा, उनकी सेविका मुंदर का पीछा कर रहे अंग्रेज सैनिक ने उसे गोली मार दी थी। मुंदर का यह करूणाजनक अन्त देखकर

महारानी बिजली जैसी तेजी से उस अंग्रेज पर झपटीं और तलवार के एक ही वार से उसका सिर काटकर धरती पर गिरा दिया। इसके बाद स्वयं उसी क्षण घोड़े को आगे दौड़ा दिया। घोड़ा गोली लगने से पहले ही घायल था, फिर भी किसी प्रकार आगे बढ़ता जा रहा था, किन्तु तभी सोनरेखा नाला आ गया। नाले को देखकर घोड़ा रूक गया। स्वभावतः उसने अपनी शक्ति का अनुमान लगा लिया था कि इसे पार करना अब उसके वश में नहीं रह गया है। घोड़े को रूकता देख महारानी सब कुछ समझ गयीं, फिर भी उन्होंने उसे छलांग लगाने के लिए प्रेरित किया, उत्साहित किया, किन्तु कोई परिणाम न निकला, घोड़ा भी विवश हो गया था और तीन दिन के युद्ध से महारानी स्वयं भी थककर चूर हो गयी थीं। पीछे से शत्रु सैनिक बढ़े चले आ रहे थे। उन्होंने महारानी को जीवित पकड़ने का इसे अच्छा अवसर समझा और बिल्कुल ही समीप आ गये और महारानी पर एक साथ टूट पड़े। महारानी फिर भी तलवार चलाती रहीं। वह घायल सिंह के समान अपनी तलवार से उन पर बज्र बनकर टूट रही थीं। शत्रुओं ने उन्हें ऐसी दशा में भी तलवार चलाते देखा, तो वे सभंल गये । इस समय शत्रु भी तलवार का सामना करने लगे थे। दोनों ओर से घात–प्रतिघात होने लगे। तलवारों से तलवारें टकराने लगीं।

घोड़ा बहुत प्रयत्न करने पर भी अड़ा रहा। दोनों पैरों से खड़ा हो गया। रानी को पीछे खिसकना पड़ा। एक जाँघ काम नहीं कर रही थी। बहुत पीड़ा थी। पेट और जाँघ के घाव से खून के फव्वारे छूट रहे थे। गुलमुहम्मद आगे बढ़े हुए अंग्रेज सवार की ओर लपका। परन्तु अंग्रेज सवार ने गुलमुहम्मद के आ पहुँचने से पहले हीं तलवार का वार रानी के सिर पर किया। वह उनकी दायीं ओर पड़ा। सिर का वह हिस्सा कट गया ओर दायीं आँख बाहर निकल पड़ी। इस पर भी उन्होंने अपने घातक पर तलवार चलायी और उसका कन्धा काट दिया।

गुलमुहम्मद ने उस सवार के ऊपर कसकर भरपूर हाथ छोड़ा। उसके दो टुकड़े हो गये। बाकी दो–तीन अंग्रेज सवार बचे थे। उन पर गुलमुहम्मद बिजली की तरह टूट पड़ा। उसने एक को घायल कर दिया, दूसरे के घोड़े को लगभग अधमरा। वे तीनों मैदान छोड़कर भाग गये। अब वहाँ कोई शत्रु न था। जब गुलमुहम्मद मुड़ा तो उसने देखा– रामचन्द्र राव देशमुख घोड़े से गिरती हुयी रानी को साधे हुए है। दिन भर के थके–माँदे, भूखे–प्यासे, धूल और खून में सने हुए गुलमुहम्मद ने पश्चिम की ओर मुँह फेरकर कहा, खुदा पाक परवरदिगार रहम–रहम ! उस कट्टर सिपाही की आँखें आँसुओं को मानो बरसाने लगीं और वह बच्चों की तरह हिलक–हिलककर रोने लगा।

रघुनाथ सिंह ने देखमुख से कहा, एक क्षण का भी विलंब नहीं होना चाहिए। अपने घोड़े पर इनको होशियारी के साथ रखो और बाबा गंगादास की कुटी पर चलो। सूर्यास्त होना ही चाहता है। देशमुख का गला रूंधा हुआ था। बालक दामोदर राव अपनी माता के लिए चुपचाप रो रहा था। रामचन्द्र ने पुचकारकर कहा– इनकी दवा करेंगे, अच्छी हो जायेंगी, रोओ मत। रामचन्द्र ने रघुनाथ सिंह की सहायता से रानी को सँभालकर अपने घोड़े पर रखा। रघुनाथ सिंह ने गुलमुहम्मद से कहा, कुँवर साहब इस कमजोरी से काम बिगड़ेगा। याद करिये, अपने मालिक ने क्या कहा था ? अंग्रेज अब भी मारते–काटते दौड़–धूप कर रहे हैं। यदि आ गये तो रानी साहब की देह का क्या होगा ? गुलमुहम्मद चौंक पड़ा। साफे के छोर से आँसू पोंछे। गला बिल्कुल सूख गया था। आगे बढ़ने का इशारा किया। वे सब द्रुतगति से बाबा गंगादास की कुटी पर पहुँचे।

बिसूरते हुए दामोदर राव को एक ओर बैठाकर रामचन्द्र ने अपनी वर्दी पर रानी को लिटाया और बचे हुए साफे के टुकड़े से उनके सिर के घाव को बाँधा। रघुनाथ सिंह ने अपनी वर्दी पर मुंदर के शव को रख दिया। गुलमुहम्मद ने

अपने घोड़े को जरा दूर पेड़ों से अटकाया। बाबा गंगादास ने पहचान लिया बोले–सीता और सावित्री के देश की लड़कियाँ है ये। रानी ने पानी के लिए मुँह खोला। बाबा गंगादास तुरन्त गंगाजल ले आए। रानी को पिलाया, उनको कुछ चेत आया।

मुँह से पीड़ित स्वर में धीरे से निकला, 'हर हर महादेव' ! उनका चेहरा कष्ट के मारे बिल्कुल पीला पड़ गया। अचेत हो गयी। बाबा गंगादास ने पश्चिम की ओर देखकर कहा अभी कुछ प्रकाश है। परन्तु अधिक विलंब नहीं । थोड़ी दूर घास की एक गंजी लगी हुयी हैं। उसी पर चिता बनाओ। मुंदर की ओर देखकर बोले यह कुटी में रानी लक्ष्मीबाई के साथ कई बार आयी थी। इसका तो प्राणांत हो गया। रघुनाथ सिंह के रूद्ध कंठ से केवल 'जी' निकला। उसके मुँह में भी बाबा ने गंगाजल की कुछ बूँदें डालीं। रानी फिर थोड़े से चेत में आयी। कम–से–कम रघुनाथ सिंह इत्यादि को यही जान पड़ा। दामोदर राव पास आ गया। उसको अवगत हुआ कि उसकी माँ बच गयी और फिर खड़ी हो जाएँगी। उत्सुकता के साथ उनकी ओर टकटकी लगायी।

रानी के मुँह से बहुत टूटे स्वर में निकला 'ओउम वासुदेवाय नमः। इसके उपरान्त उनके मुँह से जो कुछ निकला वह अस्पष्ट था। होंठ हिल रहे थे। वे लोग कान लगाकर सुनने लगे। उनकी समझ में केवल तीन टूटे हुए शब्द आये। ''द. .....ह.....ति.....नै......नं......पावकः'' मुखमण्डल प्रदीप्त हो गया। सूर्यास्त हुआ। प्रकाश का अरूण पुंज दिशा के भाल पर था। उसकी अगणित रेखायें गगन में फैली हुयी थीं। देशमुख ने विलखकर कहा, झाँसी का सूर्य अस्त हो गया।' रघुनाथ सिंह बिलख–बिलखकर रोने लगा। दामोदर ने चीत्कार दिया।

बाबा गंगादास ने कहा, प्रकाश अनन्त है। वह कण–कण को भासमान

कर रहा है। फिर उदय होगा। फिर प्रत्येक कण मुखरित हो उठेगा। बाबा गंगादास ने सचेत किया, 'झाँसी की रानी के सिधार जाने को अस्त होना कहते हो। यह तुम्हारा मोह है। वह अस्त नहीं हुयी। वह अमर हो गयी है।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई 'बाई साहब' अमर है।

(1) लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शौर्यपूर्ण कार्य :

भारतीय वसुन्धरा को गौरवान्वित करने वाली झाँसी की रानी वीरांगना लक्ष्मीबाई वास्तविक अर्थ में आदर्श वीरांगना थी। उन्होंने अन्तिम समय तक भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की मशाल की लौ को कम नहीं होने दिया। उन्होंने अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अपना सबकुछ बलिदान कर दिया। [1]

झाँसी शहर में प्रवेश करने के बाद ह्यूरोज महारानी लक्ष्मीबाई के महल पर अधिकार करने के लिए चल पड़ा। उधर किले की दीवार से जब वहाँ स्थित पहरेदारों ने शहर की ओर देखा, तो वहाँ हजारों गोरें घूम रहे थे। और हाहाकार मचा हुआ था। यह देखकर कुछ देर के लिए महारानी सन्न ही रह गयी, किन्तु दूसरे ही पल उन्होंने स्वयं पर नियंत्रण पा लिया। उनकी इस दशा का शब्द–चित्रण करते हुए श्री पारसनीस ने लिखा है–

" जब उन्होंने शहर के दक्षिण भाग की ओर देखा, तब शहर के भीतर हजारों गोरों को घूमते देखकर और शहरवासियों के हाहाकार को सुनकर क्षण भर के लिए उनका धीरज छूट गया। उनके चेहरे पर निराशा और भय के चिन्ह दीख पड़ने लगे। इस कुसमय में भी अपने हृदय को मजबूत कर उन्होंने विचारा कि यह शरीर अनित्य है, इसे किसी दिन परित्याग करना पड़ेगा ; तब कायर–पुरूषों की तरह कायरता दिखाना बड़ी लज्जा की बात होगी। जो युद्ध में पीठ फेरते है ; उनकी गति नहीं होती।"

अतः महारानी लक्ष्मीबाई ने अपने सैनिकों से कहा– "रणवीरों ! अब

अधिक सोच–विचार का समय नहीं रह गया है ; अन्तिम बार वीरों के योग्य साहस दिखाते हुए मर–मिटने का समय आ गया है। क्रूर शत्रु के हाथों बन्दी बनकर फाँसी पर लटकाये जाने की अपेक्षा कहीं उचित और प्रशंसनीय होगा कि हम सिंहो के समान शत्रु का विनाश करते हुए वीरगति वरण करें। अतः आओं, आगे बढ़ो और शत्रु का संहार करते हुए अमर हो जाओ, जिससे जाति के कवि तुम्हारे वीरोचित कर्मो का गुणगान करने में प्रसन्नता का अनुभव करें।'' [2]

इसके बाद वह हथियार बाँधकर शीघ्र किले से नीचे उतर गयी। उनके पीछे–पीछे उनके लगभग ड़ेढ हजार अफगान सैनिक भी चल पड़े। किले के द्वार से निकलते ही उन्होंने शहर के दक्षिण की ओर से घुस आये अंग्रेजों पर आक्रमण किया। महारानी घोड़े पर सवार होकर हाथ में नंगी तलवार लिए आगे बढ़ रही थीं और उनके पीछे–पीछे अफगान सैनिक चल रहे थे। अफगान सैनिक गोरों को काट–काटकर भूमि में बिछाने लगे। अफगानों के रूप में अपने काल को सामने देख गोरें इधर–उधर गलियों में भाग गये तथा वहीं से महारानी और उनके सैनिकों पर गोलियाँ चलाने लगे। इसी बीच अंग्रेजों की और सेना भी आ गयी। उस सेना ने भी छिपकर गोलियाँ चलाना आरम्भ कर दिया। इन विषम परिस्थितियों को देखकर वृद्ध नाना भोपटकर ने महारानी से कहा–

''इस तरह खुले मैदानों में प्राणों से खेलना अच्छा नहीं है। गोरें आड़ से गोलियाँ चला रहे हैं। शहर में हजारों फिरंगी घुस आये है। अतः अच्छा यही होगा कि आप किले में चलकर भावी योजना पर कुछ विचार करें।'' [3]

महारानी को वृद्ध नाना भोपटकर का परामर्श उचित जान पड़ा। अतः वह शत्रुओं का संहार करती हुयी दुर्ग की ओर मुड़ गयी और अपने कुछ सैनिकों के साथ सुरक्षित वापस किले में आ गयी तथा भावी कार्यक्रम पर विचार करने लगीं।

4 अप्रैल को दोपहर बाद विकाल में ओरछा और दतिया से ब्रिटिशों की मद्द करने सेनाएँ आ गयी। नगर के हर दरवाजे के बाहर चालीस गज के फासले पर तीन कतारों में पहरा लगा दिया। रानी किले में है। वह अथवा और कोई जिससे झाँसी से छिपकर अलक्षित रूप से निकलकर जाने न पाये इसके लिए यह व्यवस्था की गयी है।[4]

निश्चय हुआ कि पहले रानी निकल जायेगी। उसे अंग्रेज लोग न देख सकें इसके लिए लालाभाऊ बख्शी पूर्व दिशा की बुर्ज से कड़क बिजली तोप चलाकर राजमहल के पास तैनात अंग्रेज सैनिकों को हड़बड़ी में डाल देंगे।

उस दिन चाँद उदित होगा आधी रात को। चंद्रमा निकलने के कुछ ही देर पहले चुपचाप रानी की अत्यन्त प्रसिद्ध सारंगी को लाया गया किले की उत्तरी दिशा में। उत्तरी दिशा में किले की दीवार के नीचे थी हस्तिशाला और घुड़साल। उसकी तरफ के दरवाजे से होकर रानी अपनी सखी मुंदर, काशी, रघुनाथ सिंह, गुलमुहम्मद एवं चार सौ अफगान सैनिकों को लेकर बिना शब्द किये निकल गयी। किवदंती यह है कि रानी किले की पश्चिमी दिशा में सारंगी को लाकर खिड़की से रस्सी पकड़कर नीचे उतर आयी थी। उसकी पीठ से दामोदर राव बँधे हुए थे। कुतूहल–भरे दर्शकों को आज भी झाँसीवासी पश्चिमी दिशा में किले की पहाड़ी को दिखाकर कहते हैं, 'यहाँ से ही बाई कूद गयी थी, उनका लड़का भी गोद में था। और वह घोड़ी से कूदकर आयी और घोड़ी मर भी गयी।' यह कहानी पूरी तरह गप्प है। क्योंकि इस तरह से एक व्यक्ति का आना संभव भी है किन्तु चार सौ लोगों का आना किसी भी तरह संभव नहीं लगता। इसके अलावा किसी की नजर पड़े यह इच्छा रानी की जरा भी नहीं थी। अंग्रेज लोग अगर जान पाते तो उनका उद्देश्य पूरी तरह व्यर्थ हो जाता। नजर में पड़ने से काम नहीं

चलेगा इसीलिए उन्होंने अपनी सेना को तीन भागों में बाँटकर अलग–अलग निकल जाने का निर्देश दिया था। [5]

दामोदर राव के एकमात्र पुत्र श्रीयुत लक्ष्मण राव ने अपने पिता से किला छोड़ने के विषय में जैसा सुना था उसी के अनुसार दामोदर के विषय में लिखा गया–

''रानी ने दामोदर को अपनी पीठ से बाँध लिया। सारा शहर उस समय जल रहा है। मृत्यु के हाहाकार और अग्नि तांडव के बीच अंग्रेज सैनिक यमदूत की तरह विराजमान हैं। उन्हीं के बीच से निकल गयी रानी। पश्चिम में भाँडेर फाटक पर प्रतीक्षा कर रहा था एक कोरी। उसने फाटक खोल दिया। रानी निकल आयी। सामने एक–के–बाद एक तीन कतारों में अंग्रेजों का पहरा था। ओरछा के कुछ सैनिक भी वहाँ थे। उन लोगों ने जानना चाहा–कौन जाता है ? अकंपित स्वर में बुंदेलखण्डी भाषा में रानी ने जवाब दिया, हम लोग ओरछा से आ रहे हैं– ओरछा की फौज है ! उनकी आवाज थोड़ी भारी थी।''

उसके बाद किसी भी तरह की हड़बड़ाहट बिना दिखाये धीरे–धीरे वे लोग निकल गये। जाते समय उन लोगों को तीन कतारोंवाले अंग्रेज पहरे को भेदकर जाना पड़ा। [6] 'रानी और उनके साथियों को कोट के बाहर की भूमि का राई–रत्ती पता था। अंधेरे में वह सहज ही बढ़ती चली गयी। बातचीत बिल्कुल धीरे–धीरे होती थी। अंजनी की टौरिया के पास ओरछे की सेना का और एक अंग्रेज छावनी का पहरा था। यहाँ रोक–टोक हुयी, लड़ाई भी हुयी। यहाँ से रानी के साथ केवल दस–बारह सवार रह गये और मुंदर। निरापद स्थान पर आते ही तेजी से कालपी की ओर चलने लगी रानी।

मोरोपन्त ताम्बे और लालाभाऊ बख्शी किला छोड़कर बाहर तो आ गये किंतु तत्काल चाँद निकल आता है। इस कारण उनके लिए और आगे निकल पाना

संभव न हुआ। उधर जवाहर सिंह चार सौ सैनिकों को लेकर झाँसी नगर के रास्ते में ही अटक गया एवं इधर–उधर युद्ध करते हुए वह पूरी सेना के साथ मारा गया।

5 अप्रैल के सवेरे ही से मोरोपन्त ताम्बे और लालाभाऊ बख्शी ने किले से पश्चिम में एक पहाड़ी पर अधिकार कर लिया। लालाभाऊ की पत्नी बख्शिन जू 28 मार्च को किले में अंग्रेजों के गोले के आघात से मारी गयी थी। लालाभाऊ बख्शी का घर यद्यपि आज दूसरे लोगों के अधिकार में है, किंतु आज भी वह बख्शी की हवेली के नाम से ही विख्यात है। [7]

लालाभाऊ और मोरोपन्त के नेतुत्व में चार सौ सैनिकों ने उस टीले पर खड़े होकर देखा कि चारों तरफ उनके अंग्रेजी सेना है। समझ गये कि यह युद्ध संभवतः अंतिम युद्ध है। इसी बीच मेजर गॉल उन लोगों को घेर लेता है किंतु भारतीयों से घबराकर उसने कातर भाव से ह्यूरोज से सहायता की माँग की। अंत में छह सौ अश्वारोही और पदाति सेना के द्वारा घेर लेने पर भयंकर युद्ध के बाद अंग्रेजों के लिए उस पहाड़ी पर अधिकार करना संभव हुआ। मोरोपन्त ताम्बे और लालाभाऊ बख्शी भागने में सफल हो गये। पहाड़ी पर अधिकार करने के बाद अंग्रेज लोग एक भी भारतीय को जीवित नहीं देख पाए। मोरोपन्त ताम्बे के पैर में तलवार लग गयी थी। अवश्य जिन बीस भारतीय जनों को उन लोगों ने अर्धमृत अवस्था में पाया था उनको उन्होंने बारूद की आग में जलाकर मार डाला। [8]

मोरोपन्त और लालाभाऊ ने घोड़ों पर चढ़कर कालपी भाग जाने का विचार किया था। किंतु मोरोपन्त के घाव में जहर फैल जाने के कारण उन लोगों को दतिया राज्य में अकोला गाँव में छिपकर रहने को बाध्य होना पड़ा। [9] उसी समय रोबर्ट हेमिल्टन दतिया गया हुआ था। दतिया को अपनी ओर से अंग्रेजों के प्रति अपनी राज्यनिष्ठा दिखाने का एक चमत्कार पूर्ण अवसर मिला। आहत

मोरोपन्त और सेवारत लालाभाऊ बख्शी को पकड़वा दिया अकोला गाँव के ताल्लुकेदार ने। दतिया के दरबार में रोबर्ट हेमिल्टन को वही दो बहुमूल्य बंदी उपहार में दिये गये।[10]

मोरोपन्त ताम्बे और लालाभाऊ बख्शी को बंदी बनाकर झाँसी लाया गया। उन दिनों झाँसी में न्याय नामक एक विराट प्रहसन नित्य अनुष्ठित हुआ करता था। रोज ही पचास, साठ, एक सौ लोगों को पकड़ कर लाया जाता। बड़े–बड़े अफसरों के सामने उनके ऊपर विचार किया जाता एवं रानी की सहायता करने के अपराध में उन्हें फाँसी दे दी जाती ।[11]

मोरोपन्त को भी विचार सभा में लाया गया। मोरोपन्त ने संक्षेप में कहा–''1857 ई. के जून मास में मैं झाँसी में उपस्थित था। किले में अवरूद्ध अंग्रेजों की मैंने कोई मदद नहीं की । अंग्रेजों की हत्या के समय मैं रानी के साथ महल में था। 5 अप्रैल 1858 ई. तक मैंने एक दिन के लिए भी झाँसी नहीं छोड़ीं।'' लालाभाऊ बख्शी ने तो एक बात का भी उत्तर नहीं दिया। दोनों लोगों को ही फाँसी का हुक्म हुआ। 19 अप्रैल को झोंकन बाग में उन लोगों को फाँसी दे दी गई।[12]

जब ह्यूरोज को महारानी के कालपी जाने का पता लगा, तो मानों उसके हाथ के तोते उड़ गये। वह महारानी की इस वीरता और चतुरता की प्रशंसा किये बिना न रह सका। उसने तुरन्त लेफ्टीनेन्ट बाकर को महारानी का पीछा करने का आदेश दे दिया। बाकर निजामशाहीं की सेना की एक पल्टन लेकर महारानी को पकड़ने के लिये चल पड़ा, किन्तु रात्रि–भर लगभग 20–25 मील दौड़ते रहने पर भी वह रानी को पकड़ पाने में असफल रहा।[13]

इस तरह शत्रु के व्यूह से महारानी का यह पलायन वस्तुतः अचम्भित कर देने वाला था। इस विषय में प्रख्यात अंग्रेज इतिहासकार मेंडोज

टेलर ने लिखा है–

''उस रात की यह यात्रा उन सभी के लिये जान को जोखिम में डालने के समान थी, क्योंकि '14 ड्रेगन' नामक अंग्रेज रिसाला तथा हैंदराबाद कंटिंजेट सेना के दस्ते सावधानीं से शहर में पहरा दे रहें थे। उनसे कही पर भी टक्कर होना निश्चय ही उनके लिये मृत्यु का कारण बन जाता। किन्तु वह वीर समूह किस प्रकार उन सबकी आँखो में धूल झोंककर सकुशल बच निकला, यह एक ऐसा रहस्य है, जो अब तक नहीं खुल सका। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रानी के पथ प्रदर्शक अपने कठिन कार्यों में अत्यन्त चतुर और कुशल थे। फिर रानी स्वयं भी अत्यन्त निडर और अदभुत घुड़सवार थी। अतः वह बिजली के समान तीव्रता से उस विस्तीर्ण मैंदान की ओर बढ़ती चली गयी, जिसके उस पार उनके लिये सुरक्षा की कुछ आशा हो सकती थी। ''

कोंच के युद्ध में वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई के शौर्य की प्रशंसा करते हुये ह्यूरोज ने कहा है– एक तरफ जब रानी के नेतृत्व में शत्रु सेना कोंच से अत्यन्त शीघ्रता से पीछे हटती जा रही थी, दूसरी तरफ यह स्वीकार करना चाहिये कि उनके पीछे हटने में अत्यन्त दृढ़ता और बुद्धिमता दृष्टिगत हो रही थी। मुख्य सेना के सुरक्षा पूर्वक पीछे हटने में पीछे की सेना ने पर्याप्त सहयोग किया था। आक्रमण होने पर उन लोगो ने बंदूक फेककर तलवारों से मरने मारने को उतारू होकर युद्ध किया था।

के और मेलसन ने कहा है– उस समय रानी की तैयारी और तत्परता देखकर अनेक शत्रुओं को भी प्रशंसा करने को बाध्य होना पडेगा। उन्होंने जिस तरह से पीछे हटने के कार्य को परिंचालित किया था, उसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती । उनमें किसी भी प्रकार की हडबड़ी नहीं थी , किसी तरह की

विश्रृंखलता नहीं थी और पीछे हटने के कारण किसी प्रकार की व्यग्रता नहीं थी। सभी कुछ बड़ी व्यवस्थित रीति से परिचालित हो रहा था। दो मील लंबी उस सेना में कही पर भी ढिलाई नहीं थी उनकी गतिविधियाँ इतनी आंतककारी थी कि अंत में रोज को गोली चलाने का आदेश देना पड़ा। [14]

ग्वालियर किले पर आक्रमण करने की योजना की दुःसाहसिकता के संबंध में टी0 राइस होल्समेस कहता है गहन अंधकार पूर्ण क्षणों में प्रतिमा की अग्निशिखा दीप्ततम तेज के साथ प्रज्वलित हो उठी। रानी अथवा तात्या टोपे के दिमाग में एक योजना आई। अविस्मरणीय आर्कट पर अधिकार करने की तरह मौलिक एवं दुःसाहस पूर्ण यह योजना थी। के और मेलसन कहते है विद्रोही नेताओ की परिस्थिति पूरी तरह से विपत्तिजनक लगी। किंतु परिस्थिति जब विपत्तिजनक हो तो उसका प्रतिकार भी संकटपूर्ण होने के लिये बाध्य है। प्रारम्भिक स्थिति में यह मार्ग चाहे जितना विपत्तिजनक लगा हो, उन लोगों में से सिर्फ एक व्यक्ति के उर्वर मस्तिक से इसका उदभव हुआ था। किन्तु नेता लोगों के पूर्व कार्य–कलापो पर विचार करके हम लोग रावसाहब और बाँदा के नबाव को इस एक बात से ही छोड़ सकते है। ऐसी बड़ी और दुःसाहसी योजना गठन करने की मानसिक बनावट अथवा प्रतिमा उन लोगों में कुछ भी नहीं थी। बाकी दो लोगों में तात्या टोपे को भी छोड़ा जा सकता है। वे ऐसी योजना बनाने में अक्षम थे ऐसा नहीं है। उनका लिखा हुआ जो बयान हम लोगों को मिला है, उसी से हम लोगों को पता चलता है कि उनके नाम के साथ जुड़े सर्वाधिक सार्थक और गौंरवपूर्ण इस काम के लिये उन्होंने स्वयं अपने किसी कृतित्व का दावा ही नहीं किया हैं। महत कीर्ति स्थापित करने के लिये जो प्रतिभा, शौर्य और दुःसाहस अपरिहार्य है वह सिर्फ चोथे व्यक्ति में ही था। वह घृणा, प्रतिशोध स्पृहा और यथा अवसर प्रचंड आघात करने के दृढ़–संकल्प से प्रेरित थी।

उसके सामने जो सम्भावना हुई उसे उसने समझ लिया था एवं उसने आशा की थी कि अगर पहला आघात सफल हो गया तो युद्ध का मोड़ दूसरी तरफ हो जाने से भाग्य प्रसन्न हो सकता है। राव साहब के ऊपर उसे असाधारण विश्वास था। इसी कारण प्रायः यह निष्कर्ष निकालना सही है कि गोपालपुर में विद्रोहियो ने जो रास्ता अपना कर उसे कार्यान्वित करने का दृण संकल्प कर लिया था, उसका सूत्रपात करने वाली झाँसी की रानी थी। उन्होंने ही अपने साथियों पर अपना प्रभाव डालकर यह निर्णय लेने को राजी किया था।[15]

कार्य के अवसर पर बाँदा के नबाव एक दिन बाद ही गोपालपुर में उपस्थित हो सके। घायल सैनिकों की देख–रेख कर बची हुई सेना को ग्रामवासियों की सहायता से विपत्ति पूर्ण इलाकों को पार कर सुरक्षित अंचलो से होकर ले आने में उन्हें एक दिन की देरी हो जाती हैं । तात्या टोपे आत्मधिक्कार की ग्लानि से मुँह नीचा कर बैठे रहे। कुछ कहने लायक उनका मुँह था ही नहीं। रावसाहब, रानी एवं बाँदा के नवाब के ऊपर कालपी का भार डालकर चलें आने के सबब से अपनी जिम्मेदारी से बचकर चले आने के कारण उनके साथियों ने तो उनसे कुछ नहीं कहा फिर भी वे उसका अनुभव कर सकते थे। झाँसी की रानी की निकट वे अपने को सर्वाधिक अपराधी महसूस कर रहे थे। अथच अपराध स्वीकार करने में उनका अंहकार बाधक था। साथियों की चुप्पी को उन्होंने तिरस्कार समझा और चुप बने रहे।[16]

रानी की अवस्था उस समय सबसे संगीन थी। पुत्र सहित पकड़े जाने पर उनकी क्या हालत होगी इसे वे अच्छी तरह समझती थीं। उस शोचनीय परिणित की निश्चित प्रतीक्षा की अपेक्षा युद्ध को ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा। पर युद्ध वे किसके भरोसे पर करेंगी ? कालपी के बाद युद्ध के लिए सुसज्जित छावनी और कहाँ है ? सेना, धन, बारूद, किला कुछ भी तो नहीं है। अकस्मात एक आशा से उसका

मन उत्साहित हो उठा। कुचित भौंहों से दृष्टि पृथ्वी पर टिका उन्होंने थोड़ी देर के लिए विचार किया। उसके पश्चात अपने साथियों के सम्मुख अपने विचार प्रकट किए। उन्होंने कहा, ''मध्य भारत के सर्वश्रेष्ठ नगर ग्वालियर पर अधिकार करना होगा।'' यह प्रस्ताव करते ही रावसाहब और बाँदा के नवाब बोले, ''यह नहीं हो सकता यह प्रस्ताव कार्य में परिणित करना असंभव है।''किन्तु तात्या के समक्ष रानी के प्रस्ताव का अंतर्निहित अर्थ क्षण भर में ही उद्घाटित हो गया। उन्होंने समझ लिया, जयाजीराव सिंधिया को अपने दल में खींच लाना चाहे संभव न हो किंतु फौजी छावनी को अपने अधिकार में करके ग्वालियर से सैनिक सामंत, अस्त्र–शस्त्र, हाथी–घोड़ा, धन संग्रह करके अगर दक्षिण में चला जाना हो जाये, तो महाराष्ट्र में ब्रिटिश–विरोधी जागरण फैला देना संभव हो जायेगा। सामने वर्षा आसन्न है। पहाड़ी नदियाँ दुरतिक्रम्य हो जाने से ब्रिटिश फौज के आगे बढ़ने में बाधक हो जाएँगी। वर्षा के दो महीने बीत जाने की प्रतीक्षा करने को जब ब्रिटिश फौज बाध्य होगी, तब महाराष्ट्र के दुर्गम पर्वतों और जंगलो में उनकी सेना अपने प्रतिरोध की तैयारी कर सकेगी। महाराष्ट्र के पर्वतीय झरने और नदियाँ लबालब भरकर उनके पहरेदार का काम करेंगी। तात्या टोपे रानी के प्रस्ताव पर सहमत हो गए। [17]

रानी तेजोदीप्त नेत्रों से नेताओं को उत्साहित करने लगी। निर्णय हुआ कि व्यर्थ समय न बिताकर बिना देरी के वे लोग ग्वालियर के लिए प्रस्थान करेंगे। उनके बचे हुए सैनिकों को सूचना भेज दी गई आधी रात को सिपाही लोग उस समय लकड़ियाँ जलाकर रोटी सेक रहे थे। यह खबर पाकर वे भी उल्लासित हो उठे। जल्दी–जल्दी खाना पीना पूरा कर रात का अँधेरा खत्म होते–न–होते आँधी के वेग से भारतीय सेना ग्वालियर के पथ पर रवाना हो गई। बड़े सबेरे मधु, दूध, आटा, लकड़ी और गुड़ सब लेकर देने के लिये जो गाँव बाले आये थे उन्होंने देखा वहाँ पर सिर्फ

जली हुई लकड़ी और राख पड़ी हुई है। पूरा स्थान जनशून्य और नीरव है। वे मन–ही–मन अवाक् रह गये। उधर भारतीय सेना तब नवीन कार्य से घोड़ो के खुरो से धूल की आँधी उड़ाती हुई दौड़ी चली जा रही है। जिस वृद्ध सैनिक के पैर में चोट लग गई, वह भी पीछे नहीं रहा। [18]

रणभूमि में पीठ दिखाकर भागने के बाद जीवाजीराव सिन्धिया का ग्वालियर में रहना निरापद नहीं था, अतः वह अपने दीवान दिनकर राव तथा कुछ अन्य व्यक्तियों को साथ लेकर वही से धौलपुर होते हुये आगरा जा पहुचें। कहाँ तो विद्रोहियो का दमन कर अपने स्वामी अंग्रेजों को प्रसन्न करना चाहते थे, कहाँ वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई से अपने प्राण बचाकर उन्हे स्वयं भागना पड़ा। उनकी महारानी के समक्ष हुई पराजय के बिषय में श्री पारसनीस ने लिखा है–

'' वास्तव में सिन्धिया सरकार ने उस समय अपनी अंग्रेज भक्ति का बहुत अच्छा परिचय दिया और अपनी मित्रता का पालन करने के लिये उन्होंने प्राणो की भी कुछ परवाह न करके प्राचीन सम्बन्धियो से युद्ध किया। यह बात जिस प्रकार उस समय उनके लिये गौरव की हुई, उसी प्रकार झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अपने पराक्रम से स्वराज स्थापना करने की अभिलाषा से जो कीर्ति सम्पादन की, वह भी सदैव अटल रहेगी। यह कोई सामान्य बात नहीं है कि जिनके शौर्य की बड़े बड़े यूरोपियन लोगों ने तारीफ की है, जिनकी लड़ाई को देखकर शत्रु की छाती दहल उठती और जिनके रथी– महारथी, शूर–सरदारो, को देखकर विजय श्री स्वयं वश में हो जाती, वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई ने किसी प्रकार की किसी विशेष सहायता के न होने पर भी, केवल अपनी तलवार के जोर पर संग्राम से भगा दिया।'' [19]

वीरांगना झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई ने अनेकों मोर्चो पर अंग्रेजों के साथ अपनी अतुलनीय वीरता का परिचय प्रस्तुत किया। लेकिन अंग्रेजों की दासता

को स्वीकार नहीं किया। अपने जीवन को भारत की आजादी की लडाई का मुख्य मुद्दा बनाये रक्खा।

(2) अंग्रेजों को हताषा :

ह्यूरोज के नेतृत्व में गठित दोनों ब्रिगेडों में यूरोपियन सैनिक अफसर मिलाकर डेढ़ हजार थे। भारतीय सैनिकों की संख्या थी छह हजार। इसके अलावा 'सीज ट्रेन' में सिगनलर, इंजीनियर, डॉक्टर, पशु–चिकित्सक आदि मिलाकर पाँच सौ लोग थे। केनिंग एवं कैम्पवेल झाँसी के संबंध में चिन्तित होने लगें। उन्हे शंका हुई कि संभवतः ह्यूरोज की सेना झाँसी जीतने के लिये पर्याप्त न होगीं। [20]

24 जनवरी 1858 ई. को डब्लू. आर. मेन्सफील्ड, मेजर जनरल चीफ ऑफ दा स्टाफ ने ह्यूरोज को लिखा– अगर अपने वर्तमान अभियान में झाँसी पर अच्छी तरह से कब्जा हो जाता है तो यह जानकर सर कोलिन को बहुत खुशी होगी यह काम हमारे लिये अत्यंत महत्व का है। जब तक यह काम हो नहीं जाता है तब तक सर कोलिन को इसी तरह की चिंता लगी रहेगी। झाँसी की दृणता उन्हे जो मुड़ने नहीं दे रही है, कमांडर इन–चीफ की हालत को आशा है तुम समझ गए होगे। वे तुम्हारे ऊपर ही निर्भर है अतीत की तरह।

कमांडर–इन–चीफ ने झाँसी जीतने पर जो इतना महत्व दिया था, ह्यूरोज उसी झाँसी को जीतकर यश–उपार्जन करने के उस सुअवसर को नहीं छोड़ना चाहता था।

ह्यूरोज के सैनिकों की संख्या अपर्याप्त है, कैम्पवैल और केनिंग दोनों की ही यह चिंता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

कैम्पवैल के आदेश से मेन्सफील्ड ने ह्यूरोज को सूचित किया–

कानपुर, 11–2–1858

माननीय् कमांडर–इन–चीफ के आदेश से झाँसी के प्रति आपका ध्यान आकर्षित कर रहा हूँ ।

आप निश्चय ही यह जानतें होगें कि थोडे समय में ही झाँसी जीतने पर कितना महत्व दिया जा रहा है। किंतु अगर झाँसी में प्रत्याक्रमण की व्यवस्था अधिक शक्तिशाली होती है और नगर में विद्रोहियों की संख्या पर्याप्त है या नहीं, यह संदेह जनक है।

माननीय् कैम्पवैल जानते है कि आपके पास ब्रिटिश सैनिकों की संख्या पंद्रह सौ से अधिक नहीं है।

वे सोचते है कि इस गुरूत्वपूर्ण कार्य का भार ग्रहण करने के पहले आपको सर रोबर्ट हेमिल्टन अथवा अन्य किसी भी सूत्र से शत्रु सेना की संख्या ठीक जान लेना उचित था। अपर्याप्त सैन्य संख्या लेकर झाँसी के प्रयास का परिणाम अवांछनीय होना असंभव नहीं है।

इन सब बातों की विवेचना करके अगर आपको लगता है कि झाँसी पर नियंत्रण करना संभव नहीं होगा, तो आपके आगे का अभियान दो दिशाओं में परिचालित हो सकता है। एक है चरखारी से होते हुये यमुना के तट पर अवस्थित कालपी की तरफ और दूसरा है बाँदा की ओर। इन्ही दो स्थानो से आप कमांण्डर–इन–चीफ को अपना विवरण भेजेगें।

हस्ताक्षर

मेन्सफील्ड

(मेजर जनरल, चीफ ऑफ दा स्टॉफ)

उसी तारीख में लोर्ड केनिंग ने रोबर्ट हेमिल्टन को लिखा–

इलाहाबाद, 11–2–1858 ई.

प्रिय श्री रोबर्ट– यदि नर्मदा थल सेना झाँसी जाती है और अगर रानी उनके साथ गिरफ्तार होती है, तो कोर्ट मार्शल नहीं एक कमीशन नियुक्त कर उस पर मुकदमा चलाया जायेगा।

सर रानी को आपके पास भेजने के लिये ह्यूरोज को निर्देश दिया जायेगा एवं आप निश्चय ही श्रेष्ठतम कमीशन की नियुक्ति करना भूलेगें नहीं।

यदि किसी कारण से उसके (रानी के) संबधं में तुरंत कुछ करना संभव न हो एवं उसे झाँसी में अथवा निकटस्थ किसी और स्थान में बंदी बनाकर रखने में असुविधा हो, तो उसे (रानी को) यहाँ भेजा जा सकता है। किंतु उसके संबंध में प्रारंभिक जाँच करके यह निरूपण करना होगा कि प्रारंभ में विचार करने की कोई जरूरत है भी या नहीं। यह प्रारंभिक जाँच–पडताल उसके यहाँ आने के पहले ही पूरी कर लेना वांछनीय है। उस पर विचार करना जरूरी है या नहीं, इस संबंध में किसी तरह के संदेह के साथ उसे यहाँ न लाया जायें। मुझे विश्वास है कि आप घटनास्थल पर ही उस पर विचार कर अंतिम फैसला कर सकते है। मुकदमें के बाद उसका क्या करना होगा यह राय पर निर्भर करेगा। [21]

पहले 'अगर' नर्मदा फील्ड फोर्स झाँसी जाती है, तो इसका एक कारण है, सर ह्यूरोज यदि अपनी झाँसी विजय करने के लिये सैन्य संख्या के संबंध में संशय ग्रस्त हो, तो झाँसी की समस्या को स्थगित रखकर वे चले जायेगें। उस संदर्भ में वे कालपी अथवा बाँदा अथवा दोनों ही स्थानों पर जा सकते है और यहाँ से जब तक और अधिक फौज नहीं भेजी जाती है तब तक झाँसी के खिलाफ अपने अभियान को मुल्तवी रखेगें।

नर्मदा फील्ड फोर्स अगर झाँसी के सम्मुख अथवा अत्यंत पास जाकर यह अनुभव करती है कि झाँसी विजय करने के लिये उसकी शक्ति अपर्याप्त है,

अगत्या निष्क्रिय पड़े रहकर, यहाँ से सहायता पहुँचने की प्रतीक्षा करती रहती है तो इसकी परिणति अत्यंत लज्जाजनक एवं विपत्ति पूर्ण होगी।

अतएव में ऐसा सोचता हूँ कि सर ह्यूरोज ऐसा न मानें कि सफलता की संभावना न होने पर भी उन्हें झाँसी पर आक्रमण करना होगा।

उनकी यूरोपीय पदाति सेना संख्या में जरूरत के मुताबिक बहुत कम है।

हस्ताक्षर – केनिंग

ह्यूरोज को जब इस पत्र की जानकारी हो जाती है, तो भी चरखारी के संबंध में किसी शंका का कोई कारण नहीं घटता है।

अंग्रेजों और उनके सेनापति ह्यूरोज के लिये झाँसी और रानी दोनों पहेली है। रानी और ह्यूरोज का आमना सामना नहीं हुआ है। किंतु ह्यूरोज के लिये रानी का अर्थ ही है बुरी खबर । ह्यूरोज ने झाँसी पर अधिकार कर लिया, पता चला कि ब्रिटिश फौज के सामने से ही होकर पिछली रात को रानी झाँसी छोड़ कर चली गयी है। यह दुःसंवाद नहीं है ? यह तो चुनौती देकर निकल जाना है।

अपनी असफलता की खीज से पागल ह्यूरोज ने आदेश दिया, अंग्रेजों के कर्तव्य–पालन में शिथिलता के प्रतीक स्वरूप इस भाँडेर फाटक को तुंरत बंद करवा दिया जाए। 6 अप्रेल को भांडेर दरवाजा बंद कर लोहे के कीलो से उसे जाम कर दिया गया। 1858 ई. से पच्चहतर वर्ष तक वह दरवाजा बंद बना रहा था। 1933 ई. में भाँडेर दरवाजा पुनः खोल दिया जाता है। [22]

भाँडेर दरवाजा बंद करने के बाद अभिशप्त नगरी झाँसी में बिना विचारे नर हत्या करने का उसने हुक्म दिया। तब वहाँ जो कुछ शुरू हुआ उसे ह्यूरोज की भाषा में ही कहाँ जाए राजप्रासाद पर अधिकार हो जाने के बाद से ही

विद्रोहियो ने नगर छोड़कर जाना प्रारंभ कर दिया। नगर के चारो ओर घेरेबंदी की सफलता इस बात से ही समझी जा सकती है कि एक व्यक्ति को जो जीवित अवस्था में बाहर निकल कर नही जाने दिया गया। नगर के आस पास के वन, बाग, बगीचे, रास्ते सभी विद्रोहियो के शवो से पटे पड़े थे। रानी के पलायन के साथ ही साथ सभी मे झाँसी छोड़कर चले जाने की हड़बडी मच गई। 5 अप्रैल को बडे सबेरे ही मैंने पूरे नगर को घिरवाकर कतारो मे सेना लगा दी थी।

विद्रोही सैनिक प्रायः अफगान अथवा पठान मारे गये लोगो की संख्या के संबंध में एक छोटा सा उदाहरण दिया जाए। 14 वी. हल्की धुड़सवार सेना 5 अप्रैल दोपहर को एक साथ दो सौ लोगों की हत्या कर देती है। [23]

सिर्फ चालीस अफगान सैनिक मात्र तलवार हाथ में लेकर एक घर पर अधिकार करके उसकी गली और तहखाने में छिप जाते है। कैप्टन हेरे और कैप्टन सिक्लेयर हैदराबाद घुड़सवार सेना लेकर उन पर आक्रमण करता है। वे लोग केप्टन सिक्लेयर की हत्या कर देते है। कैप्टन हेरे को पूरी तरह पराजित कर देते है। अन्त में मेजर 'ओर' दस तोपें ले जाकर उस घर को गोलो द्वारा ध्वस्त कर डालता है। वे चालीस अफगान सैनिक असाधारण दृढ़ता के साथ अंत तक लड़ते–लड़ते प्राण दे देते हैं। अफगान सैनिक सभी जगहों पर मृत्यु पूर्व साहस और कुशलता के साथ लड़ते है।

झाँसी में उस समय केशव भास्कर ताम्बे उपस्थित थे। वे नेवलकर लोगों की परोला स्थित जागीर के गंगाधर राव वाले भाग के मुख्तयार थे। केशव भास्कर ताम्बे के पौत्र अधुना (1956–57 में) बड़ोदावासी राजरत्न श्री गंगाधर माधव ताम्बे से उनके पितामह का प्रत्यक्षदर्शी विवरण मिला है :

केशव भास्कर ताम्बे छह मास पहले ही झाँसी आ गये थे। चारों ओर

की अनिश्चित अवस्था के कारण वे अपने पैतृक देश नहीं लौट पाते हैं। राजप्रासाद में आग लगा देने के कारण चार खण्ड तो पूरी तरह भस्म हो गये थे। महल के आस पास जो असंख्य कमरे और अलियां गलियां थी, उन्ही में से एक छोटे से पखाने में वे 4 अप्रैल से सात दिन तक छिपे रहे थे। रानी ने महल छोड़कर किले में चले जाने के पहले अपने समस्त अंतःपुरवासियों को बुलाकर महल छोड़कर सुरक्षित स्थानो पर चले जाने को कहाँ था। बचकर निकल जाने की कोई विशेष जगह नहीं थी, इसलिये बहुत सी स्त्रियाँ उस समय भी महल में थी।

ह्यूरोज की 'विजन' घोषणा के समय झाँसी में उपस्थित थे परिव्राजक विष्णु भट्ट गोडसे। उनकी पुस्तक में जो वर्णन मिला है, उससे उस भयंकर हत्या कांड का सच्चा रूप प्रकट हो जाता है। गोडसे ने कहाँ है–

" सारा शहर प्रेतभूमि अथवा महाश्मशान लगने लगा। जलते हुये घरों से लपलपाती हुई अग्नि शिखायें ऊर्ध्वमुखी होकर रात के आकाश को भयंकर बनाये दे रही है। अग्नि और हवा के शोर को दबाता हुआ आर्त नर–नारियों के क्रन्दन का तुमुल शोर उठने लगा। प्रियजन के शव के पास बैठी रमणी रो रही है, और उसके सामने बंदूक का बट पटकता हुआ गोरा सिपाही उससे गहने उतारने को कह रहा था। दीन–दरिद्र घर की स्त्रियाँ, सेठो के बच्चे, सभी एक साथ एक मुट्ठी अन्न के लिये व्याकुल कंठ से रोते–रोते फिर रहे थे, कहीं मारे गये बच्चे के शव को लिये माँ शोक से विहल हैं। कहीं पिता की मृत देह के पास बैठा बच्चा अपने छोटे–छोटे हाथों से पिता के शव को झिझोड़ता हुआ पुकार रहा है। हलवाईपुरा की जलती हुई अट्टलिकाओं को देखकर सिपाहियों के पछतावे की कोई सीमा नहीं है। उनको अफसोस था, कि अग्नि में भस्म होने से पहले उन्होंने उन सब हवेलियों को लूट क्यों नहीं लिया। भयंकर ग्रीष्म में सूखी लकड़ी के वर्गे

(शहतीरें आदि) दह–दह करते हुए जल रहे है। हवा में राख उड़ रही है, और सड़ी हुई लाशों की तीक्ष्ण गंध फैल रही है।''

विष्णु भट्ट और केशव राव को देख कर जब अंग्रेज सैनिक ने बंदूक तान ली, तब विष्णु भट्ट के दिमाग में सहसा जो विचार उदित हुआ, उसे एक मात्र भगवत कृपा ही कहाँ जा सकता है। 'त्वा समये परमेश्वराने च आक्षास बुद्वि दिलीयास्त संशय नाही।' उन लोगो ने साष्टांग प्रणाम करते हुए करूण स्वर में कहाँ –'' हे साहब हम लोग गरीब पिता–पुत्र है। हम लोगों का घर बंबई में है। यात्रा करते हुये हम लोग यहाँ फस गये है। हमें मारिए मत।'' गोरे सिपाहियो ने कहा–''तो फिर रूपया दो'' उनके पास ढाई सौ रूपये थे। उन्हें देकर उन्होंने जान छुडाई, रास्ते में आकर देंखा कि अंग्रेज सिपाही प्राणों के डर से डरे हुये गरीब मनुष्यों को खींच–खींच कर बाहर निकालते है और गोली मार रहे है। प्यास के मारे ही बहुत से लोग मर जाते है। कुँए से पानी पीने के समय अंग्रेज लोग सिर्फ धमक भरी आवाज से ही उन्हें भयभीत कर रहे है। वैशाख मास की दुरंत ग्रीष्म में प्यासे विष्णुभट्ट को पानी लाने में विशेष मुश्किल पड़ी। [24]

मृत स्त्री–पुरूष, बच्चें–बच्चियों का अंतिम संस्कार कर पाना उस समय असंभव था। करकरे नामक किसी ब्राह्मण और उसके पुत्र के अंतिम संस्कार के लिये. करकरे की पत्नी ने विष्णुभट्ट से अनुरोध किया। यथाविधि प्रेतशुद्वि कार्य करके अपने घर के आँगन में खटिया, अलमारी, किबाड़, जंगले जला कर मृतक का दाह–संस्कार किया गया। उस समय हर रास्ते पर शवों के ढेर के ढेर लगे हुये थे। तब दाह–संस्कार अथवा अशौच की बात अर्थहीन थीं।

तीन दिन तक अंग्रेजों ने शहर के सोने, चाँदी, पीतल, ताँबे को निश्चित करते हुये लूटपाट की। राजमहल से सबसे पहले समस्त मूल्यवान सामान,

उसके बाद तंबू, गद्दे, दरियाँ, तकिए, गलीचा आदि की लूट की गई। महालक्ष्मी मंदिर को लूटकर देवी प्रतिमा के अंगो से अंग्रेज सिपाहियों ने सभी आभूषणो को खोल कर ले लिया। [25]

आठ दिन तक भंयकर नरसंहार करने के बाद नगर के पथ–घाट जब शवों से भर गए तब ह्यूरोज ने ओरक्षा और दतिया से मेहतरों को बुलवाकर पथ –घाटों को साफ करवाया। [26]

ह्यूरोज के 'विजन' घोषणा करवाने के बाद से जो तांडव लीला शुरू हुई उससे आंतकित होकर 'धर्म' जाने के भय से स्त्रियाँ बच्चों को गोद में लेकर राजमहल के कुएँ में छलांग लगाने को बाध्य हुई। राजप्रासाद में सात–आठ बड़े कुएँ थे। उनके प्रशस्त परिसर को देखकर उन्हें कुआँ न कहकर सभी लोग उन्हें गजतालाब कहा करते थे। जब राजप्रासाद में आग लगाई गई तब भयभीत स्त्रियाँ कातर आर्त्तनाद करती हुई गज तालाबों में कूद पड़ी। केशव भास्कर के सामने ही इस तरह से कई लोगो ने जो प्राण दे दिये उनका वर्णन नही किया जा सकता।[27]

अंग्रेज इतिहासकार कहते है कि अंग्रेज अथवा देशी सिपाहियों ने स्त्रियों को हाथ भी नहीं लगाया। किंतु केशव भास्कर ने कहा है कि सैनिक लोग स्त्रियों के हाथों, कानो, गले और नाक से गहनों को छीन लेते थे, एवं बेनट से पीटा करते थे। थोड़ी देर में ही गजतालाब शवों से भर गया एवं उसके ऊपर धंस पड़ा राजमहल के कड़ी–वर्गा, ईट–पत्थरों का एक विशाल जलता हुआ मलबा। अंग्रेज स्त्रियों के सम्मान की रक्षा करते हैं, यह कहकर गर्व करते है। झाँसी और अन्य स्थानों पर उन लोगों ने स्त्रियों बच्चों की जो मनमानी हत्यायें की है, उसके प्रमाण है ब्रिटिश पार्लियामेंट के दस्तावेजों में इतिहास में उन्होनें यह बात दर्ज नहीं की है।

बारह वर्ष से लेकर पचास वर्ष तक के समस्त पुरूषों और बालकों को

प्रतिदिन हजार—हजार की संख्या में पकड़कर लाया जाता और राजप्रासाद के विशाल आँगन में खड़ा करके उनके सिरों को काटकर फेंक दिया जाता।

उन दिनों बैंक में रूपया रखने का चलन नहीं था। हर घर में ही गृहस्थ लोग मूल्यवान गहनों और धन को दीवार में गुप्त कोठरी बनवाकर उसी में गाड़ कर रखते थे। 7 अप्रैल तक पाँच दिन लगातार अप्रहित रूप से हत्याकाण्ड करने के बाद घरों के कमरो को गिराकर उन्ही सब मूल्यवान गहनों की सैनिक लोग खोज करने लगें। [28]

झाँसी शहर में रानी की सारी सेना एवं नागरिकों का भी बहुत सा अंश मारा गया। सारे नगर के रास्तो पर कीचड़ से युक्त रक्त जमा हुआ था। गिद्ध मंड़राने लगे एक समृद्ध शाली नगरी के आकाश में ह्यूरोज की कठोर आज्ञा थी कि कोई भी भारतीय किसी भी तरह अपने प्रियजनों के शवो का दाह संस्कार न करने पाये। 7 अप्रैल के बाद जब सारा नगर सड़ी गली लाशों की गंध से भर गया, गली हुई लाशों के लोभ में दिन में ही सियार गिद्ध विचरण करने लगे तब ह्यूरोज ने आदेश दिया अब शवों का दाह संस्कार किया जा सकता है। अंग्रेजी सेना के देशी सैनिकों की सहायता लेकर मृत व्यक्तियों के आत्मीय— स्वजन शवों का दाह—संस्कार करने लगे। अनेक स्थानों पर शव गलकर नष्ट हो चुके थे। वहाँ पर मुखाग्नि देकर शवों को हटा कर फेंक दिया गया। लक्ष्मी तालाब की उत्तरी दिशा के विस्तृत तट पर मृत देहों को ढो—ढोकर ढेर लगाकर चिताओं में जला दिए गये।

उसके पश्चात शुरू हुई लूटी हुई वस्तुओं की खुली नीलामी। इसी बीच ह्यूरोज और रोर्बट हेमिल्टन को सहयोग दिया था आस पास के मित्र राज्यों के राजाओं ने। इस नीलामी में बेच दिये गये – झाँसी राजप्रासाद की बहुमूल्य वस्तुयें, वस्त्र, आभूषण, धातु निर्मित वस्तुयें, बर्तन, विख्यात तंजाम, चाँदी का हिंडोला। गंगाधर राव के

अत्यंत प्रिय हाथी सिद्ववकश को। खरीदा इंदौर के विख्यात धनी ने बोली बोलकर। सिद्ववकश के जीवन के साथ झाँसी की स्मृति अविच्छेद भाव से संबंध थी। झाँसी से इंदौर जानेवाले पथ में खाना पीना आदि सभी उसने छोड़ दिया। रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गई।

उसी समय रोर्बट हेमिल्टन अपना न्याय शुरू कर रहा था। झाँसी के आस–पास के ग्रामवासियों ने रानी के प्रतिरोधी युद्ध में उसकी सहायता की थी, इसे हेमिल्टन और ह्यूरोज भलीभाँति जानते थे। रोज ही उन लोगों को गिरफ्तार किया जाता था। रोज ही उन्हे पकड़ लाया जाता था झाँसी किले के बाहर फैले विशाल मैदान में। न्याय विचार के बाद उन्हें फाँसी हो जाती थी। फाँसी देते देते जल्लादों को भी विरक्ति हो गई थी। दिन रात कैदी लाये जा रहे है एवं हुक्म हो रहा है– लटकाओ, लटकाओ !
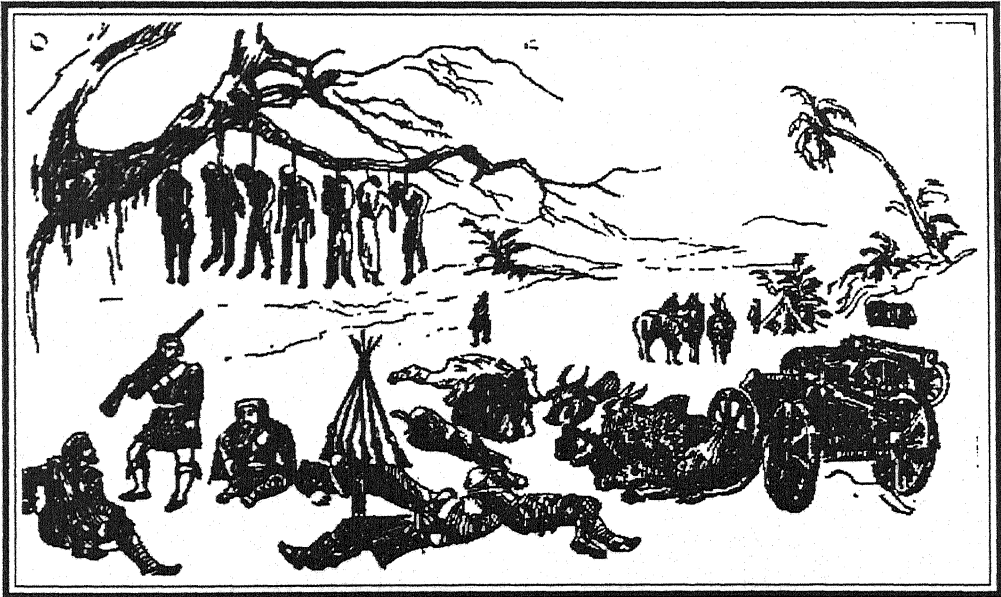
यह लटकाओ–लटकाओ शब्द सुनते–सुनते बहुतो को स्नायविक दुर्बलता हो गई थी। रात में गहरी नींद में दुःस्वपन देखकर वे लोग सहसा उठकर आर्त्तनाद कर उठते थे– लटकाओ, लटकाओ!

झाँसी में कुल मिलाकर कितने लोग मारे गये थे इस संबंध में भिन्न भिन्न लोगों का भिन्न–भिन्न हिसाब है। ह्यूरोज, टामसलो, फोरेस्ट, सिल्विस्टर और अन्याय इतिहासकारो के मत से झाँसी में कम से कम पाँच हजार लोग मारे गए थे।

किंतु इस संख्या की सच्चाई निरूपित करने का साधन क्या है ? यदि मान लिया जाये कि युद्व के प्रारभ्भ में झाँसी में कुल मिलाकर बारह हजार सैनिक और साठ हजार नागरिक थे। तब इस बात पर किसी भी तरह विश्वास नहीं किया जा सकता है कि 1858 ई. में अप्रैल मास में झाँसी में पाँच हजार लोग मारे गये थे। रानी के साथ भागने में सफल रहे थे मात्र चार सौ घुड़सवार। ह्यूरोज ने खुद ही कहाँ कि झाँसी पर कब्जा होने के बाद अत्यंत नगण्य संख्या को छोड़कर कोई भी झाँसी छोड़ कर जाने में समर्थ नहीं हो सका। सारे नगर में हरदम कड़ा पहरा लगा रहता था। सिर्फ झाँसी ही नहीं, झाँसी के आस पास सभी रास्तो, गाँवो, जंगलो और बगीचो के ऊपर कड़ी नजर रखी जा रही थी। जितने लोगों ने भाग जाने का प्रयास किया था वे सब मार दिये गये थे। झाँसी छोड़कर भागने में सफल होने पर भी थोड़ी दूर जाते ही वे लोग पकड़ लिये जाते थे। सिर्फ किसी से मतलब न रखने वाले पूरी तरह निरपेक्ष नगरवासियों को छोड़कर और कोई भी सुरक्षित रूप से झाँसी छोड़कर भागने में सफल नहीं हो सका था। इसी कारण से लगता है कि 1858 ई. के अप्रैल मास में झाँसी में कुल मिलाकर कम से कम दस से लेकर ग्यारह हजार तक लोग मारे गए थे।[29]

1857 ई. के जून मास में मारे गये अंग्रेज स्त्री–पुरूषों की संख्या एक सौ से कम थी। उस सोचनीय घटना के कारण ह्यूरोज ने झाँसी को ब्लडी सिटी (रक्त बहाने वाला शहर) कहा था ! अंग्रेज लोगों के जीवन को 1858 ई. में कितना मूल्यवान समझा जाता था इसे दोनों पक्षों में मारे गए लोगों की समानुपातिक संख्या

की तुलना से समझा जा सकता हैं। कुल मिलाकर छयासठ अंग्रेज स्त्री—पुरूष और बच्चो की हत्या के लिये प्रति एक अंग्रेज के बदले ह्यूरोज ने एक एक हजार भारतीयों की हत्या की थी। 3 से लेकर 5 अप्रैल के बीच झाँसी में अंग्रेजों की ओर से 58 व्यक्ति मारे गए ओर 139 लोग गम्भीर रूप से घायल हुए थे।

अकथनीय अत्याचारों के द्वारा जन सामान्य को आतंकग्रस्त करना ही ह्यूरोज का उद्देश्य था। कहीं—कहीं वह सफल भी हुआ था। और अनेक स्थानों पर सारे अत्याचारों और उत्पीड़न को उपेक्षित करता हुआ जनसामान्य निर्भीक भाव से क्रुद्ध होकर उठ खड़ा हुआ था। उसने उस दिन यह बात भी समझ ली थी कि तलवार के जोर से किसी को वश में नहीं किया जा सकता है और न ही तोप के भय से डराकर हिन्दुस्तान के लोगो को भयभीत किया जा सकता है।

पुनः सेनापति का पद भार लेते ही ह्यूरोज ने मेजर स्टुअर्ट को गोरों की तथा भारतीयों की घुड़सवार और तोपखाने वाली सेना के साथ राबर्टसन की सहायतां के लिए ग्वालियर की ओर चल पड़ने की आज्ञा दे दी। उसके द्वारा भेजी गई यह सेना ग्वालियर पहुँचती, इसके पहले ही 4 जून को यह समाचार भी मिल

गया कि ग्वालियर पर पेशवा का अधिकार हो गया है तथा जीवाजीराव सिन्धिया भागकर आगरा पहुँच गये हैं। इस समाचार के मिलते ही ह्यूरोज हतप्रभ हो गया, एक बार तो उसे लगा कि उसकी सारी उपलब्धियों पर तुषारापात हो गया है। कहाँ तो विजयों की प्रसन्नता में वह फूला न समा रहा था; कहाँ यह एक नयी विपत्ति आ खड़ी हुई। कहाँ वह अवकाश लेकर बम्बई जा रहा था, कहाँ फिर युद्ध – भूमि में जाना पड़ गया। गोरें वास्तव में इस खबर से काफी हताश हो गये थे। [30]

ऊँची–नीची भूमि पर तीन सौ फुट ऊँची, एक कम ऊँची समतल पहाड़ी पर ग्वालियर का किला उस जमाने में बहुत दूर से एक स्वप्नपुरी के समान लगता था।

जैन और हिंदू स्थापत्य कला से सुशोभित अत्यन्त सुंदर ग्वालियर दुर्ग असंख्य प्रासादों, सरोवरों, खेतों, उद्यानों और विशाल प्राचीर से घिरा हुआ है। दुर्ग के पास ही ग्वालियर शहर है। सात सुरक्षित दरवाजों से होकर किले पर चढ़ने से आज भी उत्सुक पर्यटकों के कान में जलधारा का कल–कल निनाद आता रहता है। पास ही प्रवाहित होता रहता है शीतल काले जल का प्रच्छन्न नाला। कहाँ है उसका स्रोत, कैसे शताब्दी के बाद शताब्दियों के आक्रमण से बचते हुए आज भी

तृष्णा से आर्त्य जनों के लिए धरती से निकलता आ रहा है उसका प्रवाह, यह कौन बतायेगा! कही हजार रंगो की चमक छोड़ते हुए मयूरों का झुण्ड उड़ा जाता है। रात में काले–काले चमगादड़ परित्यक्त प्रासादों, महलों के डेरों से बाहर निकलकर शिकार की टोह में घूमने लगते हैं। अपरुप भास्कर्य से सुशोभित 'शास बहू' (सहस्रबाहु) और तेली (भैलंग) मंदिर दर्शकों के नेत्रों को आनंद देते है। अत्यंत उच्च दुर्ग सचमुच में जन–कोलाहल से दूर, स्थित एक सुंदर स्थान है। इस किले के कारण ही ग्वालियर को 'पूर्व का जिब्राल्टर' कहा जाता है। [31]

इस समय ग्वालियर को हिन्दुस्तान की कंठमाला का मध्य मणि कहा जाता था। राजा मानसिंह ने ग्रामीण प्रेमिका 'मृगनयनी' के लिए 'गूजरी महल' बनवाया था जो आज भी अपने स्थापत्य और भास्कर्य से दर्शको के मन में विस्मय का उद्रेक कर देता है। उसी गूजरी रानी की सुन्दरता की प्रशंसा में रचे गए 'रासो' आज भी घर–घर में गाए जाते है। अकबर के दरबार के संगीत गुरू मियाँ तानसेन की जन्म भूमि यही ग्वालियर है। ग्वालियर शहर से थोड़ी दूर उनका मकबरा आज भी संगीत–साधकों का तीर्थस्थल बना हुआ है। ग्वालियर के दुर्ग में शाहजहाँ का छोटा पुत्र मुरादबख्श मरा था। ज्येष्ठ भ्राता उदार हद्रय तथा लोकप्रिय दाराशिकोह के विरूद्व औरंगजेब से मिलकर उसको पराजित करने में सहायता की थी मुराद ने अपने स्वार्थ के लोभ में । किन्तु न्याय का विचार दूसरे के हाथ में था। लोक के न्यायालय में दुष्कर्मो के लिये कोई क्षमा नहीं है। अंधेरे तलघर में स्थित संकीर्ण काराग्रह में अभागे मुराद की दीर्घ सांसे मानो आज भी कैद है।

इस तरह की अनेक इतिहास धाराओं में विजड़ित ग्वालियर के इतिहास में 1858 ई. के गैरवमय अध्याय को जोड़ने के पहले सिंधियां के संबंध में कुछ जानना बहुत जरूरी है।

महादजी सिंधिया ग्वालियर के पहले विख्यात महाराष्ट्रीय नायक थे। दौलत राव सिंधिया के शासन में जो महाराष्ट्रीय सैन्य शिविर और छावनी दुर्ग के पश्चिम में पड़ती थी, उसके स्थानीय नाम लश्कर से अत्यंत शीघ्र लश्कर नाम का एक अत्यंत समृद्ध एवं सुंदर शहर गढ़ उठा। लश्कर बाड़े में प्रवेश करने के पहले गोरक्षी (गो–रक्षी) महल था। सिंधिया इसी का व्यवहार किया करते थे। इस विशाल महल के एक भाग में एक कोषागार और 'गंगाजली' थी। अन्य हिस्से में था मंदिर और खासमहल लश्कर के एक भाग में कंपू अथवा कवायद मैदान था। दुर्ग से लश्कर आने के रास्ते में (आजकल बीच में) था अत्यंत, सुन्दर बाग के भीतर फूलबाग, प्रसाद और उद्यान।

किले की दक्षिणी दिशा में छह मील दूर मुरार अथवा कंटूनमेंट था। बाद में यंही ब्रिटिश छावनी में बदल जाता है। मुरार नाम की एक छोटी से नदी के नाम पर कंटूनमेंट का नाम मुरार हो गया था। ग्वालियर के पूर्वी भाग कोटे–की–सराय से फूलबाग तक सोन–रेखा नाम का नाला था। इस नाले में सदा जल बना रहता था। ग्वालियर शहर के पूरी तरह भीड़ भरा शहर हो जाने के कारण नए शहर लश्कर में ही 19 वीं शताब्दी में राजा और दीवान लोग रहा करते थे।[32]

1843 ई. में ग्वालियर के सिंहासन को खाली छोड़कर सयाजी राव सिंधिया के मर जाने पर उनकी विधवा पत्नी के दत्तक पुत्र नाबालिक जीवाजी राव सिंधिया युवराज के पद पर अभिषिक्त हुए उस समय उनकी उम्र आठ वर्ष की थी।

1852 ई. में जीवाजी राव के वयस्क होने में जिस समय दो वर्ष बाकी थे, उस समय राज्य के नव निर्वाचित तरूण दीवान दिनकर रघुनाथ राव राजवाड़े को भारत सरकार ने ग्वालियर के शासन का कार्यभार सौप दिया। 1854 ई. में कैप्टन मेक्फार्सन ग्वालियर के रेजीडेंट बनकर आये। उसी वर्ष वयस्क हुए जीवाजी राव

सिंधिया के संबंध में 'आज के एक सौ वर्ष पहले' स्तंभ में 1856 ई. में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में निकला था कि सैनिकों का बाकी वेतन न देने के कारण सेना के एक भाग ने विरोध का प्रर्दशन किया था। पॉलीटिकल एजेंट को कुछ पता चले इसके पहले ही जीवाजी राव घटना स्थल पर उपस्थित होकर सोलह लोगों को गोली से मार देते है। उस समय के 'टाइम्स' अखबार ने जीवाजी राव के इस आचरण को

'Unprovoked and unnecessory Cruelty' एवं सिंधिया को 'That Impotent and Worthless King' की आख्या दी थी।

ग्वालियर जैसे एक विशाल भारतीय राज्य को अपना ताबेदार बनाये रखने में ब्रिटिश सरकार का स्वार्थ था। अल्प बुद्धि, दंभी, कम पढ़े–लिखे जीवाजी राव को अपने हाथ में बनाए रखने में मेक्फार्सन एवं दिनकर राव का संयुक्त प्रयास आशा के अनुसार फलप्रद हुआ।

दिनकर राव अपने पद के लिये उपयुक्त व्यक्ति थे। तीक्ष्ण बुद्धि मितभाषी, दूरदर्शी दिनकर राव और मेक्फार्सन ने सिंधिया को राज काज से पूरी तरह मुक्ति दे दी एवं ग्वालियर की आन्तरिक शासन व्यवस्था को सभी तरह से उन्नत कर दिया।[33]

1857 ई. के जनवरी में जीवाजी राव और दिनकर राव को लेकर मेक्फार्सन कलकत्ता आया। जीवजी राव और दिनकर राव ने कलकत्ता में स्कूल, कालेज आदि देखे। हुगली में कपड़े की एक मशीन देखी। निर्वासित अवध के नवाब के महल को देखकर सिंधिया ईष्या से भर गए । केनिंग की आश्वासन– भरी वाणी को सुन कर वे पुनः उल्लास से भर गए। केनिंग ने सिन्धिया को आश्वासन दिया, बिना संतान के उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके दत्तक पुत्र लेने पर ब्रिटिश सरकार उसे सदा मानेगी। अयोध्या के नवाब जैसा दुर्भाग्य उन्हे कभी नहीं भोगना पड़ेगा।

अनेक तरह से पारस्परिक मित्रता और अनुचर बने रहने के बंधनो को दृढ़ करके अप्रैल 1857 ई. में सिंधिया ग्वालियर लौट आए।

1857 ई. के अभ्युत्थान के प्रारम्भ में सिंधिया की निजी दस हजार और इसके अलावा कंटिंजेंट की आठ हजार तीन सौ अठारह जवानों की सेना थी। यह कंटिंजेंटी फौज ब्रिटिश सरकार के अधीन सिंधिया के खर्चे पर ग्वालियर में रहा करती थी। ग्वालियर के कंटिंजेंटी के अनेक अफसर अंग्रेज थे। सैनिक थे बंगाल रेजीमेंट के अन्य सैनिकों की तरह अवध अंचल के निवासी। भारतीय सैनिकों में ग्वालियर कंटिंजेंटी के समान शिक्षित और अनुशासन बद्ध सैनिक उस समय और कहीं भी नहीं थे।

मेरठ और दिल्ली की क्रांति के बाद से ही ग्वालियर छावनी में असंतोष और विद्रोह घुमड़ने लगा था। जून 1857 ई. में झाँसी में क्रांति की खबर पाने के बाद ग्वालियर में सेना में अनुशासन बनाये रखना प्रायः असंभव हो गया था। उनके प्रत्यक्षदर्शी विवरण में मृत सैनिकों की संख्या और घटना की वीभत्सता असली अथवा नकली सारे विवरणों को पीछे छोड़ गई थी।

भारतीयों की ग्वालियर विजय का संवाद जब चारो ओर फैल गया तब सिंधिया के भाग जाने की खबर से ब्रिटिश भारत शंकित हो उठा। केनिंग ने देखा कि कालपी से जो भारतीय पूरी तरह असहाय अवस्था में भाग गये थे, दस दिनो के भीतर उन लोगों ने सिंधिया की राजधानी, रसद, सेना और तोपों के साथ एक अत्यंत शक्तिशाली सैन्य छावनी को भी ध्वस्त कर दिया था। पुरानी नगरी ग्वालियर और नवीन बस्ती लश्कर दोनों ही अत्यंत समृद्धशाली थी।

यहीं ग्वालियर भारतीय सेना के अधिकार में चली गई है, यह जानकर समस्त विजयी इलाके में कैसा उत्साह और उत्तेजना का संचार होगा यह सोचकर

केनिंग की शंका बढ़ गयी।

ग्वालियर में सिंधिया के विस्तृत इलाके के भीतर से होकर बंबई और मध्य भारत, बंबई और उत्तर पश्चिमी प्रदेश और आगरा जाने के अनेक रास्तों एवं सैकड़ो मील बिजली की लाइन गयी हुई है। ग्वालियर पर अधिकार करके सारे ब्रिटिश अधीन भारत पर नियंत्रण करना भारतीयों के लिए कुछ असंभव नहीं होगा।

तात्या टोपे ग्वालियर में नाम मात्र की सेना रखकर अगर दक्षिण में अभियान चलायें तो सर्वाधिक संकटपूर्ण स्थिति हो जाती।[34] पश्चिम और दक्षिण में लाखों महाराष्ट्रीय आज भी पेशवा को अपना मानते थे। ब्रिटिशों के शासनाधिकार के वे उस समय भी अभ्यस्त नहीं हो पाये थे। तात्या टोपे यदि पेशवाशाही की पताका लेकर एक बार वहाँ पहुँच जाते, तो पर्वताकीर्ण दुर्गम महाराष्ट्र के निवासी जो लोग एक बार शिवाजी के नेतृत्व में संगठित हो गए थे, वे लोग पुनः आज तात्या के नेतृत्व व बाई साहब के नेतृत्व में वैसा ही संगठित हो सकते थे। सामने ही वर्षा आने वाली थी। वर्षा में चंबल, पहूज, सेंध, तथा अन्य नदियां अत्यंत दुरतिक्रम्य हो जाती। दक्षिणी भारत में वर्षा होने से हजारो पहाड़ी झरने उफनाने लगते एवं वहाँ पर किसी भी तरह ब्रिटिश फौज सरलता से नहीं आ–जा सकती थी।

इस पूरी परिस्थिति पर विचार करने से समझ में आ जाता है कि ग्वालियर पर अधिकार करने के बाद भारतीयों के पक्ष में सामरिक परिस्थिति कितनी अनुकूल हो गई थी। और इसके लिये ब्रिटिश सरकार के शंकित होने का यथार्थ कारण भी था।

अंग्रेजों के लिये झाँसी की वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई एक पहेली थी। रानी की ताकत के सम्मुख अंग्रेज सैनिक हताष थे। ह्यूरोज जानना चाहता था कि झाँसी की रानी आखिर क्या बला है ? ग्वालियर शहर (जहाँ उनका डेरा है) से पूरब

की तरफ धू–धू जल रही अग्नि किन लोगों ने जलाई होगी ? सारे द्वन्द्व उसके अन्दर चलते रहते थे। जब उसे पता चलता है कि रानी अदभ्य इच्छाशक्ति, साहस और संघर्ष से लैस शान्त, सभ्य और बुद्धिमान महिला थी तो वह अवाक् रह जाता है। उसकी यह धारणा खत्म हो जाती है कि भारतीय महिलाएं अनपढ़, गवार और फूहड़ होती है। रानी के समक्ष वह अपने को आन्तरिक रूप से पराजित महसूस करता था। [35]

(3) रानी का भारत की स्वतंत्रता में अमूल्य योगदान :

सृष्टि के प्रारंभ में कोटि–कोटि मनुष्यों के सुख–दुःख और जन्म–मृत्यु की लीलाभूमि यह धरती जब महासागर के अतल जल में जागरण का स्वप्न देखती है। उसी से प्रतिदिन जैसे संध्या अवतरित होती है, उस दिन वैसे ही संध्या झुक आई। थोड़ी दूर पर पहाड़ की तरह सिर ऊँचा किए खड़ा हुआ है ग्वालियर का दुर्ग। [36] दूर–दूर तक तोपों की गर्जना और बंदूको की रह–रहकर आवाज, घायलों की आर्तध्वनि, अश्वों की हिनहिनाहट, इस परिवेश में अंतिम बार की तरह इस मिट्टी से बनी पृथ्वी ने रानी के दर्शन किए। एक वीर योद्वा के उपयुक्त रणभूमि में ही उसने अंतिम शय्या स्वीकार की। उसके बाद धीरे–धीरे अंत्यत सावधानी से उस दृश्य के ऊपर साँझ की यवनिका उतर आई। [37]

कुछ आज्ञाकारी, भक्त अनुचरों ने रानी का अंतिम संस्कार संपन्न किया। रक्त–सिक्त ललाट को गीले उत्तरीय से रघुनाथ सिंह ने पोंछ दिया। रण करते–करते थकें पाँवो से चमड़े के जूते खोल डाले काशी ने। और हाथो से खोल डाले कवच, कमर से खोल डाली पेटी और गले से खोल डाली मोतियों की माला। दुर्द्वर्ष गुलमुहम्मद, आस्थावान हिंदू रामचन्द्र राव, सदा साथ रहने वाली विश्वस्त योद्वा काशी कुनवीन, दामोदर को गोद में लेकर क्रंदन करने लगे। उसके बाद वीरांगना

के शव को उस घास के ढेर पर रख कर रघुनाथ सिंह ने चकमक पत्थर रगड़कर उसमें आग लगा दी। धू–धू करती हुई अग्नि जल उठी और उसी अग्नि शिखा और हवा के धू–धू शब्द के साथ जलने लगी हजार – हजार मनुष्यों की आत्माहुति से पवित्र स्वाधीनता संग्राम की समस्त संभावनायें। लखनऊ, मेरठ, कानपुर, आगरा, दिल्ली, झाँसी और भी कितने अज्ञात स्थानों, कितने गाँवो, कितने जनपदो, कितन नदी–तटों, कितने अंचलो, कितने खेतो में जिस विशाल जन–जागरण ने जन्म लिया था, वह भी उसी के साथ–साथ निःशेष होने लगा।

अग्नि और राख की उष्णता समाप्त हो जाने के बाद आधी रात में पवित्र अस्थियों को संचित कर रानी के परित्यक्त उत्तरीय के छोर में बाँध लिया रामचन्द्र राव ने। उसके बाद अनाथ दामोदर को लेकर बच्चे की तरह रोते–रोते लोगों ने उस स्थान का परित्याग कर दिया।

मध्य भारत की सुंदर नगरी ग्वालियर। अंत्यत ऊँचा उसका किला बहुत दूर से ही दृष्टिगोचर होने लगता है। उससे थोड़ी ही दूर पर मियाँ तानसेन की संगमरमर की एक समाधि है। कभी–कभी गहन रात्रि में शुभ ज्योत्स्ना से स्नात मूर्तिमर्ती टोड़ी रागनी, श्वेत परिधान और श्वेत पुष्पों की माला धारण कर चकित नयन मृगदंपति के साथ वहाँ आकर वीणा बजाती है इस तरह की एक जनश्रुति है।

सिंधिया राजाओं के प्रासादों से समाकीर्ण नगरी लश्कर के केन्द्र में– एक बाड़ा में अत्यन्त ऊँचे पाद पीठ पर स्थित महाराजा जीवाजी राव सिंधिया की विशाल मूर्ति है। भारत वर्ष के राजाओं में उनका स्थान बहुत से लोगों के ऊपर है। राजभक्ति पुरस्कृत होती हैं, जीवाजी राव उसके उज्जवल दृष्टांत है। उस जमाने में जिन लोगों ने भारतीयो के विरूद्व अंग्रेजों की सहायता की थी उन लोगों की उन्नति बहुत जंल्दी–जल्दी हुई।

ग्वालियर में सिंधिया के महल जयविलास, मोतीमहल, फूलबाग के बाद ही दिनकर राव रजबाड़े की अट्टालिका है।[38]

विशाल कुंजवन, प्रमोद भूमि, कृत्रिम झरनों से परिवेष्टित है, वह फूलबाग महल। लश्कर जाने के पहले ही दृष्टिगोचर होने लगेगा, सम्मुख खड़ा वह इंद्रभवन। वहाँ पर फूलबाग महल के सामने वाले राजमार्ग के ऊपर तक छोटे चबूतरे के सामने उत्सुक दर्शक को खड़ा कर लेगा ताँगेवाला। एक छोटी–सी फुलबगिया। उसमें एक मामूली–सी समाधि। उस पर लिखा हुआ है– 'झाँसी वाली महारानी की छतरी' वहीं पर चिरनिद्रामग्न है रानी लक्ष्मीबाई। आकाश ही उसका चंदोवा है। ग्रीष्म में उसके ऊपर अपनी निर्मल किरणों की वर्षा करता है सूर्य, वर्षा में मेघ जल–धारा से उसे सींचते हैं और शीत ऋतु में उत्तरी हवा उस समाधि से धूल एवं सूखे पत्तों को उड़ाकर ले जाती है। समाधि पर खुदा हुआ है–

झाँसी पत्तन पालिका नृवसना तुंगारव संचालिका।
हस्तोधत कर वालिका रणमदोन्मत्ता यथा कालिका।।
ह्यूरोज प्रमुखांगल सैन्यापतिर्भियुद्धे भृशंश्चालिता।
सा लक्ष्मीर्हत दैव दुर्विलसितैर्तत्रैव यात्रा दिवम्।।

प्रस्तर फलक पर अंग्रेजी में संक्षिप्त परिचय लिखा हुआ है–

This monument marks the site of the Cremation of the illustrious and heroic Maharani Luxmi Bai of Jhansi, who fell in a battel in the Sepoy War of 1857-58.

Born at Banores on November 19, 1835, A. D. Died at Gwalior on June 18, 1858.

The monument was conserved by the Gwalior Archeological Department in 1929 A. D. during the reign of H.H. The Maharaja Jivaji Rao Scindia Alijah Bahadur of Gwalior.

वहाँ पर जो बूढ़ा समाधिरक्षक फुर्सत के समय फल बेचता है वह दर्शकों से अनुरोध करता है "छतरी पर एक–दो फूल चढ़ाइये।" मौसम में पास के उद्यान में गुलाब और चंद मल्लिका के फूल खिले रहते हैं। अगर मन हो तो दर्शक उस शांत वातावरण में खड़े होकर एक–दो फूल चुनकर समाधि में चढ़ाये तो उसके लिये वह रक्षक कोई पुरस्कार न माँगेगा।[39]

रानी की मृत्यु से ह्यूरोज को परम् शांति का अनुभव हुआ। और ग्वालियर के पथ पर चलते–चलते बीच में धौलपुर के राजा के आतिथ्य में सुख–सेज पर लेटे हुए जीवाजीराव सिंधिया भी प्रफुल्लित हो उठे। दो दिन बाद ही आतिशबाजी छुड़ाते, तोपों की गर्जना करते सिंधिया और ह्युरोज ने बड़े समारोह के साथ शोभा–यात्रा निकालते हुऐ ग्वालियर में प्रवेश किया। दिनकर राव रजवाड़े के हुक्म से घर–घर में दीप जलाकर इस आनंद के दिवस पर उत्सव मनाया गया। किंतु एकाएक किले से तोपों की गर्जना के कारण बाधित हो गई उनकी शोभायात्रा। किले में उस समय भी कई स्त्री और पुरूष योद्धा छिपे हुए थे। उन लोगों ने अंतिम समय तक युद्व किया और अंत में बारूद में आग लगाकर मृत्यु का वरण किया।

इस बार अब और कोई बाधा नही रह गई। विजयोत्सव और विद्रोहियों को सहायता देने बालों को फाँसी देना दोनों काम एक साथ चलने लगे।

झाँसी को श्मशान बना देने पर भी रानी से प्रतिशोध लेने का काम पूरा नहीं हुआ। झाँसी का किला सिंधिया को दे दिया गया। झाँसी की बड़ी बड़ी तोपों को ग्वालियर लाया गया। सबेरे और शाम को उन्ही विद्रोही तोपों से गोला बरसाकर सिंधिया को सम्मान दिया जाएगा।[40]

इन सब घटनाओं के बाद झाँसी उत्तर–प्रदेश के अंतर्गत आ जाती है।

युद्व से थका ह्यूरोज इस बार पूना में विश्राम करने चला गया। वहाँ

निर्जन पहाड़ी आवास में बैठकर ग्वालियर युद्व की डायरी लिखते–लिखते वह रानी के संबंध में क्या लिखें यह सोचकर क्षण भर के लिये रूक गया। उसके बाद उसने लिखा–

Although a lady, she was the bravest and best militory leader of the rebels. A man among the mutinurs.

नारी होते हुए भी वह विद्रोहियों में एक सर्वश्रेष्ठ और बहादुर सेना नायक थी। विद्रोहियों में एक मात्र वही पौरूष से युक्त पुरूष थी।

शत्रु के गुणों का आदर करने जैसी उदारता अंग्रेजों के चरित्र में विरल नहीं है किन्तु ह्यूरोज का यह कथन वीर के प्रति एक वीर की श्रद्धांजलि मात्र नहीं है। उसके साथ इसमे और भी कुछ है, क्योंकि झाँसी ने ही ह्यूरोज के जीवन में सौभग्य की सूचना दी। 1860 ई. में सर कोलिन कैम्पवेल के बाद कमांडर–इन–चीफ का पद उसे मिला था। उसके बाद 1866 ई. में जब वह अपने देश लौटा तब महारानी विक्टोरिया उसे अपने हाथो से 'Baron strathnairn of strathnairn and Jhansi' उपाधि से भूषित करती हैं।

रंगून में निर्वासित बादशाह बहादुरशाह पर व्यंग करते हुए एक बार अंग्रेज रेजींडेंट ने कहाँ था –

दमदमे में दम नहीं है, खैर माँगों जान की,

बस जफर बस चल चुकी अब तेग हिन्दुस्तान की।

तोपों में अब दम नहीं रही है, प्राणों की भीख माँग लो, अब जफर हिन्दुस्तान की तलवारों का खेल अब खत्म हो गया है।

बादशाह ने जबाव दिया था –

गाजियों में जब तलक है लौ ईमान की।

तख्त–ए–लंदन तक चलेगी तेग हिन्दुस्तान की।।

जब तक शहीदों मे बलिदान करने की भावना बनी रहेगी, तब तक लंदन के सिहांसन तक हिन्दुस्तान की तलवार चलती रहेगी, यह समझे रहना।

बहादुर शाह के इस कथन की सच्चाई सिद्व कर गई है वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई एवं तात्या टोपे अपने प्राण देकर। वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई भारत को अंग्रेज़ी शासन से मुक्त कराने के लिये खून की आखिरी बूँद तक संघर्ष करती रही। रानी की मृत्यु के बाद तात्या टोपे को यह बोध हो गया था कि उन्हीं के दोष से किस प्रकार से मध्यभारत का यह स्वाधीनता – संग्राम विफल हो गया था। और उन्हीं की अवहेलना से व्यर्थ हो गये हैं कितने आत्म बलिदान। संभवता इसी वेदनामय अनुभूति ने उन्हें प्रेरित कर दिया था अंतिम समय तक संग्राम करने के लिये। इसीलिये तात्या के जीवनं का अंतिम अध्याय इतना गौरवपूर्ण हैं। उन्होंने अनुभव कर लिया कि अमूल्य अवसर हाथ से निकलकर नष्ट हो चुका है। फिर भी वे अदम्य साहस के साथ अंग्रेजी फौज से लड़ते रहे। उसके बाद एक दिन उनके विश्वसनीय मित्र राजा मानसिंह ने उन्हें कर्नल मीड की फौज के हाथों पकड़वा दिया।

शिवपुरी में तात्या को गिरफ्तार कर लाया गया। न्याय के स्वाँग के बाद अंत में उसे मौत की सजा सुनाई गयी। निर्भय होकर मृत्यु वरण में तात्या टोपे ने अग्रेजों में भी विस्मय का उद्रेक कर दिया और इस प्रकार अपरिमित श्रद्धा अर्जित कर ली। [41]

जीवन का हिसाब मिलाकर देखने का समय मनुष्य के सामने एक बार ही आता है। प्राण दण्ड की आज्ञा सिर पर लिये तात्या ने शिवपुरी में तीन दिन बिताए थे। उन तीन दिनों में एकांत विचार करने का प्रचुर अवकाश उनको मिला था। बेतवा, कोंच, गुलौली एवं ग्वालियर युद्व की बातें उस समय उनको निरंतर याद आती रही थी। निद्रांहीन रातों में बार–बार याद आती होगी ग्वालियर में रानी के आशाहत मुख की छवि।

वेतना और हताशा में वही सुंदर मलिन मुख और दुःख–कातर आयत नेत्र। फिर भी, एकमात्र उन्हीं के अनुनय से उस समय रानी ने तलवार हाथ में ली एवं उद्दीप्त उत्साह से सफेद घोड़े की पीठ पर बैठ गई थी। उसके बाद जहाँ तक उसका नीला मुरैठा दिखाई देता रहा, यही लगता रहा है जैसे एक किशोर सैनिक अमित तेज के साथ भागा जा रहा है। इस युद्ध की अंतिम परिणित क्या होगी इसे उस दिन तो रानी ने समझ ही लिया था। फिर भी जान बूझकर ही उस दिन मृत्यु वरण करने दोड़ी गई थी। पवित्र अग्निशिखा की तरह उसका चरित्र जितनी भी बार याद आया, उतनी ही बार श्रद्धा और ग्लानि से तात्या ने अपना सिर नीचा कर लिया था। अभूतपूर्व आवेग से उत्साहित होकर स्वयं और दूसरे को उद्दीप्त करके जो रानी मृत्यु को वरण कर गई है, उसकी गौरवपूर्ण स्मृति में तात्या का हृदय भर उठता था।

यहाँ पर मध्यभारत विद्रोह के नेतागणों की अंतिम परिणति क्या हुई उसी की बात बताना जरूरी है।

राव साहब जम्मू के सीमांत पर चेनानी में अपनी स्त्री और पुत्र के साथ रह रहे थे। सियालकोट के डिप्टी कमिश्नर मेकनर उन्हें गिरफ्तार करने जम्मू जाते हैं सियालकोट में मुकदमा चलाने के बाद उन्हें फाँसी दे दी जाती है।

बाँदा के नबाव 1858 ई. में महारानी विक्टोरिया का घोषण पत्र जारी हो जाने के बाद आत्म–समर्पण कर देते हैं। उन्हें 400 रूपये की मासिक वृति दे दी जाती है।

तात्या टोपे ग्वालियर पतन के बाद अंग्रेजों की आँखों में धूल झोंककर, कभी छिपते हुए और कभी प्रत्यक्ष युद्व में उन्हें परास्त कर और राजपूताने के विभिन्न स्थानों में घूमते रहे थे। उनको फाँसी दे दी जाती है 1859 ई. की 15 अप्रैल को ।

बाणपुर के राजा ठा. मर्दनसिंह और शाहगढ़ के राजा बखतबली की अंतिम कहनी अंधकाराच्छन्न है।

5 मई, 1860। दामोदर और उसके साथियों ने इंदौर में मध्यभारत के राजनैतिक प्रतिनिधि सर रिचमण्ड शेक्सपियर से भेंट की। काश्मीरी मुंशी धर्मनारायण के द्वारा शेक्सपियर ने उन लोगों की सारी व्यवस्था करा दी। [42]

दो–चार लोगों को छोड़कर अन्य सब साथियों को शेक्सपियर ने बरखास्त़ कर दिया। इस बार दामोदर से रानी के समीप रहने वाले रघुनाथ सिंह रिसालदार और काशी के बिदा लेने का क्षण उपस्थित हो गया। रानी के पुत्र को सुरक्षित और निरापद आश्रय में पहुचाकर वे रानी का ऋण चुका देते है। आँखों से आसूँ पोछते–पोछते अनेक तरह से दामोदर को सांत्वना देते हुए उन लोगों ने अंत में बिदा ले ली। और उस बार जो वे चले गये, तो फिर उन लोगों का फिर तो पता ही नहीं चलता है। 1857–58 के कुछ वीर उस समय भी थे। कारण बहुत दिन तक उनके नाम का हुलिया कटी रही थी। इसीलिये वे लोग मृत्यु पर्यन्त भारतवर्ष के हाट–बाट, गली–मैदान, घाट, वन, बीहड़ में अपने को छिपाए हुए घूमते रहते थे। घर से बिछुड़े, प्रियजनों से वियुक्त स्वाधीनता संग्राम के वही वीर सैनिक अनेक स्थानों पर अनेक तरह से मृत्यु का वरण करते है। एक बार सुना गया था झाँसी की रानी के अनुचरों में जो लोग जीवित है, वे लोग प्रतिवर्ष कुंभ के मेले में मिला करेंगे। उनका कोई एक़ गुप्त संकेत रहेगा एवं उसी के द्वारा वे लोग एक दूसरे को पहचान लेंगे। यह बात सत्य है अथवा नहीं इसके भी परीक्षण करने का अब कोई उपाय नहीं है।

वास्तव में 57–58 ई. के बाद ऐसा निर्मम अत्याचार चला था कि योद्धा लोग अपनी पहचान उजागर करने में भय का अनुभव किया करते थे। सुना है इलाहाबाद के एक गाँव में एक वृद्ध किसान मरते समय यह उद्‌घाटित कर गया

है कि वह बाँदा के नबाव के साथ था एवं झाँसी की रानी को उसने कालपी में देखा था। शायद इसी की तरह नगण्य और अज्ञात अवस्था में मृत्यु वरण की होगी रघुनाथ सिंह और काशी ने। इतिहास उनके संबंध में पूरी तरह निरूत्तर है।

इंदौर आकर दामोदर राव ने शास्त्रानुसार विधि–विधान से रानी का अंतिम संस्कार किया। रामचन्द्र राव उस समय भी उसके साथ था। शेक्सपियर ने दामोदर के लिये 150 रू. की सरकारी पेंशन का बन्दोबस्त कर दिया था। इंदौर में धर्मनारायण के पास रहकर दामोदर ने फारसी, मराठी और अंग्रेजी सीख ली थी और वहीं रहकर वह बड़ा हुआ था। [43]

गंगाधर राव की मृत्यु के बाद एवं झाँसी के विलीनीकरण के समय डलहौजी ने झाँसी के राजकोष में जमा पाँच लाख रूपया एवं राजा की खानदानी संपत्ति के विषय में कहा था कि दामोदर के वयस्क हो जाने के बाद उसे यह सब मिल जायेगीं। परोला, काशी एवं पूना में भी गंगाधर राव के निजी घर थे। किन्तु वयस्क हो जाने पर दामोदर को पता चला कि उस संपत्ति से उसे कुछ भी नहीं मिलेगा। क्योंकि उसकी माँ अंग्रेजों के विरूद्व लड़ी थी। वृद्ध लोगों के मुँह से झाँसी की गौरव कहानी सुनकर **'झाँसी ब्लू बुक'** में सब कुछ पढ़कर वह अपनी जब्त संपत्ति को छुड़ाने का प्रयास करता है किंतु यह जानकर कि सारा प्रयास व्यर्थ होगा, अंत में शांत हो जाता है।

अगर दुनिया के अन्य देशों के स्वतंत्रता आन्दोलनों के इतिहास को देखा जांए, तो ये सारे इतिहास जनता द्वारा शासकों के विरूद्व सशस्त्र विद्रोह के वर्णन से भरे पड़े है। चाहे वह रूस हो, अमेरिका हो, फ्रांस हो, या इटली हो सारे देशों का इतिहास जनता द्वारा पूरी तरह विद्रोह पर उतर आने का इतिहास है।

हमारे देश में जो अंग्रेजों के विरूद्व विद्रोह की भावना पैदा हुई वह

पूरी तरह तो विकसित हुई थी पर पूरी तरह संगठित नहीं थी। कई रियासतें व राजा–रजवाड़े अंग्रेजीं शासन के कट्टर समर्थक थे। वे उनके साथ बराबरी से उठते–बैठते थे व शराब पीते थे। इनमें से अधिकांश रियासतें हमारे देश की बहुत बड़ी रियासतें थी। दूसरी ओर छोटी–छोटी रियासतें थी जिनके पास बहुत ही सीमित साधन थे–खजाना सीमित था तथा छोटी सी फौज थी, पर उन्हें अपनी स्वतंत्रता प्यारी थी। वह अपनी स्वतंत्रता के लिये कुछ भी कर सकते थे । इन्ही में से एक थी वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई की झाँसी।

सन् 1850 में अंग्रेजी शासन के विरूद्व हुआ सैनिक असन्तोष इस कारण ही ज्यादा उग्र रूप में पनप नही सका, यह असन्तोष इस कारण ही पूरी तरह असफल सिद्व हुआ क्योंकि यह पूरी तरह से स्थानीय था। इस कारण यह असन्तोष सात साल तक धीरे–धीरे अन्दर ही अन्दर सुलगता रहा। सन् 1857 के आरम्भ में अंग्रेजी फौज में कार्यरत भारतीय सैनिकों के बीच विद्रोह की भावनाएं फैलने लगीं। 29 मार्च 1857 को एक ब्राह्मण सैनिक मंगल पाण्डे जो 34 वी बटालियन में सैनिक थे, मेरठ में सर्वप्रथम खुल्लम खुल्ला विद्रोह कर दिया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सैनिक अ़पनी बैरिकें छोड़ कर छावनियों की सड़को पर आ गये। आगरा, इलाहाबाद, बनारस, कानपुर, झाँसी और बिठूर आदि में मंगल पाण्डेय द्वारा लगाई गयी विद्रोह की आग फैल गई। लार्ड डलहौजी की कूटनीति का शिकार झाँसी बिठूर, अवध रियासतें हो रही थी। इस कारण बगांल, बिहार, राजपूताना मध्य भारत, उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं दक्षिण तक विद्रोह की आग जा पहुँची। इन सभी स्थानो पर सैनिकों ने विद्रोह कर डाला। इनके साथ अंग्रेजी शासन के दुश्मन कई राजे राजकुमार एवं नवाब इत्यादि थे। नाना साहब फड़नवीस, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, खान बहादुर (खान) अजीमुल्ला खान, तात्या टोपे, कुवँर सिंह आदि।

इस विद्रोह में पहली बार आम जनता और भारतीय शासक शामिल हुए। दो वषो तक वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई के अंग्रेजी शासकों के विरूद्व चले इस सशस्त्र विद्रोह को देखकर ऐसा लगता था कि यह अंग्रेजी सल्तनत को देश से बाहर ही खदेड़ कर दम लेगा। परन्तु धीरे–धीरे यह आन्दोलन क्षीण होता गया। स्वतंत्रता हमसे दूर होती गयी। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि इस आन्दोलन में शामिल लोगों में एकता नहीं थी। इस कारण उनकी शक्ति छिन्न–भिन्न होने लगी थी। अंग्रेजी शासक इस संग्राम को कुचलने में पूरी तरह कामयाब हो गये थे। हमारी स्वतंत्रता लगभग 100 साल आगे खिसक गयी। 44

इस स्वतंत्रता आन्दोलन को अंग्रेज इतिहासकारों और शासकों ने बहुत ही मामूली घटना मानकर आंका। उन्होंने इसे मामूली सैनिक असंतोष, गदर और विप्लव का नाम दिया। पर वास्तविक रूप में आज भी हम इसे स्वाधीनता का पहला आन्दोलन कह सकते है। हमारे देश के गौरवशाली इतिहास में इसे आज भी स्वतंत्रता का पहला राष्ट्रीय आन्दोलन कहा जाता है। 1857 ई. के असफल विद्रोह के नतीजे के रूप में पहली बार हमारे देशवासियों को अपनी गुलामी की स्थित का अहसास हुआ। शासक वर्ग में और भारतीय जनता के बीच गहरी खाई, और गहरी हो गयी। अंग्रेजी सेना में भारतीय सैनिकों की संख्या कम कर दी गई व यूरोपियन सैनिकों की संख्या और बढ़ा दी गई। 1857 में ब्रिटिश सेना में भारतीय सैनिकों की संख्या 2 लाख 38 हजार थी और यूरोपियन 45 हजार थे। पर सन् 1863 में यह संख्या 1,40,000 और 65,000 के अनुपात में हो गई। इसके अलावा सेनाए भी जाति के आधार पर बाँट दी गयी। ताकि सैनिकों के बीच कभी एकता और भाईचारा पैदा न हो सके।

भारतीय सेना में यह पुर्नगठन जानबूझ कर किया गया। उनमें जाति

और सम्प्रदाय से भरे नारों को प्रोत्साहन दिया गया। सेना और जनता के बीच इतनी दूरी बढ़ा दी गई कि सम्बन्ध शेष नहीं रह गये। सैनिक छावनिया शहरी आबादी से कोसों दूर बनायी गयी। सैनिकों को अखबारों से दूर रक्खा गया।

सभी महत्वपूर्ण पदों पर अंग्रेज सैनिकों की नियुक्ति कर दी गयी। कोई भी भारतीय सैनिक किंग्स कमीशन प्राप्त कर अफसर नहीं बन सकता था। भारतीय सेना के एकाउंटस डिपार्टमेंट में भारतीय सैनिकों को क्लर्क से ऊँचा पद दिया ही नहीं जाता था। सशस्त्र सैनाओं के शक्तिशाली पद अंग्रेज सैनिकों के लिये सुरक्षित रखे जाते थे। ये सैनिक अधिकारी ब्रिटिश सेना में हमैशा भारतीय रेजिमेंटों के साथ रखा जाने लगा था ताकि वह अनुशासनहीनता को पूरी तरह दबा सके व जनता पर अपना आतंक कायम किया जा सके।

जो सैनिक व अधिकारी इस विद्रोह में शामिल हो गये थे उन बन्दियों पर बिना कोई मुकदमा चलाये कत्ल कर डाला। इस तरह की नृशंसता पूर्वक हत्यायें तो चंगेजखान ने भी नहीं की थी।

अंग्रेज इतिहासकार जी. टी. गेरेट ने 'एन इण्डियन कमेंट्री' नाम की अपनी पुस्तक में यह तथ्य स्वीकार करते हुए लिखा है– अंग्रेज सरकार ने बंदियों को बिना मुक़दमा चलायें कत्ल किया। कत्ल से पहले सुअर की खाल में सिलवाया, उनके शरीर पर सुअर की चर्बी मली गयी। कत्ल के बाद उन्हें जला दिया गया। हिन्दुओं को स्वयं अपना धर्म भ्रष्ट करने पर मजबूर किया गया। दिल्ली के आस–पास के गाँवो में कोई विद्रोही रहता था उसे पूरी तरह नष्ट कर दिया गया। काफी लंबे समय तंक 1857 के विद्रोह की घटनाओं की चर्चा होती रही। अंग्रेज सरकार के अत्याचार, निर्दयता की हरकतों ने भारतीय मानस के अन्दर विद्रोह की भावना को और भड़का दिया। स्वतंत्रता की ईच्छा और बलवती होने लगी। घर–घर में झाँसी,

कालपी, ग्वालियर की चर्चायें होने लगी। चारों तरफ वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई के गीत गायें जाने लगे।

इसके साथ–साथ लोगों की समझ में यह भी आने लगा कि बिना पूरी तरह संगठित हुए विद्रोह करना मूर्खता ही होगी। हिन्दू और मुसलमानों का पढ़ा–लिखा तबका यह बात अच्छी तरह समझ गया था कि बिना मानसिक विकास के शिक्षा के प्रसार के राजनीतिक क्रांति लाना असंभव है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनेक ऐसे आंदोलन सामने लाए गये जिनसे जनता में सदियों पुरानी सामाजिक कुरीतियों, रीतिरिवाजों, कट्टर धार्मिक सिद्वान्तों से मुक्त करने के प्रयास किये गये।

सच्चाई तो यह है कि 1807 के प्रारम्भ में हैदर अली ने भारत की जनता के नाम अंग्रेजों के विरोध में मद्रास में एक पोस्टर छपवाया था जिसमें अंग्रेज सरकार के विरोध में भारतीय जनता को एक होने का आह्मन किया गया था। सन् 1750 से लेकर 1857 तक 107 सालों के बीच भी देश प्रेम की भावना जाग्रत हुई थी। सन् 1806 में बल्ललार में टीपू सुल्तान ने अंग्रेजों को अपनी सल्तनत से बाहर खदेड़ दिया था। उस दिन से ही भारतीय जनता में अंग्रेजों को सबक सिखाने की इच्छा बलवती हो गयी। 1857 का यह प्रथम स्वतंत्रता संग्राम इस विद्रोह के फलस्वरूप ही फैला था।

अंग्रेजों ने भले ही 1857 में और उसके बाद भारत के देश प्रेमियों को दबाने में कोई कसर नहीं उठा रखी। इस कार्य में उन्होंने नैतिकता को ताक पर रखकर अपनी सारी शक्ति लगा दी। पर इतिहास गवाह है कि भारत के किसी क्रांतिकारी ने किसी अंग्रेज महिला पर कोई अत्याचार नहीं किया, न ही कोई अश्लील हरकत की। इसके अलावा अंग्रेजों की सम्पति तो लूटी गयी पर उनके घरो को नष्ट नहीं किया गया।

इस आन्दोलन के असफल होने का सबसे बड़ा कारण जो माना जाता है वह शायद यही था कि यह सबसे आगे लगाई गयी छलांग थी। भारतीय जनमानस इस आंदोलन के लिए पूरी तरह से तैयार नहीं हो पाया था जिसके कारण धनी वर्ग ने अंग्रेज सरकार से समझौता करने में ही अपनी भलाई समझी। यह संग्राम भले ही असफल हो गया हो पर इस संग्राम की असफलता के पीछे हमारी आने वाली बरसों की सफलता छिपी थी जो धीरे–धीरे जनमानस में फैल रही थी। सारे भारत में उन दिनों यह गीत बड़े जोर–शोर से गाया जाता था –

हम है इसके मालिक हिन्दुस्तान हमारा है
पाकवतन है कौम का जन्नत से भी प्यारा है।
यह है हमारी मिल्कियत हिन्दुस्तान हमारा
इसकी रूहानियत से रौशन है जग सारा
कितनी कदीम, कितना नईम सब दुनिया से न्यारा,
कितनी है जरखेज जैसे गंगो जमन की धारा
ऊपर बर्फीला पर्वत पहरेदार हमारा
नीचे साहिल पर बजता सागर का नक्कारा
आया फिरंगी दूर से ऐसा मन्तर मारा
लूटा दोनों हाथो से प्यारा वतन हमारा
आज शहीदों ने अहले वतन ललकारा
तोड़ो गुलामी की जंजीरें बरसाओं अंगारा
हिन्दू मुसलमा हमारा भाई–भाई प्यारा
यह आजादी का परचम इसको सलाम हमारा।

इस गीत में मौजूद भावनाओं ने आगे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को

और मजबूत किया। [45]

1857 के प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन के कारणों की खोज की जायें तो इसमें सबसे पहला नाम लार्ड डलहौजी का लिया जायेगा। इस बात को अनेक इतिहासकारों ने स्वीकार किया है। पर इस क्रांति के पीछे लार्ड डलहोजी के अलावा जो सबसे प्रमुख नाम आता है वह लार्ड क्लाइव का है जिसने 1757 में प्लासी की जमीन पर भारतीय जनता को बुरी तरह कुचला था। तभी से भारतीय जनता में क्रांति के बीज भी पड़ गये थे। इसके बाद वारेन हेस्टिंग्स ने बनारस, रूहेलखण्ड, बंगाल में हिन्दुस्तानी जनता पर बुरी तरह अत्याचार कियें। लार्ड वैलजली ने मैसूर, पूना, सतारा, राज्यों में जनता पर अनगिनत अत्याचार किये।

अंग्रेजी शासन ने झूठ व विश्वासघात की शैली का सहारा लिया। सेना में मौजूद भारतीय सिपाहियों पर तरह–तरह के अत्याचार किये जाते। जिन सैनिकों की बदौलत अंग्रेजी शासन ने एक–एक कर कई राज्यों पर कब्जा किया था, उन सैनिकों पर एक मामूली अंग्रेज सार्जेट हुक्म चलाया करता था। ये अंग्रेजी सार्जेट भारतीय सिपाहियों की उम्र तक का कोई ख्याल नहीं करते थे। इन सिपाहियों से ज्यादा अच्छी स्थिति तो निजाम और मराठा सैनिकों की थी। उस समय तो अंग्रेजी शासन की निर्ममता चरम सीमा पर पहुँच गयी जब जनरल आर्थर वैल्जवी ने अपनी ही सेना के घायल हिन्दुस्तानी सैनिकों को गोली मारने के आदेश दिये। यह स्थिति मूढ़ से मूढ़ व्यक्ति को भी उत्तेजित कर सकती थी।

इतिहास वीरांगना लक्ष्मीबाई की वीरता का गवाह है जिसने वीरता पूर्वक लड़ते हुए अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे। उस समय अगर रानी लक्ष्मीबाई को ग्वालियर राज्य से पर्याप्त सैनिक सहायता मिल गयी होती तो आज इतिहास का स्वरूप कुछ और होता। [46]

हर क्रांति के पीछे कुछ न कुछ कारण और घटनाएँ अवश्य होती है जिनका प्रभाव उस क्रांति को जन्म देता है, उसका आधार बनता है। इसी बात को इटली के प्रख्यात देशभक्त मेजिनी ने कार्लाइल द्वारा 'फ्रांस की राज्य कांति' नाम की पुस्तक पर टिप्पणी करते हुए कहाँ है, ''प्रत्येक क्रांति की पृष्ठभूमि में कतिपय मूल सिद्वान्त हुआ करते है। क्रांति का अर्थ ही है मानव जाति के ऐतिहासिक जीवन की पुनःस्थापना। लाखों व्यक्ति इन सिद्वान्तो के लिये कर्मक्षेत्र में अपनी जान न्योछावर कर देते.है। इन सिद्वान्तों की खातिर न जाने कितने राजसिंहासन धूल में मिल जाते है। कितने मानवो का रक्त बह जाता है। पर इन सिद्वान्तो की खातिर मानव इसे बहुत मामूली घटना समझता है। पर इस कार्य में लगे लोगों में से कुछ व्यक्ति बहुत ही महान् होते है।''

इन महान व्यक्तियों के कार्यों का मूल्यांकन करने के बाद ही हमें उनकी महानता का पता चलता है। सिकन्दर महान व वीरांगना लक्ष्मीबाई के द्वारा किये गए महान कार्यो की तुलना नहीं की जा सकती है। उनके अपने कार्यक्षेत्र भिन्न थें, उनकी कार्य प्रणाली भिन्न थी। दोनों का उद्वेश्य अलग–अलग था। सिकन्दर तो विश्व विजय की अपनी इच्छा लेकर निकला था। जबकि रानी लक्ष्मीबाई अपने देश के लोगों को पूरी तरह अंग्रेजों की दासता के शिंकजे से निकालना चाहती थी। हमारे देश में उस समय आज जैसे संचार साधनों का पूरी तरह अभाव होने के बावजूद उनके आदर्श और उनके कार्य देश भर में फैल चुके थे। भारत के जनमानस में स्वतंत्रता की चेतना को वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई ने कूट–कूट भर दिया था।

कई अंग्रेज इतिहासकारों में से एक वी. के. ओक ने अपनी पुस्तक में 1857 के विद्रोह को मूर्खो का एक कारनामा बतलाया है जिन्होने गाय और सूअर की चर्बी को कारतूसों में उपयोग की अफवाहे को बिना किसी से पूछें सच मान लिया और

इतना बड़ा विद्रोह हो गया। किसी ने यह भी नहीं पूछा कि यह अफवाह सच भी है या नहीं। एक बिगड़ा तो दूसरा बिगड़ गया दूसरे को देखकर तीसरा बिगड़ गया। अन्ध परम्परा चालू हो गयी और अविचारी और मूर्खो का एक समूह इकट्ठा हो गया, विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी।

इस टिप्पणी पर विचार करते हुए अंग्रेज इतिहासकारों की मनोवृति को हम समझ सकते है। जोकि भारतीय समाज को पूरी तरह से बुद्विहीन ही समझते थे, जो कि सच और झूठ की समझ ही नहीं रखता है। अगर 1857 के विद्रोह के पीछे मात्र कारतूसों की धटना ही थी तो नाना साहब, महारानी लक्ष्मीबाई, बहादुर शाह जफर, खानबहादुर, रावसाहब, तात्या टोपे, अवध के नवाब, ठाकुर मर्दन सिंह, राजा बखतवली, कुँवर सिंह, अमर सिंह, इत्यादि को इस युद्व में कूद पड़ने की क्या आवश्यकता थी ? इन लोगों को तो कारतूसों का उपयोग नहीं करना था। दूसरे वायसराय ने इस आदेश को कुछ दिनों बाद ही वापिस ले लिया था। इस आधार पर तो यह विद्रोह तुरन्त ही समाप्त हो जाना चाहिये था।

इसके बावजूद राजा, प्रजा व भिखारी तक इस क्रांति में कूद पड़े जिन्हें इस कारतूस प्रकरण से कोई मतलब न था। इस क्रांति के पीछे अंग्रेजों का वह अमानुषिक व्यवहार था जो अवध के राजा के साथ शुरू हुआ था। जिसे कलकत्ता में कैद कर लिया गया था। उस समय बंगाल के एक नागरिक ने लन्दन के एक अखबार में लिखा था – ' जिन्होंने कभी बंगाल के नवाब की शक्ल भी नहीं देखी थी वह भी नवाब की दुर्दशा पर आँसू बहा रहे थे। उन लोगों ने अवध के नवाब वाजिद अली शाह के अपमान का प्रतिशोध लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। '

इसका सीधा अर्थ यह है कि क्रांति की भावना उस समय की जनता में शनैः–शनैः फैल रही थी। इस भावना के पीछे जो उद्वेश्य था वह

स्वतंत्रतां की चेतना का था जिसका एहसास लोगों को हो गया था। भारत की आम जनता ने यह महसूस कर लिया था कि अंग्रेज शासकों ने उनको धीरे–धीरे गुलामी की जंजीरों में जकड़ लिया था और यह जंजीरें धीरे–धीरे कस रही थी। चरबी वाला कारतूस या अक्ट्रिन आफ लैप्स कानून तो महज एक बहाना मात्र थे, जिन्होंने स्वतंत्रता की चेतना को और बढ़ावा दिया। इटली और फ्रांस में क्रांति का आधार जिस तरह बढ़ती हुई महँगाई थी, इसी तरह 1857 की क्रांति का मूलाधार तो गुलामी ही था। जिसका कसता हुआ शिकंजा हम महसूस कर रहे थे। स्वतंत्रता की भावना कोई पहली बार भारतवासियों ने महसूस नहीं की थी, यह भावना तो राणा प्रताप ने वर्षो पहले महसूस की थी जब उन्होंने अकबर की अधीनता स्वीकार करने की बजाय घास की रोटिया खाना मंजूर किया था।

यही भावना गुरू गोविन्द सिंह के मन में सदियों पहले जाग्रत हुई थी। जिस कारण उन्होंने सिंहगढ़ की पावनता को बनाये रखने के लिये अपने प्राण उत्सर्ग कर दियें। ' सूरा सो पहचानिये जो लड़े दीन के हेत, पुरजा–पुरजा कट मरे तबहु न छोड़े खेत।' [47]

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने 1857 में अपने घोषणा पत्र में कहाँ था– '' हे हिन्दू भूमि के सपूतो, यदि हम दृढ़ निश्चय कर लेंगे तो शत्रु को क्षण भर में नष्ट कर सकते है। हम शत्रुओं का नाश करके अपने प्राण प्रिय देश व धर्म को मुक्त कर लेंगे। अपने स्वधर्म और स्वदेश को जो हमें प्राण प्रिय है, भय मुक्त करों। भारत के हिन्दू और मुसलमानों, उठो भाइयों जागृत हो जाओ। परमात्मा के सभी वरदानों में जो स्वाधीनता का वरदान है जिसे इस कपटी राक्षस ने छीन लिया है, वह हमैशा छीने रहेगा। क्या परमात्मा की इच्छा के विरूद्व किया गया कार्य स्थायी हो जाएगा ? नहीं नहीं। अंग्रेजों द्वारा अब तक हम पर इतने अत्याचार किये जा चुके है कि उनके पापों

का धड़ा अब भर चुका है। अब वे आपके प्राण प्रिय धर्म का ही नाश करने की दुर्बुद्वि का परिचय दे रहे है। परमात्मा की यह इच्छा कदापि नहीं हैं कि तुम इस तरह निष्क्रय बने बैठे रहो। इसीलिये परमात्मा ने हिन्दू–मुसलमान दोनों को ही अपने देश से अंग्रेजों को बाहर निकालने का आदेश दिया है। परमात्मा की कृपा और आपके शौर्य से वे इस देश से बाहर निकाल दिये जायेगें। उनका नामों निशा भी हिन्दुस्तान में नहीं दिखे ऐसी आशा है।'' [48]

ईश्वर प्रदत्त स्वतंत्रता की रक्षा करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है, यही समझ कर भारतीयों ने रानी लक्ष्मीबाई के कहने पर अपनी तलवारे खींची थी। इन घोषणाओं से पता चलता है कि रानी लक्ष्मीबाई ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की अग्नि को भारतीय जनता के हद्रय तक पहुँचा दिया था।

सन् 1857 में वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई ने भारतीय वीरों को जगाते हुए कहा था –

धर्मासाठी मरावे । मरानी अवध्यांसि मारावे ।

मारिता मारिता ध्यावे । राज्य आपुले ।।

अर्थात अपने धर्म के लिये प्राण दो। अपने धर्म के लिये शत्रु का वध करों। चाहे तुम प्राण ही क्यों न छोड़ रहे हो, इसी प्रकार वध करों व अपने राज्य की स्थापना करों । [49]

सन् 1857 के क्रांति युद्व के यही तत्व थे– स्वराज्य व स्वधर्म। इस क्रांति युद्व की असफलता के बावजूद क्रांति की भावना में जरा भी कमी नहीं आयी थी। 1848 की इटली की क्रांति भी अपने आरम्भिक दौर में असफल रही थी। [50]

जस्टिस मैकार्थी ने कहाँ है – भारतीय प्रायद्वीप में जो विद्रोह हुआ था उसे सैनिक विद्रोह नहीं कहा जा सकता। यह तो भारत की जनता का अंग्रेजी सत्ता के विरूद्व उनकी घृणा का प्रर्दशन मात्र था। यह चिगांरी चरबी वाले कारतूसों

से निकली या यो ही निकली, कहना कठिन है। कारतूस न भी होते तो अन्य किसी माध्यम से धृणा का यह बीज सामने आता। माध्यम भले ही कोई दूसरा होता। इस आन्दोलन में अपनी धार्मिक कट्टरता को भुलाकर देशी राजाओं और शासकों, सैनिकों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर इस महाक्रांति में भाग लिया। सैनिक क्रांति के तौर पर हुआ यह युद्व एक राष्ट्रीय धर्म–युद्व के रूप में परिवर्तित हो गया। [51]

चार्ल्स वाल ने 'हिस्ट्री आफ अवर टाइम' में लिखा है – ''1857 में उमड़ी यह धारा आगे चलकर भारत की नैतिक वसुंधरा को प्रभावित कर गयी थी। राष्ट्रभक्त भारतवासी अपने विदेशी शासकों से लोहा लेने के लिए मुक्ति संघर्ष के पथ पर निकल पड़े थे। झाँसी की रानी ने इस विद्रोह को सारी जनता का विद्रोह बना दिया।''

व्हाइट ने अपने ' महान सिपाही विद्रोह के इतिहास' में लिखा है – 'यदि में झाँसीवासियों के द्वारा प्रदर्शित साहस की प्रशंसा नहीं करूँगा तो अपने कर्तव्य से विमुख कहलाऊँगा। नैतिक दृष्टि से झाँसी के ताल्लुकेदारों की यह महान भूल थी जो उन्होंने हत्यारें विद्रोहियों से हाथ मिलाया। किन्तु उसके लिए भी उन्हें उद्वेश्य से प्रेरित निष्ठावान देशभक्तों के रूप में मान्यता दी जा सकती है। क्योंकि वे अपनी मातृभूमि और रानी के लिये संग्राम कर रहे थे। स्वराज्य और स्वधर्म के लिये संघर्षरत थे।''

अंग्रेजों ने उस समय की भारत की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक हालातों का लाभ उठाया। जिसको रानी ने भलीभाँति समझा और एक सोची समझी सैन्य नीति के आधार पर अंग्रेजों से लोहा लिया और भारत की आजादी के लिये पृष्ठभूमि तैयार कर दी। [52]

वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई का 1857 का अंग्रेजों के विरूद्व संघर्ष न केवल झाँसी की रक्षार्थ और न ही अपने राज्य की सुरक्षा के लिये था बल्कि अंग्रेजों

की 'फूट डालो राज्य करो' की नीति के विरूद्व भारत का पहला स्वतंत्रता संग्राम का युद्व था जिसने सम्पूर्ण भारत के जनमानस में राष्ट्र के प्रति अंग्रेजों के विरूद्व एक जन आन्दोलन खड़ा कर दिया जिसकी चिगांरी दिन–प्रतिदिन फैलती चली गई और आजादी मिलने के अन्तिम दिन तक यह मशाल बराबर प्रज्वलित होती रही।

REFERENCES

1. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 170
2. वही पृ0 211
3. Revolt in Central India . P. 52
4. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 171
5. वही पृ0 172
6. डी. बी. पारसनीस : झाँसी की रानी, पृ0 171–172
7. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 180
8. Rizvi, S.A.A. : Freedom Struggle in Uttar Pradesh, P. 313
9. महाश्वेता देवी : जली थी अग्नि शिखा, पृ0 92
10. Pinkney, P. 16
11. चैपमैन, पृ0 97
12. Brockman, D.L.Drake :Jalaun District Gazetteers, P. 140
13. देवेन्द्र कुमार सिंह : 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और जनपद जालौन, पृ0 60
14. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 182
15. S.A.A. Rizvi : Freedom Struggle in Uttar Pradesh, P. 313
16. C. Ball : The History of the Indian Mutiny, Vol. II, P. 298
17. देवेन्द्र कुमार सिंह : 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और जनपद जालौन, पृ0 61
18. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 183
19. Kay`s Mallesons`s History of the Indian Mutiny, 1857-58, Vol. V, P. 127
20. चैपमैन, पृ0 98
21. C. Ball : The History of the Indian Mutiny, Vol. II, P. 297

22. Revolt : P. 260-261

23. प्रगति दर्पण – जनपद जालौन सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग उ0 प्र0, पृ0 1

24. बलवन्त सिंह : जनपद गजेटियर, पृ0 291

25. V.D. Savarkar : Indians wor of Independence, 1857, P. 419

26. S.A.A. Rizvi : Freedom Struggle in Uttar Pradesh, P. 354

27. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी, पृ0 123

28. वही पृ0 124

29. S.N. Sinha : The Revot of 1857 in Bundelkhand, P. 257

30. देवेन्द्र कुमार सिंह : 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और जनपद – जालौन, पृ0 64

31. वही पृ0 124

32. डिपार्टमेंट नं. XII, फाइल नं. 62, कलेक्ट्रेट जालौन

33. देवेन्द्र कुमार सिंह : 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और जनपद – जालौन, पृ0 66

34. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी, पृ0 125

35. वही पृ0 127

36. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 195

37. महाश्वेता देवी : जली थी अग्नि शिखा, पृ0 98–99

38. वही पृ0 101

39. भगवान दास गुप्ता एवं सुधा गुप्ता : 1857 के विप्लव की अमर दीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई और सम्बन्धित लेख, पृ0 24

40. वही पृ0 25

41. वही पृ0 27

42. महाश्वेता देवी : जली थी अग्नि शिखा, पृ0 101–102

43. बी. डी. गुप्ता एवं सुधा गुप्ता : 1857 के विप्लव की अमरदीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई और सम्बन्धित लेख, पृ0 28–29

44. डी. बी. पारसनीस : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 121

45. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 149

46. वही पृ0 151

47. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी, पृ0 220

48. वही पृ0 222

49. वही पृ0 224–225

50. बी. डी. गुप्ता एवं सुधा गुप्ता : 1857 के विप्लव की अमरदीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई और सम्बन्धित लेख, पृ0 27

51. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 150

52. राय, चौधरी, मजूमदार : भारत का वृहत इतिहास–3, पृ0 148

दसवाँ अध्याय

विश्लेषणात्मक निष्कर्ष

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर किसी भी चरित्र का मूल्यांकन उसके कार्यो के विश्लेषण के आधार पर किया जाता है। तदनुरूप, रानी लक्ष्मीबाई द्वारा विभिन्न रूपों में किये गये कार्यों के आलोचनात्मक परीक्षण के आधार पर उनके चरित्र का निर्धारण एवं मूल्यांकन किया जा सकता है –

रानी लक्ष्मीबाई को व्यक्ति के रूप में आदर्श माना जा सकता हैं। वह एक अच्छी पुत्री, कर्तव्यनिष्ठ पत्नी एवं ममतामयी माता थी। पुत्री के रूप में उन्होंने अपने पिता मोरोपन्त ताम्बे एवं अपनी विमाता चिमाबाई को सर्वदा सन्तुष्ट रखा। लक्ष्मीबाई के विवाह के पश्चात महारानी के पिता झाँसी में ही रहे तथा गंगाधर राव की मृत्यु के पश्चात वे रानी के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे। पत्नी के रूप में भी रानी का चरित्र ग्रहणीय था। उन्होंने विवाह के पश्चात स्वयं को पति के अनुरूप ढाल लिया था। विवाह के पश्चात, महाराज की इच्छा के अनुरूप वह प्रायः महल में ही रहती थी तथा पर्दा प्रथा का पालन करती थी, उन्होंने विवाह पूर्व की गतिविधियों पर विराम लग गया था जो वह बिठूर में स्वछन्द रूप से सम्पन्न करती थी जैसे घुड़सवारी आदि। वह एक ममतामयी माता थी। दामोदर राव के दत्तक पुत्र होने के बावजूद रानी ने उसका घ्यान सगे पुत्र से भी अधिक रक्खा। यदि वह चाहती तो दामोदर राव की देखभाल किसी विश्वासपात्र को भी सौंप सकती थी, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने दामोदर राव को कलेजे के टुकड़े की भाँति जहाँ तक सम्भव हुआ, सदैव अपने साथ रक्खा। रानी का दामोदर राव पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। यही कारण था कि दामोदर राव कल्पना से रानी का एक चित्र बनाकर जीवन भर उसकी पूजा करते रहे। इस प्रकार रानी, निसंदेह, व्यक्ति के रूप में आदर्श थीं।

महारानी बहुत बुद्धिमान, तर्कशील और अपना पक्ष प्रस्तुत करने में

अत्यधिक कुशल थी। अनेक अवसरों पर उनकी बुद्धिमत्ता का लोहा सभी ने माना। लार्ड डलहौजी द्वारा झाँसी राज्य के विलय के पश्चात झाँसी की पुर्नप्राप्ति हेतु रानी द्वारा किये गये पत्र व्यवहार से उनकी बुद्धिमत्ता निर्विवाद सिद्ध होती है। उन्होंने अधिकांश पत्र स्वयं डिक्टेट कर अंग्रेजों को भेजे थे। इन पत्रों में उनका तार्किक दृष्टिकोण देखते ही बनता हैं। यही कारण हैं कि रानी के 16 फरवरी 1854 के पत्र से प्रभावित होकर बुन्देलखण्ड के पोलिटिकल एजेन्ट मैल्कम ने झाँसी के विलय के विरूद्ध अपनी टिप्पणी गवर्नर जनरल डलहौजी को भेजी जबकि इसके पहले वह झाँसी के विलय के पक्ष में अपनी टिप्पणी गवर्नर जनरल को भेज चुका था। रानी ने अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिये डलहौजी को अनेक पत्र भेजे और जब उन्हें भारत में ब्रिटिश सरकार से कोई आशा न रही, तब उन्होंने लन्दन में भी अपना पक्ष प्रस्तुत किया। परन्तु, साम्राज्य विस्तार के तात्कालिक लाभ को देखकर, अंग्रेजों ने रानी की एक न सुनी। **तहमानकर** ने उचित ही लिखा कि –''लार्ड डलहौजी के निर्णय के विरूद्ध अपना वाकयुद्ध इस विलक्षण रानी ने अकेले ही लड़ा – और यदि झाँसी के मामले में तथ्यों एवं तर्को के आधार पर निर्णय दिया जाता तो रानी अवश्य ही विजयी होती।'' इसके अलावा कालपी के युद्ध में विद्रोहियों की निर्णायक पराजय के पश्चात, जब रानी ने ग्वालियर पर अधिकार की योजना बनाकर उसे कार्यान्वित कर दिया, तब उनके इस बुद्धिमत्तापूर्ण कदम की प्रशंसा सबको करनी पड़ी तथा सभी ने उनकी बुद्धि का लोहा माना।

रानी लक्ष्मीबाई एक महान शासिका एवं संगठनकर्ता थीं। 12 जून 1857 को झाँसी का शासन भार सभांलते ही उन्होंने एक पल गवायें बिना ही प्रजा से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने तथा झाँसी की सुरक्षा करने के लिये उद्योग प्रारम्भ किया। उन्होंने विभिन्न त्यौहारों में जनता के साथ भागीदारी की तथा किसानों का

एक वर्ष का लगान माफ कर दिया। उन्होंने आर्थिक प्रगति के लिये चार उद्योग केन्द्र भी स्थापित किये। कुछ ही समय में रानी ने झाँसी के लोगो को एकता के सूत्र में पिरो दिया। वहीं दूसरी ओर रानी ने झाँसी की सुरक्षा हेतु दिन–रात कार्य करवाया। इन सबसे बढ़कर, उन्होंने झाँसीवासियों को स्वतंत्रता की रक्षा के लिये मरना सिखा दिया इसकी पुष्टि ह्यूरोज के विवरण से भी होती है। इस प्रकार रानी ने अपनी प्रशासनिक कुशलता के द्वारा ही अंग्रेजों के समक्ष दुर्जेय चुनौती प्रस्तुत की थी। निसंदेह, वह एक महान शासिका एवं संगठनकर्ता थी।

रानी लक्ष्मीबाई एक महान योद्धा थी। उनकी वीरता के वारे में कहीं कोई विवाद नहीं है। इस पर सभी भारतीय एवं अंग्रेज एक मत थे। रणक्षेत्र में उनकी तलवार विद्युत्वेग से प्रहार करती थी। अत्यंत संकट की स्थिति में, वह मुँह में लगाम दबाकर, दोनों हाथों से तलवार चलाकर एवं शत्रुओं का संहार कर शत्रुओं को हतप्रद कर देती थी। भाँडेर के द्वन्द्व–युद्ध में लेफ्टीनेन्ट बॉकर मरते–मरते बचा था। उसका भाग्य अच्छा था कि रानी की तलवार का वार उसके कूल्हे पर टगी रिवाल्वर पर पड़ा, अन्यथा उसके दो टुकडे हो जाते। इस सत्य को स्वयं बॉकर ने स्वीकार किया था। इसकी पुष्टि ह्यूरोज के विवरण से भी होती है। कालपी के युद्ध में भी रानी लक्ष्मीबाई ने बिग्रेडियर स्टुअर्ट को धूल चटा दी थी। रानी ने द्वन्द्व–युद्ध में स्टुअर्ट के घोड़े को मार गिराया था, जिससे स्टुअर्ट जमीन पर गिर पड़ा था। इसकी पुष्टि भी ह्यूरोज के विवरण से होती है। ग्वालियर के युद्ध में भी उन्होंने तलवार के जौहर दिखाये और अन्ततः वीरांगना की भाँति युद्ध के मैदान में वीरगति प्राप्त की। निसंदेह, वह भारतीय इतिहास की महानतम वीरांगना थी।

रानी लक्ष्मीबाई एक महान सेनापति थी। उन्होंने अनेक अवसरों पर सेनापतित्व का परिचय दिया। झाँसी में अंग्रेजों के समक्ष, उन्होंने जैसी दुर्जेय चुनौती

प्रस्तुत की। वह उनके श्रेष्ठ सेनापतित्व का परिचायक है। उल्लेखनीय है कि 1857 के विद्रोही नेता अंग्रेजों से युद्ध करते समय बहुत शीघ्र ही पराजित हो जाते थे, एक मात्र लक्ष्मीबाई ही थी जिन्होंने अंग्रेजों के समक्ष सदैव एक दुर्जेय चुनौती प्रस्तुत की। कोंच के युद्ध में तात्या टोपे की नेतृत्वविहीन सेना की रक्षा की, उनकी प्रशंसा करने के लिये अंग्रेजों को बाध्य होना पड़ा। इस अवसर पर रानी के श्रेष्ठ सेनापति की प्रशंसा ह्यूरोज तथा के एवं मैल्लेसन ने भी की। के एवं मैल्लेसन के शब्दों में– ''उन्होंने जिस तरह से पीछे हटने के कार्य को संचालित किया था; उसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती।''

कालपी के युद्ध में रानी लक्ष्मीबाई ने बिग्रेडियर स्टुअर्ट की ब्रिगेड पर जिस प्रकार से भयंकर आक्रमण कर उसे ध्वस्त कर दिया था – वह उनके असाधारण सेनापतित्व का परिचायक है। स्टुअर्ट के सौभाग्य से उस समय ह्यूरोज की उष्ट्रवाहिनी ने ब्रिटिशों के सम्मान की रक्षा की। रानी के प्रबलतम शत्रु सर ह्यूरोज ने स्वयं महान सेनापति के रूप में रानी के गुणों की प्रशंसा करते हुए लिखा कि ''विद्रोहियों में मिलिट्री चतुरता मात्र रानी में ही है। फिर मनुष्य को प्रेरणा देकर युद्ध में मरना सिर्फ वही सिखा सकती है। शत्रु के हिसाब से वही एक मेरे समकक्ष है। कैसा अदम्य मनोबल है उसका, और कैसा तो युद्ध की योजना बनाने की चतुरता और ज्ञान है उसके पास।''

यद्यपि रानी विद्रोहियों में सर्वश्रेष्ठ सेनापति थी, तथापि उनको कालपी के युद्ध में प्रधान सेनापति नहीं बनाया गया। सम्भवतः इसका कारण उनका स्त्री होना था। राव साहब हो या बाँदा के नवाब – थे तो पुरूष ही। अतः पुरूष प्रधान समाज में रानी को प्रधान सेनापति स्वीकारना, उनके अहम को स्वीकार न था। यद्यपि प्रारम्भ में यह जिम्मेदारी रानी को सौंपी गई थी, परन्तु बाद में यह निर्णय बदल दिया गया। उल्लेखनीय है कि ह्यूरोज ने कालपी के युद्ध में विद्रोहियों की पराजय का

प्रमुख कारण राव साहब का प्रधान सेनापति होना माना था। इसी प्रकार ग्वालियर में भी पहले रानी की उपेक्षा की गई और जब अंग्रेजी सेनायें ग्वालियर को चारों ओर से धेरने लगीं, तब राव साहब, तात्या टोपे आदि ने ग्वालियर की रक्षा का भार अंतिम समय में रानी को सौंप दिया। परन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी। विद्रोहियों की पराजय का यह एक प्रमुख कारण बना।

रानी लक्ष्मीबाई दूरदर्शी थी। उन्होंने झाँसी में शासन भार संभालते ही व्यापक तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी थी तथा पेशवा नाना साहब और तात्या टोपे से सम्पर्क स्थापित कर लिये थे। इसके अलावा उन्होंने बुन्देलखण्ड में विद्रोह के प्रसार हेतु बुन्देलखण्ड के अनेक राजाओं के पास अपने गुप्तचर भेजे। यह कार्य रानी की दूरदर्शिता को दिखातें है। इसी प्रकार, कालपी में विद्रोहियों की निर्णायक पराजय के पश्चात, ग्वालियर पर अधिकार का निर्णय रानी की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का परिचायक था। इस निर्णय की सराहना ह्यूरोज को भी करनी पड़ी। ग्वालियर पर अधिकार के पश्चात, रानी ने राव साहब और तात्या को सामरिक तैयारी का परामर्श दिया था। यह परामर्श भी दूरदर्शितापूर्ण था। परन्तु उन्होंने रानी की एक न सुनी, जिसकी विद्रोहियों को भारी कीमत चुकानी पड़ी।

इस प्रकार, रानी लक्ष्मीबाई बहुमुखी प्रतिभा की धनी थी। वह महान वीरांगना, महान सेनापति, महानशासिका एवं संगठनकर्ता तथा कुशल कूटनीतिज्ञ, बुद्धिमान एवं दूरदर्शी थी। उन्होंने अपनी इस बहुमुखी प्रतिभा का 1857 के विद्रोह में भरपूर उपयोग किया। अंग्रेजों की उस समय की निर्विवाद श्रेष्ठता को जानते हुये भी उन्होंने अंग्रेजों के अत्याचारी एवं अन्यायी शासन को समाप्त करने के लिये न केवल युद्ध का बीड़ा उठाया, बल्कि अनेक बार अंग्रेजों के छक्के छुडायें। अन्ततः स्वराज्य की प्राप्ति हेतु अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। निसंदेह उन्होंने एक बार भारत में

अंग्रेजी राज्य की चूलें हिला दीं तथा भारतीयों के लिये स्वराज्य की प्राप्ति हेतु प्रेरणा की अजस्र स्रोत बन गई। उनके प्रबलतम शत्रु ह्यूरोज को भी कहना पड़ा – "She was the bravest and the best military leader of the rebels. " (वह विद्रोहियों की सर्वाधिक वीर और श्रेष्ठतम सेनापति थीं)।

प्रसिद्ध इतिहासकार **डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार** ने अपनी पुस्तक ''दी सिपॉय म्युटिनी एण्ड दी रिवोल्ट ऑफ 1857'' (The Sepoy Mutiny and revolt of 1857) में महारानी लक्ष्मीबाई के 1857 विप्लव में भाग लेने के सम्बन्ध में लिखा है कि ''रानी ने रण क्षेत्र में सम्मानजनक मृत्यु को फाँसी के फंदे से बेहतर समझकर संघर्ष करने का निर्णय केवल तभी किया था जबकि उसने इस बात को निश्चित रूप से समझ लिया था कि अंग्रेजी सरकार झाँसी में विद्रोह और अंग्रेजों के हत्याकाण्ड के लिये उसको ही जिम्मेदार ठहरायेगी और इस दोष पर अदालती जांच का उसे सामना करना पड़ेगा।'' लगभग ऐसे विचार व्यक्त करते हुए मजूमदार के सहयोगी एक अन्य लब्ध–प्रतिष्ठित इतिहासकार **डॉ. सुरेन्द्रनाथ सेन** भारतीय सरकार द्वारा प्रकाशित अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''अठारह सौ सतावन'' में लिखते हैं कि ''अंग्रेजों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिये सर्वोतम प्रयत्नों के बावजूद रानी को अंग्रेजों की पीड़ादायक कूटनीति के कारण विरोधी शिविर में जाना पड़ा।''

श्री मजूमदार और श्री सेन की पुस्तकों के उपर्युक्त उद्धरणों का स्पष्ट सारांश यह है कि महारानी लक्ष्मीबाई का 1857 के विप्लव की पूर्व योजना में कोई हाथ नहीं था और न वह इसमें भाग लेना चाहती थी। यह तो कथाकथित ''गदर'' के प्रारम्भ हो जाने पर अंग्रेजों की बौखलाहट में रानी को विद्रोही समझ बैठने की भूल थी, जिसके कारण वह झाँसी पर आक्रमण कर बैठे और फिर रानी को आत्म–सम्मान के लिये तलवार पकड़ना पड़ी। अपने उस मत की पुष्टि के लिये श्री सेन और

मजूमदार ने निम्नलिखित तथ्य तर्क के रूप में उपस्थित किये है :–

1. यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं हो सका कि रानी ने विद्रोह से पूर्व झाँसी में अंग्रेजी सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों को भड़काने के लिये कोई प्रयत्न किये थे।

2. 6 जून 1857 को झाँसी के विद्रोही सैनिकों ने जब झाँसी के किले में अंग्रेजों को घेर लिया था, तब मार्टिन नामक एवं अंग्रेज द्वारा लिखे गये रानी के दतक पुत्र दामोदर राव को 20 अगस्त 1889 के एक पत्र के अनुसार रानी ने "उनके (अंग्रेजों) किले में जाने के दो दिन बाद भोजन सामग्री दी और कुरेरा से 100 टोपीदार बंदूकोवाले आदमियों को बुलवाकर उन्हें हमारी सहायता के लिये भेजा।"इसी मार्टिन के अनुसार रानी ने किले में घिरे अंग्रेजों के नेता मेजर स्कीन और कैप्टन गॉर्डन को परामर्श दिया था कि वे अपनी सुरक्षा के लिये दतिया चले जायें। तात्पर्य यह है कि जब झाँसी के विप्लवी सैनिकों ने किले को घेर लिया था, तब भी रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजों की सुरक्षा के लिये ही चिन्तित थीं। मार्टिन यह भी लिखता है कि 8 जून को किला खालीकर देने पर जो अंग्रेजों का हत्याकांड हुआ उसमें भी रानी का हाथ नहीं था।

3. रानी ने 11 जून को विप्लवी सैनिकों के दिल्ली चले जाने के बाद सागर के कमिश्नर एरस्काइन 1857 को दो पत्र लिखिवायें। उसने 12 जून के पत्र में लिखा था कि "झाँसी स्थित सरकारी फौजों ने अपनी विश्वासहीनता और क्रूर हिंसा से सब यूरोपीय सैनिक अफसरों, क्लर्को और अफसरों को मार डाला है और चूँकि रानी के पास तोपों की कमी थी तथा सिपाही भी कुल उसके पास 100 या 50 थें जो उसकी महल की रक्षा में लगे थे। अतः वह उनकी कुछ सहायता न कर सकी जिसका उसे खेद है। इस पत्र के अनुसार

विप्लवियों ने किला घेर कर रानी से सहायता की माँग की और उसके पास यह संदेश भिजवाया कि ''यदि उसने किसी प्रकार उनकी प्रार्थना को पूरा करंने में आना–काना की तो रानी का महल तोपों से उड़वा दिया जायेंगा। अपनी स्थिति को ध्यान में रखते हुए रानी को उनकी सभी प्रार्थनाओं को मानने की अनुमति देने के लिये बाध्य होना पड़ा और भारी हाँनि भी सहनी पड़ी। अपने जीवन और सम्मान को बचाने के लिये उसे जायदाद और नगदी के रूप में बहुत धन देना पड़ा। ''14 जून के पत्र में रानी ने लिखा था कि–'' अंग्रेजी शासन के उठ जाने से झाँसी में अराजकता फैल गई है और वह अंग्रेजों की ओर से व्यवस्था रखने का प्रयत्न कर रहीं है। प्रयत्नों की सफलता के लिये तुरन्त धन की सहायता अपेक्षित है।''

रानी के दोनों पत्रों से श्री सेन और मजूमदार यह प्रमाणित करना चाहते है कि रानी ने भयभीत होकर ही केवल विप्लवियों को सहायता दी थी। वह स्वयं ''विद्रोह'' में शामिल नहीं थी और न सिपाहियों को उकसाने के लिये उसने कुछ किया था। अगर उन्हें उकसाने में रानी का हाथ होता तो वे महल फूकनें की धमकी क्यों देतें और फिर ''यदि वह सिपाहियों से मिली होती तो उसके लिये सबसे अच्छा कार्य यही होता कि वह सिपाहियों से अनुरोध करती कि वे उनके पास ही ठहरें रहे क्योंकि उनके चले जाने से वह न केवल अंग्रेजों के प्रतिशोध का मुकाबला करने में अक्षम हो गयी बल्कि पडोसियों के समक्ष असहाय बन गई।''

इस प्रकार यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है कि घटनाक्रम से विवश होकर रानी ने इस 'विद्रोह' में भाग लिया था। उसने न तो झाँसी में हिन्दुस्तानी सैनिकों में विद्रोह उकसाने के लिये कुछ किया था और न किसी पूर्व नियोजित कार्यक्रम के अनुसार ही वह कार्य कर रही थी। वह तो अंग्रेजों का रानी

के प्रति गहरा अविश्वास और बिना स्थिति को समझे बूझे झाँसी पर आक्रमण करने ही ने रानी को बरबस विद्रोही बना दिया था। रानी को इस प्रकार विवशता का शिकार बताकर उसके कार्यों का महत्व ही समाप्त कर देने का जैसे षडयन्त्र सा किया गया है।

रानी लक्ष्मीबाई ने 1857 के पूर्व नियोजित स्वतंत्रता संघर्ष में खूब सोच समझकर और योजनाओं के अनुसार भाग लिया था। यह बात उस समय झाँसी में उपस्थित उन गवाहों के बयानों से स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है जो उन्होंने तुरन्त ही 1857 के विद्रोह के पश्चात अंग्रेज अधिकारियों के सामने दिये थे। कैप्टन पी. जी. स्कॉट ने झाँसी के विद्रोह के संबन्ध में दी गई अपनी रिर्पोट के प्रारम्भ में ही लिखा कि ''गदर के घटित होने के कुछ दिन पूर्व बारहवीं हिन्दुस्तानी इन्फैन्ट्री और झाँसी केन्द्र के सेनापति डनलप ने मेजर स्कीन और डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट कैप्टन गॉर्डन को यह सूचित करने वाले पत्र भेजे थे कि उन्हें अलग–अलग स्रोतों से पता चला है कि झाँसी की रानी का कोई लक्ष्मण राव नामक सेवक बारहवीं इन्फैन्ट्री के लोगों को उकसाने की चेष्टा कर रहा है।''

झाँसी के कमिश्नर पिंकने ने अपनी 20 नवम्बर 1857 की एक रिर्पोट में लिखा था कि ''एक बहुत बड़ी संख्या में जिनमें रानी के मुख्य अनुचर झुरू कुअँर खुदाबख्श आदि भी थे दो झण्ड़े लेकर झाँसी नगर से कैन्टुनमेंट (छावनी) की ओर गये थे। ''जब यूरोपियनों को 'विद्रोहियों' ने झाँसी के किले में घेर लिया था तब कैप्टन गॉर्डन और रानी के मध्य संदेशवाहक के रूप में काम करने वाले एक व्यक्ति मदारबख्श ने अपने बयानों में कहा कि जब ''विद्रोहियों के नेता रिसालदार ने यह वायदा किया कि अगर किले के लोग किला खाली कर बाहर आ जावेगें तो उन्हें किसी प्रकार की हाँनि नहीं पहुचांयी जायेगी, तब ऐसा एक पत्र लेकर में साहिबों की

ओर गया। 5 बज चुके थे किले के समीप पहुँचने पर मैंने पाया कि वह रानी के सिपाहियों से घिरा हुआ था जिन्होंने मुझे गालियाँ दी और कहा कि रानी का आदेश है कि किले में कोई न घुसे। "मेजर स्कीन के खानसामा शाहबुद्दीन ने अपने बयान में कहा कि " 8 जून को जब वह नगर की ओर गया तो उसने देखा कि कड़क बिजली तोप रानी के आदेश पर अफसरो के विरूद्ध प्रयोग करने की तैयारी की जा रही है।"

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट विदित होता है कि रानी न केवल सेना में विप्लव उकसाने के लिये ही प्रयत्नशील थी, बल्कि उसने झाँसी से अंग्रेजों को निकालने के लिये विप्लवी सैनिकों से सक्रिय सहयोग भी किया था। विप्लवियों पर रानी के प्रभाव होने के कारण ही किले में घिरे यूरोपियन के नेत मेजर स्कीन ने उनके आत्मसमर्पण के पूर्व रानी को लिखा था कि वे सिपाहियों को उनके सुरक्षित निकल जाने के लिये सौगन्ध खिलाकर उस पत्र पर स्वयं हस्ताक्षर कर उनके पास भेज दें। श्रीमती मुटलो द्वारा दी गई सूचना को अकारण ही मजूमदार अविश्वसनीय ठहराते है। स्मरण रहे कि किले में घिरें हुये इन यूरोपियनों में श्रीमती मुटलों भी थी। उसनें झाँसी का हत्याकाँड स्वयं देखा था। उसके पति एवं भाई उसमें मारे गये थे और वह स्वयं बड़ी कठिनाई से बच सकी थीं।

मार्टिन के पूर्वोल्लिखित इस कथन को श्री सेन और मजूमदार अधिक महत्व देते है कि रानी ने दो दिन तक किले के संत्रस्त यूरोपियनों को भोजन–सामग्री दी थी और 100 टोपीदार बन्दूकों वाले आदमी किले की सहायता के लिये भेजे थे। इस संबंध में यह कहना यथेष्ट होगा कि रानी के सुकोमल स्त्री हृदय में शत्रु की स्त्रियों और बच्चो के प्रति दयालुता अस्वाभाविक नहीं थी। वह इन यूरोपियनों की असहाय स्थिति जानती थी और उसे यह भी स्पष्ट था कि यह यूरोपियन लोग अधिक समय तक

विप्लवियों के सामने नहीं टिक सकेंगे ऐसी स्थिति में एक मानवोचित कार्य कर अपनी स्थिति अंग्रेजों की दृष्टि में अच्छी बनाये रखने के लिये ही उसने भोजन सामग्री दी थी। रही 100 सैनिकों की सहायता भेजनें की बात सो यह जान लेना जरूरी है कि मार्टिन के ही अनुसार इन सैनिकों को मेजर स्कीन ने दूसरे ही दिन संध्या को वापिस भेज दिया था। भयंकर आपति के समय भी इन सैनिकों की सहायता अस्वीकार करने का कोई बहुत बड़ा कारण होना चाहिये। वह इसके सिवा और क्या हो सकता है कि स्कीन को रानी और रानी द्वारा भेजे गये सैनिकों पर गहरा अविश्वास था।

रानी ने अपने 12 और 14 जून को सागर के कमिश्नर को जो पत्र लिखे थे उनमें उनकी इस बात को बहुत महत्व दिया गया है कि विप्लवियों ने रानी को अपने साथ सहयोग करने के लिये धमकी देकर विवश किया था और रानी अब भी अंग्रेजों के संरक्षण के लिये अत्सुक थी। वास्तविक बात यह लगती है कि रानी अंग्रेजी सत्ता के झाँसी से उठ जाने के बाद अपनी सत्ता दृढ़ करने के लिये समय चाहती थी और अंग्रेज पदाधिकारियों को धोखे में रखकर ही वह अपने उद्देश्य में सफल हो सकती थी। झाँसी मराठा विरोधी ओरछा और दतिया के बुन्देला राज्यों से घिरी थी और फिर 1857 के विप्लव का भविष्य अभी अनिश्चित ही था। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों को पत्र भेजकर बरगलायें रखना रानी की एक चाल मात्र थी। अब सेन का केवल यह तर्क रह जाता है कि रानी ने विप्लवियों को दिल्ली क्यों जाने दिया और इस प्रकार अपनी स्थिति निर्बल कर ली। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उत्तरी भारत के सभी भागों के विप्लवी सैनिकों का जमाव दिल्ली में हो रहा था। साधनहीन मुगल सम्राट बहादुर शाह को इन सैनिकों की आवश्यकता थी। विप्लव को अधिक फैलाने और उससे कई केन्द्र स्थापित करने से ही उसकी सफलता की संभावना अधिक थी। उसे केवल झाँसी, कानपुर या लखनऊ में सीमित

रखना अपेक्षित नहीं था। इसलियें इन सभी स्थानों से विप्लवी सैनिकों की टोलियाँ और बड़ी टुकडियाँ दिल्ली की ओर रवाना की जा रही थी, ताकि भारतीय सत्ता की प्रतीक दिल्ली को विदेशी शासकों से छीनकर, जनसाधरण में विप्लवियों की सत्ता के प्रति आस्था उत्पन्न की जा सकें।

इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रानी लक्ष्मीबाई ने1857 के विद्रोह से लाभ नहीं उठाया बल्कि उसे सफल बनाने का प्रयास किया। रानी विद्रोहियों की धमकियों से डर कर और घटनाओं से विवश होकर विप्लव में शामिल नहीं हुई थी, बल्कि राष्ट्रीय विचारों से एवं अंग्रेजी सत्ता विरोधी भावनाओं से प्रेरित होकर ही उन्होंने उसकी योजना निर्माण करने में प्रमुख भाग लेकर स्वतन्त्रता संग्राम की एक प्रमुख नेत्री के दायित्व का निर्वाह किया था और स्वराज्य प्राप्ति के महान उद्देश्य की पूर्ति हेतु वीरतापूर्वक अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था। निःसन्देह वह 1857 के विद्रोहियों में सर्वश्रेष्ठ तथा भारतीय इतिहास की महानतम वीरांगना थी। भले ही वह अपने महान उद्देश्य को प्राप्त न कर सकीं। तथापि वह भारतीयों के लिये अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष करने तथा स्वराज्य प्राप्त करने की प्रेरणा का शाश्वत स्रोत अवश्य बन गई।

जिन तथ्यों एवं ऐतिहासिकता को आदर्श मानकर रानी लक्ष्मीबाई के जन्म से लेकर जीवन में अंतिम क्षणों तक सत्य को आधार मानकर सम्पूर्ण कलेवर को दर्शाया गया है। वह अभी तक अछूता सा था। रानी की मनोदशा, उनका साहस, राष्ट्रप्रेम, जनमानस की सेवा, युद्धकला एवं कौशल – उनकी वीरता, पराक्रम अदभुत विचार शक्ति, शासन करने की कला, भारत से अंग्रेजों को निकालकर राष्ट्र को स्वतंत्र कराना, सभी धर्मो की रक्षा करना, स्त्री जाति के सम्मान को बढ़ाना शासन के उपकरणों का भली भाँति ज्ञान रखना, युद्ध कला में निपुण होना, युद्ध की व्यूह रचना

करना आदि अनेकों ऐसे तथ्य थे जो रानी में मौजूद थे। अभी तक रानी की युद्ध कौशल, वीरता, स्त्रियों का सेना में भरती करना, उनका मान बढ़ाना एवं स्वयं को यह सिद्ध कर देना कि राष्ट्र में एक ऐसी अदभुत चिगांरी छिपी थी जिसने न केवल आजादी की पहली लड़ाई लड़ी बल्कि दुनियाँ को यह दिखा दिया कि स्त्री की शक्ति अपार होती है उसकी वीरता, मर्यादा और कौशल की कोई भी मानव बराबरी नहीं कर सकता। इस शोध में रानी के सभी दबे हुये कृत्यों को उजागर किया गया है तथा जनमानस में यह संदेश देने का पूरा प्रयास किया गया है कि महारानी लक्ष्मीबाई का व्यक्तित्व एक ऐसा विलक्षण–साहसपूर्ण रणकौशल से परिपूर्ण है जो अभी तक के इतिहास में अद्वितीय एवं अग्रगणी रहा– जिसकी बराबरी किसी से नहीं की जा सकती है। चूंकि इन सबका खुलासा अभी तक नहीं हो सका था, अतः विभिन्न स्थानों के अवलोकन, सबन्धित साहित्य को एकत्र कर उनका क्रमवार अध्ययन किया है तथा सत्यता को आधार मानकर उनके कृतो को लेखनीबद्ध करके यह सिद्ध किया गया है कि रानी, बाईसाहब, मनु, छवीली, रानी लक्ष्मीबाई, महारानी से उठकर वीरांगना कैसे बनी।

वीरांगना प्रत्येक के साथ आसानी से नहीं जोड़ा जा सकता है। सुन्दर व्यक्तित्व, दूरदृष्टि, पक्का इरादा, राष्ट्रीयता, देशभक्ति, रणकौशल, वीरता, युद्ध कला में प्रवीण, जनमानस की रक्षा आदि अनेकों गुणों से युक्त व्यक्ति ही वीरांगना की श्रेणी में आता है। यह सब गुण महारानी लक्ष्मीबाई में जन्म से ही मौजूद थे। जो उनके जीवन में शनैः–शनैः विकास के साथ–साथ विकसित होते गये और उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि अनैतिकता से कैसे लड़ा जा सकता है। मानवता की क्या परिभाषा होती है समाज में उसका क्या स्थान है तथा उसे बचाने के लिये कितनी क़ुर्बानी देनी पड़ती है। वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई ने दुनिया के इतिहास में यह

सिद्ध कर दिखया कि न केवल पुरूष जाति बल्कि स्त्री जाति भी शौर्य एवं साहस तथा कुछ कर गुजरने की इच्छा शक्ति से सब कुछ कर सकती है और समाज को, राष्ट्र को एवं विश्व को ऐसा संदेश दे सकती है – जिससे अमन, चैन, विश्वास और समाजिक मर्यादाओं को कायम एवं जिन्दा रखा जा सके। यह सब महारानी ने बड़ी ही कौशल के साथ करके दिखा दिया। जहाँ एक तरफ वीरांगना ने अंग्रेजों के युद्ध कौशल में छक्के छुड़ा दिये वहीं उन्होंने यह भी दिखा दिया कि भारत माता को अनैतिकता, अत्याचार, व्याभिचार, प्रताड़ना, कुशासन, वैर, द्वेष एवं मानवीय अत्याचारों से कैसे छुटकारा दिलाया जा सकता है। रानी के बारे में चाहे जितना लिखा जावें, बोला जावे, या कहां जावे तब भी उसकों कम आका जावेगा। उनके चरित्र का वर्णन जिसमें प्रकृति की सभी अच्छाईयाँ भरी पड़ी थी। बरसों व्याख्यान करे तो भी कम ही होगी। यहाँ तक लेखनी भी थक जावेगी – शब्दों का आभाव सा हो जावेगा और लेखाकार भी निरूपद सा हो जावेगा। यह एक ऐसा चरित्र, इतिहासिक कलेवर, उदघोष एवं नामकरण है कि बरसों बयान किया जाये तब भी पूर्णता को प्राप्त करना मुश्किल होगा। शोधकर्ता ने सत्य के आधार पर रानी के जन्म से लेकर बलिदान तक का सत्य विवरण दिया है। तथा 1857 की आजादी के जंग के कारनामें मे उन्होंने जो कर दिखाया वह आज तक ऐसा कोई नहीं कर सका। उन्होंने वास्तव में 1857 में अंग्रेजों से युद्ध करके यह सिद्ध कर दिया कि किस तरह से अंग्रेजों को भारत से निकालकर आजादी हासिल की जा सकती है। आगे इसी लड़ाई को भारत के लड़ बाकुरे लड़ते रहे और एक दिन भारत अंग्रेजों से आजाद हो गया। इसकी नीव वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई ने अपने हाथों से स्वयं डाली थी।

भला कौन से देश का इतिहास होगा जो इतनी गौरवशाली गाथा को भुला देगा। हम सबका यह कर्तव्य बनता है कि इस वीरता को सदैव के लिये जिन्दा

रखा जावे। महारानी आज हमारे बीच नहीं है लेकिन उनके बताये हुये कार्य, शौर्य, वीरता, राष्ट्रप्रेम, देश को आजाद कराना और एक अच्छे समाज की संरचना करना यह हम सबको राष्ट्र की धरोहर के रूप में देकर गयी है। हमारा कर्तव्य बनता है कि मानव जाति को जिन्दा रखने के लिये और समाजिक उसूलों को बनाये रखने के लिये इनका अनुपालन किया जावें। उनमें वह सब गुण मौजूद थे जो एक कुशल योद्धा में होने चाहियें। मैं नहीं समझता वीरांगना महारानी की तुलना दुनिया के किसी योद्धा से की जा सकती है। यह भी गौरतलब है कि **'मैं अपनी झाँसी किसी को भी नहीं दूगीं**।' इसका अर्थ केवल झाँसी तक ही सीमित नहीं रखना चाहियें। चूंकि झाँसी भारतवर्ष का एक महत्वपूर्ण अंग था, अतः यह संदेश उन्होंने पूरे राष्ट्र के लिये दिया है। जिसे लोगों ने आगे कर दिखाया। इतना ही नहीं वीरांगना रानी ने अंग्रेजों की नीति के अनुसार कोई राज्य यदि संतान विहीन है तो किसी वारिस को गोद नही ले सकता, रानी की सूझ–बूझ की प्रशंसा करनी होगी कि उस समय न तो संसद थी और न ही कोई चलते हुए कानून लेकिन उन्होंने इस नीति का बहिस्कार करके न केवल साहस का परिचय दिया बल्कि अंग्रेजों के साथ इसके रक्षार्थ युद्ध किया, मानवता को बचाया और साम्राज्यवाद का विरोध किया।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में रानी लक्ष्मीबाई के सामरिक एवं कूटनीतिक योगदान को नकारा नही जा सकता। विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करने से निष्कर्ष निकलता है कि महारानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों के विरूद्ध एक सोची समझी चातुर्यपूर्ण नीति से अपने सैन्य बल को युद्ध व संग्रामो मे उतारा। उनकी संग्रामिकता, युद्धकला, अद्वितीय थी। उन्होंने तत्कालीन परिस्थियों के अनुकूल अंग्रेजों से लड़ाईयां लड़ी जो कि भारतीय स्वंतत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। रानी ने सैन्य संचालन जिस चार्तुय पूर्ण ढ़ग से किया उसकी मिशाल देखते ही बनती है। रानी में

सैन्य कला के साथ–साथ प्रशासनिक एवं सैनिक कमाण्डर के सभी गुण मौजूद थें।

महारानी लक्ष्मीबाई का 1857 का अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध केवल झाँसी तक ही सीमित नहीं था बल्कि अंग्रेजों की फूट डालो राज्य करो की नीति के विरूद्ध भारत का प्रथम स्वतंत्रता का युद्ध था, जिसने सारे भारत के जनमानस में राष्ट्र के प्रति अंग्रेजों के विरूद्ध एक जनआन्दोलन खड़ा कर दिया, जिसकी चिगांरी दिन–प्रतिदिन फैलती चली गई। इसके लिये महारानी ने क्षेत्रीय, राजनैतिक संगठन, सामाजिक एकीकरण, स्त्री सेना का निर्माण एवं सैन्य प्रशिक्षण की व्यवस्था की।

प्रसिद्व उपन्यासकार श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने 1857 के संग्राम को आजादी की लड़ाई बताते हुये इस प्रकार से कहा है कि–

''रानी लक्ष्मीबाई स्वराज्य के लिये लड़ी। वह स्वतंत्रता युद्ध में एक अमर सैनानी थी। उनका जीवन देश के लिये था। और वह इस स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये किये गये प्रथम स्वतंत्रता के युद्ध में लड़ते लड़ते प्राणों को उत्सर्ग कर गयी।

भारतीय वसुन्धरा को गौरवान्वित करने वाली झाँसी की रानी वीरांगना लक्ष्मीबाई वास्तविक अर्थ में आदर्श वीरांगना थी। सच्चा वीर आपत्तियों से नही घबड़ाता यह भी महारानी ने सार्थक करके दिखा दिया। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उन्होंने सदैव अपने को अन्योत्सर्ग के लिये प्रस्तुत रखा। उनके प्रेरक चरित्र एवं आत्म बलिदान ने देश में नये जागरण की लहर उत्पन्न कर दी। महारानी ने अपने कार्यो के द्वारा इतिहास को एक नया मोड़ दिया। सैन्य विज्ञान के छात्र के रूप में मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि में ऐसे तथ्यों को एकत्र करू जिससे समाज में एक अनुकरणीय वातावरण तैयार हो, नई कथावस्तु सामने आ सके एवं सैन्य विज्ञान के उस मूल उद्देश्य को अंकित किया जा सके जिससे भारत के इतिहास एवं दर्शन का सही चित्रण प्रस्तुत हो सके। इन सब तथ्यों को मैंने दर्शाने का भरपूर प्रयास किया है।

प्रस्तावित शोध कार्य को इस तरह से दर्शाया गया है तथा ऐसे तथ्यों को उजागर किया गया है कि ज्ञान के क्षेत्र में एक मौलिक देन प्रतीत हो और रानी से संबधित सामग्री का सही एवं ऐतिहासिक रूप से स्पष्ट चित्रण जनमानस के सामने उपस्थित हो सके। इसमें ऐसे कलेवर का प्रयोग किया गया है जो अभी तक आम जनमानस के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सका। मैंने उन मूल तथ्यों तक पहुँचने का पूरा प्रयास किया है जो आज तक उजागर नहीं हो सके। इसमें उन नवीन तथ्यों का समावेश मिलेगा जो अभी तक न तो जनमानस के समक्ष लायें जा सके और न ही उन पर शोध कार्य किया जा सका और न ही किसी अन्य शोध के द्वारा इनको उजागर किया जा सका।

परिशिष्ट I

प्रथम रघुनाथ हरि (मूलपुरूष) नेवलकर वंश–वृक्ष

ुनाथ राव (3) के अपनी रखैल गजरा से दो अवैध पुत्र थे – अली बहादुर और शमशेर बहादुर

श्वेता देवी – झाँसी की रानी एवं *Dr. S. N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand* के आधर पर।

परिशिष्ट II

गंगाधर राव के विवाह का निमंत्रण पत्र

बड़ौनी (दतिया) के ठाकुर नारायण सिंह के पास उपलब्ध गंगाधर राव के विवाह के निमंत्रण के अनुसार–

''श्री महाराज कोमार श्री कुंअर रणधीर सिंह जूदेव हेतें श्री श्री महाराजधिराज श्री पंडित श्री राव गंगाधर राव बहादुर जू के वांच्ये आपर उहाँ के समाचारं भले चाहिजे इहाँ के समाचार भले हैं, आपर इहां वास विवाह है वैसाख सुदि ६ सोमे को सीमांत पूजन सूदि ६ बुद्धे को दैव अस्थापन सूदि १० गुरौऊ को गोधूल समय लग्न परिक्रमा हैं सु नैवते आइवी पाती समाचार लिखत रहिवी चैत्र सूदि ७.१८९९ *तमोर के रूपैया २, रपठवाये है।''

*तदनुसार 5 मई 1842 विवाह की तिथि निर्धारित होती हैं

(भगवान दास गुप्त एवं सुधा गुप्त : '1857 के विप्लव की अमर दीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई एवं सम्बन्धित लेख पृ. –2–3 से साभार उद्धृत)

परिशिष्ट III

12 जून 1857 को रानी द्वारा अंग्रेजों को लिखा पत्र

सागर डिवीजन के कमिश्नर और एजेन्ट लेफ्टिनेन्ट गर्वनर के पते पर झाँसी की रानी के एक खरीतें, दिनांक 12 जून, 1857 का, अनुवाद।

शिष्टाचार के बाद। रानी कहती हैं कि झाँसी स्थित सरकारी सेनाओं ने अपनी विश्वासहीनता, निर्दयता और हिंसात्मकता के कारण सब यूरोपीय असैनिक और सैनिक अधिकारियों को तथा क्लर्कों और उनके परिवारों को मार दिया है और चूँकि रानी के पास बन्दूकों की कमी थी, इसलिये वह उनकी सहायता नहीं कर सकी। रानी के पास उस समय केवल सौ या पचास आदमी थे, जो उसके घर की रक्षा करने में लगे थे। इसलिये रानी उनकी कोई सहायता नही कर सकी, जिसका उसको भारी खेद है। विद्रोहियों ने बाद में उसके और सेवकों के साथ भी अत्यन्त हिंसात्मक रूप से व्यवहार किया और उससे जबरदस्ती एक बड़ी धन–राशि वसूल की। विद्रोहियों ने उससे कहा कि चूँकि रियासत के उत्ताधिकार का उसे अधिकार था। इसलिये प्रबन्ध उसे अपने हाथ में लेना चाहियें क्योंकि सिपाही दिल्ली में बादशाह के पास जा रहे थे।

रानी कहती है कि वह पूरी तरह अंग्रेज अधिकारियों पर ही आश्रित है, जिन पर इस समय इतनी विपत्ति आ पड़ी है। सिपाही समझते है कि रानी इस समय बिल्कुल असहाय है, इसलिये उन्होंने झाँसी के तहसीलदार, डिप्टी कमिश्नर के न्यायिक रिश्तेदारों और सुपरिन्टेण्डेन्ट के न्यायालयों द्वारा उसके पास इस आशय के सन्देश भिजवायें है कि यदि उसने उनकी प्रार्थनाओं के अनुसार काम करने में कुछ भी आनाकानी की तो उसका महल तोपों से उड़ा दिया जायेगा। अपनी स्थिति को ध्यान में रखते हुये रानी को बाध्य होकर उनकी सब प्रार्थनायें माननी पड़ी। इस प्रकार

रानी को बड़ी खीज सहन करनी पड़ी है। अपने जीवन और सम्मान को बचाने के लिये रानी को सम्पत्ति और नकद रूपयों के रूप में प्रभूत धन–राशि देनी पड़ी है।

रानी ने यह जानकर कि सम्पूर्ण जिले में कोई अधिकारी नहीं बचा है और आदमियों और जिले की भलाई और सुरक्षा को ध्यान में रखते हुये पुलिस इत्यादि के रूप में सम्पूर्ण छोटे सरकारी अभिकरणों को इस आशय के परवाने भेजे है कि वे अपने–अपने स्थानों पर रहकर अपने कर्त्तव्यों का सदा की भांति पालन करते रहें। रानी को अपने और निवासियों के जीवन का सतत भय बना रहता है। यह उचित था कि इन सबकी सूचना शीघ्र ही भेज दी जाती, परन्तु विद्रोहियों ने इसके लिये रानी को अवसर नहीं दिया। आज चूँकि वह दिल्ली की ओर चले गये है, इसलिये रानी ने उसे शीघ्रता पूर्वक लिखा है।

(भगवान दास गुप्ता एवं सुधा गुप्त : 1857 के विप्लव की अमरदीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई एवं सम्बन्धित लेख, से साभार उदधृत।

परिशिष्ट IV

14 जून 1857 को रानी द्वारा अंग्रेजों को लिखा पत्र

सागर डिवीजन के कमिश्नर और एजेण्ट लेफ्टीनेन्ट गर्वनर के पते पर झाँसी की रानी के एक खरीते, दिनांक 14 जून, 1857 का, अनुवाद।

शिष्टाचार के बाद। रानी कहती है कि 12 जून को उसने झाँसी में हुई भयानक घटनाओं के सम्बन्ध में कमिश्नर को लिखा और खत को गंगाधर डांगे और भवानी हरकारा के द्वारा भेजा। रानी को अब भी झाँसी के यूरोपीयों के भाग्य पर खेद है और वह यह भली प्रकार जानती है कि इससे अधिक क्रूरता अन्य किसी स्थान पर नहीं हुई होगी। इनका एक विस्तृत विवरण खरीते में संलग्न कर दिया है।

इसके बाद की खबर यह है कि झाँसी के अधीन सब इलाकों में सरदारों ने गाड़ियों को अपने अधिकार में कर लिया है और दूसरे लोग देश को लूट रहे है। यह रानी की शक्ति से बिल्कुल परे है कि जिले की सुरक्षा के लिये प्रबन्ध कर सकें। इसके लिये धन की आवश्यकता है जो उसके पास नहीं है। महाजन भी इस प्रकार के कठिन समय में उसे कर्ज देने को तैयार नहीं है। इस समय तक रानी ने किसी प्रकार अपनी निजी सम्पत्ति को बेचकर और बड़ी असुविधापूर्वक शहर को लूटे जाने से बचाया है और भूतपूर्व सरकार के स्वरूप को बनाये रखा है। नगर और मुफ़स्सिल चौकियों की रक्षा के लिये उसने बहुत से आदमियों को नियुक्त किया है, परन्तु एक सक्षम सरकारी सेना और निधि के बिना वह आगे डटे रहना अशक्त समझती है। इसलिये उसने जिले की अवस्था के सम्बन्ध में कुछ टिप्पणियां लिखीं हैं कि शीघ्र आदेशों की कृपा की जायेगी, जिनका वह पालन अपनी पूरी शक्ति से करवायेगी।

(भगवान दास गुप्ता एवं सुधा गुप्त : 1857 के विप्लव की अमरदीप शिखा रानी लक्ष्मीबाई एवं सम्बन्धित लेख, से साभार उदधृत।

परिशिष्ट V

अंगेज सरकार का रानी पर अविश्वास दर्शाता हुआ पत्र

प्रेषक,

जी. एफ. एडमन्स्टन एस्क्वायर,

सचिव, भारत सरकार

सेवा में,

डब्ल्यू. सी. अस्किन कमिश्नर,

सागर और नर्मदा राज्य क्षेत्र, विदेश विभाग

दिनांक 23 जुलाई, 1857

फोर्ट विलियम,

महोदय,

............2............रानी के बारे में यह कहना है कि यद्यपि सपरिषद–गवर्नर जनरल आपको, आपकी परिस्थितियों को देखते हुये, रानी के कार्यों और भावों के सम्बन्ध में उसके विवरण को स्वीकार करने के लिये और ब्रिटिश सरकार की ओर से झाँसी राज्य–क्षेत्र के प्रबन्ध को उसे सौंप देने के लिये, दोष नहीं देते, परन्तु यदि उसका उपर्युक्त विवरण झूठा सिद्ध हुआ तो यह परिस्थिति रानी को बचा नहीं सकेगी। सरकार को मेजर एलिस ने जो विवरण दिया हैं, उससे यह मालूम पड़ता है कि रानी ने गदर करने वालों और विद्रोहियों को अवश्य सहायता दी और यह भी कि उसने उन्हें बन्दूकें और आदमी भी दिये।

फोर्ट विलियम, आपका, इत्यादि

23 जुलाई, 1857 हस्ताक्षर जी. एफ. एडमन्स्टन

भारत सरकार के सचिव

[*Dr. S. N. Sen : Eighteen Fifty Seven* से साभार उदधृत का हिन्दी अनुवाद]

परिशिष्ट VI

मार्टिन द्वारा दामोदर राव को लिखा पत्र

इकत्तीस वर्ष बाद इंदौर निवासी दामोदर राव झाँसीवाले को एक पत्र मिलता है। पत्र की तारीख है – 29.08.1889। लिखा हुआ है आगरा निवासी मार्टिन का। भारतीय क्रिश्चियन, झाँसी से 9 जून को और भी कई भारतीय ईसाइयों के साथ वे भाग जाते है। वेश बदल लिया था, रंग और वेशभूषा देखकर उन्हें पहचान नहीं पाते है, सिपाही घुड़सवार। इन्होनें लिखा था– 4.6.1857 को झाँसी में हुये हत्याकांड के मामले में आपकी माँ पूरी तरह निर्दोष थीं। उनके साथ जो व्यवहार किया गया है, वह पूरी तरह अन्याय और क्रूरता से भरा हुआ हैं। शहर के जनरव से वे जान गये थे कि क्या घटा हैं। किले में घिरी स्त्रियों और बच्चों को उन्होंने दो दिन तक खाने को भी भेजा था। करेरा दुर्ग से एक सौ सिपाही तैनात कर अंग्रेजों की सहायतार्थ भेजना संभव है। यह बात उन्होंने अपने दीवान लक्ष्मण राव बांदे के द्वारा कहला भेजी थी। स्कीन उनकी कोई भी बात नहीं सुनता हैं, विश्वास भी नहीं करता हैं। मेरे अलावा अब कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं हैं। जो सच बात कह सकें। यह बात मैं मृत्यु शैय्या से लिख रहा हूँ, पहले में इसे लिखने का साहस न कर सका। सिपाहियों के चले जाने के बाद, उन्होंने सरकारी आदेश आने के पहले ही राज्य का दायित्व ले लिया थां, बाद में हुकुम भी आ गया था। दतिया और ओरछा की रियासतें मनचाही सहायता अंग्रेजों की कर सकती थीं, किन्तु उन्होंने की नहीं। ओरछा तो झाँसी की सीमा से डेढ़ मील के फासले पर हैं और दतिया लगभग छह मील दूर हैं। आप उस समय बच्चें थे। क्या आपको याद है उस समय दतिया और ओरछा झाँसी पर कितनी बार आक्रमण करते है ? आपकी माँ दृढ़तापूर्वक साहस के साथ उन लोगों को पराजित कर देती हैं। दुःख की बात हैं कि झाँसी को कहा गया शत्रु और ओरक्षा एवं

दतिया हो गये मित्र राज्य ! आज बता रहा हूँ, इतने दिन तक मुँह नहीं खोल सका, मैं ग्वालियर सरलता से नहीं पहुँच पाता हूँ। सर्वत्र ही गड़बड़ी झाँसी ही लौट आना पड़ता हैं बार–बार। मैं प्राणों की रक्षा के लिये रानी के हरकारा से मित्रता करता हूँ। उसने जबलपुर में मेजर एरस्काइन को और आगरा के चीफ कमिश्नर फ्रेंजर के लिये जो चिट्ठी दी, उसके देने के समय मैं भी उपस्थित था। फ्रेजर मुझे ही विद्रोही कहकर गिरफ्तार कर लेता हैं, किन्तु जोनाथन रॉबर्टस मुझे पहचानता हैं, उसके यह कहने पर, मैं नजर कैद में वही रहता हूँ। अनेक धक्के झेलकर अंत में, मैं आगरा में वही बस जाता हूँ। आज आपको सब बताकर मुझे शांति मिल रही है। इन सब बातों को लिखने का कभी साहस न कर सका, इस समय मृत्यु शैय्या पर से बड़े कष्ट से लिख पाया हूँ।

[महाश्वेता देवी कृत 'जली थी अग्निशिखा' से साभार उद्धृत]

परिशिष्ट VII

दामोदर राव (1848-1906) का संक्षिप्त जीवन परिचय

महारानी के देहावसान के समय उनके दत्तक पुत्र दामोदर राव लगभग 10 वर्ष के बालक थे। इस अवस्था में माँ की मृत्यु के बाद वह अनाथप्राय हो गये थे। तब अपने स्वामीधर्म का पालन करते हुये रामचन्द्रराव देशमुख और काशीबाई ही उनके संरक्षक बने। बालक दामोदर राव को लेकर उन दोनों ने पेशवा राव साहब, तात्या टोपे आदि को ढूढ़ने का प्रयास किया, किन्तु सफलता नहीं मिली। फिर भी वे दामोदर राव को छिपाते हुये इधर–उधर अपने साथ ले जाते रहे। कहा जाता हैं, ग्वालियर से चलते समय उनके पास लगभग 75 हजार रूपये थे। बालक की गोपनीयता बनाये रखने के लिये कई लोगों का मुँह बन्द करना पड़ा, जिसमें उसकी यह धनराशि समाप्त हो गयी।

ऐसी विपन्न अवस्था में दोनों संरक्षक कई स्थानों पर भटकने के बाद बालक दामोदर राव को लेकर अन्त में आगरा पहुँचे। वहाँ एक अंग्रेज अधिकारी प्लीक के सम्पर्क में आये। धीरे–धीरे प्लीक से उनकी घनिष्ठता बढ़ गई। प्लीक महारानी लक्ष्मीबाई की वीरता से अत्यन्त प्रभावित और उनके प्रशंसक थे। उन्हें विश्वस्त जानकारी काशीबाई तथा रामचन्द्र राव ने देकर बालक दामोदर राव का सच्चा परिचय दे दिया। दयामूर्ति प्लीक सच्चे मित्र सिद्ध हुये। उन्होंने इन्दौर के राजनीतिंक अभिकर्ता (पोलिटिकल एजेन्ट) शेक्सपीयर के माध्यम से रामचन्द्र राव देशमुख, काशीबाई तथा दामोदर राव को सरकार से क्षमा करा दिया और इन्हीं दो महानुभावों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप गवर्नर–जनरल ने दामोदर राव को 1800 रूपयें की वार्षिक पेंशन देना भी स्वीकार कर लिया।

शेक्सपीयर भी दयालु थे। उन्होंने दामोदर को उनके संरक्षको सहित

अपने पास बुला लिया। यहीं नहीं उन्होंने दामोदर राव की शिक्षा के लिये मुंशी धर्मनारायण को भी नियुक्त कर दिया जो उन्हें हिन्दी, उर्दू, मराठी, पंजाबी, अंग्रेजी आदि पढ़ाने लगे। दामोदर राव के नाम से अंग्रेजी कोष में जमा 6 लाख रूपयें उन्हें नहीं मिल सके।

दामोदर राव की चाची जो उनके जन्मदाता पिता के भाई की पत्नी थीं, उनका विवाह कराया। इस पत्नी की मृत्यु के बाद उनका दूसरा विवाह शिवड़े परिवार में हुआ। सन् 1879 में दामोदर राव एक पुत्र के पिता बने जिसका नाम लक्ष्मण राव रखा गया। इसके बाद उनके वंशज इन्दौर में ही रहने लगे।

[महाश्वेता देवी कृत 'जली थी अग्निशिखा' से साभार उद्धृत]

परिशिष्ट VIII

रानी के चित्र की सत्यता

इस शोध ग्रन्थ में प्रयुक्त रानी के चित्र की सत्यता के संबंध में कुछ कहना है। जो चित्र सभी लोग देखते हैं उसके साथ रानी का मेल है या नहीं इस संबंध में अनेक लोगों के विविध मत हैं। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भोपाल की बेगम सिकन्दर की एक फोटों एक बार महाराष्ट्र के क्रांतिकारियों ने झाँसी की रानी की तसवीर के भ्रम में एक पोस्टकार्ड पर छाप दी। वह भूल आगे चलकर सुधार ली जाती हैं। भोपाल में अवस्थित, तमाखू सेवन में रत, घाँघरा पहने एक रमणी के चित्र को भी झाँसी की रानी कहकर **Gede** (गेडे) नाम के एक अंग्रेज इतिहासकार ने प्रयुक्त किया है।

रानी के माथे पर एक अर्धचंद्राकार निशान था। रानी की विमाता चिमाबाई, परवर्ती जीवन में अपनी पौत्री दुर्गा से प्रायः विनोद में कहा करती थी, 'आ तेरे माथे पर अर्धचंद्राकार लकीर बना दूँ। जैसे बाई साहिबा के माथे पर थी।' इसलिये जिन चित्रो में अर्धचंद्राकार रेखा का चित्र रहता, उनके चित्रकारों ने रानी को देखा है यह मान लेने का संगत कारण बन जाता है।

1928 ई. में इंदौर के अन्यतम विख्यात धनी सरदार बालिया के मित्र दिनकर विनायक मुले (चिन्तामणि के साले) को यह पता लगा कि उनके एक कमरे में उनके पूर्व पुरूषों की अनेक प्रकार की तसवीरें , कलात्मक वस्तुओं का संग्रह जमा है। उत्सुंकता से प्रेरित होकर उन्हें देखते–देखते वे एक तसवीर को देखकर सहसा कोतूहल से भर जाते है। तसवीर में आंडबरहीन वेश में एक रमणी ढ़ाल और तलवार लिये हुए खड़ी है। उन्हें लगा यह तसवीर निश्चय ही झाँसी की रानी की है, क्योंकि उस तसवीर के साथ श्रीयुत् चिन्तामणि का आश्चर्यजनक सादृश्य था। सौभाग्यवश

उस समय चिनतामणि भी इन्दौर में ही थें। वे तसवीर का अच्छी तरह से निरीक्षण करते हैं एवं चित्र की अनुकृति के भाल पर अर्धचंद्राकार दाग देखकर वह चित्र रानी का ही असली चित्र है यह धारणा पक्की बना लेते है। किंतु तो भी चित्र की वास्तविकता के संबंध में उस समय भी संदेह का पूरी तरह निराकरण नहीं हो पाया।

दुर्भाग्यवश चिन्तामणि की माँ चिमाबाई उस समय स्वर्गीय हो गयी थीं। किंतु सरस्वती टिकेकर नाम की अस्सी से भी अधिक उम्र की एक महिला उस समय इन्दौर में थी। वह किशोरावस्था में झाँसी में टेकरे परिवार के आतिथ्य में छह मास रही थी। सरस्वती सिलाई के काम में अत्यंत कुशल थी। उसी समय रानी उसे बुलाकर राजमहल की स्त्रियों को सिलाई का काम सिखाने के काम में नियुक्त करती हैं। चिन्तामणि के तसवीर का फोटोग्राफ लाकर उस वृद्धा को दिखाते ही वह, 'यह चित्र तो बाई साहिबा का है, इसमें भूल कहाँ है ?' यह कहते हुए अभिभूत हो गई। आँखों में आँसू भरकर बोली, "यह तसवीर उन्हीं की है, किंतु वही प्राणवत्ता, वही उत्साह, कौन चित्रकार आँक सकेगा ? इस चित्र की अपेक्षा बाई साहिबा देखने में बहुत कोमल थीं।"

बहुत खोज करने के बाद इस तसवीर का इतिहास जाना जा सका। 1861 ई. में एक दरिद्र चित्रकार इंदौर में आया था। इंदौर के प्रसिद्ध धनी सरदार किवे और सरदार बालिया के पास जाकर उसने कहा कि झाँसी में लबें समय तक रहने के बाद उसने 1858 ई. में झाँसी छोड़ दी थी और उसके बाद उसने बताया कि चित्र बनाना उसका पेशा है। इंदौर के धनाढ्य व्यक्तियों की अगर उसको मदद मिले तो वह तसवीरे बना सकता है। सरदार किवे और सरदार बालिया ने उससे पूछा, "तुमने झाँसी की रानी को देखा है।" उसने उत्तर दिया, " कई बार देखा है। कभी पठानी वेश में, अथवा कभी मराठी स्त्री के वेश में तलवार लेकर वह नगर भ्रमण करा करती थी 1858 ई. के पहले चरण में।"

सरदार बालिया और किवे के आदेश से उसी समय वह अपनी स्मृति से रानी का चित्र बनाता है। इस चित्र में रानी अपने सिर पर 'साफा' बाँधे, ढाल और तलवार हाथ में लिये खड़ी है। प्रतिकृति सही नाप की है। सरदार किवे का चित्र पतले तारों के ऊपर तैलरंग से बनाया गया था। कालक्रम से वह रंग झड़ जाता है।

सरदार बालिया के घर वाले चित्र में नीचे की तरफ, जहाँ पर चित्रकार का परिचय लिखा हुआ था, उस तरफ का कुछ भाग दीमक ने खा लिया था। इसीलिये सरदार बालिया चित्र को नीचे की तरफ से काटकर अलग कर देते हैं। चित्रकार का नाम सम्भवतः रतन कछवाहा था।

चिन्तामणि इंदौर के फोटोग्राफर मि. बोडस के द्वारा रानी की इस अनूकृति से एक फोटो खिचवाते हैं। रानी के भाल पर अर्धचंद्राकार लकीर की बात उन्होनें माँ से कई बार सुनी थी। अपनी कन्या दुर्गा से चिमाबाई अक्सर कहा करती थी, ''बाई साहिबा जैसे तेरे भाल पर भी में अर्धचंद्राकार चिह्न बना दूँगी। ऐसा होने पर तू भी उन्हीं जैसी भाग्यवती होगी।'' माँ के इस कथन के उत्तर में उनकी दादी ने एक दिन बड़े दुख के साथ उसकी माँ से कहा था, ''बाई साहिबा के सौभग्य को तूने कहाँ से देख लिया ? वह स्वयं तो भाग्यहीना थी ही, तेरा भी जो कुछ विनाश हुआ है वह भी उसी के कारण।''

तब चिमाबाई ने कहा था–'मैं विधवा हो गई हूँ, मेरी संपत्ति नष्ट हो गयी है फिर भी मैं कहूँगी वे परम भाग्यशालिनी थीं। वे रिश्ते में मेरी पुत्री हैं, फिर भी मैं उन पर श्रृद्धा करती हूँ। आज भी देखो, कितने लोग आकर उनकी बातें मेरे पास बैठकर आँसू–भरी आँखों से सुन जाते हैं। कितनी भाग्यवान होने पर इतनी श्रद्धा मिलती है क्या इसे तुम नहीं समझती हो ?''

पिता से इस तैलचित्र की बात सुनकर गोविन्द राम कोतूहल से भर

गये। 1929 ई. में उन्होंने दिनकर विनायक मुले से अनुरोध किया वे सरदार बालिया के यहाँ से उस तैलचित्र को बरामद करा दें। यह चित्र सरदार बालिया के पास संग्रहीत एक वस्तु मात्र है। किंतु चिन्तामणि के परिवार में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। दिनकर का प्रस्ताव सुनकर सरदार बालिया तुरन्त राजी हो गयें। वह तसवीर ताम्बे लोगों को दे दी गई।

नागपुर में अपने घर में अत्यन्त ऊँची वेदिका पर उस चित्र को स्थापित कर बड़े धूमधाम के साथ अनेक दर्शकों के समागम में 'उस चित्र का अनावरण' उत्सव मनाया गया। चित्र को एक उत्कृष्ट फ्रेम में जड़कर पीछे एक लाल पर्दा टाँग़ दिया गया था।

1930 ई. में सरदार बालिया ने उस चित्र को वापस माँगा। गोविन्द राम ने तब अयोध्या के वी. एच. पन्त प्रधान के द्वारा उनकी हूबहू एक अनुकृति बनवा ली। वह अनुकृति आज भी नागपुर में ताम्बे परिवार के घर में और उसकी मूल छवि इंदौर के सरदार बालिया के घर में है। यही चित्र जनता में प्रचलित है और झाँसी की रानी का चित्र नाम से सर्वसाधारण में परिचित है।

1903 ई. में लॉर्ड कर्जन ने जब विक्टोरिया मेमोरियल को बनाने की इच्छा प्रकट की, तब दामोदर राव ने रानी के चित्र की एक अनुकृति बनवाकर वहाँ रखने का प्रस्ताव करते हुए उसे एक पत्र लिखा था। उत्तर में कर्जन ने लिखा था कि वह झाँसी की रानी का चित्र रखने को राजी है किंतु नाना साहब का चित्र वहाँ नहीं लगाया जा सकेगा। रानी के एक पूरे कद की तसवीर उपलब्ध कराने का उसने भी दामोदर राव से आग्रह किया था। दामोदर राव का यह प्रयास सफल नहीं हो पाता है। कर्जन के बाद के किसी भी वायसराय ने रानी के चित्र के संबंध में फिर कोई इच्छा जाहिर नहीं की।

रानी की वधूवेश में एक तसवीर हाथी दाँत के फलक पर राजपूत शैली में बनाई गई थी। इस तसवीर का मूल चित्र तो है विक्टोरिया अलबर्ट म्यूजियम–लंदन में। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में कुछ महाराष्ट्रीय विप्लवी तरूण विलायत जाते हैं। एक रानाडे नाम के युवक ने वापस आकर श्रीयुत् ताम्बे को इस चित्र के संबंध में जानकारी दी। काफी प्रयास के बाद श्रीयुत् ताम्बे ने म्यूजियम के अधिकारियों से अनुमति लेकर उस चित्र का रंगीन फोटो खिंचवाकर एक भारतीय चित्रकार के द्वारा चित्र बनवा लिया। उपयुक्त चित्र के मूल स्रोत के संबंध में तब पता चलता है, जब 1860 ई. में सिपाही युद्ध–संबंधी कागज–पत्रों के साथ उसे विलायत भेज दिया गया था। भाल पर अर्धचंद्राकार लकीर का निशान एवं अन्यान्य समानता के लक्षणों से लगता है कि यही तसवीर रानी के वधू जीवन की है। रानी की सौतेली बहन गोपिका 1907 ई. में सागर में मर जाती है। उसने इस फोटो (जिसे पहले रानाडे लाया था) को देंखकर कहा था कि इस फोटो की एक अनुकृति उसके पास भी थी। इस तसवीर को देखकर गंगाधर राव की अनुमति से एक राजपूत चित्रकार ने बनाया था।

रानी की विमाता के अनुसार 1857 ई. के नवंबर महीने में आगरा से एक राजपूत चित्रकार झाँसी आया था। रानी घोड़े की पीठ पर, गीता पाठ में रत तथा दामोदर के साथ ये तीन चित्र, पिता, माता, बहन और भाई का एक, घोड़े की पीठ पर दामोदर का एक और नृत्य–गीत–निरता नर्तकी (शायद मोतीबाई का ?) का एक, इस प्रकार से कुल छः चित्र उसके द्वारा बनवाती है। क्योंकि एक पारिवारिक चित्रशाला बनाने की इच्छा रानी की बराबर बनी रही थी। ये तसवीरे झाँसी में रानी महल में उसके शयन कक्ष से संलग्न अपने बैठने के कमरे में सदा लगी रहती थी। तसवीरें प्रमाणित माप की नहीं थीं। ह्यूरोज की सेना ने रानी के महल को पूरी तरह

से लूटपाट कर उसे नष्ट किया था, उसके बाद से उन तसवीरों का फिर कोई पता नहीं चलता है। हो सकता है वे नष्ट हो गई हो अथवा 1857 ई. के अन्य कागज–पत्रों की तरह वे भी लुप्त हो गई हों।

रानी की मृत्यु के बाद उनका सिर पर बाँधने का सफेद महीन सूत से बुना 'साफा' एवं हाथ की तलवार दामोदर को दे दी गई थी। तलवार की मूठ सोने के पत्तर से जड़ी एवं रत्नजड़ित थी। 1895,1898,1903 एवं 1904 ई. में श्रीयुत् ताम्बे ने चार बार उन स्मृति चिन्हों को देखा था। तलवार के हत्थे पर 'मुड़िया' लिपि में 'लक्ष्मीबाई गंगाधर राव नेवलकर–पत्तन झाँसी' यह विवरण लिखा हुआ था। दामोदर राव की मृत्यु के बाद ये दोनों स्मृति चिन्ह या तो खो जाते हैं अथवा चोरी चले जाते हैं।

रानी के साथ सद्व्यवहार करने के कारण एलिस को 'कोर्ट ऑफ डाईरेक्टर्स' की तरफ से आरोपित करके उसकी बदली पन्ना राज्य में कर दी गई थी।

झाँसी में अंग्रेज स्त्री–पुरूषों के हत्याकांड के समय पन्ना राज्य का एक वकील उपस्थित था। एलिस उससे बारीकी से प्रश्न कर–करके निःसंदिग्ध हो जाता है कि इस हत्याकांड में रानी का कोई अपराध नहीं था। केनिंग को वह इसी आशय का एक पत्र और वकील का लिखित बयान भेजता है। केनिंग एलिस से इसके कारण असंतुष्ट हो गया था।

रानी को राज्य शासन का भार देने के बाद एरस्काइन के पत्र लिखने पर केनिंग उसको लिखता है–

I do not blame you for what you have done, but the Rani was responsible for the massacre all the same. If you can capture her, she should be tried specially.

तुमने जो कुछ किया है उसके लिये में तुम्हें दोंष नहीं देता किंतु रानी उस हत्याकांड के लिये दोषी थी। अगर तुम उस पर अधिकार कर लो तो उस पर विशेष अदालत में मुकदमा चलाया जाए।

ओरछा और दतिया की फौज को पराजित करने के बाद रानी ने सर रोर्बट हेमिल्टन को लिखा था–

ओरछा और दतिया के अकारण आक्रमण का मैंने दमन कर दिया है। राज्य में कहीं भी मेरा कोई शत्रु नहीं है।

यह पत्र पाकर हेमिल्टन ने कोई जवाब नहीं दिया यह सत्य हैं, किंतु हरकारों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया था। उन्हें रुपया, खाने की चीजें और वस्त्र भी दिए थे। बाद में जरूर पार्लियामेन्ट के सदस्यों ने केनिंग को विद्रोही रानी के हरकारों के साथ अच्छा व्यवहार करने के कारण दोषी ठहराया था।

रानी के संबंध में जो चर्चा हुई हैं, उसमें श्रीयुत् ताम्बे की भूमिका अग्रगण्य है। 1935 ई. में काशी विश्वविद्यालय के परिसर में रानी की जन्मशताब्दी मनाने का उन्होंने प्रस्ताव रखा था। पंडित मदनमोहन मालवीय उस पर राजी नहीं होते हैं। बाद में सारनाथ में वही आयोजन होता है।

1929 ई. तक ग्वालियर में रानी का कोई स्मारक नहीं था। ग्वालियर के महाराष्ट्रीय एवं स्थानीय निवासी एक छतरी–निर्माण के लियें 1923 ई. में आंदोलन शुरू करते हैं। 16.6.1923 ई. में वे लोग एक शोभायात्रा निकाल कर रानी के मरण और दाहस्थल पर जाकर पुष्पमालायें अर्पित करतें है। मध्यभारत के राज्य प्रमुख (State Chif) वर्तमान सिंधिया की ज्येष्ठ विमाता महारानी चिनकूबाई सिंधिया के समक्ष वे एक (रानी लक्ष्मीबाई की गरिमा के) उपयुक्त स्मारक सौंध का निर्माण कर रानी की स्मृति को अक्षय करने के लिये आवेदन करते हैं।

कई वर्षो के आंदोलन के बाद यह निश्चित किया गया कि एक समाधि का निर्माण किया जाएगा। वर्तमान राजमार्ग से वह स्थान अनुमानतः 150 गज दूर हैं। उसी समय एक नागरिक ने कहा था, 'राम जन्म अयोध्या में, कान्हाजी का गोकुल में, जहाँ–जहाँ भक्त तहाँ–तहाँ मंदिर'–इसलिये रानी की छतरी ऐसी जगह बनायी जायें, जिसमें सभी लोग आते–जाते देख सकें। अनेक वाद–विवाद के बाद पुरातत्व विभाग ने पूरी तरह दिलचस्पी लेकर जगह में भराई कराकर वर्तमान स्मारक का निर्माण करवाया है। हिन्दी साहित्य की विख्यात कवियत्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने एक बार ग्वालियरवासियों के निमंत्रण पर आकर स्वयं अपनी उस विख्यात कविता– **"खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी थीं।"** का पाठ स्मृति–सभा में किया था।

1929 ई. में इस समाधि का निर्माण होता हैं। 1935 ई. में रानी की जन्मशताब्दी की सभा में सावरकर ग्वालियर आए थे। वे एक मर्मस्पर्शी भाषण देकर सबको मुग्ध कर देते हैं।

झाँसी में रानी के स्मारक के रूप में घोड़े की पीठ पर पुत्र दामोदर के साथ रानी की एक प्रतिमा के अलावा और कुछ नहीं है। सुभाष चन्द्र ने 'झाँसी की रानी की ब्रिगेड' का गठन कर इस महीयसी रमणी को श्रद्धांजलि दी थी। चंडीचरण मित्र ने उसकी एक जीवनी लिखी थी और स्वामी विवेकानन्द ने अपनी 'शिकागो वक्तृता' में रानी की कथा का उल्लेख श्रद्धा और सम्मान के साथ किया था। दीवान कार्तिकचन्द्र राय की 'आत्म जीवनी' पुस्तक में भी रानी के संबंध में श्रद्धापूर्वक उल्लेख है। सखराम गणेश देउस्कर द्वारा प्रणीत 'झाँसी का राजपुत्र' पुस्तक दामोदर राव के संबंध में लिखी गई है। एक व्यक्ति सिद्धकुमार वसु ने 'झाँसी की वीरांगना' के नाम कविता की एक छोटी पुस्तिका लिखी है। हिन्दी और मराठी

भाषा में रानी के ऊपर विभिन्न नाटक, गीत और बुंदेलखण्डी भाषा में कहानियाँ, लोकगीत, कविता, उपन्यास और गाथाएँ लिखी गई हैं।

1857 ई. की शताब्दी मनाए जाने के बाद झाँसी की रानी के संबंध में विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में कहानी, कविता, उपन्यास और गाथाएँ लिखी गई हैं। कहीं–कहीं उसकी प्रतिमायें भी स्थापित हुई है। मूर्ति बनाते समय पुत्र के साथ लड़ती हुई रानी की छवि ही मूर्तिकारों को अधिक प्रिय है।

यहाँ पर एक बात उल्लेखनीय हैं मेजर हेमिल्टन के हाथों रानी की मृत्यु होती है 17 जून को। 17 जून की तारीख ही सर्वाधिक विश्वसनीय हैं फिर भी ग्वालियर में उसकी समाधि पर लगे पत्थर में 18 जून को ही उसकी मृत्यु तिथि लिखी गई है। ऐसा क्यों किया गया है और किस प्रमाणित तथ्य के आधार पर किया गया है इसका जवाब तो बनाने वाले अधिकारी दे सकते हैं।

झाँसी के किले में प्रवेश करने की कोई मनाही नहीं है किंतु प्रवेश के साथ–ही–साथ निराशा की बोझिलता मन को धीरे–धीरे आच्छन्न कर लेती है। कैसा उपेक्षित है यह किला इसे देखे बिना विश्वास नहीं किया जा सकता है। अलंकरण हीन पत्थरों के उस किले पर अंगारे के किले जैसी चमक–दमक और कलात्मकता कुछ भी नहीं दिखाई देगी। बड़े–बड़े राजा और बादशाहों के मनोयोगपूर्ण उद्योग से उस दुर्ग को कभी भी समृद्धि नहीं मिली, फिर भी इतनी नग्न उदासीनता को भी मन स्वीकार नहीं करना चाहता है। उसका इतिहास और गौरव ऐश्वर्यों से भी अधिक समृद्ध हैं। इसीलिये वर्तमान परिणति देखकर मन बार–बार व्यथित ही होता है। हम सब लोगों की उदासीनता मानो उसके लिये जिम्मेदार है। मेलकम, एलिस एवं गोडसे (माँझा प्रवास–मेरी यात्रा) के वर्णनों में मैंने पढ़ा है कि झाँसी के किले में अनेक महल थे। किले की समृद्धि और विशाल फैलाव देखकर मेलकम ने झाँसी के अधिग्रहण

के समय रक्षक फौज की तैनाती पर जोर दिया था। क्योंकि उसमें घुड़साल और हाथीखाना थे। किले के प्रासाद में ही सखूबाई रहा करती थी। कर्नल श्लेमन ने उसके साथ भेंट की थी एवं रानी ने भी वधू जीवन के प्रारंभिक दिनों को वहीं बिताया था।

आज के झाँसी के किले में घुसने पर यह समझ में नही आता है कि कहाँ क्या था। जो स्थान दिखायें जाते हैं वे प्रायः भग्न और अव्यवहृत हैं बाग, किला, फाँसीघर, शिवमन्दिर ऐसे ही कई स्थान एवं मुख्य–मुख्य बुर्ज ही सही–सलामत हैं। किले की चारदीवारी से होकर शहर के पूर्व और उत्तर में जाने के लिये अनेक दरवाजे थे। अब उन सबको मिट्टी से भर दिया गया है। उन सब दरवाजो और चारदीवारों का अब कोई चिन्ह ही नहीं मिलता है। किले के अन्दर उन सबको बदलकर बाद में अंग्रेजी फौज के रहने और गोला–बारूद रखने के कमरे बनवाए गए थें, यह स्पस्ट रूप से समझ में आ जाता हैं। वर्णन में जो कुछ भी पढ़ने को मिलता है (वर्णन मात्र एक सौ वर्ष पहले अथवा उसके भी बाद का है), किले के भीतर सादृश्य मिलना कठिन है। जीर्ण–शीर्ण गात्र लिये पड़ी हुई हैं 'भवानी शंकर' और 'कड़कबिजली' तोपें। वे भी लगता है इसलिये, कि उन्हें हटाया नहीं जा सका है।

रानी महल के संबंध में भी वह एक ही बात है कि एक बार इस महल की चार मंजिलें थीं। वर्तमान रानीमहल उन दिनों के राजप्रासाद का एक भाग मात्र हैं। 1858 ई. के अप्रैल मास में आग लगा दी गई थी उस प्रासाद में एवं उसके बाद दो बार और भी उसमें आग लगती है। आज वही महल शहर कोतवाली हैं। कमरों के दीवार के चित्र, दीवार पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ, जीर्णशीर्ण और ध्वंसोन्मुख हैं। उसी महल में रानी ने निवास किया है और वहीं उसके जीवन के श्रेष्ठ दिन बीते हैं।

रानी द्वारा नित्य पूजा जानेवाला लक्ष्मीमन्दिर भी आज एकांत उपेक्षा के

कारण जीर्ण गात्र हैं। लक्ष्मीताल के अंचल में किनारे–किनारे जो कलात्मक प्रतिमाओं से शोभित प्रस्तर प्रासाद, मीनार और घाट बने हुयें हैं वे भी अब धसकनें लगे हैं।

पूरे झाँसी शहर में रानी की स्मृति से जुड़ी और भी कई जगहें हैं जिनके उद्धार की आवश्यकता हैं।

झाँसी में सबसे सुरक्षित स्मृति–सौध हैं झोकन बाग। वहाँ पर मृत अंग्रेज नर–नारियों के स्मृति–प्रस्तर एक उद्यान से घिरे हुए हैं। उसके दरवाजे में ताला लगा हुआ हैं।

मरम्मत और रक्षा की सुंदर व्यवस्था न करने से धीरे–धीरे रानीमहल (अब इस रानी महल का अधिग्रहण पुरातत्व विभाग ने कर लिया है। और उसकी मरम्मत करा दी गई है। अब यह पूर्ण सुरक्षित है) गिर जाएगा। किले का हाल भी वैसा ही हो जाएगा।

ग्वालियर और लखनऊ में उसके नाम पर दो सड़के हैं यह सत्य हैं। उसकी स्मृतियों से जुड़े प्रासादों, किले और मंदिरों का जीर्णोद्धार शीघ्र करना जरूरी हैं।

RANI LAXMI BAI

Adapted from "1857, A Pictorial Presentation"
by Publications Division, Govt. of India
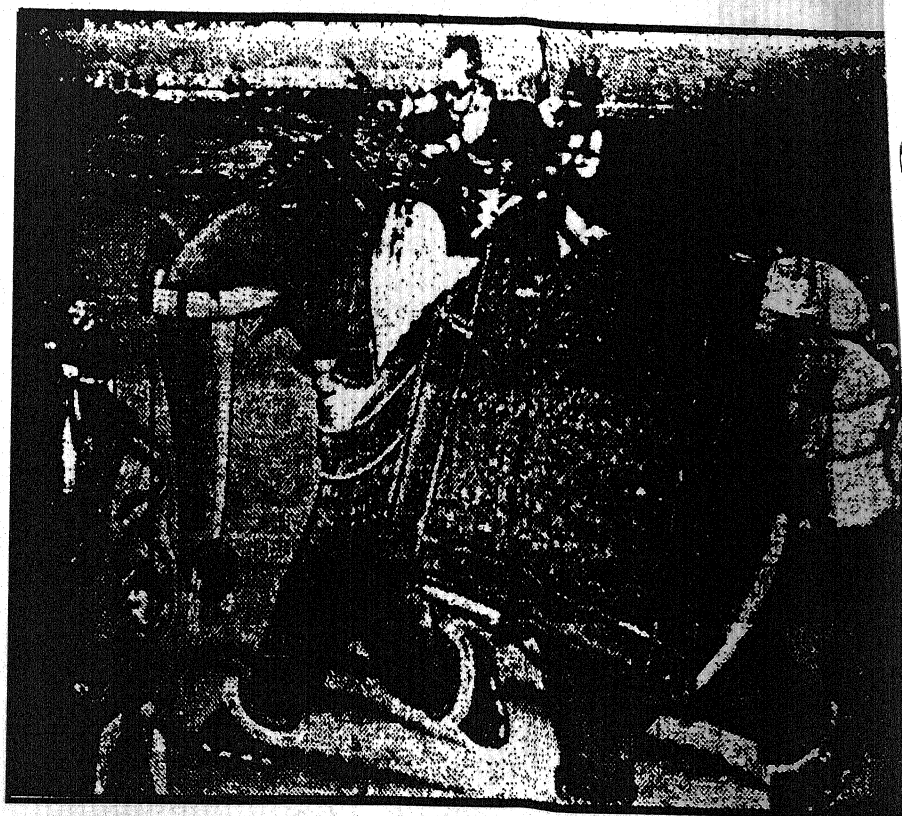
महाराज गंगाधर राव

JHANSI AND ADJOINING TERRITORIES

रानी लक्ष्मीबाई का दरबार

मोती लाल त्रिपाठी 'अशान्त' कृत 'बुन्देलखण्ड का इतिहास' से साभार

RANI MAHAL JHANSI

Adapted from "1857, A Pictorial Presentation" by Publications Division, Govt. of India
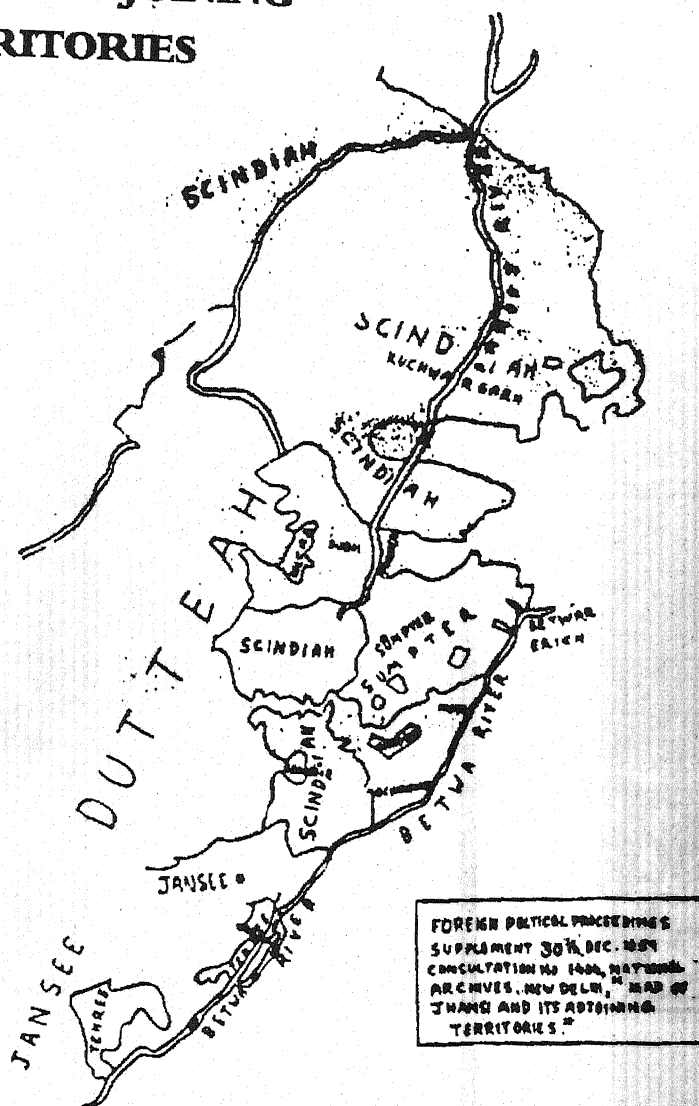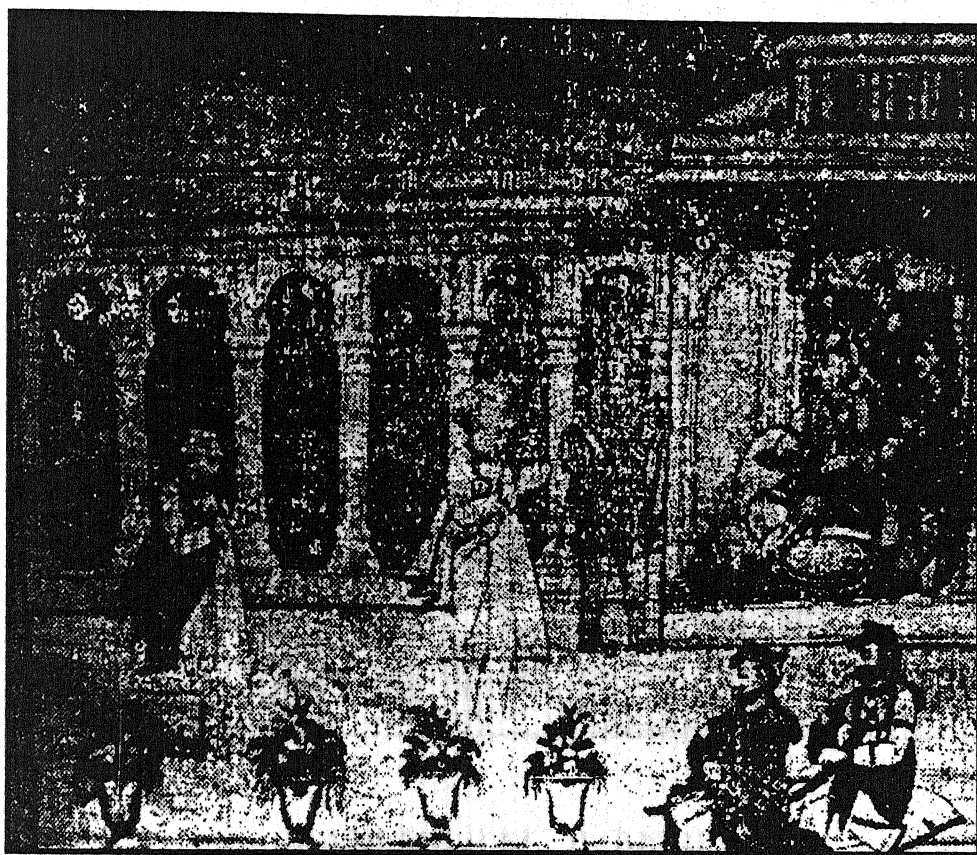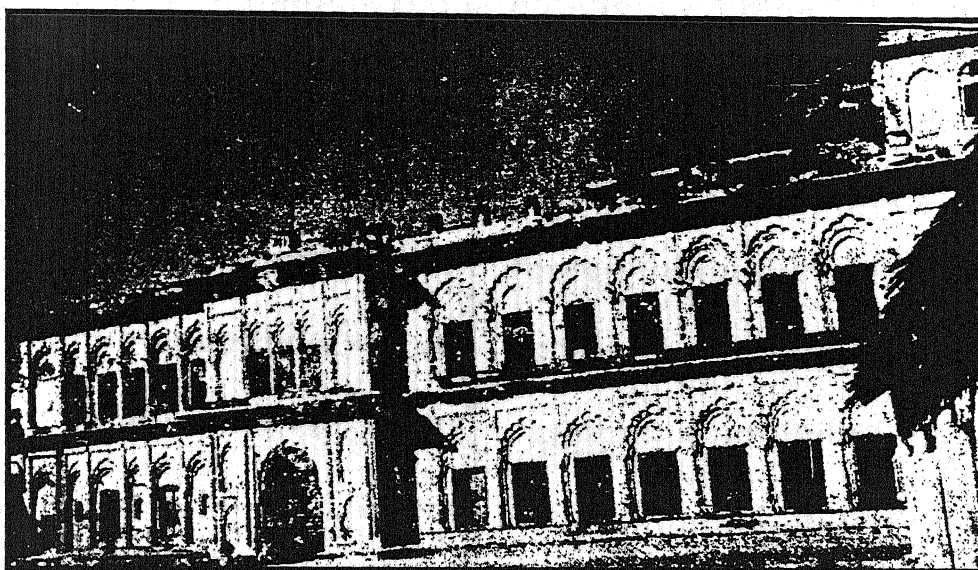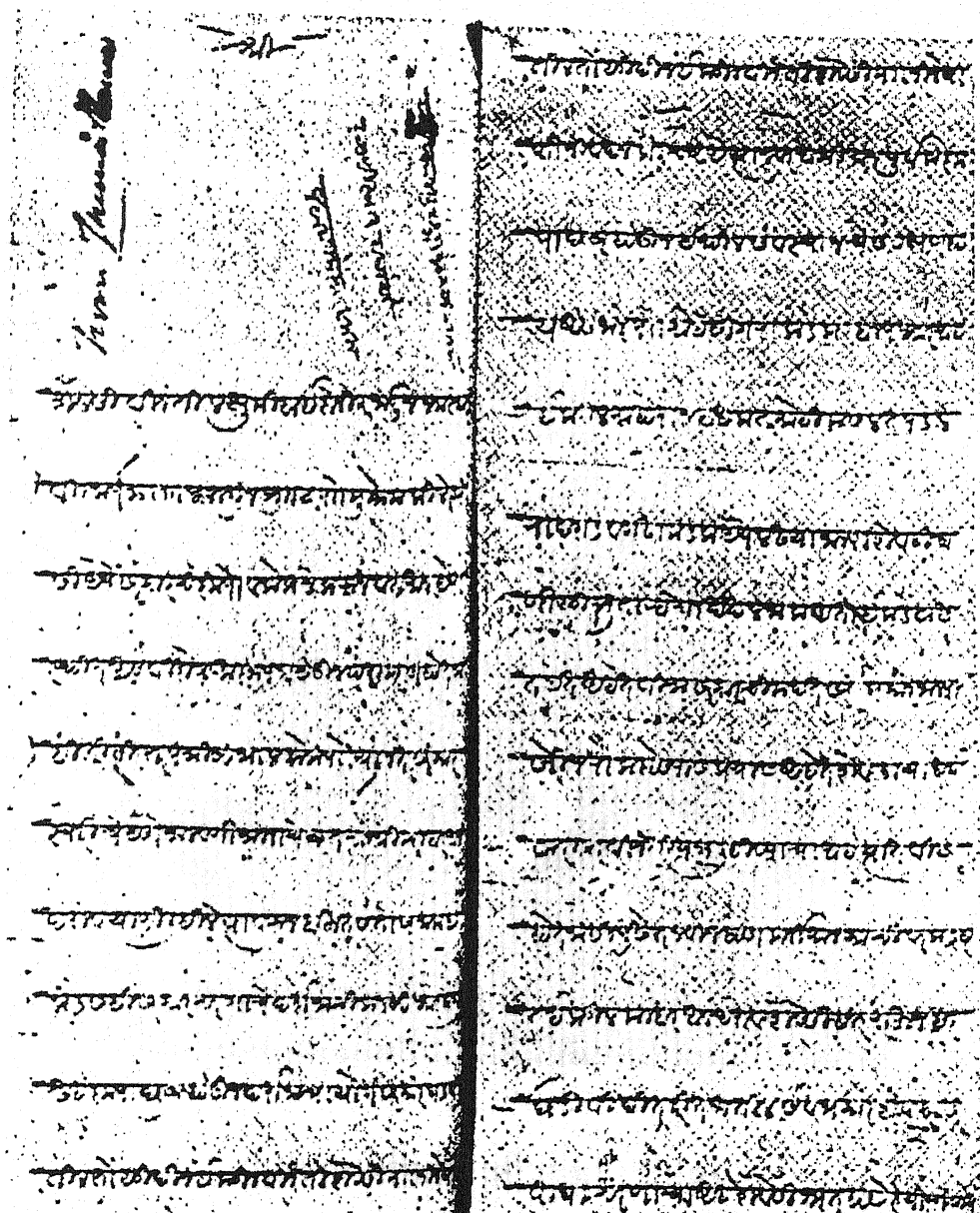
AUTOGRAPH LETTER OF RANI LAXMI BAI

(जिस समय ब्रिटिश सेनायें झाँसी की ओर बढ़ रही थी, उस समय मोढ़ी लिपि में रानी लक्ष्मीबाई द्वारा पेशवा राय साहब को सहायता हेतु भेजा गया पत्र)

रानी लक्ष्मीबाई की मुहर (SEAL)

ए. एस. मिश्राकृत 'नाना साहब' से साभार

झाँसी का मानचित्र

झाँसी दुर्ग (मुख्यद्वार)

कोंच का युद्ध
7 मई 1858
कोंच
प्रथम ब्रिगेड
द्वितीय ब्रिगेड
ब्रिगेडियर स्टुअर्ट
कूंवरी
मेजर ओर
हैदराबाद ट्रूप
सेता
झांसी से
अंग्रेजी सेना की स्थित
अंग्रेजी सेना का आक्रमण
क्रान्तिकारी सेना का पीछे हटना
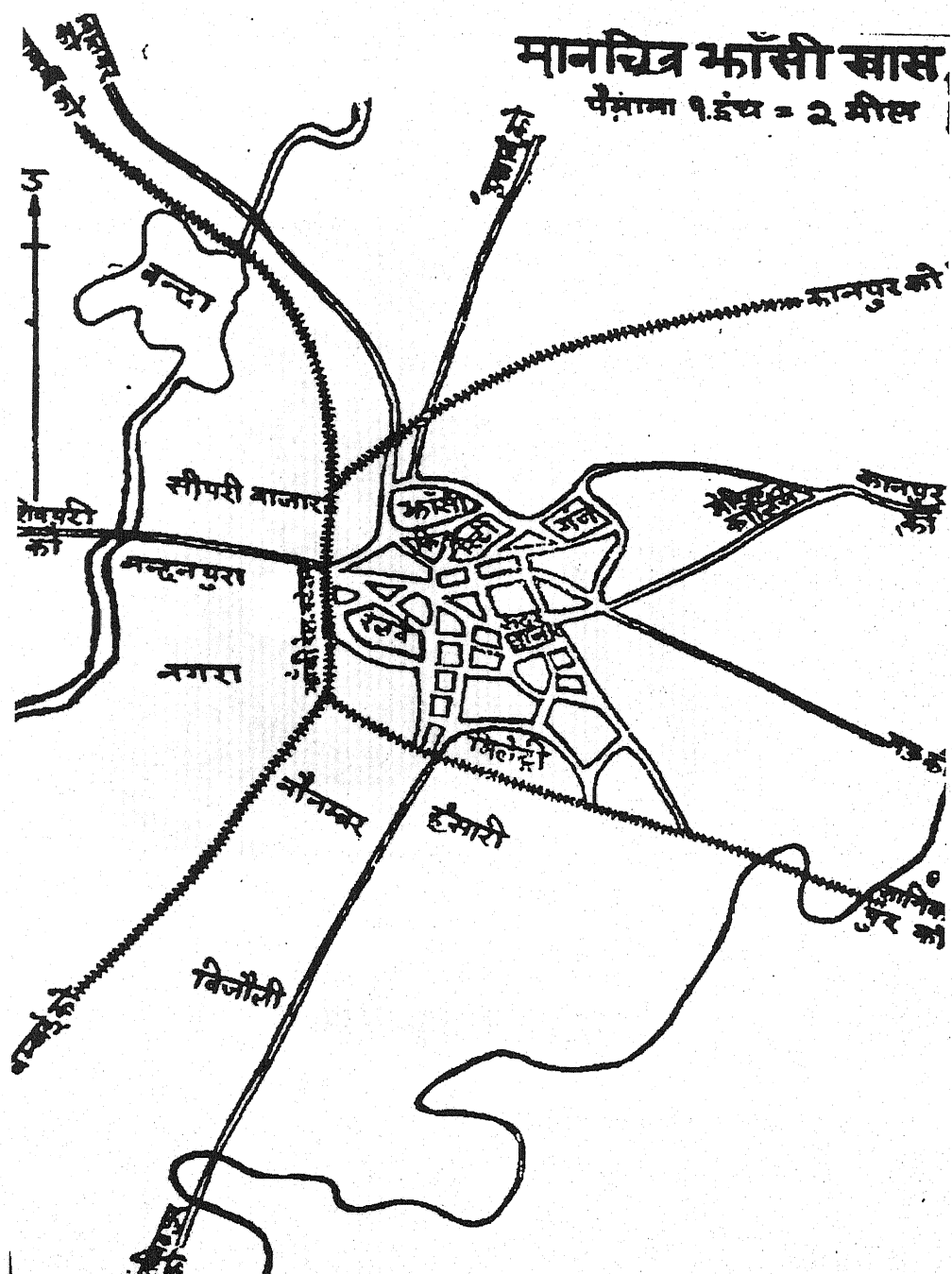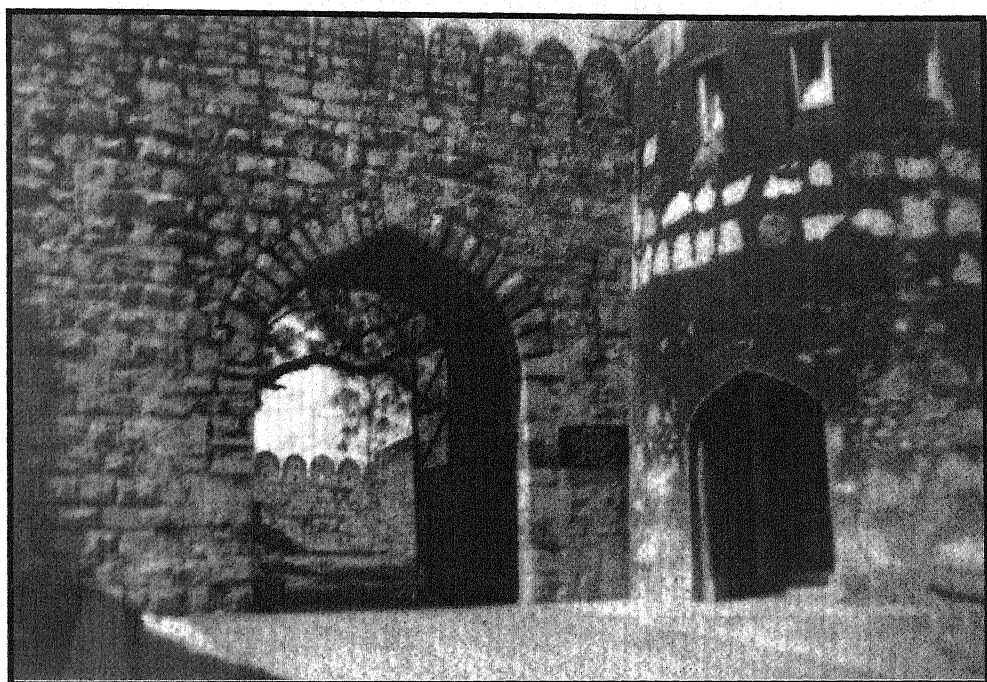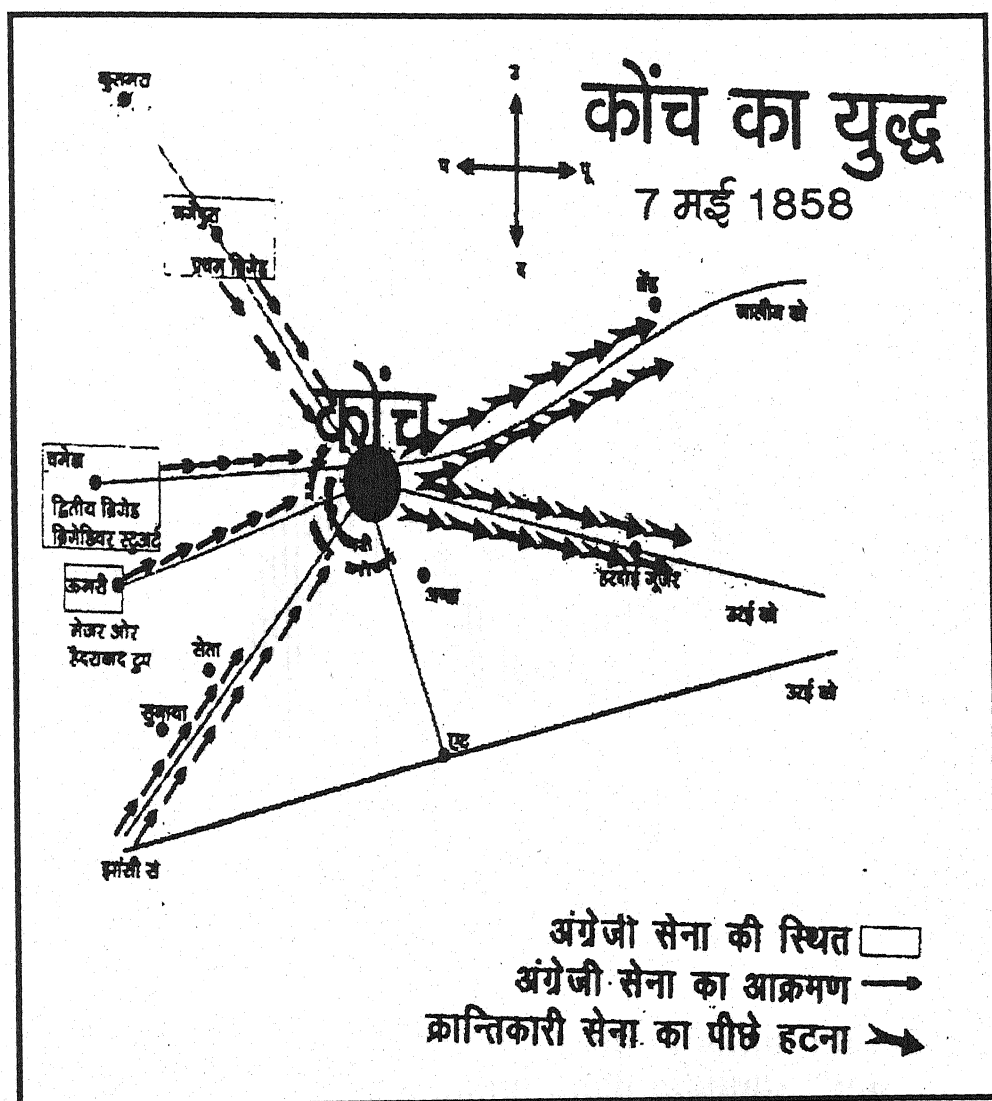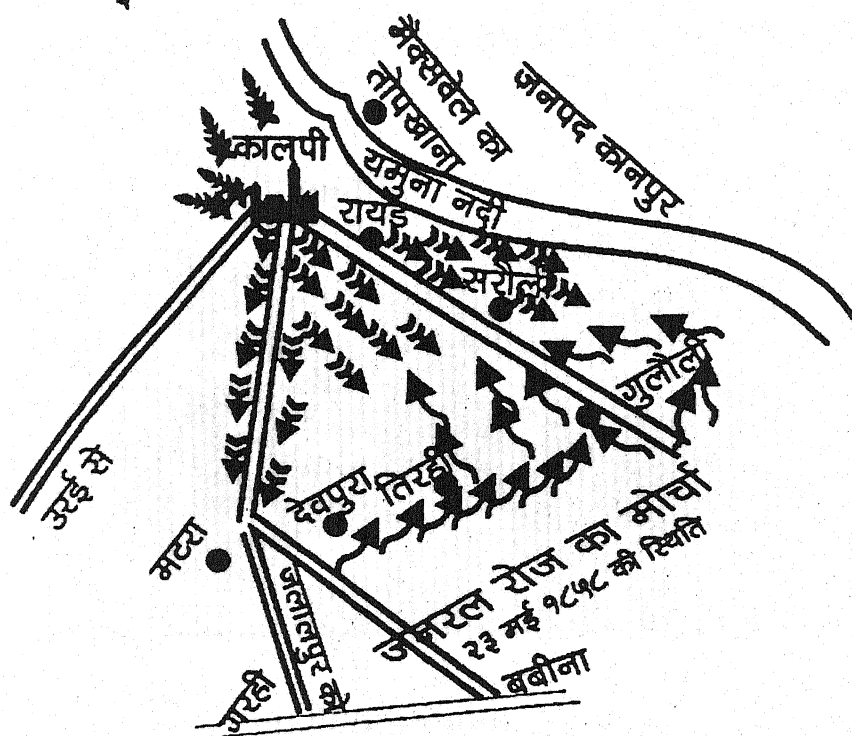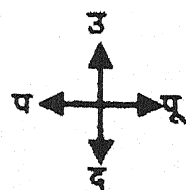
कालपी का युद्ध
15 मई 1858 से 23 मई 1858
उ
प
पू
द
मैक्सवेल का
तोपखाना
जनपद कानपुर
कालपी
यमुना नदी
रायड़
सरौली
गुलौली
उरई से
देवपुरा
तिरही
मटरा
जलालपुर को
जनरल रोज का मोर्चा
२३ मई १८५८ की स्थिति
बबीना
गरही
क्रान्तिकारी सैनिकों का संचलन
अंग्रजी सेनाओं का संचलन
क्रान्तिकारी सैनिकों का पलायन

ग्वालियर दुर्ग का प्रवेश द्वार

Adapted from "1857, A Pictorial Presentation" by Publications Division, Govt. of India
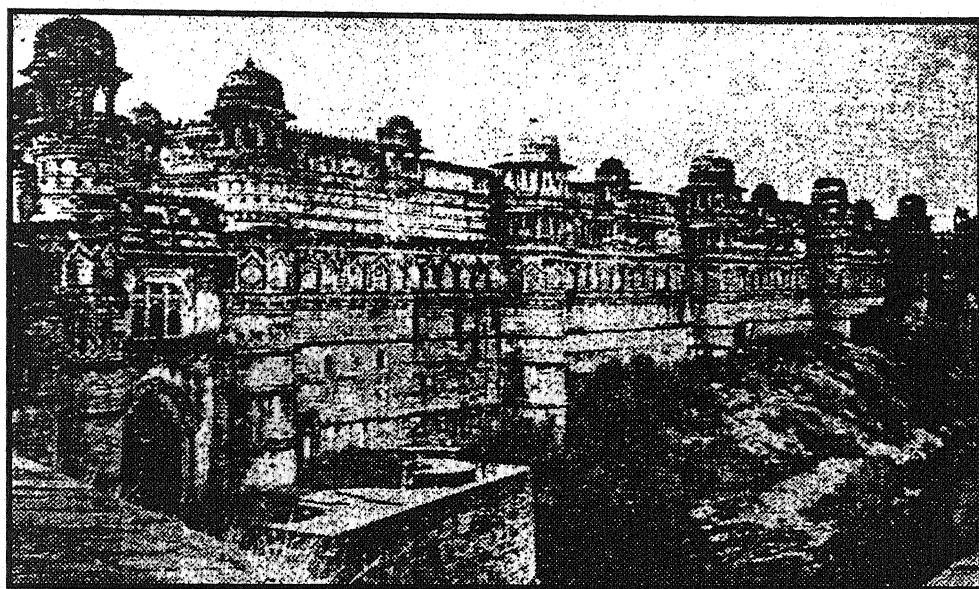
गोरक्षी प्रसाद की गंगाजली

ग्वालियर शहर (लश्कर) में अमीरचाँद की फाँसी का स्थल
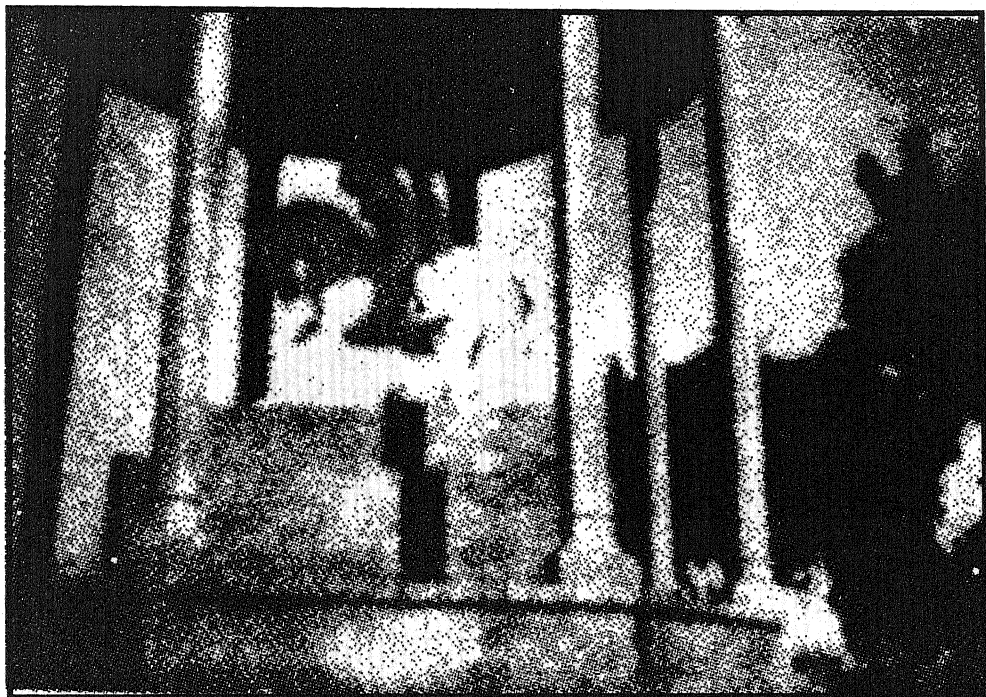
झाँसी के किले के बाहर पश्चिम की ओर सारंगी घोड़ी की पीठ पर भागती हुई रानी तथा पुत्र दामोदर की प्रतिमूर्ति

झाँसी में जून १८५७ में हताहत हुए अंग्रेज नर नारियों की

स्मृति - सौध (समाधि)
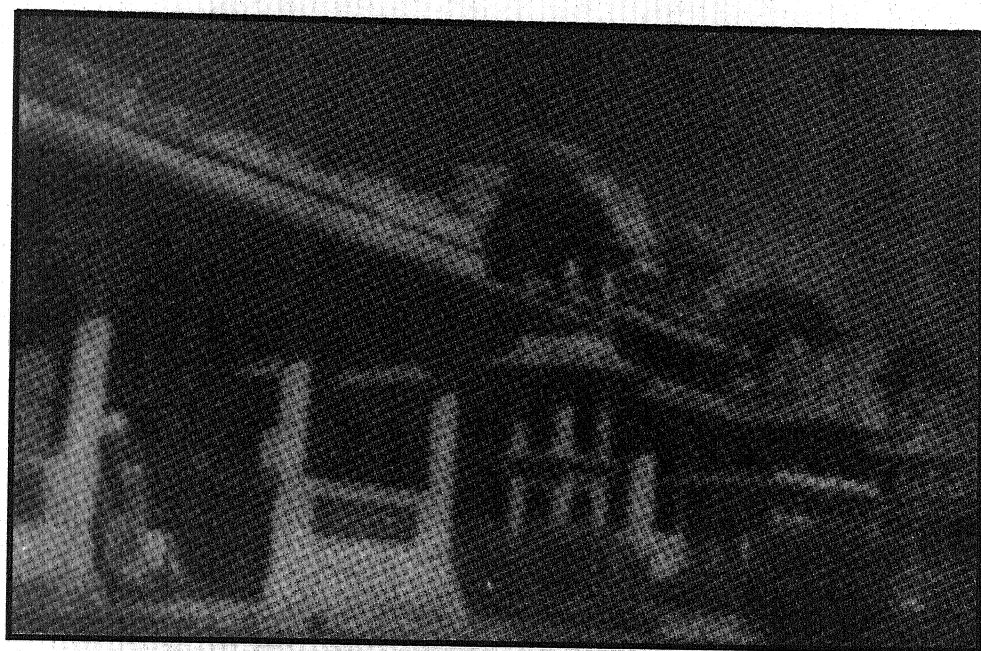
ग्वालियर में तानसेन तथा मुहम्मद गौस की स्मृति-सोध (समाधि)

स्मृति के आधार पर अंकित रानी का चित्र

जिसकी पूजा दामोदर राव नित्य करते थे

महाश्वेता देवी 'झाँसी की रानी' से साभार

दामोदर राव

चिन्तामणि ताम्बे

महाश्वेता देवी 'झाँसी की रानी' से साभार
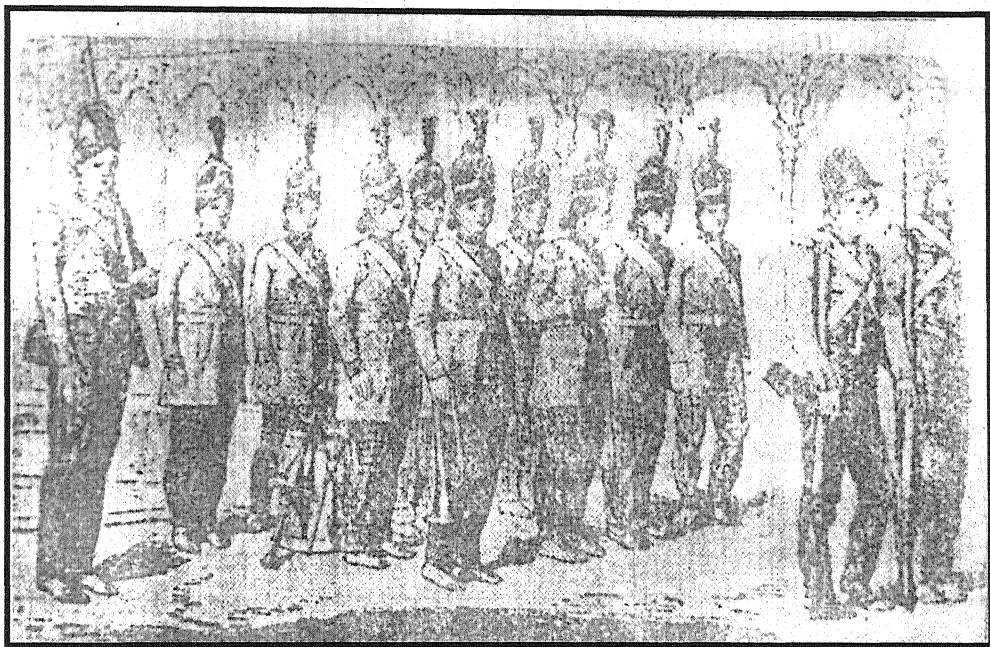
झाँसी की स्त्री सेना
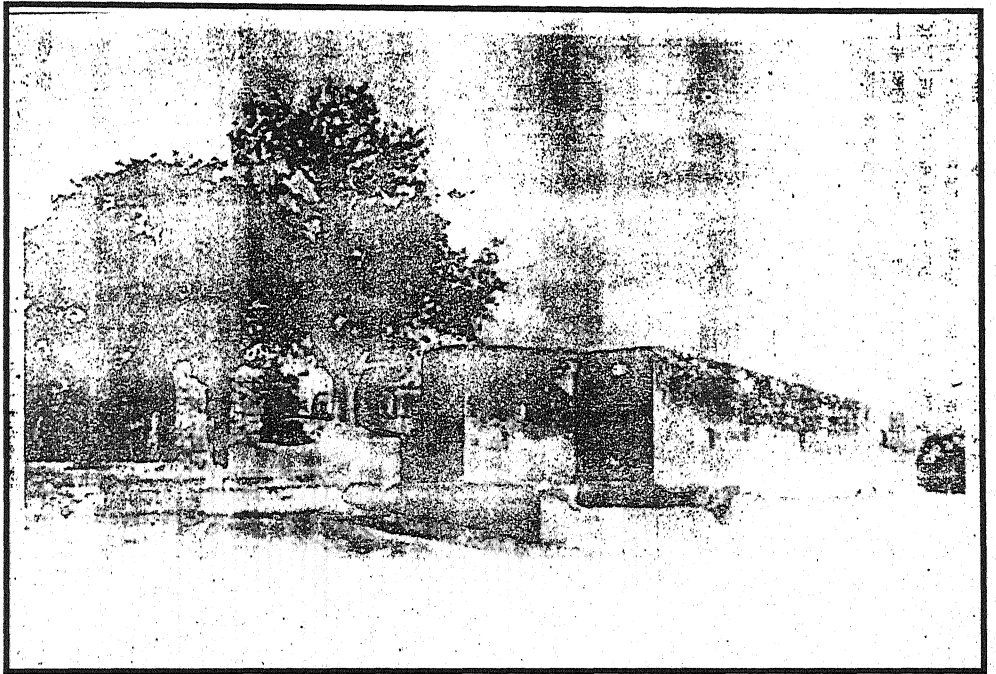
बिठूर का महल

क्रान्ति नायक नाना साहब

जगदीश 'जगेश' कृत 'कलम आज उनकी जय बोल' से साभार

गिरफ्तारी के बाद तात्या टोपे

जगदीश 'जगेश' कृत 'कलम आज उनकी जय बोल' से साभार
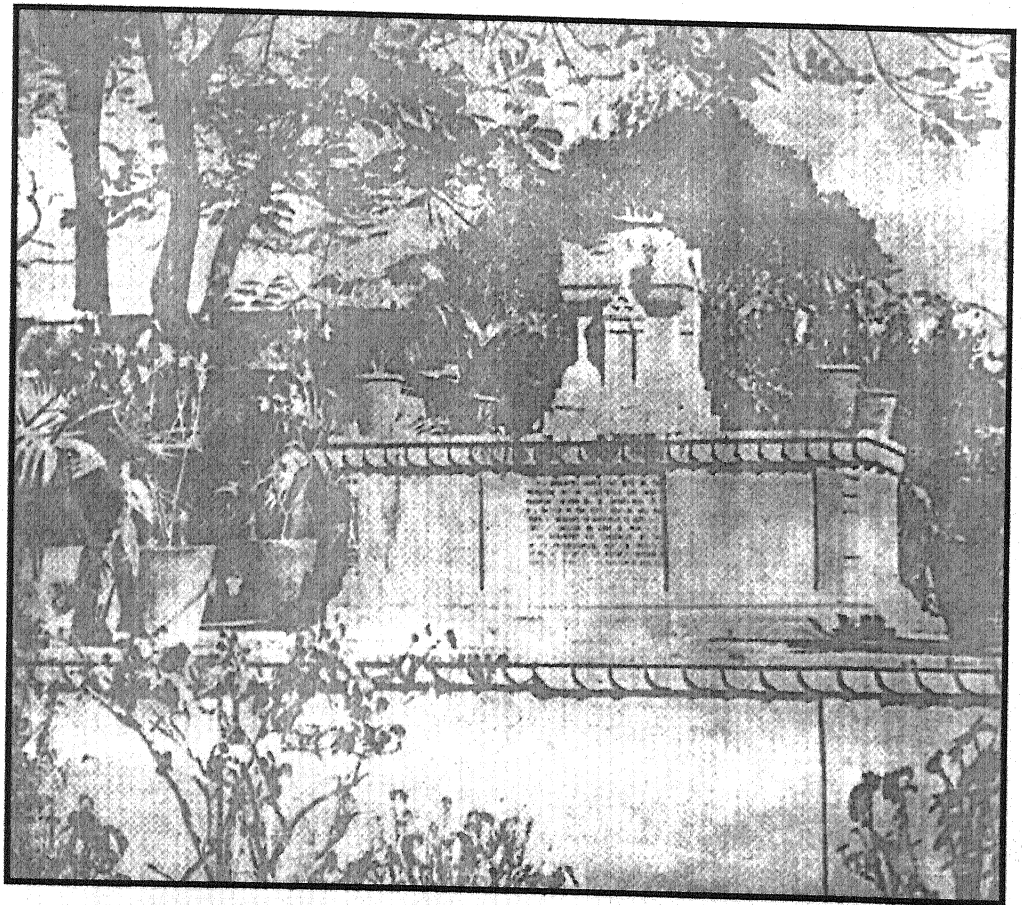
ग्वालियर में झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई की समाधि
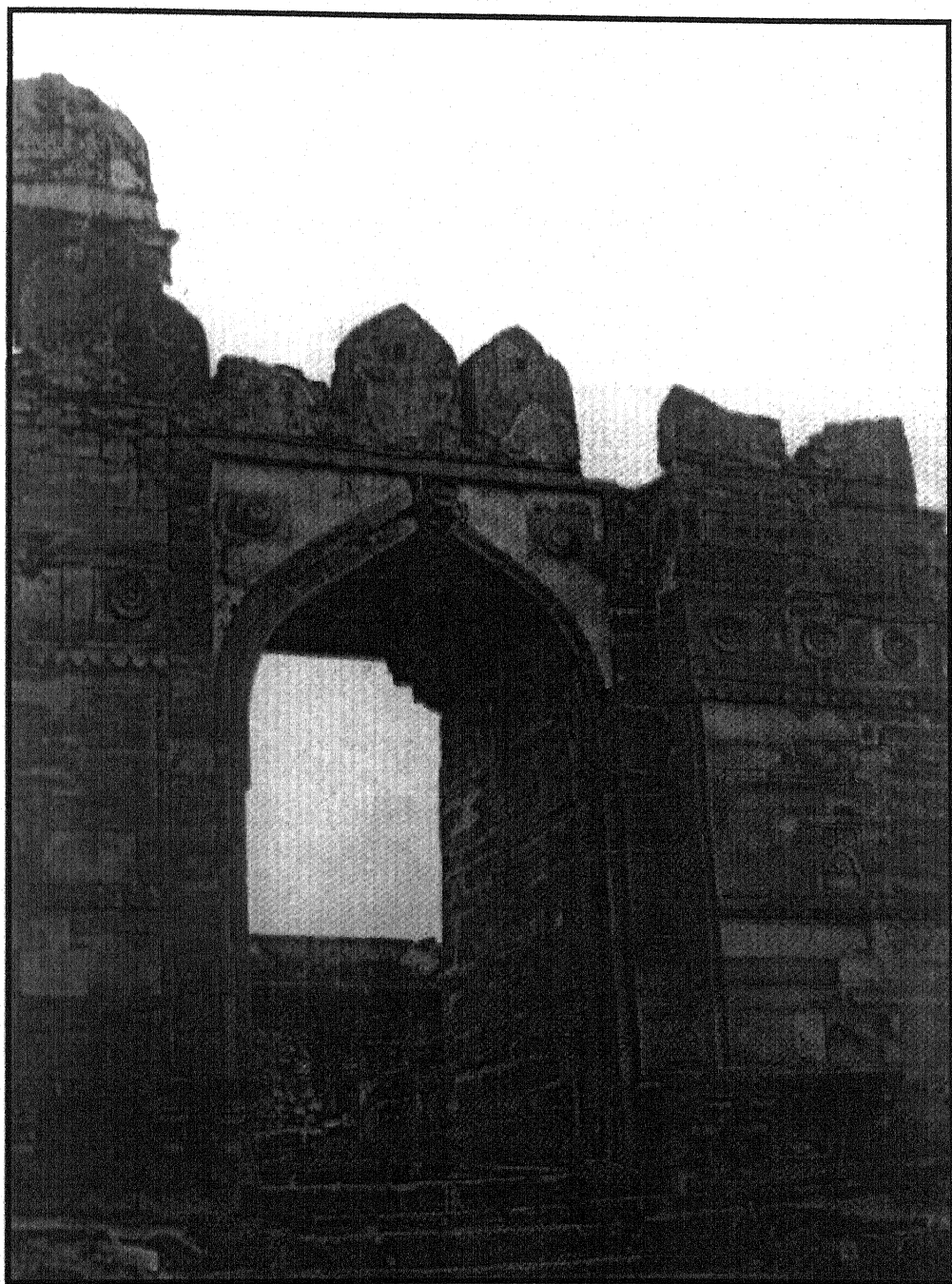
कालिंजर दुर्ग का प्रवेश द्वार
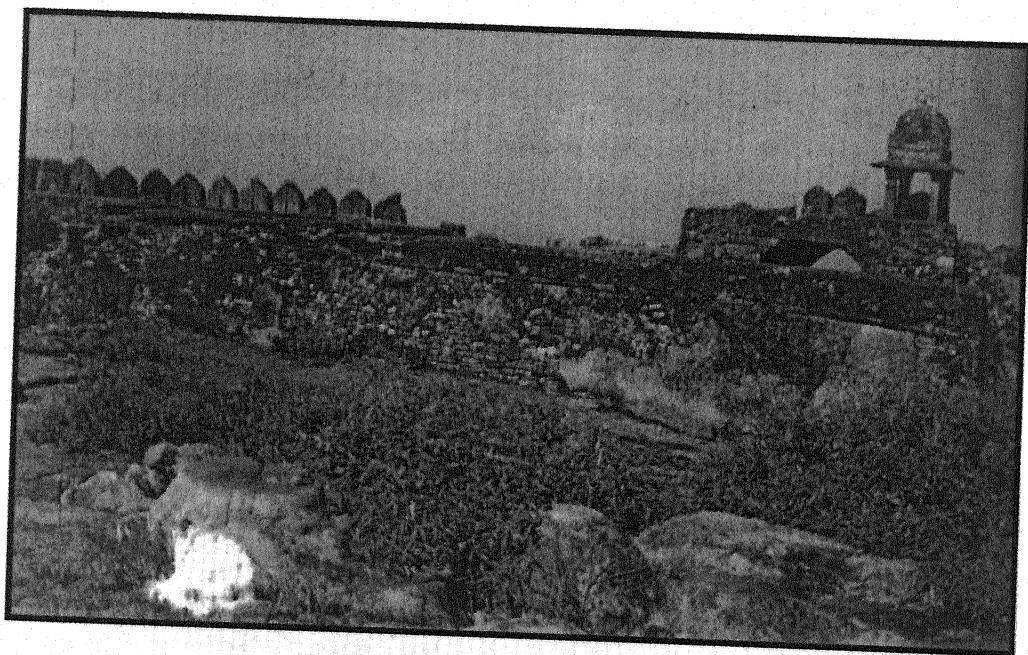
कालिंजर दुर्ग का पार्श्व भाग

छत्रसाल के वंशज, शाहगढ़ के नरेश वखतबली शाह
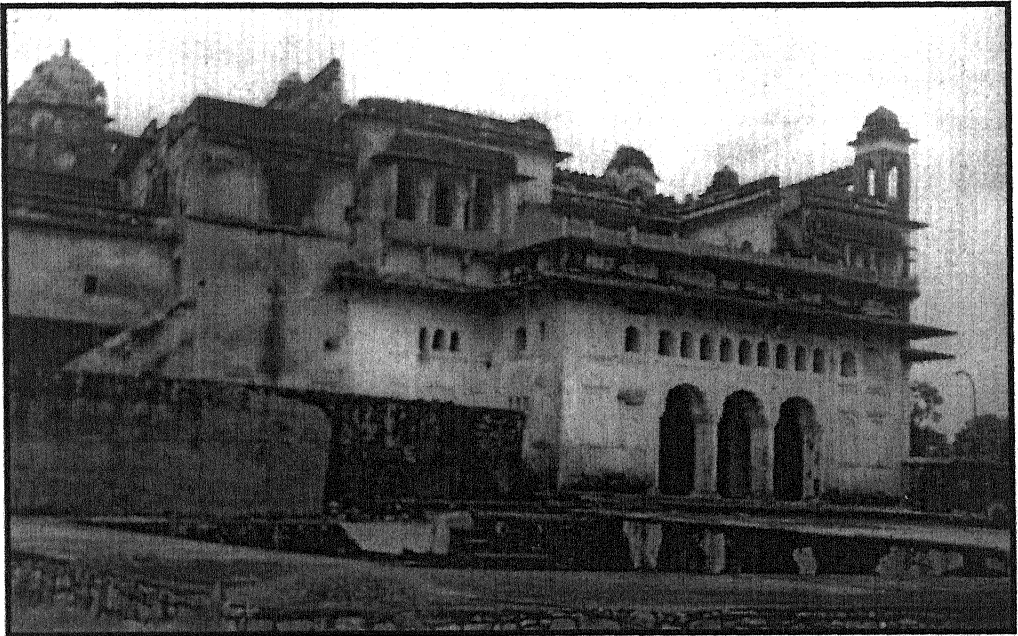
राजा इन्द्रजीत सिंह द्वारा १७ वीं शताब्दी में निर्मित

''राय प्रवीण महल, ओरछा''

महाराजा वीर सिंह जूदेव प्रथम (१६०५ - २७ ई.) ओरछा

ओरछा महल का आन्तरिक दृश्य
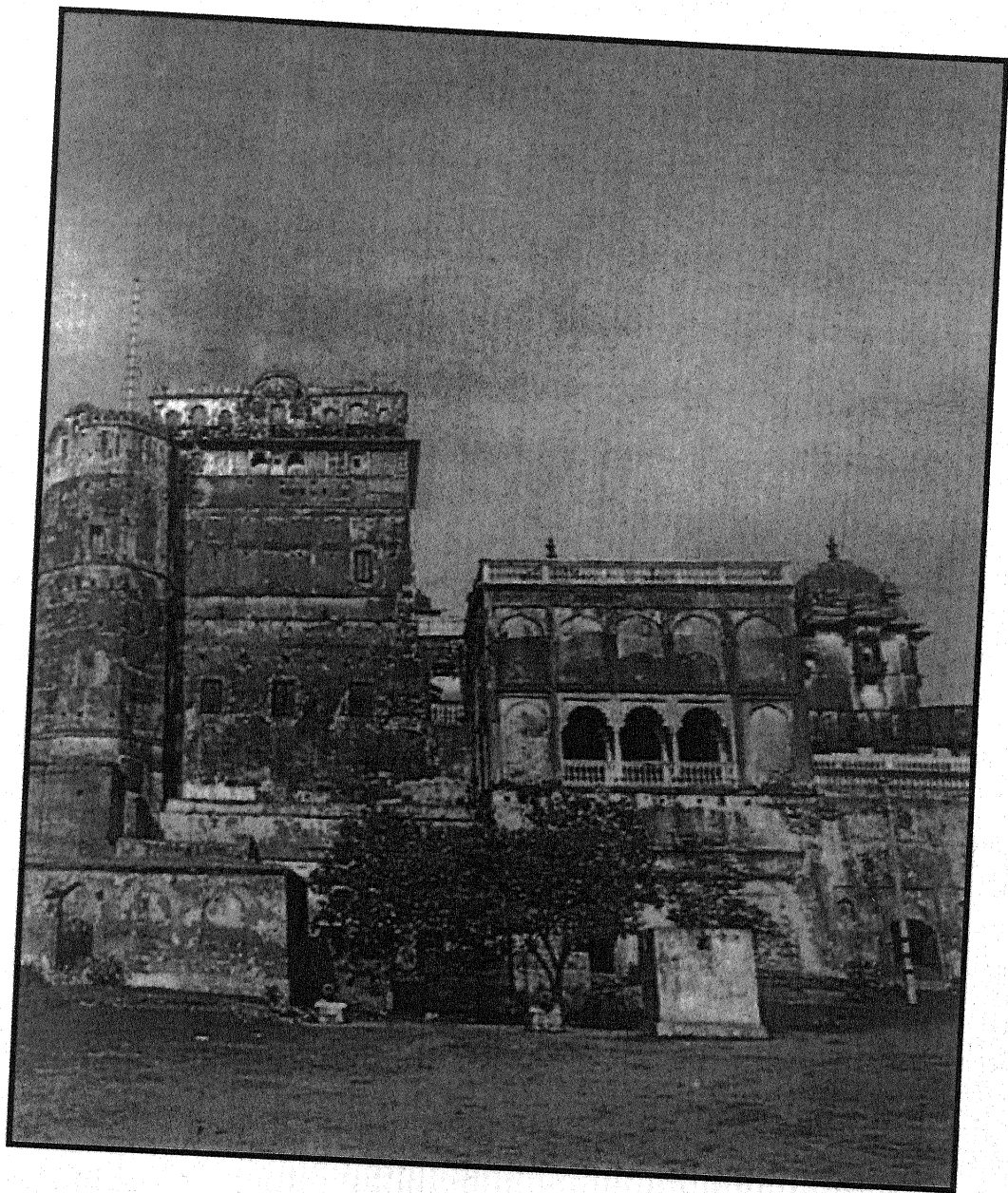
ओरछा महल का बाहरी दृश्य

ओरछा महल का राजमहल
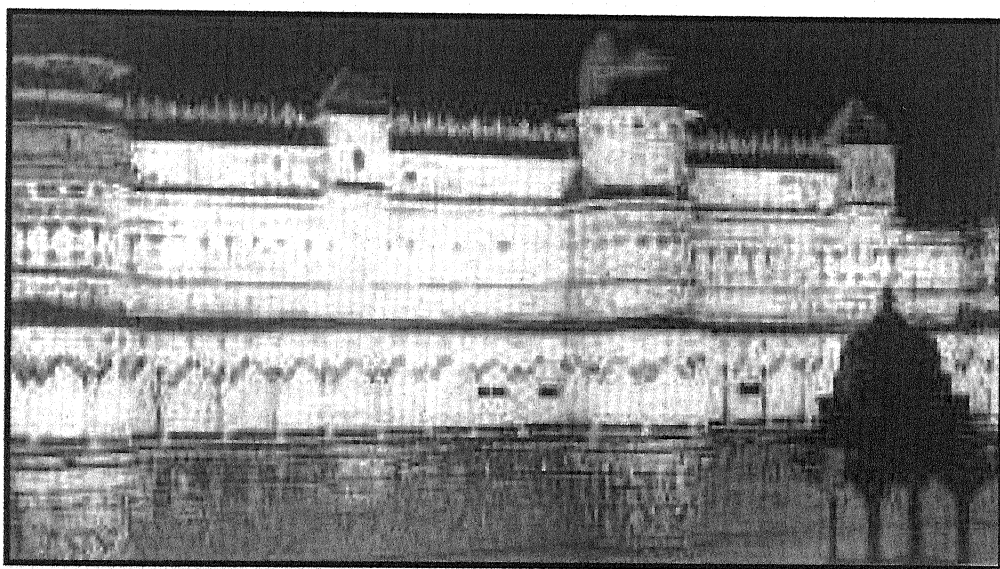
मान मन्दिर महल का बाह्य दृश्य

बरुआ सागर दुर्ग
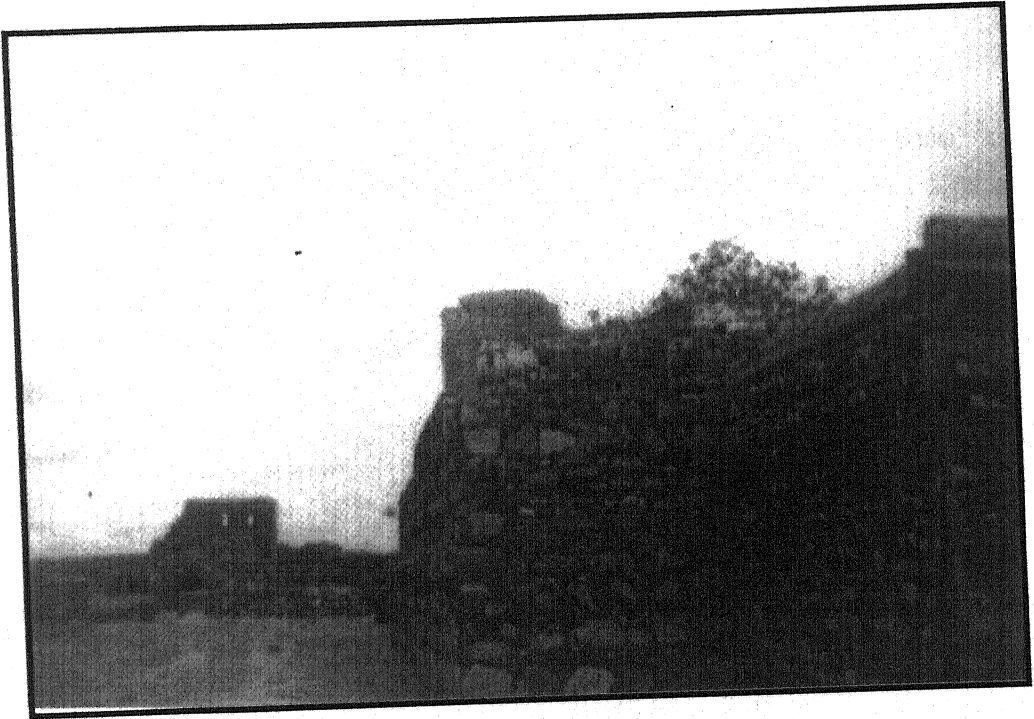
भूरागढ़ दुर्ग (बाँदा)

सन्दर्भ-स्रोत

हिन्दी

1. महाश्वेता देवी : जली थी अग्निशिखा (सर ह्यूरोज की डायरी)
2. डॉ0 भवान सिंह राणा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई
   प्रथम संस्करण – 2001, दिल्ली
3. महाश्वेता देवी : झाँसी की रानी
   हिन्दी अनुवाद : प्रथम संस्करण – 2000, दिल्ली
4. ओमशंकर 'असर' : महारानी लक्ष्मीबाई और उनकी झाँसी
   (दैनिक जागरण झाँसी, वर्ष 2000 में प्रकाशित धारावाहिक ऐतिहासिक लेखों की श्रृंखला : कुल 21 किश्तें)
5. ए. एल. नागर : आँखों देखा गदर, लखनऊ, 1958
   (विष्णु गोडसे कृत 'मांझा प्रवास' का हिन्दी अनुवाद)
6. डी. बी. पारसनीस : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई
   इलाहाबाद, 1964
7. बी. डी. गुप्त एवं सुधा गुप्त : 1857 के विप्लव की अमर दीपशिखा रानी लक्ष्मीबाई एवं सम्बन्धित लेख
8. मोतीलाल भार्गव : झाँसी की रानी
9. मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' : बुंदेलखण्ड का इतिहास
   झाँसी, 1991

10. अक्षय कुमार जैन	:	देश–विदेश के महापुरूष प्रकाशन विभाग : सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, 1998
11. राय, चौधरी, मजूमदार	:	भारत का वृहत इतिहास – 3 मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, मद्रास, 1970
12. राय, चौधरी, मजूमदार	:	भारत का वृहत इतिहास – 2 मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, मद्रास, 1970
13. सं. आर. एल. शुक्ल	:	आधुनिक भारत का इतिहास हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1987
14. विपिन चन्द्र	:	आधुनिक भारत हिन्दी अनुवाद, दिल्ली, 1990
15. एल. पी. शर्मा	:	आधुनिक भारत तेरहवाँ संस्करण, आगरा
16. एल. पी. शर्मा	:	भारत का इतिहास(1000A.D.-1707A.D.) दसवाँ संस्करण, आगरा
17. ए. एल. बाशम	:	अद्भुत भारत (The wonder that was India का हिन्दी रूपान्तर) आगरा 1995
18. ओम प्रकाश	:	प्राचीन भारत का इतिहास नयी दिल्ली, 1987

19. विमल चन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1989

20. विमल चन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का इतिहास तेरहवाँ संस्करण मेरठ 1989–90

21. के. सी. श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास इलाहाबाद, 1990

22. देवेन्द्र कुमार सिंह : 1857 का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम और जनपद जालौन, उरई, 2000

23. दीवान प्रतिपाल सिंह : बुंदेलखण्ड का इतिहास

24. केशवचन्द्र मिश्र : भारत भूमि और उसके निवासी

25. डॉ0 वृन्दावन लाल वर्मा : झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई

26. पदमराज जैन : गदर का इतिहास

27. सुन्दरलाल : भारत में अंग्रेजी राज्य

28. एच0 डी0 मिश्रा : भारत का राजनैतिक इतिहास

29. अमृत लाल नागर : गदर के फूल

30. पारस नीति : महारानी लक्ष्मीबाई के चरित्र

31. डॉ0 रामविलास शर्मा : 1857 की क्रान्ति

32. डॉ0 बागीस शास्त्री : बुंदेलखण्ड की प्राचीनता,

33. गौरीशंकर द्विवेदी : बुंदेलखण्ड बैभव

34. इलियास मरगवी बाँदा : तवारीय बुंदेलखण्ड

35. विनायक दामोदर सावरकर : सन् 1857 का भारतीय स्वातंत्र्य समर

36. ठाकुर प्रसाद वर्मा : वीरांगना लक्ष्मीबाई

37. एन. आर. सेठी, : आधुनिक भारत
विनोद चन्द्र पाण्डे

38. ब. स. विष्णु भट्ट गोडसे : माझा प्रवास (दक्षिणी भाषा)

39. पं. गौरेलाल तिवारी : बुंदेलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास

40. बी. डी. महाजन : आधुनिक भारत का इतिहास

41. कवि मणि पं. कृष्णदास : बुंदेलखण्ड का इतिहास एवं वीर

42. श्रीनिवास बालाजी हारडिकर : तात्या टोपे

43. के. के. त्रिपाठी : वीरांगना मस्तानी

44. पब्लिसिटी ब्यूरो उ0 प्र0 : संघर्ष कालीन नेताओं की जीवनियाँ
सरकार लखनऊ

45. शिवनरायन द्विवेदी : 1857 का गदर दो भाग

46. श्रीनिवास बालाजी हारडिकर : 1857

47. भाग–23 सम्पादक सतारा : ऐतिहासिक संघर्ष

48. भाग–3 : बालाजी बाजीराव द्वितीय

49. राधाकृष्ण बुंदेली एवं श्रीमती : बुंदेलखण्ड का ऐतिहासिक मूल्यांकन भाग प्रथम
सत्यभामा बुंदेली

50. राधाकृष्ण बुंदेली एवं श्रीमती : बुंदेलखण्ड का ऐतिहासिक मूल्यांकन भाग तृतीय
सत्यभामा बुंदेली

51. मन्मथनाथ गुप्त : भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास

52. राही मसूम रजा : अठारह सौ सत्तावन

53. कविमणि पण्डित कृष्णदास : बुंदेलखण्ड का इतिहास

54. गोविन्द सखाराम सरदेसाई : मराठों का नवीन इतिहास– तृतीय खण्ड

55. डॉ0 दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी : भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन

56. रविचन्द्र गुप्त : आजादी के अंकुर

57. डॉ0 रामप्रकाश–रविचन्द्र : दिल्ली की वलिदान गाथा

58. वीरेन्द्र मोहन रतूड़ी : हमारे वीर सेनानी

59. डॉ0 हरिकृष्ण देवसरे : स्वतंत्रता के 51 वर्ष

60. डॉ0 नरेन्द्र कुमार : तीन महान क्रान्तिकारी

61. रविचन्द्र गुप्ता : राष्ट्र आज इनकी जय बोल

62. एल. एम. शर्मा : झाँसी रानी

63. सुभाष चन्द्र 'सत्य' : भारतीय नारी–कितनी जीती कितनी हारी

64. रोहित यादव : विलुप्त होती हमारी सांस्कृतिक धरोहर

65. राधाकृष्ण बुंदेली एवं श्रीमती सत्यभामा बुंदेली : बुन्देलखण्ड का ऐतिहासिक मूल्यांकन भाग पंचम

66. जगदीश 'जगेश' : कलम आज उनकी जयबोल (भारत के स्वाधीनता संग्राम की गौरव गाथा), हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा. लि., सी. 21/30 पिशाचमोचन, वाराणसी

ENGLISH

Published Works

1. S.N. Sinha : Rani Laxmi Bai of Jhansi
   Allahabad, 1980
2. S.N. Sinha : The Revolt of 1857 in Bundelkhand
   Lucknow, 1982
3. Syed Ahmad Khan : An Essay on the causes of the Indian Revolt
   Calcutta, 1860
4. V.D. Sarvarkar : The Indian War of Independence (1909)
5. R.C. Majumdar : The Sepoy Mutiny and the Rebellion of 1857
   Calcutta, 1957
6. S.N. Sen : Eighteen Fifty Seven
   New Delhi, 1957
7. G.B. Malleson : Kay's & Malleson's History of the Indian
   Mutiny, 1857-58
8. E. Arnold : The Marquies of Dalhousie's Administration of
   British India, Vol. II London, 1865
9. C. Bell : The History of Indian Mutiny, Vol. I & II
   London
10. C. Bell : The Empire in India
    London., 1864
11. J.W. Kaye : A History of the Sepoy War in India, Vol. I

London 1870

12. H.G. Keene : Fifty-Seven
London 1883

13. T. Lowe : Central India during the Rebellion of 1857-58,
London, 1860

14. G.B. Malleson : History of the Indian Mutiny, 1857-58, Vol. I,
London, 1878

15. R.M. Martin : The History of the Indian Empire, Vol. II
London

16. W.R. Pogson : A History of the Boondelas, 1828 edition

17. S.N. Prasad : Paramountcy under Dalhousie, 1964 edition.

18. P.E. Robberts : History of British India under the Company
and the crown
Oxford, 1938

19. G.S. Sardesai : New History of Marathas, Vol. II & III
Bombay, 1948

20. Lee Warner : Life of the Marquis of Dalhousie, Vol. II
London, 1904

21. B.G.R. : Sourse Material of the History of Freedom
Movement.

22. P.D.L. U.P.L. : Freedom Struggle in U.P.

23. D.V. Tamanker : The Rani of Jhansi.

24. 1857-58 Part-I : Narrative of Event Attending the out break of Disturbance and the restenation of authority.

25. R.P. Dutt : India Today.

26. Georg William Part-III : A History of the Sipahi war in India, 1857-1858

27. Dr. S.P. Verma : A Study in the Maratha Diplomacy.

28. V.A. Smith : Student History of India.

29. L.M. Sharma : Rani Jhansi

GAZETTEERS

1. Jhansi District Gazetteers Allahabad, 1909, compiled & edited by D.L. Darke Brockman

2. Jhansi District Gazetteers, Allahabad, 1965 edited by E.B. Jhosi

3. Jalaun District Gazetteers Allahabad, 1909, compiled & edited by D.L. Darke Brockman

4. Gwalior Gazetteers, Vol. I Part II, Calcutta, 1909 compiled & edited by Eckford Luard

5. Hamirpur Distt. Gazetteers, Allahabad 1909 Compiled & edited by D.L. Darke Brockman.

6. The Gazetteers of India, Vol. I Country and People Publication Division, Govt. of India, 1965

7. Gazetteer - Jhansi District.

8. Gazetteer - Banda District.

9 Gazetteer - Jalaun District.

10. Gazetteer - North-West Prorince.

PUBLISHED RECORDS

1. A collection of Treaties, Engagements and Sunnuds relating to India neighbouring countries, Vol. II Calcutta, 1876, Vol. III Calcutta 1863 & 1876, compiled by C.U. Aitchison.

2. Selection from the Letters, Despatches and othe state Papers preserved in the Military Department of the Government of India, 1857-58, vol. IV, Calcutta 1912, Edited by G.W. Forrest.

3. Narrative of Events attending the outbreak of Disturbances and Restoration of Authority in the Division of Jhansi in 1857-58, by Captain Pinkney.

4. Narrative of Events attending the outbreak of Disturbances and the Restoration of Authority in the Distt. Banda in 1857-58, Parts I & II by F.O. Mayne.

5. Freedom struggle in Uttar Pradesh - Source Meterial, Vol. I (1957) and Vol. III (1959) edited by S.A.A. Rizvi and M.L. Bhargava; Vol. IV (1959) edited by S.A.A. Rizvi.

SETTLEMENT REPORTS, MEMORIES AND NOTES

1. Report on the Settlement of Jhansi (N.W.P.) 1871. (Printed)

2. Final Report of the Settlement of Paragana Kalpi with which is in corporated

Memoir of the Jalaun District by Philip. J. White, dated 30 April, 1874.

3. Note on Bundelkhand by K.N. Knox, Jhansi, 1934.

ORIGINAL RECORDS

(A) National Archives of India, New Delhi.

1. Foreign Secret Consultations.
2. Foreign Political Consultations.
3. Foreign Political Proceedings.
4. Bundelkhand Agency Records.

(B) Uttar Pradesh State Archives.

1. District Records upto Mutiny. (English)
   - (i) Banda District Pre-Mutiny Records.
   - (ii) Hamirpur District Pre-Mutiny Records.
   - (iii) Jalaun District Pre-Mutiny Records.
2. Mutiny Bastas. (Persian-Urdu)
   - (i) Jhansi
   - (ii) Kanpur
   - (iii) Banda
   - (iv) Hamirpur
   - (v) Jalaun
3. Division Records. (English)
   - (i) Jhansi Division Pre-Mutiny Records.
   - (ii) Jhansi Division Post-Mutiny Records.

4. Board of Revenue Records.

   (i) Proceedings of the Board of Revenue at Fort William

   (ii) Proceedings of the Sadar Board of Revenue for the North Western Provinces.